दर्शन का प्रयोजन

डाक्टर भगवान्दास

१९४०

हिंदुस्तानी एकेडेमी

संयुक्तप्रांत

इलाहाबाद

दुस्तानी एकेडेमी
संयुक्तप्रांत
इलाहाबाद

मूल्य दो रुपए

ओंकार प्रसाद गौड, मैनेजर,
कायस्थ पाठशाला प्रेस व प्रिंटिंग स्कूल, प्रयाग

पाठकों से निवेदन

सयुक्तप्रात की हिंदुस्तानी ऐकेडेमी की ओर से, जेनरल सेक्रेटरी डाक्टर ताराचद जी ने, सन् १९२९ ई० के अत में, पत्र द्वारा मुझे निमन्त्रण भेजा, कि दर्शन के विषय पर दो व्याख्यान प्रयाग मे दो। तदनुसार, ता० १० और ११ जनवरी, सन् १९३० ई० को, मैं ने दो व्याख्यान दिये। विषय 'दर्शन का प्रयोजन' था। डाक्टर ताराचद जी ने कहा कि इनको विस्तार से लिख दो तो छपा दिये जायँ। मैंने स्वीकार किया।

तीन महीने के बाद, देश में 'नमक-सत्याग्रह' का हलचल आरभ हो गया; सन् १९३१ ई० में बनारस और कानपुर में घोर साम्प्रदायिक उपद्रव हुए, सन् १९३२ ई० में फिर 'सविनय अवज्ञा' आरंभ हुई, जिस की परपरा सन् १९३४ ई० की गर्मियों तक रही; इन सब के सबध में मुझे बहुत व्यग्रता रही, जिस को विस्तार से लिखने का यहा प्रयोजन और अवसर नहीं। सन् १९३४ के अत में, मित्रों ने, जिन को मैं 'नहीं' न कर सका, मुझे कांग्रेस की ओर से, सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली में जाने के लिये विवश किया।

सन् १९३४ ई० की गर्मियों मे, बनारस के पास चुनार के छोटे नगर, क्या ग्राम, में, गगा के किनारे रह कर, उन दो व्याख्यानों के अधिकाश का विस्तार लिख कर, जेनरल सेक्रेटरी जी के पास भेजा। सितम्बर, सन् १९३६ ई० में, जब मैं असेंबली के काम से शिमले में था, पहिले प्रूफ़ मिले। कभी कदाचित् प्रेस की ओर से देर होती थी, पर अधिकतर मेरी ओर से; कुछ तो मेरी प्रकृति के दोष से, कि एक चलते हुए काम को समाप्त किये बिना, मित्रों के निर्बन्ध से, दूसरे काम उठा लेता हूं; और कुछ अनिवार्य झझटों और विघ्नों के कारण। इन हेतुओं से छापने के काम मे विलब होता रहा। लेख का विस्तार भी, प्रूफ़ों में, होता गया।

सन् १९४० ई० की गर्मियों तक चार अध्याय पूरे छप गये। इनमें यह दिखाने का यत्न किया है, कि सासारिक और पारमार्थिक दोनों ही सुखों का उत्तम रूप बतलाना, और दोनों के साधने का उत्तम उपाय दिखाना—यही दर्शन का प्रयोजन है। इन दोनों सुखों के साधने के लिए समाज की सुव्यवस्था कितनी आवश्यक है, और दर्शनशास्त्र, आत्म-विद्या, अध्यात्म-विद्या, के सिद्धातों के अनुसार, उस व्यवस्था का क्या उत्तम रूप है; यह चौथे अध्याय में दिखाया है।

इतने से पुस्तक का मुख्य उद्देश्य पूरा हो गया, अपना वयस्, और उस के साथ साथ तन और मन का थकाव, भी दिन दिन बढता जाता है; यह देख कर जी चाहा कि इस काम को यहीं समाप्त कर दें। पर, पहिले से यह विचार था, प्रयाग के दूसरे व्याख्यान के अत में इस का कुछ सकेत भी किया था, कि दर्शन के इतिहास

का एक 'विहगमावलोकन' (बर्ड्ज-आइ-व्यू) भी, प्रयोजन के वर्णन के साथ, समाविष्ट कर दिया जाय, क्योंकि, प्रायः उस से भी इस विश्वास का समर्थन होगा, कि प्रत्येक देश और काल मे, विचारशील सज्जनों ने, दर्शन का अन्वेषण, इसी आशा से किया, चाहे उस आशा का रूप अस्पष्ट अव्यक्त ही रहा हो, कि उस से चित्त को शाति भी, और सासारिक व्यवहार मे सहायता भी, मिलेगी। इस हेतु से, इस लालच ने बल पकड़ा कि यह अग भी पूरा कर दिया जाय। यह जानकर भी, कि डाक्टर ताराचद जी जेनरल सेक्रेटरी को, उनके कार्यालय को, और छापाखाने को, क्लेश दे रहा हू, मैंने डाक्टर ताराचद जी को लिखा कि, जहा आपने इतना धैर्य किया, कुछ सप्ताहों के लिये और धीरज धरें। उन्होंने दया करके स्वीकार कर लिया।

पर उन को यह नया क्लेश देना मेरी भूल ही थी। आकाक्षा बडी, शक्ति थोड़ी, काम बहुत बड़ा! आशा यह की थी कि चीन-जापान, हिंदुस्थान, अरब-ईरान, यहूदिस्तान, ग्रीस-रोम, मध्य कालीन (मेडीवल) और अर्वाचीन (माडर्न) यूरोप-अमेरिका—इन सब देशों के दर्शन के इतिहास का दिग्दर्शन, जिस को, बीस पच्चीस बडी सचिकाओं में भी, बहुत सक्षेप से भी, समाप्त करना कठिन है, मैं, कुछ सप्ताहो में, और एक ही अध्याय मे, और वह भी ७२ वर्ष के वयस् में, लिख लूँगा!

यद्यपि मैंने मन में इस विहगावलोकन की रूप-रेखा सोच ली थी, और, जो थोडी सी पुस्तकें विविध देश काल के दार्शनिकों के विचारो के सबध में देख पाई थीं, उन से मुझे यह निश्चय भी हो गया था, (और है), कि इन ग्रथों में शब्दों ही की भरमार और भिन्नता बहुत, अर्थ थोडे और सब में समान ही, जैसे एक मनुष्य, बदल-बदल कर, सैकडों प्रकार के वस्त्र पहिने, तो वस्त्रों का ही भेद हो, पर मनुष्य का एक ही सच्चा रूप रहै, और इस रूपरेखा और इस विचार के अनुसार लिखना भी आरभ कर दिया, पर थोडे ही दिनों में विदित हो गया कि, एक-एक देश के दार्शनिकों मे से, प्रत्येक शताब्दी के लिये, सामान्यतः एक-एक वा दो-दो मुख्य मुख्य दार्शनिकों को चुन कर, और उन के एक-एक भी मुख्यतम विचार का निश्चय करके, निरी सूची मात्र भी प्रस्तुत कर देना, महीनों, स्यात् बरस दो बरस, का समय चाहेगा, उस पर भी निश्चय नहीं, अपितु बहुत सदेह, कि निरतर काम कर सकूगा। यदि निरतर काम कर सकने का निश्चय होता, तो स्यात् समाप्त कर सकने का भी कुछ निश्चय होता। बुढापे की बुद्धि-शक्ति का वर्णन, एक हिन्दी कवि ने बहुत मनोहर किया है।

छिन मा चटक, छिनहिं मा मद्धिम, बिना तेल जस दीप बरन।

फारसी का एक शेर इस भाव को दूसरी सुदर रीति से कहता है।

गहे बर तारुमे आला नशीनम, गहे बर पुश्ति पाये ख़ुद न बीनम।

"कभी तो, मानो बहुत ऊँचे गोपुर, अटारी, मीनार, के ऊपर बैठा हुआ बहुत दूर-दूर की वस्तुओं को देखता हूं। कभी अपने पैर को भी नहीं देख सकता

हूं।" दो दिन चित्त मे स्फूर्त्ति होती है, तो चार दिन ग्लानि-ग्लानि, सब शक्तिया शिथिल।

ऐसी अवस्था में, पोली आशाओ पर, पुस्तक को न जाने कितने दिनों तक मुद्रणालय मे पड़ा रहने देना, नितात अनुचित, और हिंदुस्तानी ऐकेडेमी के कार्यालय पर अत्याचार होगा। इस लिये अब निश्चय कर लिया कि, जितना छप गया है उस को यहीं समाप्त कर के, पुस्तक को प्रकाशित कर ही देना उचित है। और इस को समग्र पुस्तक का प्रथम भाग समझना चाहिये।

विहगमावलोकन का काम, जो आरभ हो गया है, उस को शक्ति और समय के अनुसार (—'समय' इस लिये कि अभी भी दूसरी झझटों से सर्वथा अवकाश नहीं है—) चलता रक्खूगा। यदि शरीर और बुद्धि ने साथ दिया, और काम पूरा हो गया, तो इस ग्रथ के दूसरे भाग के रूप में वह प्रकाशित होगा।

यहा यह लिख देना आवश्यक है कि इस ग्रथ में 'कापी-राइट' का अधिकार, हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, यू० पी०, को, पुस्तक के प्रकाशित होने के पीछे, तीन वर्ष तक, अर्थात् सन् १६४३ के अत तक रहैगा। इस के अनतर जिस का जी चाहै इसको, या किसी अन्य भाषा में इस के अनुवाद को, छपा सकैगा। हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, जिन पुस्तकों को छापती हैं, उन के लेखकों को पुरस्कार दिया करती हैं। मेरी जीविका दूसरे प्रकार से उपलब्ध है, इस लिये मैं अपने ग्रथो के लिये पुरस्कार, 'रायल्टी' आदि, नहीं लेता, मैंने जेनरल सेक्रेटरी जी को यह लिखा, कि मुझे पुरस्कार न देकर, उस के विनिमय में, यह स्वीकार कर लें कि तीन वर्ष पीछे इसमें 'कापीराइट' न रहैगा। उन्होंने हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, यू० पी०, की ओर से यह स्वीकृति मुझको लिख भेजी। यह प्रबध मैंने इस लिये कर लिया है कि, इस ग्रन्थ में कोई मेरी उपज की नई बात नही है, सब पुरानी आर्ष बातें ही लिखी हैं, और मेरी हार्दिक इच्छा यह है कि उन बातों का अधिकाधिक प्रचार हो, 'कापीराइट' आदि के कारण उस प्रचार में कमी न हो।

एक बात और लिख देना उचित (मुनासिब) जान पड़ता है। कुछ लोगों की ऐसी धारणा (खयाल) है, कि हिंदुस्तानी ऐकेडेमी के उद्देश्यों (मकसदों) में एक यह भी था कि जिन पुस्तकों (किताबों) को यह सस्था (इस्टिट्यूशन, सीगा, सरिश्तः) प्रकाशित (शायः) करै, उन की भाषा (जबान) ऐसी हो जिस से हिन्दी उर्दू का झगड़ा मिटै, और दोनो के बीच की एक ऐसी बोली, "हिंदुस्तानी" के नाम से, बन जाय, जो दोनो का काम दे सकै, और सारे भारतवर्ष (हिंदुस्तान) में फैले। थोड़ा बहुत जतन (यत्न, कोशिश) इस ओर मैंने भी छोटे मोटे लेखों (तहरीरों) में किया, पर मेरे अनुभव (तजुर्बे) का निचोड़ यही है कि, ऐसी बोली साधारण (मामूली) काम के लिये तो बहुत कुछ इस समय (वक्त) भी चल रही है, और कुछ अधिक (ज़्यादा) भी चलाई जा सकती है, पर शास्त्रीय वादों, लेखों, और ग्रन्थों, (इल्मी तक़रीरों, तहरीरों, और किताबों) के काम के लिये नही बन सकती,

इस काम के लिये या तो सस्कृत के शब्दों को, या अरबी-फारसी के लफ्जों को, बहुतायत से लिखना बोलना पडैगा। पर यह अवश्य (जरूर) करना सभव (मुमकिन) भी है, और उचित (मुनासिब) भी है, कि, जहां तक हो सकै, सस्कृत शब्दों के साथ, 'ब्रैकेट' मे, उनके तुल्यार्थ (हम-मानी) अरबी फारसी शब्द, और अरबी-फारसी लफ्जो के साथ उनके समानार्थ (हम-मानी) सस्कृत शब्द, भी लिख दिये जाया करें। इस रीति (तर्कीब) मे कुछ दोष (नुक्स) तो हैं ही, पढ़ने वालों को कुछ पीड़ा (तकलीफ) होगी, जैसे रोडों पर दौडती हुई गाडी में बैठे यात्री (मुसाफिर) को, पर गुण (वस्फ) यह है कि उर्दू जानने वालो को हिंदी के भी, और हिन्दी जानने वालों को उर्दू के भी, पॉच पाँच सात सात सौ शब्दों का ज्ञान (इल्म) हो जायगा, और एक दूसरे के वार्त्तालाप (गुफ्तोगू, तकरीर) और लेख (तहरीर) समझना सरल (सहल) हो जायगा। यह तो स्पष्ट (जाहिर) ही है कि वाक्यों (जुम्लों) की बनावट (रचना, तर्कीब) हिंदी और उर्दू दोनों में एक सी है, और क्रिया (फेल) के पद (लफ्ज) भी दोनों में अधिकतर (ज़्यादातर) एक ही हैं, भेद (फर्क़) है तो सज्ञा-पदों (इस्म के लफ्जों) में है। इन थोडे से वाक्यों (जुम्लों) में, मेरे मत (राय) का उदाहरण (नमूना) भी दिखा दिया गया है, और इस ग्रन्थ (किताब) में कई स्थलों (जगहों) पर भी इस रीति (तरीके) से काम लिया गया है।

परमात्मा से, (रुहुल रूह, रूहि-आजम, से) मेरी हार्दिक प्रार्थना है, (दिली इल्तिजा है), कि इस किताब के पढने वालों के चित्त को शाति, (सल्म), मिलै, और समाज के, (इन्सानी जमाअत के), व्यवस्थापकों (मुन्तजिमों) और सुधारने वालों का ध्यान इस देस के पुराने ऋषियों, (रसीद. बुजुर्गों) के दिखाये हुए मार्ग की (राह की) ओर झुकै। तभी दर्शन का, (फल्सफा का), प्रयोजन सिद्ध होगा, (मकसद हासिल होगा)। सासारिक और पारमार्थिक, (दुनियावी और इलाही, रूहानी), दोनो सुखों को साधने का मार्ग जो दरसावै, वही सच्चा दर्शन, यही दर्शन का प्रयोजन है।

यद् आभ्युदयिकं चैव नैश्रेयसिकमेव च,
सुखं साधयितुं मार्गं दर्शयेत् तद् हि दर्शनं।

बनारस,
१९ सितम्बर, १९४०

आप का शुभचिंतक (खैर-अदेश)
भगवानदास

विषय-सूची

पृष्ठ

पहला अध्याय

दर्शन का मुख्य प्रयोजन

सनत्कुमार और नारद की कथा

उपनिषदों मे कथा है, सनत्कुमार के पास नारद आए, कहा, "शिक्षा दीजिए।"

अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमार नारदः। तं होवाच, यद्वेत्थ तेन मोपसीद, ततस्त उर्ध्वं वक्ष्यामि, इति। स होवाच, ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेद साम-वेदं आथर्वण चतुर्थमितिहासपुराण पचम वेदाना वेद पित्र्य राशिं।दैव निधिं वाको वाक्य एकायन देवविद्या ब्रह्मविद्या भूतविद्या क्षत्रविद्या नक्षत्रविद्या सर्पदेवजनविद्या, एतद् भगवोऽध्येमि। सोऽह भगवो मंत्रविदेवास्मि, नात्मवित्। श्रुत हि मे भगवद्-दृशेभ्यः तरति शोकमात्मविद् इति। सोह भगवः शोचामि। त मा भगवाञ्छोकस्य पार तारयतु। (छादोग्य, अ० ७)

सनत्कुमार के पास नारद आए, प्रार्थना की, "मुझ को सिखाइए"। सनत्कुमार ने कहा, "जो सीख चुके हो वह बताओ, तो उस के आगे की बात तुम से कहूँ।" बोले, "ऋक्, यजुः, साम, अथर्व, ये चारो वेद, पचम वेद रूपी इतिहास पुराण जिस के विना वेद का अर्थ ठीक समझ मे नहीं आ सकता, वेदों का वेद व्याकरण, परलोकगत पितरो से और इस लोक में वर्तमान मनुष्यों से परस्पर प्रीति और सहायता का बनाए रखने वाला श्राद्धकल्प, राशि अर्थात् गणित, दैव अर्थात् उत्पात ज्ञान शकुन ज्ञान, अथवा दिव्य प्राकृतिक शक्तियों का ज्ञान, निधि अर्थात् पृथ्वी मे गड़े धन का ज्ञान, अथवा आकर शास्त्र, वाकोवाक्य अर्थात् तर्क शास्त्र, उत्तर-प्रत्युत्तर शास्त्र, युक्ति-प्रतियुक्ति

शास्त्र, एकायन अर्थात् नीतिशास्त्र, राजशास्त्र, जो अकेला सब शास्त्रों से काम लेता है, देवविद्या अर्थात् निरुक्त जिस में, भूस्थानी मुख्य देव अग्नि,। अतरिक्ष स्थानी सोम (पर्जन्य, विद्युत्, इद्र आदि जिस में पर्यायवत् अंतर्गत हैं). द्युस्थानी सूर्य, और देवाधिदेव आत्मा, का वर्णन है, अथवा शब्दकोष, ब्रह्मविद्या अर्थात् ब्रह्म नाम वेद की अंग विद्या, शिक्षा कल्प और छंद आदि, भूतविद्या अर्थात् भूत प्रेत आदि की बाधा को दूर करने की विद्या, अथवा अधिभूत शास्त्र, पचमहाभूतों पंचतत्वो के मूल स्वरूप और परिणामों विकृतियों का शास्त्र, क्षत्र-विद्या अर्थात् धनुर्वेद, समस्त युद्धशास्त्र, नक्षत्रविद्या अर्थात् ज्योतिप शास्त्र, सर्पविद्या अर्थात् विष वाले जंतुओं के निरोध की और विष के चिकित्सा की विद्या, अथवा (सर्पंति चरति प्राणति जीवंति इति) वृक्ष पशु आदि जीव जंतु का शास्त्र, देवजनविद्या अर्थात् गांधर्व विद्या, चतुःषष्टि कला, गीत, वाद्य, नृत्य, शिल्प, सुगन्ध का निर्माण, सुस्वादु भोज्य पदार्थ का कल्पन आदि, यह सब मैंने पढ़ा। पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मैंने केवल वहुत से शब्दो को ही पढ़ा। आत्मा को, अपने[1] को, नही पहिचाना। और मैंने आप ऐसे वंदनीय वृद्ध महानुभावों से सुना है कि आत्मा को पहिचानने वाला शोक के पार तर जाता है। सो मैं शोक में पड़ा हूँ। मुझ को शोक के पार तारिए।"

तब सनत्कुमार ने नारद को उपदेश दिया।

आज काल[2] के अंग्रेजी शब्दों मे कहना हो तो स्यात् यों कहेंगे कि, सब सायंस और सब आर्ट, सब हिस्टरी, ऐन्थ्रोपालोजी, ग्रामर, फैलालोजी, मैथेमेटिक्स, लाजिक, केमिस्ट्री, फिज़िक्स, जियालोजी, बाटनी, ज़ुआलोजी, साइकिकल सायंस, मेडिसिन, आस्ट्रोनोमी, और सब फाइन आर्ट्स, म्यूजिक, डांसिङ्, पेटिङ्, आर्किटेक्चर, गार्डनिङ्, परफ्यूमरी, क्युलिनरी, डायेटेटिक्स, आदि—सब जान कर भी कुछ नही जाना, चित्त शांत नही हुआ, दुःख से, शोक से, छुटकारा नही हुआ। इसलिए वह पदार्थ भी जानना चाहिए जिस से चित्त को स्थायी शांति मिले, मनुष्य स्वस्थ आत्मस्थ हो, अपने को जाने, आगमापायी आने जाने वाले सुख दुःख के रूप को पहिचाने, और दोनों के पार हो कर स्थितप्रज्ञ हो जाय, नफ़सुल्-मुत्मइन्ना और नफ़सुर्-रहमानी को हासिल करै।

---

[1] "अपना" शब्द प्रायः संस्कृत आत्मा, आत्मानं, आत्मनः का ही प्राकृत विकार और रूपांतर जान पड़ता है।

[2] यद्यपि आज काल चाल "आज कल" लिखने की चल पड़ी है, पर संस्कृत शब्द "अद्य काले" की दृष्टि से और अर्थ की दृष्टि से भी "आज काल" ही ठीक जान पड़ता है।

जब तक मनुष्य किसी एक विशेष शास्त्र को जान कर इस अभिमान में पड़ा है कि जो कुछ जानने की चीज है वह सब मैं जानता हूँ, तब तक, स्पष्ट ही, उस को आत्मविद्या अर्थात् दर्शनशास्त्र का प्रयोजन नहीं। जब स्वयं उस के चित्त में असंतोष और दुःख उठे, और उस को यह अनुभव हो कि मेरे विशेष शास्त्र के ज्ञान से मेरा दुःख नहीं मिटता, चित्त शांत नही होता, तभी वह इस आत्मदर्शन की खोज करता है। उपनिषत् के उक्त वाक्यों पर भाष्य करते हुए शंकराचार्य लिखते हैं—

"सर्वविज्ञानसाधनशक्तिसंपन्नस्यापि नारदस्य देवर्षेः श्रेयो न बभूव, उत्तमाभिजनविद्यावृत्तसाधनशक्तिसपत्तिनिमित्ताभिमानं हित्वा प्राकृतपुरुषवत् सनत्कुमारमुपससाद श्रेयःसाधनप्राप्तये, निरतिशयप्राप्तिसाधनत्वमात्मविद्याया इति।"

देवताओ के ऋषि, बहिर्मुख शास्त्रों के सर्वज्ञ, फरिश्तों मे अफ़ज़ल और अल्लामा, नारद को भी, ऊँचे कुल का, विद्या का, शक्ति का, गर्व अभिमान छोड़ कर, साधारण दुःखी मनुष्य के ऐसा सिर झुका कर, सनत्कुमार के पास उस अंतिम ज्ञान के लिए जाना पड़ा, जिस से सब दुःखों की जड़ कट जाती है। जिस हृदय में अहंकार अभिमान का राज है उस मे उस अंतिम ज्ञान, वेद के अंत, वेदांत और आत्मा का प्रवेश कहां ?

ख़ुदी को छोड़ा न तूने अब तक, ख़ुदा को पावेगा कह तू क्यों कर !
जवानी गुज़री बुढ़ापा आया, अभी तक ऐ दिल, तू ख़्वाब में है ॥
न कोई पर्दा है उस के दर पर, न रूये रौशन नक़ाब में है।
तू आप अपनी ख़ुदी से, ऐ दिल, हिजाब में है, हिजाब में है ॥

यम-नचिकेता की कथा

ऐसी ही बालक नचिकेता की कथा है। उस के पिता ने व्रत किया, अपनी सब संपत्ति अच्छे कामों के लिए सुपात्रों को दे दूँगा। जब सब वस्तुओं को उठा-उठा कर लोग ले जाने लगे, तब छोटे बच्चे के मन में भी श्रद्धा पैठी[1]।

पिता से पूछने लगा, "तात, मुझे किस को दीजिएगा।" एक बेर पूछा, दो बेर पूछा, तीसरी बेर पूछा। थके पिता ने चिढ़ कर कहा, "मृत्यु को।" कोमल चित्त का सुकुमार बच्चा, उस क्रूर वाक्य से विह्वल हो गया। बेहोश होकर

[1] ठेठ हिंदी मे "इन को भी 'साध' लगी", गर्भवती स्त्रियों के लिए 'साध' अर्थात् उन की इष्ट वस्तु भेजना, "जो 'सर्धा' होय तो दान दो", यह दो रूप 'श्रद्धा' के देख पड़ते हैं।

गिर पड़ा। शरीर बच्चे का था, जीव पुराना था। संसार चक्र में, प्रवृत्ति मार्ग पर, उस के भ्रमने की अवधि आ गई थी। यम लोक, अंतर्यामी लोक, यम-नियम लोक, स्वप्न लोक को गया। यमराज अपने गृह पर नहीं थे। तीन दिन बालक उन के फाटक पर बैठा रहा[१]। यम लौटे, देखा, बडे दुखी हुए, करुणा उमड़ी। "बच्चे, उत्तम अधिकारी अतिथि होकर तीन दिन रात तू मेरे द्वारे बिना खाए पीए बैठा रह गया। मेरे ऊपर बडा ऋण चढ़ गया। तीन वर माँग। जो माँगेगा वही दूँगा।" "मेरे यहां चले आने से, पिता बहुत दुःखी हो रहे हैं, उन का मन शांत हो जाय।" "अच्छा, वह तुम को फिर से देखेगा।" "स्वर्ग की बात बताइए, उस की बड़ी प्रशसा सुन पड़ती है। वहां की व्यवस्था कहिए, वह कैसे मिलता है सो भी बताइए।" यम ने सब बतलाया। फिर तीसरा वर लड़के ने माँगा।

येय प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये, अस्तीत्येके नायमस्तीति चान्ये।
एतद् विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽह, वराणामेष वरस्तृतीयः॥ (कठ)

"मनुष्य मर जाता है, कोई कहते हैं कि शरीर नष्ट हो गया पर जीव है, कोई कहते हैं कि नही है, सो क्या सच है, इस का निर्णय बताइए।"

इस लोक को छोड कर परलोक को, यमलोक, पितृलोक, स्वर्गलोक को, जाग्रत् लोक से स्वप्नलोक को, जीव जाता है। पर वहां भी उस को कम बेश यही की सी सामग्री देख पड़ती है, और वहां भी मौत का भय बना ही रहता हैं। नचिकेता अपना स्थूल शरीर छोड़ कर यम लोक मे आया है, तो भी उस को अपनी नित्यता, अमरता, का निश्चय भीतर नही है, क्योंकि साऽऽदि, साऽन्त, सूक्ष्म शरीर अथवा लिंग देह से उस का जीव यहा भी बँधा है, और यम ने भी उस को स्वर्ग का हाल सब बताया है, सुखों के साथ दुःख भी, मृत्यु का भय भी, स्वर्ग से च्युत होकर पुनः भूलोक में जाने का निश्चय भी, सब बताया है। इस से बालक पूछता है, "जीव अमर है—यह निश्चय कैसे होय ?"

यम ने बहुत प्रलोभन दिखाया, "धन दौलत लो, सुंदर पत्नी लो, पुत्र पौत्र लो, ऐश्वर्य लो, बड़े से बडा राज लो, दीर्घ से दीर्घ आयु लो, दृढ़ और खूब खा पी सकने और भोग विलास करने योग्य द्रढिष्ठ बलिष्ठ आशिष्ठ सुंदर श्रीमान् शक्तिमान् शरीर लो, यह प्रश्न मत पूछो। देवताओं को भी यहां शंका लगी ही है।"

---

[१] पुराण ग्रंथों से ऐसी सूचना मिलती है कि, जैसे सूक्ष्म लोक से इस स्थूल लोक में आने और जन्म लेने के पहिले एक संध्याऽऽवस्था, गर्भावस्था, होती है, वैसे ही प्रायः भूर्लोक से पुनः भुवर्लोक पितृलोक में वापस जाने के पहिले, बीच में, एक संध्याऽऽवस्था, बेहोशी की, नींद की सी, होती है। स्यात् तीन दिन तक यम से न मिलने और बात न होने का आशय यही है।

पर बालक अपने प्रश्न से नहीं डिगा।

अपि सर्वं जीवितमल्पमेव, तवैव वाहास्तव नृत्यगीते।
न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो, वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥
यस्मिन्निदं विचिकित्सति देवा, यत्साम्पराये महति ब्रूहि नस्तत्।
योऽयं वरो गूढ़मनुप्रविष्टो, नाऽन्यं तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥

"यह सब वस्तु जिन से आप मुझ को लुभाते हो, वह सब तो आप ही की रहेगी, एक न एक दिन सब खाना-पीना, नाचना-गाना, हाथी-घोड़े, प्रासाद-उद्यान, ऐश-आराम आप वापस लोगे। देवताओं को भी इस विषय मे शंका है, मृत्यु का भय है, इसी लिए तो मुझे इस शंका का निवारण और भी आवश्यक है। यह वर जो मेरे मन में गहिरा धँस गया है, मुझे तो इस के सिवा दूसरा कोई पदार्थ नहीं चाहिए। दूसरा कुछ इस समय अच्छा ही नहीं लगता। मुझे तो प्रश्न का उत्तर ही चाहिए, अमरता ही चाहिए, मृत्यु का भय छूटा तो सब भय छूटा, अमरता मिली तो सब कुछ मिला।"

तब यम ने उपदेश दिया, वेदांत विद्या का भी और तत्संबंधी योग विधि, प्रयोग विधि, का भी, "मेटाफिजिकल सायंस" का भी और "साइको-फिजि-कल आर्ट" का भी, निरोध का भी और व्युत्थान का भी, मोक्षशास्त्र, शांति-शास्त्र, "सायंस आफ पीस", का भी, और शक्ति-शास्त्र, "सायस आफ पावर", "ओकल्ट सायस", का भी।

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतो ऽथ लब्ध्वा विद्यामेता, योगविधिं च कृत्स्न।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युः, अन्योऽप्येव यो विद् अध्यात्ममेव ॥ (कठ)

यमराज से वेदांत-विद्या, आत्म-विद्या, को, तथा समग्र योग-विधि को पाकर नचिकेता ने ब्रह्म का अनुभव किया, रजस् से, राग-द्वेष के मल से, चित्त उस का शुद्ध हुआ, मृत्यु के पार पहुँचा। जो कोई इसी रीति से दृढ़ निश्चय करेगा, यम का सेवन करेगा, कठिन यम-नियमों का पालन करेगा, यमराज मृत्यु का मुँह देख कर उस का सामना करेगा, डर कर भागेगा नहीं, मृत्यु से प्रश्नोत्तर करेगा, और उत्तर की खोज मे दुनिया के सब लोभ लालच छोड़ने को तय्यार होगा, उस को भी नचिकेता के ऐसा आत्मा का, परमात्मा का, जीव और ब्रह्म की एकता का, "दर्शन", 'सम्यग्दर्शन', होगा, और अमरता का लाभ होगा।[1]

[1] इस सबंध में आगे चलकर हर्ज़बर्ग नाम के यूरोपियन विद्वान् की पुस्तक, "दी साइकालोजी आफ़ फ़िलोसोफ़र्स" (सं० १९२९) की चर्चा की जायगी, जिस में उन्होंने यूरोप के तीस नामी फलसफ़ी अर्थात् दार्शनिकों की नैसर्गिक प्रकृतियों और जीवनियों की परीक्षा समीक्षा की है, और इस की गवेषणा की है कि किन हेतुओं से वे 'फ़िलोसोफ़ी' की दर्शन की ओर झुके।

याज्ञवल्क्य और मैत्रेयी

जैसा यम ने सांसारिक विभव से नचिकेता को सतुष्ट करना चाहा, ऐसे ही, जब याज्ञवल्क्य ऋषि का मन इस लोक के जीवन से थका, तब उन्हों ने अपनी भार्या मैत्रेयी से विदा चाहा, और मैत्रेयी को धन दौलत देने लगे। मैत्रेयी ने पूछा, "क्या मैं इस धन दौलत से अमर हो जाऊँगी ?"। याज्ञवल्क्य ने कहा,' नहीं, केवल यही होगा कि जैसे धनी लोग जीवन का निर्वाह करते हैं वैसे तुम भी कर सकोगी, और जैसे वे मरते हैं वैसे तुम भी मरोगी।" तब मैत्रेयी ने कहा, "तो फिर वह लेकर क्या करूँगी जिस से मृत्यु का भय न छूटे। वही वस्तु दीजिए जिस से अमर हो जाऊँ।"

येनाहं नाऽमृता स्या किमह तेन कुर्याम्। (बृहदारण्यक)

तब याज्ञवल्क्य ने परा-विद्या का ज्ञान दिया।

बुद्ध देव।

राजकुमार गौतम को, जो पीछे बुद्ध हुए, उन के पिता ने, भविष्य वाणी के भय से, ऐसी कोमलता से पाला कि उन को सूखा पत्ता भी कभी यौवन के आरंभ तक न देख पड़ा। उन के वास-स्थान, प्रासाद, उद्यान, के भीतर, जगत् का स्वरूप शोभामय, सौंदर्यमय, सुखमय, प्रलोभनमय बनाया। इसलिए कि संसार में उन का मन लिपटा ही रहे, कभी इस से ऊबै उचटै नहीं। पर इस कोमलता ने ही भविष्यवाणी को सिद्ध करने में सहायता दी। राजकुमार को, एक दिन, फुलवारी के बाहर का लोक देखने की इच्छा हुई। गए। पिता ने सब कुछ प्रबंध किया कि कोई दुःख-स्वप्न के ऐसा दुःखद दृश्य उन की आँख के सामने न आवे। सड़क छिड़काया, नगर सजाया, सुदर रथ पर राजकुमार को नगर मे फिराया। पर होनहार पूरी हुई। जगदात्मा सूत्रात्मा के रचे संसार नाटक के अभिनय में उपकरण-भूत कर्मचारी देवताओं ने ऐसा प्रबंध किया कि भावी बुद्ध सिद्धार्थ ने जरा से जर्जर बूढ़े को देखा, पीड़ा से कराहते रोगी को देखा, मृत मनुष्य के विकृत शरीर को स्मशान की ओर ले जाए जाते देखा। चित्त में महाचिंता की आग धधकी, महाकरुणा का सोत फूटा और बह निकला, आत्मा की सात्विकी बुद्धि जागी। केवल अपने शरीर के दुःख का भय नहीं, सब प्राणियों के अनंत दुःखों का महादुःख, घन होकर, सपिंडित हो कर, उन के चित्त मे एकत्र हुआ, उन के शरीर मे भीना, अंग-अंग में व्यापा। विवेक, विचार, वैराग्य, सर्वप्राणि-मुमुक्षा, स्वयमेव मोक्तुमिच्छा नहीं, किंतु सर्वान् मोचयितुमिच्छा, का परम सात्विक उन्माद हृदय में

छा गया।[१] उस दिव्य बुद्धि-मय पागलपन में, उनतीस वर्ष की उमर में, आधी रात को, सब सुख समृद्धि के सार भूत अतिप्रिय पत्नी यशोधरा और बालक राहुल को भी छोड़ कर, भवन के बाहर, नगर के बाहर, चले गए। नगर के फाटक से बाहर होकर, घूम कर, बाँह उठा कर, शपथ किया,

जननमरणयोरदृष्टपारः न पुनरहं कपिलाह्वय प्रवेष्टा।

"जीना क्या है, मरना क्या है, इन के दुःखों से पत्नी पुत्र बंधु बाँधव समस्त प्राणी कैसे बचे, इस के रहस्य का जब तक पता नहीं पाऊँगा, तब तक राजधानी कपिलवस्तु के भीतर फिर पैर नहीं रक्खूंगा।"

छः वर्ष की घोर तपस्या से, बहुविध मुनिचर्याओं की परीक्षा करके, अनंत विचारों की छान-बीन करके, एकाग्रता से, समाधि से, उस रहस्य को, परम शांतिमय निर्वाण को, भेदबुद्धिमय अहंकारमय इच्छा तृष्णा वासना एषणा के निर्वाण को, पाया, निश्चय से जाना कि सुख-दुःख, जीवन-मरण, सब अनंत द्वंद्वमय ससार, अपने भीतर, आत्मा के भीतर, है, आत्मा आप अपना मालिक है, अपने आप जो चाहता है सो अपने को सुख-दुःख देता है, कोई दूसरा इस को सुख-दुःख देनेवाला, इस पर काबू रखने वाला, इस का मालिक, नहीं है। तब पैंतालीस वर्ष तक, सब संसार को, इस ज्ञान के सार, वेद के अंत, परा विद्या, परम तत्त्व, "सर्व-गुह्यतम" तथ्य, "गुह्याद् गुह्यतर" रहस्य, का उपदेश करते हुए, गंगा के किनारे-किनारे फिरे। दुःख क्या है, दुःख का हेतु क्या है, दुःख की हानि क्या है, दुःखहानि का उपाय क्या है—यह चार "आर्य-सत्य" बताते रहे, जिसी चतुर्व्यूह को दुःख—आयतन—समुदय—मार्ग के नाम से भी कहते हैं। करुणा से व्याकुल, सब के आँसू पोछते, यह पुकारते फिरे, "सब लोक सुनो, दुःखी मत हो, दुःख तुम्हारे काबू मे है, तुम अपनी भूल से, अपनी इच्छा से, अपने किए से, दुखी हो, किसी दूसरे के नहीं, यह सब तुम्हारा ही बनाया खेल है, इस को पहिचानो, अपने को पहिचानो, सत्य को जानो, दुःख छाड़ो, स्वस्थ आत्मस्थ हो।"

---

[१] भक्ति के शब्दों में, यह भाव, प्रह्लाद की नारायण के प्रति उक्ति में, भागवत में दिखाया है—

प्रायेण, देव, मुनयः स्वविमुक्तिकामाः स्वार्थं चरंति विजने, न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्षु एको, नाऽन्यं त्वद् अस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये॥

"हे देव!, प्रायः मुनिजन अपनी ही मुक्ति की इच्छा से, जनरहित एकांत में, स्वार्थ साधते हैं, परार्थ नहीं,। इन सब संसार में भ्रमते, कृपण, कृपा के करुणा के, योग्य, दीन जनों को छोड़ कर अकेले मुक्त होना, मैं नहीं चाहता, और आप को छोड़ इन का कोई दूसरा शरण नहीं देखता इन सब की मुक्ति का उपाय बताइए॥"

महावीर-जिन

महावीर-जिन की जीवनी का पता जहां तक चलता है, बहुत कुछ बुद्ध के चरित से मिलती है। तीस वर्ष की उमर में उन्हों ने स्त्री, पुत्र, युवराज का पद, राज्य लक्ष्मी, छोड़ा। बारह वर्ष तपस्या करने पर कैवल्य-ज्ञान की, अद्वैत की, तौहीद की, ज्योति का उदय उन के हृदय मे हुआ। शुद्धि, शांति, शक्ति की पराकाष्ठा को पहुँचे। तीस वर्ष उपदेश द्वारा संसारी जीवों के उद्धरण में प्रवृत्त रहे। बुद्धदेव के समकालीन थे। दोनों ही को आज से कोई ढाई हजार वर्ष हुए। जैन पद्धति का भी मूल सब दुःखो से मोक्ष पाने की इच्छा है।

इस सम्प्रदाय का एक बहुत प्रामाणिक ग्रंथ 'तत्वार्थाधिगम सूत्र' है। इस को उमास्वामी, जिन को उमास्वाती भी कहते हैं, प्रायः सत्रह सौ वर्ष हुए, लिखा। इस का पहिला सूत्र है, "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"। मोक्ष का, सब दुःखों से, सब बंधनो से, छुटकारा पाने का, उपाय, सम्यग दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र है।

जैन मत का एक प्रसिद्ध श्लोक है—

आस्रवो बंधहेतुः स्यात्, संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती मुष्टिः, अन्यदस्याः प्रपंचनम्॥

"बंध का हेतु आस्रव, तृष्णा, उस के संवर से, निरोध से, मोक्ष—इस मूठी मे सारा अर्हत तन्त्र, जैन दर्शन, रक्खा है। अन्य सब भारी ग्रंथ विस्तार इसी का प्रपंचन, फैलावा, है।" वेदांत दर्शन के बंध—अविद्या—विद्या—मोक्ष, और बौद्ध दर्शन के दुःख—तृष्णा—त्याग—निर्वाण, योग दर्शन के व्युत्थान-निरोध आदि, नितरां सुतरां यही पदार्थ हैं। उक्त जैन श्लोक मे जो बात इच्छा संबंधी शब्दों मे कही है उसी का दूसरा पक्ष, दूसरा पहलू, ज्ञान संबंधी शब्दों मे उसी प्रकार के संग्राहक और प्रसिद्ध वेदांत के श्लोक में कहा है।

श्लोकार्धेन प्रवक्ष्यामि, यदुक्तं शास्त्रकोटिभिः।
ब्रह्म सत्यं, जगन्मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नाऽपरः॥

ईसा मसीह

ईसा मसीह ने भी ऐसी ही बातें कही हैं—

"कम अंटू मी आल यी दैट आर वियरी ऐण्ड हेवी लेडन, ऐण्ड आइ विल गिव यू रेस्ट। इफ़ एनी मैन विल कम आफ्टर मी, लेट हिम डिनाई हिमसेल्फ़, ऐण्ड फ़ालो मी। फ़ार हूसोएवर विल सेव हिज़ लाइफ़ शैल लूज़ इट, ऐण्ड

हूसोएवर विल लूज़ हिज़ लाइफ फ़ार माई सेक शैल फाइण्ड इट्। फ़ार ह्वाट इज़ ए मैन प्रोफ़िटेड इफ़ ही शैल गेन दी होल वर्ल्ड, ऐण्ड लूज़ हिज़ सोल? यी कैन नाट सर्व गाड ऐण्ड मैमन बोथ। बट सीक फर्स्ट दि किङ्डम आफ गाड ऐण्ड हिज़ रैचसनेस, ऐण्ड आल दीज़ थिङ्ज़ विल बी ऐडेड अण्टू यू।" (बाइबिल)

Come unto me all ye that are weary and heavy-laden, and I will give you rest If any man will come after me, let him deny himself, and follow me For whosoever will save his life shall lose it, and whosoever will lose his life for my sake shall find it For what is a man profited if he shall gain the whole world and lose his soul? Ye cannot serve God and Mammon both But seek first the Kingdom of God and his Righteousness, and all these things shall be added unto you (St. Mathew)

अर्थात्, जो दुनिया के बोझ से अत्यंत थके हैं, ऊब गए हैं, वे मेरे पास, आत्मा के पास, आवैं। उन को अवश्य विश्राम मिलेगा। जो दुनिया से थका नही है वह खुदा के पीछे पडता ही नहीं है, खुदा को पावेगा कैसे? सब सुख चैन से, ऐश आराम से, मन हटा कर, सारे दिल से, मेरे पीछे, आत्मा के पीछे, लगे, तो निश्चयेन पावे। जो इस थोडी छोटी जिंदगी की अनित्य, नश्वर, वस्तुओ में मन अटकाए हुए है, वह उस नित्य अजर अमर वस्तु को खो रहा है, भुला रहा है जो इस को छोड़ने को तयार होगा वह उस को जरूर पावेगा। और उस वस्तु को पाने का यत्न करना चाहिए। आदमी सब कुछ पावे, पर "अपने" ही को, अपनी रूह को, आत्मा ही को, खो दे, भुला दे, तो उस ने क्या पाया, उस को क्या लाभ हुआ? दुनिया की और खुदा की, दोनों की, पूजा साथ-साथ नही हो सकती। खुदा को, आत्मा को, और आत्मधर्म को, सत्य को, ऋत को, पहिचान लो, पा लो, फिर यह सब दुनियावी चीजें भी आप से आप मिल जायँगी। परम सत्य को, तत्व को, हक को ढूँढ निकालो और गले लगाओ, अन्य सब पदार्थ स्वयं उस के पीछे आ जायँगे[1]।

---

[1] बंधु और मोक्ष के भाव और शब्द कैसे स्वाभाविक और व्यापक हैं, इस का उदाहरण देखिए, कि ईसा के धर्म के संबंध में भी ये पाए जाते हैं। पाउल गर्हार्ट नाम के भक्त का भजन है,

"आइ ले इन क्रूएल बांडेन, दाउ केमस्ट एण्ड मेड मी फ्री।"

"आत्म लाभ से सर्व लाभ" यही बात उपनिषदों में गीता में, कही है—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ (गीता)

आत्मनस्तु कामाय सर्वं वै प्रियं भवति ।
एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति ।
एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म, एतद्ध्येवाक्षरं परं ।
एतदेव विदित्वा तु यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ (कठ)

यं यं लोकं मनसा संविभाति, विशुद्धसत्वः कामयते यांश्च कामान् ।
तं तं लोकं जयते, तांश्च कामान्, तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥
(मुंडक)

आत्मैवेदं सर्वमिति‥ ‥एवं पश्यन्‥‥ ‥आत्मानंदः स स्वराट् भवति, तस्य सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति । (छांदोग्य)

अर्थात्, अन्य धर्मों को, आत्मा से अन्य पदार्थों के धर्मों को, सब को छोड़ कर, मेरी शरण लो । 'मैं', आत्मा, तुम को सब दुःखों से, सब पापों से, छुड़ावेगा । सब कुछ, माल-मता, इज्जत-हुकूमत-दौलत-मनबहलाव, दोस्त आश्ना, बाल बच्चे, देव और इष्ट, जो कुछ भी प्यारे हैं, आत्मा ही के वास्ते, अपने ही वास्ते, प्यारे होते हैं । आत्मा ही खो जाय तो सब कुछ खो गया । उस एक के जानने से सब कुछ जाना जाता है । उस को जान कर, अक्षर, अविनाशी, सब से बड़ी, सब से परे वस्तु को जान कर, पा कर, फिर जिस किसी वस्तु को चाहेगा, वह अवश्य मिलेगी । यह आत्मा ही प्रणव से, ओंकार से, सूचित ब्रह्म है, सब कुछ इस आत्मा के भीतर है, तो यह जानकर जो कुछ चाहेगा वह आत्मा से ही पावेगा । जिस जिस लोक में जाना चाहेगा उस-उस लोक में बिना रुकावट जा सकेगा, आत्मज्ञानी, आत्मानंद, ही तो

I lay in cruel bondage, thou cam'st and made me free.—अर्थात्, मैं बंधन में पड़ा था, तूने आकर मुझे मुक्त किया, स्वतंत्र किया ।

अँग्रेज़ी शब्द "बांड" प्रायः संस्कृत शब्द "बंध" का ही रूपांतर है ।

Emancipation of the mind, fetter of the soul, freedom of thought, deliverance from sins, bondage of the spirit, bonds of sin, spiritual bondage, spiritual freedom, salvation, political bondage, political freedom, ये सब शब्द उन्हीं मूल भावों के द्योतक हैं ।

सच्चा स्वराट् है, स्व-राज्य वाला है, उस की गति किसी लोक में नहीं रुकती[1]।

सूफ़ी

बिजिन्स यही बाते सूफियों ने कही हैं।

न गुम शुद कि रूयश ज़ि दुनिया बिताफ़्।
कि गुम गश्तए ख़्वेश रा बाज़ याफ़्॥
हम् ख़ुदा ख़्वाही व हम् दुनियाइ दूं।
ईं ख़्यालस्तो मुहालस्तो जुनू॥
हर कि ऊ रा याफ़् दुनिया याफ़्ः।
ज़ाँ कि हर ज़रः ज़ि मिह्रश ताफ़्ः॥

अर्थात्, जिस ने दुनिया से मुँह फेरा वह गुम नहीं हुआ, बल्कि गुमगश्ता, खोए हुए, भूले हुए, आपे को, अपने को, आत्मा को, उस ने वापस पाया। दुनिया को भी और ख़ुदा को भी चाहो, और दोनो को साथ ही पावो, यह मुश्किल है, वहम है, पागलपन का ख़याल है। अगर ख़ुदा को, परमात्मा को, अपनी अजर अमर आत्मा को पहिचानना और पाना है, अगर सब ख़ौफ और तकलीफ, सब क्लेश और बध, सब हिर्स और हवस को असीरी, से हमेशा के लिए नजात, मोक्ष, आज़ादी, स्वतंत्रता चाहते हो, सब "सिन" से "साल्वेशन" पाने की ख्वाहिश है, तो एक बार तो दुनिया से तमामतर मुँह मोड़ना ही होगा। एक बार तो सारा दिल ख़ुदा की खोज मे लगा देना ही होगा। जब उस को पा लोगे तब उस की बनाई हुई सब चीज़ों को आप से आप पाओगे। सारी दुनिया, एक-एक ज़र्रा, एक-एक अणु, परमाणु, परमात्मा की अचरज माया शक्ति से, मिह्र से, जिस की अस्लियत वही है जो तुम्हारे ख़याल की क़ूवत की है, बना है।

जो इल्मो हिकमत का वो है दाना, तो इल्मो हिकमत के हम हैं मूजिद।
है अपने सीने में उस से ज़ायद, जो बात वायज़ किताब में है॥

अर्थात्, जीवात्मा जब परमात्मा को पा ले, यह पहिचान ले कि दोनों एक ही हैं, तो परमात्मा मे जो अनंत सर्वज्ञता भरी है वह इस जीवात्मा में

---

[1] "He has the freedom of all the worlds, can enter into any world at will". इङ्गलिस्तान में "freedom of a town" किसी को उस नगर की ओर से देना बड़े आदर का चिन्ह समझा जाता है। अब तो यह एक निरी रस्म मात्र रह गई है। पर प्रायः पूर्व काल में इस का अर्थ यह होगा कि उस आदृत सज्जन के लिए "सब घरों के दर्वाज़े खुले हैं।"

नई-नई ईजादों की, आविष्कारो को, शकल से जाहिर होने लगती है। उस की रचना शक्ति, माया शक्ति, सकल्प शक्ति, इस मे भी कल्पना शक्ति की सूरत में नुमायाँ होती है। जीवात्मा और परमात्मा की, रूह और रूहुलरूह की, ऐनि-मुअय्यन और ऐनि-मुरक्कब की, एकता को पहिचाने बिना भी जो कुछ ईजाद इन्सान करते हैं, जो कुछ नया इल्म ढूंढ़ निकालते हैं, वह सब उसी अथाह इल्म के खजाने से, ब्रह्मा से, महत्तत्व से अक्लि-कुल रूहि-कुल से, ही उन को मिल जाता है। पहिचान कर ढूंढने से ज्यादा आसानी से मिलता है। एक की हालत अंधेरे में टटोल कर पाने की है, दूसरे की चिराग लेकर खोजने और पाने की है।

तौरेत, इञ्जील, .क़ुरान

.क़ुरान में भी ऐसी बातें मिलती हैं। मुहम्मद ने भी पच्चीस बरस की उमर से चालीस की उमर तक, यानी पंद्रह बरस, तपस्या की, पहाड़ों में जाकर, सुबह से शाम तक, शाम से सुबह तक, ध्यान में, मुराकिबा में, गर्क होकर, खुदा को, अल्ला को, आत्मा को, ढूँढा और पाया। तब दुनियां को सिखाया।

इन्नल् ख़ासिरीन् अल्लज़्जीना ख़सेरु अन्फ़ुसहुम् (कुरान)।

बड़ा नुकसान उन्होंने उठाया जिन्होंने अपनी नफ्स को, अपने आपे को, आत्मा को खोया।

नसुल्लाहा फअन्साहुम् अन्फ़ुसहुम् (.क़ुरान)।

जो अल्लाह को, परमेश्वर को, भूले, वे अपनी नफस को, अपने को भूले।

एज़ा अहब्बल्लाहो अब्दन् अग़तम्महू बिल्-बलाए (हदीस)।

अल्ला, परमात्मा, अंतरात्मा, जब किसी अब्द से, बन्दे से, मुहब्बत करता है, तब बलाओं से उस का गला पकड़ता है, उस के ऊपर मुसीबतें डालता है, ताकि वह दुनियावी हिर्सों से मुड़े और 'मेरी', अल्ला की, परमात्मा की, तरफ़ आवे।

इञ्जील का यही मजमून है,

हूम दि लार्ड लवेथ ही चेस्टनेथ[1] (बाइबल)।

जिस का ठीक शब्दांतर भागवत का श्लोक है,

यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम्।

अर्थात्, जिस का भला चाहता हूँ उस का सरबस हर लेता हूँ, छीन

---

[1] Whom the Lord loveth He chasteneth.

लेता हूँ। क्योंकि दुःखी होकर, बाहर की ओर से भीतर की ओर लौटता है, दुनिया की तरफ से खुदा की, आत्मा की, तरफ फिरता है, और तब उस को जरूर ही पाता है। यहां तक कि कुंती ने, कृष्ण के रूप मे अंतरात्मा से, यह प्रार्थना की है कि,

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो दर्शनं यत् स्याद् अपुनर्भवदर्शनम्॥ (भागवत)

अर्थात्, हम लोगों पर सदा आपत्, आफत्, विपत् पड़ती रहे सो ही अच्छा, जो आप का दर्शन तो हो, जिस से फिर ससार के बंधनों का दर्शन न हो।

यही मजमून मुहम्मद ने भी कहा है,

लौ यालमुल्-मोमिन् नियालहू मिनल्-अज्रे फिल मसायब लतमन्ना अन्नहू क़ुरेज़ा बिल मक़ारीज (क़ुरान)।

अर्थात्, अगर ईमानदार मोमिन श्रद्धालु यह इल्म ज्ञान रखता कि मुसीबतों मे उस के लिए कितनी उज्रत, कितना फायदा, कितना लाभ, रक्खा है, तो तमन्ना प्रार्थना करता कि मै कैंचियों से टुकड़े-टुकड़े कतरा जाऊँ।

साधारण ससार के व्यवहार मे भी, आपत्ति विपत्ति ऊपर पड़ने पर ही, दुर्बल प्राणी सबल शक्तिशाली प्रभाववान् के पास जाता है, और उस से सहायता की प्रार्थना करता है।

क्षुधातृषार्ता जननीं स्मरति।

बच्चे खेल कूद में मस्त बेफिक्र रहते हैं, जब भूख प्यास लगती है तब माँ को याद करते हैं। आध्यात्मिक व्यवहार में भी, ऐसे ही, परम आपत्ति आने पर ही, ससार से मुड़ कर, संसार के मालिक की, परमात्मा अंतरात्मा की, खोज जीव करता है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह कि पूर्व देश में जिस पदार्थ को दर्शन, और जिस के सबंधी शास्त्र को दर्शन शास्त्र, कहते हैं, उस का आरंभ दुःख से, और उस दुःख से आत्यंतिक ऐकांतिक छुटकारा पाने की इच्छा से, अथवा आत्यंतिक ऐकांतिक असंभिन्न अपरिच्छिन्न अनवच्छिन्न अपरिमित, "फैनल, कम्प्लीट, पर्फेक्ट, ऐब्सौल्यूट, अन-ऐलोयड, अन-लिमिटेड"[1] सुख पाने की इच्छा से,

---

[1] Final (आत्यंतिक, जो फिर न बदलै), complete, perfect, absolute (ऐकांतिक, अखंडित, निश्चित) unalloyed, unmixed (असंभिन्न), unlimited (अपरिच्छिन्न, अनवच्छिन्न, अपरिमित)।

जो भी वही बात है, हुआ। आत्यंतिक ऐकांतिक सुख की लिप्सा, और दुःख की जिहासा, यही दर्शन की ओर प्रवृत्ति का मूल कारण है। विशेष-विशेष सुख की लिप्सा और विशेष-विशेष दुःख की जिहासा से विशेष-विशेष शास्त्र और शिल्प उत्पन्न होते हैं। सुखसामान्य की प्राप्ति और दुःखसामान्य के निवारण के उपाय की खोज से शास्त्रसामान्य. सब शास्त्रों का सग्राहक अर्थात् दर्शन-शास्त्र (जो सब शास्त्रों के सार का, हृदय का, तत्त्वों का, तथा संसार के मूल परमात्मा का, दर्शन करा देता है, क्योंकि उस मे योग शास्त्र भी अंतर्गत है) उत्पन्न होता है।

दर्शन शब्द

इस शास्त्र का नाम दर्शनशास्त्र कई हेतुओं से पड़ा। सृष्टि-क्रम के इस विशेष देश-काल-अवस्था अर्थात् युग में ज्ञानेंद्रियों में दो, आँख और कान, तथा कर्मेंद्रियों में हाथ, अधिक काम करने वाली इंद्रियां हैं। प्रायः इन के व्यापारों के द्योतक शब्दों मे बौद्ध प्रत्यय ('मेन्टल आइडीयाज्' 'कानसेप्ट्स्') आदि पदार्थों का भी नामकरण सभी मानव भाषाओं में हो रहा है। नेदिष्ठ निस्सदेह ज्ञान, विस्पष्ट प्रत्यक्ष अपरोक्ष अनुभव, को दर्शन कहते हैं। "देखा आपने ?" "डू यू सी ?"[१] का अर्थ यही है कि, "आप ने ख़ूब साफ तौर से समझ लिया न ?"[२]

संसार के मर्म का, जीवन-मरण के रहस्य का, सुख दुःख के हृदय का, अपने स्वरूप का. पुरुष और पुरुष की प्रकृति का, जिस से दर्शन हो जाय वह दर्शन। दर्शन का अर्थ आँख भी। जिस से नयी आँख हो जाय. और, "नयी आँख को दुनिया नयी" के न्याय से, सारी दुनिया का रूप नया हो जाय, नया देख पड़ने लगे, वह दर्शन। "मेधाऽसि देवि विदिताखिलशास्त्र-सारा", सब शास्त्रों के सार को, तत्त्व को, पहिचानने की शक्ति हो जाय, सब में एक ही अर्थ, एक ही परमात्मा की विविध विचित्र अनत कला, देख पड़ने

---

१ Do you see ?

२ दर्शन का अर्थ मत, राय, view, opinion, भी है। यथा "प्रस्थानभेदाद् दर्शनभेदः"; स्थान बदला, दृष्टि बदली; अवस्था बदली, बुद्धि बदली, जगह दूसरी, निगाह दूसरी, हालत बदली, राय बदली; 'दि व्यु चेंजेज़ विथ दि स्टैंड-पोइन्ट", "ओपिनियन्स चेंज विथ दि ऐंगल आफ़ विझन आर दि सिच्युएशन,"

"The view changes with the standpoint", "Opinions change with the angle of vision, or the situation."

लगे, समदर्शिता[1] हो जाय, सब असंख्य मतों, धर्मों, रुचियों का विरोध-परिहार और सच्चा परस्पर समन्वय हो जाय सब बातों के भीतर एक ही बात देख पड़े, वह सच्चा दर्शन।

जिस से सब अनंत दृश्य एक ही द्रष्टा के भीतर ही देख पड़े, जिस से सब देश सब काल सब अवस्था मे अपना ही, आत्मा का ही 'स्व' का ही, 'मैं' का ही, प्राधान्य, राज्य, वश, देख पड़े, जिस से दु.ख के मूल का उच्छेद हो जाय, सुख का रूप बदल कर अक्षोभ्य शांति मे परिणत हो जाय, वह सच्चा दर्शन।[2]

न्याय

प्रसिद्ध छः दर्शनों के सूत्रों मे प्रायः यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि उन का प्रेरक हेतु, प्रयोजन, मकसद, यही सुख-लिप्सा दुःख-जिहासा, अथवा, रूपांतर में, बंध से मुमुक्षा है।

गौतम के बनाए न्याय सूत्र के पहिले दो सूत्र ये हैं—

प्रमाण-प्रमेय-सशय-प्रयोजन-दृष्टात-सिद्धात-अवयव-तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितडा-हेत्वाभास-छल-जाति निग्रहस्थानाना तत्त्वज्ञानान् निःश्रेयसाधिगमः। दुःख-जन्म-प्रवृत्ति-दोप-मिथ्याज्ञानाना उत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायाद् अपवर्गः।

सच्चे ज्ञान के उत्पन्न करने, ले आने, संग्रह करने के उपकरण, तथा ज्ञान की सत्यता की परीक्षा और निश्चय करने के उपाय, को प्रमाण कहते हैं। यानी सबूत, जरियइ-सुबूत, "प्रूफ" इत्यादि। जो पदार्थ प्रमाणो के द्वारा सिद्ध निश्चित किए जाते हैं उन को प्रमेय कहते हैं। इन दो से सबध रखने वाले इन के आनुषंगिक, शेष चौदह पदार्थ हैं। प्रमाण और प्रमेय आदि (जिन प्रमेयों में आत्मा मुख्य प्रमेय है) सोलह पदार्थो का तात्विक सच्चा ज्ञान होने से, दुःख और उस के कारणो की परपरा का उत्तरोत्तर, एक के बाद एक का, अपाय, अपगमन, निराकरण, क्षय होकर, अर्थात् तत्त्वज्ञान मिलने से मिथ्याज्ञान का क्षय, उस से राग-द्वेषादि दोषों का क्षय, उस से कर्मो मे प्रवृत्ति का क्षय, उस से सर्व दुःख का क्षय होकर, अपवर्ग, (जो मोक्ष और निःश्रेयस का नामांतर है) मिलता है। एक ही पदार्थ को, दुःखो के समूल अपवृश्चन से अपवर्ग कहते हैं, नितरां श्रेयस, जिस से बढ़कर श्रेयान् पदार्थ नही है, ऐसा होने से निःश्रेयस कहते हैं; मृत्यु के भय रूपी और अमरता में संशय रूपी मूल बंधनों से, तथा दुःखोत्पादक कर्मो और वास-

---

[1] Law of analogy.

[2] View.

नाओं के मूल बधनों से, छूट जाने से उसी को मोक्ष कहते हैं; चित्त की सब चंचलताओं क शांत हो जाने से, तृष्णा को जलती आग के बुझ जाने से उसी का निर्वाण कहते हैं। दूसरी भाषाओं मे उन उन भाषाओं के बोलनेवाले विद्वान्, सूफी, मिस्टिक, ग्नास्टिक, (Mystic, Gnostic) फिलासोफर सज्जनो ने उसी 'अहमेव सर्वः", "मुझमे सब, सब में मैं के परमानंद ब्रह्मानद को नजात, लज्ज़तुल्-इलाहिया, या फ़नाफिल्ला, यूनियन विथ गाड, फ्रीडम आफ़ दी स्पिरिट, डिवाइन ब्लिस, विझ़न आफ़ गाड, डेलिवरंस फ़्राम सिन, साल्वेशन, बोएटिट्यूड, बैप्टिज्म विथ दी होली गोस्ट, बिकमिङ् क्रैस्टास बिकमिंग ए सन आफ़ गाड[१] इत्यादि शब्दों से कहा है।

वैशेषिक

कणाद के रचे वैशेषिक सूत्रों के पहिले, दूसरे, और चौथे सूत्र ये हैं—

अथातो धर्मजिज्ञासा। यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवायाना पदार्थाना साधर्म्य-वैधर्म्याभ्या तत्त्वज्ञाना निःश्रेयसम्।

अर्थात्, धर्म वह पदार्थ है जिस से सांसारिक अभ्युदय और पारमार्थिक निःश्रेयस, भोग और मोक्ष, (दुनिया और आकबत, खिलकत और खालिक, दोनों मिलते हैं। इस धर्म में से एक विशेष भाग के आचरण से द्रव्य आदि पदार्थों के (जिन मे मुख्य द्रव्य आत्मा है) लक्षणात्मक धर्मो का, और उन के साधर्म्य-वैधर्म्य, सादृश्य-वैदृश्य का, तात्त्विक ज्ञान होता है, और तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस होता है। इस लिए साधनभूत मानव-धर्म की आपातत, और उस के साध्यभूत पदार्थों के धर्मो के तत्त्वज्ञान की मुख्यतः, जिज्ञासा की जाती है।

सांख्य

कपिल के नाम से प्रसिद्ध जो सांख्य सूत्र मिलते हैं उन का पहिला सूत्र यह है—

अथ त्रिविधदुःखात्यंतनिवृत्तिः अत्यंतपुरुषार्थः।

---

[१] Union with God; freedom of the spirit, divine bliss, vision of God; deliverance from sin, salvation; beatitude, baptism with the Holy Ghost; becoming Christos; becoming a son of God.

ईश्वर-कृष्ण की रची सांख्य-कारिका का पहिला श्लोक भी यही अर्थ कहता है—

दुःखत्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ।
दृष्टे साऽपार्था चेन्, न, एकाताऽत्यततोऽभावात् ॥

अनेक प्रकार के दुःख मनुष्यों को सताते हैं। उन की यदि राशियाँ की जायँ, तो तीन मुख्य राशियाँ होंगी, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक। वाचस्पति मिश्र ने, सांख्य-तत्व-कौमुदी नाम की सांख्यकारिका की टीका में, इन तीनों का अर्थ एक उत्तम रीति से किया है। यथा, आध्यात्मिक दुःख दो प्रकार के, शारीर और मानस। पाँच प्रकार के वात अर्थात् प्राण वायु, पाँच प्रकार के पित्त, पाँच प्रकार के श्लेष्मा[1]—इन के वैषम्य से, उचित मात्रा में न होकर कमी बेशी से, जो रोग पैदा हों वे शारीर। काम क्रोध लोभ मोह मद मत्सर आदि से जो दुःख पैदा हों वे मानस। यह सब आंतरिक उपाय से साध्य हैं, चिकित्सनीय हैं, इसलिये आध्यात्मिक, क्योंकि आत्मा देह भी, जैव भी। बाह्य उपायों से साध्य दुःख दो प्रकार के, आधिभौतिक और आधिदैविक। दूसरे जंगम प्राणियों से तथा प्राकृतिक स्थावर पदार्थों से, जो दुःख अपने को मिलें वह सब आधि-भौतिक, और यक्ष, राक्षस, विनायक, ग्रह आदि के आवेश[2] से जो हों वह आधिदैविक।

यह वाचस्पति मिश्र का प्रकार है। यदि इस से संतोष न हो तो दूसरे प्रकारों से भी अर्थ किया जा सकता है, और उक्त प्रकार के साथ उन का कथंचित् समन्वय भी हो सकता है। कृष्ण ने गीता के आठवे अध्याय मे भी इन शब्दों का अर्थ बताया है। उस के अनुसार, नये शब्दों मे, यो कह सकते हैं कि तीन पदार्थ अनुभव से सिद्ध है, एक 'मैं' जानने वाला, दूसरा 'यह' जो कुछ

---

[1] Diseases due to the derangements of the nervous system and "the five kinds of nervous forces", of the assimilative system and "the five kinds of digestive and bodily-heat-producing secretions"; and of the tissue-building apparatus and "the five kinds of mucous substances".

कविराज श्री कुंजलाल भिषग्रत्न ने सुश्रुत का जो अंग्रेज़ी अनुवाद किया है, उस में बड़ी विद्वत्ता और बुद्धिमत्ता से इन तीनों का अर्थ वैज्ञानिक और युक्तियुक्त करने का यत्न किया है।

[2] *Obsession by evil spirits*

जाना जाता है, तीसरा इन दोनों का 'संबध'। विषयी, विषय, और उन क संबंध। चेतन, जड़, और उन का सबंध। स्पिरिट, मैटर, फोर्स,[१]। सबजेक्ट आबजेक्ट, रिलेशन[२]। गाड, नेचर, मैन[३]। जीवात्मा (अर्थात् तत्स्थानं चित्त, मन, अन्तःकरण), देह, और दोनों को बाँध रखने वाला प्राण। भिन्न-भिन्न प्रस्थानों से देखने से ऐसे भिन्न-भिन्न त्रिक देख पड़ते हैं। इन में सूक्ष्म भेद भी है, तो स्थूल रूप से समानता भी है। मूल त्रिक पहिले कहा, विषयी-मैं-चेतन, विषय-यह-जड़, और दोनों का सबंध। इसी मूल त्रिक की छाया अन्य सब पर पड़ती है। तो अब मानव सुख दुःख के प्रसङ्ग मे, मुख्य तो दो ही प्रकार देख पड़ते हैं। एक तो जो अधिकांश भीतरी हैं, अपने आत्मा जीवात्मा मन के हैं, अपनी प्रकृति के किए हैं, अन्तःकरण से विशेष संबंध रखते हैं, काम, क्रोध, भय, लोभ, चिंता, ईर्ष्या, पश्चात्ताप, शोक आदि के दुःख—आदि और उनके विकार, इन को आध्यात्मिक कह सकते हैं।

दूसरे जो बाहर से आते हैं, अधिकांश बाहरी हैं, जिन को दूसरे प्राणी, अथवा जड़ पदार्थ, पत्थर, लकड़ी, काँटा, विष, जल, आग, बिजली आदि पाञ्चभौतिक पदार्थ, हमारे पाञ्चभौतिक शरीर को पहुँचाते हैं—इन को आधिभौतिक कह सकते हैं। तीसरे हमारे जीव और हमारी देह को एक दूसरे से बांधने वाले जो प्राण हैं, उन के विकार से जो उत्पन्न होते हैं, उन को आधिदैविक कह सकते हैं। दीव्यति, क्रीड़ति, विजिगीषति, व्यवहरति, द्योतते, मोदते, माद्यति, स्वपिति, कामयते, गच्छति—दिव् धातु के ये सब बहुत से अर्थ हैं।। क्रीड़ा, खेल, का भाव सब में अनुस्यूत हैं, सब का संग्राहक है। आत्मा और अनात्मा का, पुरुष और प्रकृति का, परस्पर खेल, जीवत् प्राणवान् शरीर के द्वारा—यही संसार का रूप है। प्राण ही मुख्य देव है[४]। तो प्राणों के विकार से जो रोग और दुःख हों, वे आधिदैविक। अब पश्चिम के वैज्ञानिक भी धीरे-धीरे मानने लगे हैं, कि मनुष्य, पशु, वृक्ष, और धातु[५] की सृष्टियों के सिवा अन्य 'योनियों' का भी सभव है। जो हम को चर्म-चक्षु से नहीं देख

---

[१] Spirit, matter, force

[२] Subject, object, relation, between the two

[३] God, Nature, Man.

[४] प्राणों के, इन्द्रियों के, महाभूतों के, 'अभिमानी देव' भी उपनिषदों में कहे हैं। एक अर्थ में यह भी कहना ठीक हो सकता है, कि मानव जीव सभी प्राणों इन्द्रियों महाभूतों का अभिमानी देव है, क्योंकि इस के पिंड में समस्त ब्रह्मांड के पदार्थ, बिंब-प्रतिबिंबन्याय से उपस्थित हैं।

[५] Human, animal, vegetable, mineral, kingdoms.

पड़तीं। स्थूल शरीर के स्थूल नेत्रों से जितना हम को देख पड़ता है, उस के सिवा जगत् में और कुछ है ही नहीं, ऐसा कहना थोथा अहंकार है[१]।

देव, उपदेव, यक्ष, राक्षस, गंधर्व, अप्सरा, भूत, प्रेत, पिशाच[२] आदि जीव भी नितरां असभाव्य नहीं है। "साइकिकल रिसर्च" मे जो वैज्ञानिक प्रवृत्त हैं, वे इन के विषय में ज्ञान का संग्रह, उचित परीक्षा के साथ, कर रहे हैं; न अंध विश्वास करते हैं न अध अविश्वास ही। तो यदि ऐसे जीव हों, और उन से हमारे प्राणों को, और उस के द्वारा हमारे चित्त को, उन्माद, अपस्मार, आदि रूप से, बाधा पहुँचे, तो उस दुःख को भी आधिदैविक कह सकेंगे। साइको-ऐनालिसिस, साइकिआट्री, साइकोथिरापी, साइकिकल रिसर्च[३] आदि के विविध वैज्ञानिक मार्गों से, पश्चिम मे जो अन्वेषण हो रहा है उस से, आगे चल के, इन सब विषयों का जो भारतीय शास्त्र, योग और तंत्र-मंत्र का, नष्ट-भ्रष्ट हो गया है, उस का वैज्ञानिक रूप मे जीर्णोद्धार होगा—इस की सभावना है। अस्तु। इस स्थान पर आधिदैविक शब्द के अर्थ के निर्णय के संबंध में यह चर्चा हुई। निष्कर्ष यह कि दुखों का यह राशीकरण[४] एक सूचना मात्र है। भिन्न दृष्टियों से भिन्न प्रकारों की राशियां बनाई जा सकती हैं। विशेष-विशेष दुःखों के प्रकार अनंत असंख्य अपरिगणनीय हैं। दुःख का सामान्य रूप एक ही है, वह अनुभव से ही सिद्ध है अर्थात् 'मैं' का 'ह्रास,' जैसे 'मैं' की 'वृद्धि' बहुता, बाहुल्य, सुख है; "भूमा एव सुखम्"। अध्यात्म, अधिभूत, अधिदेव—यह सदा अभेद्य रूप से परस्पर बद्ध हैं। जिस की कहीं प्रधानता हो जाती है, वहां उसी का नाम दिया जाता है। आयुर्वेद में रोगों की प्रायः दो राशि की हैं, एक आधि अर्थात् मानस, और दूसरी व्याधि अर्थात् शारीर। और यह भी कहा है कि आधि से व्याधि और व्याधि से आधि उत्पन्न होती है[५]।

---

[१] "What I know not is not knowledge"

[२] Nature spirits, angels, sylphs, fairies, undines, gnomes, brownies, ghosts, devils, demons, fiends, vampires, succubi, incubi, etc. [३] Psycho-analysis, psychiatry, psycho-therapy, psychical research "The neurotic patient is set *free* from his neurosis"—this is an idea and expression of frequent occurrence in *psycho*-ana-lytic literature, and it is noteworthy

[४] Classification

[५] Compare "..Psychogenic disorders, that is, disorders originating in the mind....are variously distinguished as 'psycho-neuroses,' 'functional nervous disorders', or, more popularly, 'nervous diseases' They include neurasthenia, hysteria anxiety neuroses, phobias, and obsessions, all of which conditions are ultimately due to disturbances of emotional life In the psycho-

इन सब वर्गों के, अर्थात् मानस, शारीर, और मध्यवर्ती अवांतर जो कोई हों, सब दुःखों का, एकांत, निश्चित, और अत्यत, सदा के लिए, जड मूल से, जो फिर न उपजै, ऐसा नाश, दृष्ट उपायों से, औषध आदि से, नहीं होता देख पड़ता है। इस लिए ऐसे उपाय की जिज्ञासा होती है जिस से इन का समूल, सार्वदिक, असशयित विनाश हो जाय। वह कैसे हो ?

सांख्य का उत्तर है,

ज्ञानेन चाऽपवर्गो······व्यक्ताऽव्यक्तज्ञविज्ञानात्।

बुद्धिर्विशिनष्टि पुनः प्रधानपुरुषातर सूक्ष्मम्॥ (साख्यकारिका)

सच्चे ज्ञान से ही अपवर्ग होता है। 'ज्ञ', ज्ञाता, द्रष्टा, आत्मा, पुरुष स्पिरिट,[1] रूह, एक ओर, ज्ञेय, प्रकृति, प्रधान, दृश्य, व्यक्त, मात्रा, मैटर,[2] माद्दा, जिस्म, दूसरी ओर, इन का भेद-रूप सबध, कारण-रूप अव्यक्त शक्ति तीसरी ओर; इन तीनों का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। ज्ञेय में उस के दोनों रूप, कार्य-रूप व्यक्त और कारण-रूप अव्यक्त, अतर्गत हैं। और 'ज्ञ' में 'ज्ञेय' अतर्गत है। अपवर्ग के इस ज्ञान-रूपी उपाय को, ख्याति को, विवेकख्याति को, प्रकृति और पुरुष के परस्पर अन्यता भिन्नता की ख्याति को, पुरुष के तात्विक स्वरूप की ख्याति को, कि वह प्रकृति से अन्य है, भिन्न है, इसी विवेकात्मक ख्याति को दर्शन कहते हैं, यह सांख्य का कहना है। "एकमेव दर्शन, ख्यातिरेव दर्शनं"—ऐसा पचशिख आचार्य का सूत्र है।

योग

पतञ्जलि के योग सूत्रों मे भी ये ही बातें हैं।

परिणाम-ताप-सस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। हेय दुःखमनागतम्। द्रष्टृदृश्ययोः सयोगो हेयहेतुः। तस्य हेतुरविद्या। विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः। (अ० २—सू० १५, १६, १७, २४, २६)।

---

neuroses the disorder is not primarily a disorder structure, but of function 'Organic' diseases, as distinct from 'functional', are preponderatingly physical in origin, their cause being some defect of bodily structure It is a fact that emotional disturbances can produce physiological changes" J N Hadfield, *Psychology and Morals*, p. 1, (pub 1927)

[1] Spirit.

[2] Matter, "मात्रास्पर्शास्तु कौंतेय," etc मांति, परिमापयंति, अवच्छेदयंति, आत्मानं, इति मात्राः, महाभूतानि, इंद्रियविषयाणि, इन्द्रियाणि च।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः । पुरुषार्थशून्याना गुणाना प्रतिप्रसवः कैवल्यं, स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति । (अ०,सू०४-३०-३४) ।

अर्थात्, जिस को हम लोग सुख समझते हैं वह भी, विवेक से, बारीक तमीज से, देखने से, कोमल चित्त वाले, नाजुक तबीयत वाले, जीव के लिए दुःख ही है। परिणाम मे, आखिरत में, वह भी दुःख ही देता है, इस लिए आदि से ही सब संसार दुःखमय, दुःखव्याप्त, जान पड़ता है। जिस को यह मालूम है कि मुझे कल जहर का प्याला पीना पड़ेगा ही, उस को आज स्वादु से स्वादु खाद्य चोष्य लेह्य पेय व्यंजन भी प्रिय नहीं लग सकता। और भी। विविध प्रकार की वृत्तियां, वासनाएं, चित्त के भीतर परस्पर कलह सदा किया करती हैं, एक को पूरी करने का सुख होता है, तो साथ ही दूसरी तीसरी के भंग का दुःख होने लगता है, इस से भी सब जीवन सुकुमार-चित्त वाले विवेकी विद्वान् को दुःखमय जान पड़ता है। इस लिए, जो दुःख बीत गया उस की तो अब कोई चिकित्सा नही हो सकती, जो आने वाला है उस को दूर रखना चाहिए। कैसे दूर हो ? तो पहिले रोग का कारण जानो, तब चिकित्सा करो। सब दुःखों का मूल कारण, द्रष्टा और दृश्य, पुरुष और प्रकृति, का सयोग है। और उस संयोग का भी हेतु मिथ्याज्ञान, ग़लत-फ़हमी, धोका, ला-इल्मी, बेवकूफ़ी, अविद्या है। उस को दूर करने का एकमात्र उपाय, तत्वज्ञान, सच्चा ज्ञान, विद्या, वक्‌फ़, इर्फ़ान, मारिफत, यानी यह कि पुरुष और प्रकृति के, चेतन और जड़ के, विषयी और विषय के, 'मैं' 'और मेरे' के, विवेक को, फर्क को, भेद को, खूब अच्छी तरह पहिचानो। इस विवेक-ख्याति से सब कर्म और क्लेशों की निवृत्ति होगी। और वासना, तृष्णा, के क्षीण होने पर, सत्त्व-रजस्-तमस् अर्थात् ज्ञान-क्रिया-इच्छा, तीनों गुण, स्पंद-रहित होकर शांत हो जायेंगे, बीजावस्था को चले जायगे, और चित्, चेतन, आत्मा, अपने स्वरूप मे प्रतिष्ठित हो जायगा, केवल अपने ही को देखेगा, 'एकमेवाद्वितीयं' रूपी कैवल्य को प्राप्त हो जायगा, अपने सिवा किसी दूसरे को कहीं भी कभी भी नहीं देखेगा, । 'ग़ैरियत' को छोड़ कर 'अनानियत' में कायम हो जायगा। जब रूह को, आत्मा को, अपना सच्चा स्वरूप मालूम हो जाता है, तब चचल इच्छाओं की अधीनता से, दीनता से, हिर्सो-हवस की असीरी से, वह मुक्त हो जाता है। सब काल मे, सब देश में, केवल 'मैं ही मैं हूँ,' 'सब वासना केवल मेरे ही अधीन हैं, मै उन का अधीन नही हूँ,' ऐसा कैवल्य, वहदियत, परतन्त्रता से मोक्ष, सब दुःखों के जड़ मूल से नजात, छुटकारा, उस को प्राप्त होता है।

(पूर्व) मीमांसा

जैमिनि के मीमांसा सूत्रों का भी पहिला सूत्र वही है जो वैशेषिक का।

अथातो धर्मजिज्ञासा ।

इस के भाष्य मे शबर मुनि ने कहा है,

तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्यः । स हि निःश्रेयसेन पुरुष संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे ।

को धर्मः, कथ लक्षणः, कान्यस्य साधनानि, कानि साधनाभासानि, किंपरश्चेति । धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः, केचिदन्य धर्ममाहुः केचिदन्य । सोऽयमविचार्य प्रवर्त्तमानः कचिदेवोपाददानः विहन्येत, अनर्थं वा ऋच्छेत् ।

अर्थात् धर्म के सच्चे स्वरूप को जानना चाहिए, धर्म क्या है, कर्त्तव्य क्या है, इस का लक्षण क्या है, इस के साधन क्या हैं, धोखा देने वाले धर्माभास और साधनाभास क्या हैं, इस का अतिम तात्पर्य, इस का प्रयोजन, क्या है । धर्म के विषय मे बड़े जानकार मनुष्यों में भी मतभेद और विवाद और भ्रांति देख पड़ती है, कोई एक बात कहते हैं, कोई दूसरी बात कहते हैं । तो बिना गहिरा विचार किए, किसी एक को धर्म मान ले और तदनुसार आचरण करने लगे तो बहुत संभव है कि मारा जाय, अथवा बड़ी हानि उठावे । इस लिए धर्म के सच्चे स्वरूप को खोजना और जानना चाहिये । धर्म के सच्चे ज्ञान और आचरण से पुरुष को निःश्रेयस प्राप्त होता है । यह मीमांसा शास्त्र की प्रतिज्ञा है ।

यद्यपि मीमांसा शास्त्र का साक्षात् सबंध कर्मकांड से, यज्ञादि-आपूर्त्तादि धर्म से कहा जाता है, ब्रह्मज्ञान से और ब्रह्म से नही, तो भी उस का अतिम लक्ष्य वही है जो दूसरे दर्शनों का । प्रसिद्ध यह है कि नित्य, नैमित्तिक, और काम्य (अर्थात् यज्ञ यागादिक 'इष्ट, और वापी कूप तड़ाग आदि के लोकहितार्थ निर्माण आपूर्त्त) कर्म से, स्वर्ग मिलता है, और स्वर्ग में विविध प्रकार के उत्कृष्ट इद्रिय-विषयक सुख मिलते हैं, अमृतपान, नंदनवन, गधर्व और अप्सरा का गीत वाद्य नृत्य आदि । पर मीमांसा मे 'स्वः' शब्द की जो परिभाषा की है उस का अर्थ कुछ दूसरा ही है ।

यन् न दुःखेन सभिन्न न च ग्रस्तमनतरम् ।
अभिलाषोपनीत च तत्पद स्वःपदास्पदम् ॥

जिस सुख में दुःख का लेश भी मिश्रित न हो, जिस का कभी लोप न हो, जो कभी दुःख से ग्रस्त अभिभूत न हो जाय, जो अपनी अभिलाषा के अधीन हो, किसी पराए की इच्छा के अधीन नहीं, उस पद को, उस अवस्था को, उस सुख को 'स्वः' शब्द से कहते हैं । तो यह सुख तो पूर्व-परिचित सांख्यादि दर्शनों का कहा हुआ आत्यतिक ऐकातिक आत्मवशता-रूप निःश्रेयस मोक्ष ही है ।

मनु ने भी कहा है,

सर्वं परवश दुःखं सर्वमात्मवशं सुखं।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ (४-१६०)
सर्वभूतेषु चात्मान सर्वभूतानि चात्मनि।
समं पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥ (१२-६१)

परवशता ही दुःख, आतमवशता ही सुख है। जो अपने को सब मे, सव को अपने मे, समदृष्टि से देखता, और इस दर्शन से ही सर्वदा आत्म-यज्ञ करता है, वह स्वाराज्य को पाता है। निःश्रेयस, मोक्ष, निर्वाण, अपवर्ग, कैवल्य, स्वरूप-प्रतिष्ठा, सब पर्याय हैं।

इस रीति से देखने से जान पड़ेगा कि, जैसा कुछ लोग विचार करते हैं कि पूर्व मीमांसा का और उत्तर मीमांसा का अशमनीय विरोध है, सो ठीक नहीं। धर्म और ब्रह्म, कर्म और ज्ञान, प्रयोग और सिद्धांत, लोक और वेद, व्यवहार और शास्त्र, प्रैक्टिस और थियरी, ऐप्लिकेशन और प्रिंसिपल, सायंस और फिलासोफी,[1] अमल और इल्म, का संबध अविच्छेद्य है। शुद्ध आचरण से, पुण्य कर्म से, शुद्ध ज्ञान; और शुद्ध ज्ञान से शुद्ध कर्म—ऐसा अन्योऽन्याश्रय है।

वेदांत अथवा उत्तर मीमांसा

वादरायण के कहे ब्रह्म सूत्रों मे तो प्रसिद्ध ही है कि आत्मा के, 'मैं' के, ब्रह्म के, सच्चे स्वरूप के ज्ञान से, ब्रह्मलाभ, ब्रह्मसम्पत्ति, सब दुःखों से मुक्ति, आनंद और शांति की परा काष्ठा की प्राप्ति, होती है। इन सूत्रों को वेदांत के नाम से कहते हैं, यद्यपि यह नाम तत्त्वतः तो उपनिषदो का है, क्योकि वेद नाम से विख्यात ग्रंथों के अंत में ये उपनिषद् रक्खे हैं; अथ च वेद का, ज्ञान का अत, समाप्ति, पूर्णता, परा काष्ठा, परमता, जिस को बौद्ध संकेत में पारमिता, प्रज्ञापारमिता, कहते हैं, इन में पाई जाती है। कर्म कांड के पीछे ज्ञान कांड का रखना सर्वथा न्याय-प्राप्त, मानव जीवन के विकास के क्रमिक इतिहास के अनुसार ही, है। पहिले प्रवृत्ति, तब निवृत्ति। पहिले यौवन मे बहिर्मुखवृत्ति और चंचलता और विविध कर्मों में लीनता, पीछे वार्धक्य में अतर्मुखता, कर्म-शिथिलता, स्थितिशीलता, स्थिरबुद्धिता, ज्ञानपरायणता। वेदांत को ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, पराविद्या, आदि नाम से भी पुकारते हैं। और ऐसा जान पड़ता है कि, भगवद्गीता के गायक कृष्ण के समय में, सांख्य और योग इसी वेदांत के ही दो अर्ध, पूर्वार्ध-परार्ध, अर्थात् ज्ञानांश और कर्मांश, शास्त्रांश प्रयोगांश, थियरी-प्रैक्टिस, सायंस आफ पीस और सायंस आफ़ पावर (आकल्ट सायंस,

---

[1] Practice and theory, application and principle, science and philosophy

मैजिक, थामेटर्जी)[1], मेटाफिजिक्स और स्युपर-फिजिक्स (या साइको फिजिक्स) इल्म-अमल, इर्फान-सुलूक, समझे जाते थे ।

साख्ययोगौ पृथग् बाला: प्रवदंति न पंडिताः । (गीता)

सांख्य और योग को वे ही लोग पृथक् बताते हैं जिन की बुद्धि अभी बाल्यावस्था मे है, बालको की सी है। सद्-असद्-विवेकिनी बुद्धिः पंडा, सा सजाता यस्य स पंडितः। सत् और असत् मे विवेक कर सकने वाली बुद्धि का नाम पंडा, वह जिस में सम्यक् जात, अच्छी तरह से उत्पन्न हो गई है, वह पंडित। जो पडित है वह सांख्य और योग को पृथक् नही देखता, उनको एक दूसरे के पूरक समझता है ।

ब्रह्म सूत्रों मे दर्शन के प्रयोजन का प्रतिपादन करने वाले सूत्र ये हैं,

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा । जन्माद्यस्य यतः।। तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात्। (अ०१,पा० १,सू०१, २, ७)। तदधिगमे उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्यपदेशात्। यदेव विद्ययेति हि। भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते। (४-१--१३, १८, १९) संपद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् । मुक्तः प्रतिज्ञानात् । अनावृत्तिः शब्दाद् अनावृत्तिः शब्दात्। (४-४—१, २, २२)

अर्थात् बृहत्तम, ब्रह्म, सब से बड़े पदार्थ, की खोज करना चाहिए, उस को जानना चाहिए। जो पदार्थ ऐसा बृहत्तम, महत्तम, महतो महीयान्, कि यह सब संसार उस के अधीन हो, "वशे प्रभो मृत्युरपि ध्रुव ते," कोई वस्तु जिस के अधिकार के बाहर न हो, जिस को, जिस से, जिस के लिए, जिस में से, जिस का, जिस मे, और जो ही स्वयं, (यतः, सार्वविभक्तिकस्तसिः), यह सारा व्यस्त समस्त जगत् हो। यह इष्टों का इष्ट, वंहिष्ठ भी अल्पिष्ठ भी, महिष्ठ भी अणिष्ठ भी, गरिष्ठ भी लघिष्ठ भी, दविष्ठ भी नेदिष्ठ भी, श्रेष्ठ भी प्रेष्ठ भी, चेतना, चित्, चितिशक्ति, चैतन्य, आत्मा ही है। इस विद्या, इस ज्ञान, इस अनुभव मे परिनिष्ठित होने से, अभेद-बुद्धि का, "युनिवर्सोलिटी, युनिटी, कन्टिन्युइटी, आफ़ आल लाइफ, कान्शसनेस्, नेचर," [2]का, तौहीद, इत्तिहाद, ला- तफ़्रीक का, यकीन हो जाता है। तब आत्मा को बांधने वाले, बंधन में डालने वाले, आजादी, स्वतन्त्रता, स्वराज्य से गिरा कर परतंत्रता, पराधीनता, दीनता में डालने वाले, सब पुण्य पापों के मूल राग-द्वेष आदि

---

[1] Theory-practice , Science of Peace and Science of Power (occult science, magic, thaumaturgy, etc), metaphysics-superphysics (or psycho-physics)

[2] Universality, unity, continuity, of all life, of all consciousness, of all nature.

की वासना का, तृष्णा का, मायाबीज की घोरता उग्रता का, जिस को अब पच्छिम में "विल्-टू-लिव्, विल-टु-पावर, लिबिडो, एलान् वीटाल्, हार्मे, अर्ज-आफ-लाइफ" [1]आदि नामों से पहिचानने और कहने लगे हैं, क्षय होता है। तब शांत मन से, अपने प्रारब्ध कर्मों के फलभूत सुख-दुःखों का सहन करता हुआ, स्थिर-बुद्धि, असंमूढ़, स्थितप्रज्ञ, अपने परमात्मभाव में सपन्न और प्रतिष्ठित, जीव सब मिथ्या भावों से मुक्त हो जाता है[2]। जब तक शरीर रहता है तब तक अपने कर्त्तव्यों को पालन करता रहता है, पर नए धोखों के चक्कर में नहीं पड़ता, और छूटने के बाद फिर इस जगत् में नहीं आता।

ब्रह्मविद् आप्नोति परम्। ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति। ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।[3]

ब्रह्म को जानने वाला परम पदार्थ परमार्थ को पाता है। जो ही ब्रह्म सदा से था वही ब्रह्म फिर भी हो जाता है, वही बना रहता है।

मुहम्मद पैगंबर की हदीस है, 'अल आनः कमा कानः,' मैं जैसा था वैसा हो गया और वैसा हूँ। ब्रह्म शब्द का अर्थ ही है बृहत्तम, सब से बड़ा भी, और अनंत बढ़ने की शक्ति रखने वाला भी।

बृहत्त्वाद् बृंहणत्वाच् चात्मैव ब्रह्मेति गीयते।

ऐसा पदार्थ "मैं" आत्मा ही है, इस लिए आत्मा ही को ब्रह्म कहते हैं। जिस ने ब्रह्म को, आत्मा को, पहिचाना, जिस को यह निश्चय हो गया कि "मैं" परमात्म-स्वरूप है और हूँ, चिन्मय, सब से बड़ा, अमर, "अनल-हक", "ला इलाहा इल्ला अना", "मैं" के, मेरे, सिवा और कोई दूसरा अल्ला नहीं, उस को सब कुछ मिल गया।

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥ (गीता)

मनुष्य को अथक मन से उस योग में जतन करना चाहिए, लग जाना चाहिए, जिस से सब दुःखों से वियोग हो जाय, और उस पदार्थ से संयोग हो जिस का लाभ हो जाने पर अन्य किसी वस्तु के लाभ की तृष्णा नहीं रह जाती, जिस से बढ़ कर और कोई दूसरा लाभ नहीं।

---

[1] Will-to-live, will-to-power, libido, elan vital, horme, urge-of-life.

[2] Is finally freed from the root psycho-neurosis. A-vidya.

[3] तैत्तिरीय, बृहदारण्यक, नृसिंहोत्तर, मुंडक उपनिषद्।

पाश्चात्य मत आश्चर्य से जिज्ञासा की उत्पत्ति

इन सब उद्धरणों से यही सिद्ध होता है कि पूर्व देश मे दर्शन पदार्थ का आरंभ, सब बंधनों से मोक्ष पाने की इच्छा से, आत्यंतिक ऐकांतिक दुःख जिहासा सुखलिप्सा से, हुआ है। पच्छिम देश में विविध मत कहे गए हैं। पर ऐसा जान पड़ता है कि गहिरी दृष्टि से देखने से, उन सब का भी पर्यवसान इसी मे पाया जायगा।

प्लेटो और आरिस्टाटल ने कहा है कि फलसफा, दर्शन, का आरंभ "वंडर"[1] अर्थात् आश्चर्य से होता है, आश्चर्य से जिज्ञासा उत्पन्न होती है। गीता मे भी इस का इशारा है,

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनं, आश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच् चैनम् अन्यः श्रृणोति, श्रुत्वाऽप्येन वेद न चैव कश्चित्॥ (गीता)

आश्चर्य से लोग इस सब सृष्टि को देखते हैं, सुनते हैं, कहते हैं, पर कोई इस को ठीक-ठीक जानता नहीं।

तथा उपनिषदों मे भी,

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः, शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता, कुशलोऽस्य लब्धा, आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥
(कठ, १–२–७)

इस रहस्य का सुनना दुर्लभ है, सुन कर समझना दुर्लभ है। इस का जानने, कहने, सुनने, समझने, वाला—सब आश्चर्य है।

ऋग्वेद के संहिता भाग मे भी आश्चर्य से प्रेरित प्रश्न मिलते हैं,

अमी य ऋक्षा निहितास उच्चाः नक्त ददृशे कुहचिद्दिवेयुः।
अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि, विचाकशत् चन्द्रमा नक्तमेति॥
(मं० १, सू० २२)

ये तारे ऊँचे पर रक्खे हुए रात में देख पड़े, दिन में कहां चले गए? वरुण के कर्म, अर्थात् आकाश के अचरज, समझ के पार हैं। रात में चमकता हुआ चद्रमा निकलता है। तथा यजुर्वेद मे,

किं स्विदासीदधिष्ठानम्, आरंभण कतमस्स्वित् कथासीत्।
यतो भूमि जनयन् विश्वकर्मा विद्याम् और्णोन् महिना विश्वचक्षाः॥
(अ० २३)।

इस जगत् का आरंभक अधिष्ठान सर्वव्यापी क्या था, कौन था, कैसा था? किस विश्वकर्मा ने, सब रचना की शक्ति रखने वाले ने, सब कुछ कर सकने वाले ने, सर्वशक्तिमान् ने, उस में से इस भूमि को उत्पन्न किया?

किस सर्वचक्षा ने, सब कुछ देखने वाले ने, सर्वज्ञ ने, इस आकाश मे, इस द्युलोक को, अपनी महिमा से फैलाया ?

ऋग्वेद का, दस ऋचा का, हिरण्यगर्भ सूक्त (म० १, सू० १२१) सब का सब इसी प्रश्न को पूछता है, "कस्मै देवाय हविषा विधेम।" उस का पहिला मन्त्र यह है,

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताऽग्रे, भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमा, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

सोने के ऐसा चमकता हुआ, सब से पहिला, सब भूतों का पति, इस पृथ्वी और इस आकाश का फैलाने और सम्हालने वाला, जिस ने ऐसे अचरज रचे, वह कौन देव है, कि उस की हम पूजा करें ?[1]

अचरज की चर्चा चली है। इस अचरज को भी देखिए कि जो ही प्रश्न वेद के ऋषि के मन में उठे, जो ही प्रश्न आज काल के, अच्छी से अच्छी, ऊंची से ऊंची, शिक्षा पाए हुए, बुद्धिमत्तर, पश्चिमी विद्वान् के मन मे उठते हैं, वे ही प्रश्न अफ्रीका की अशिक्षित जातियों में से एक, 'बासूटो', जाति के एक मनुष्य के हृदय में उठते हैं, और वैसे ही सरस और भावपूर्ण शब्दों में उठते हैं।

"एक देशाटन के प्रेमी सज्जन ने शुद्ध निष्कारण मानस कुतूहल का उदाहरण लिखा है। एक बेर, 'बासूटो' जाति के एक मनुष्य ने उन से कहा—बारह वर्ष हुए मै अपने पशुओं को चराने ले गया। आकाश में धुंध थी। मैं एक चटान पर बैठ गया। मेरे मन में शोक भरे प्रश्न उठने लगे। शोक भरे, क्योंकि उन का उत्तर सूझ नहीं पड़ता था। तारों को किसने अपने हाथों से छुआ है ? किन किन खंभों पर ये रक्खे हैं ? पानी सदा बहता ही रहता है। कभी थकता नही।। बहना छोड़ दूसरा काम कोई उस को आता नहीं। सवेरे से शाम तक, शाम से सवेरे तक, बहता ही रहता है। कही भी ठहरता है, कभी भी आराम लेता है, या नहीं ? कौन उसे बहाता है ? बादल आते हैं, जाते हैं, फट कर पृथ्वी पर पानी के रूप मे गिरते हैं। कहां से आतें हैं ? कौन भेजता है ? हवा को मैं देख नहीं सकता। पर है अवश्य। क्या है ? उस को कौन चलाता है ? सिर झुका कर, दोनों हाथों से मुंह छिपा कर, मैं सोचता रह गया।"[2]

---

[1] कोई, इस सूक्त का व्याख्यान, प्रश्नात्मक नहीं करते, किंतु वर्णनात्मक और नमस्कारात्मक करते हैं, 'कस्मै' को, सर्वनाम 'कः' की नहीं, बल्कि प्रजापति-वाचक 'कः' की, चतुर्थी का रूप कहते हैं। साधारणत. वह रूप 'काय' लौकिक संस्कृत में होता है, पर वैदिक में 'कस्मै' भी हो सकता हो।

[2] "In the following, reported by a traveller, we have an instance of this spontaneous transition to disinterested curiosity,

प्रश्न वे ही अथवा वैसे ही हैं जैसे वेद के। उत्तर बेचारा 'वासूटो' कुछ भी नहीं समझ पाता। उस की जीवात्मा का अधिक उत्कर्ष होने पर कुछ समझेगा। प्रश्न शोकपूर्ण है, क्योंकि उत्तर नही सूझता; और मुह को हाथों से ढांक कर सोचता है, 'इन बातों मे प्रकृति देवता ने क्या आफत छिपा रक्खा है'? इस पर आगे कुछ कहा जायगा। पश्चिम के सभ्य देशों का आधुनिक वैज्ञानिक विद्वान् इन प्रश्नों का बहुत कुछ उत्तर देता है, और कार्य-कारण की परम्परा को बहुत दूर तक ले जाता है, पर अंत में, मूल कारण के विषय में, वह भी शोकपूर्ण हो जाता है, मुंह को हाथों मे छिपा कर गहिरा सोच करता ही रह जाता है, और "दी मिस्टरी आफ दी यूनिवर्स" के सामने, या तो "चांस", या "ला आफ एवोल्यूशन", या "एनर्जी", या "अन्-नोएब्ल" प्रभृति शब्दों का, या "गाड"[१] शब्द का, प्रयोग करता है। वैदिक ऋषि ने उस को सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ ब्रह्म, परमात्मा, चैतन्य, ऐसे नामों से समझने समझाने का प्रयत्न किया है।

मानस कुतूहल से जिज्ञासा तथा संशय से तथा कल्पना की इच्छा से

पच्छिम में अधिकतर विचार साम्प्रत काल में यह रहा है कि जैसे अन्य उत्कृष्ट ज्ञानों और शास्त्रों का, वैसे ही फलसफा का, प्रेरक प्रयोजक हेतु, सम्पूर्णतः नहीं तो मुख्यतः, "इंटेलेक्चुअल क्युरियासिटी"[२], मानस कुतूहल है। बच्चों को नई वस्तु के विषय में बड़ा कुतूहल रहता है, यह क्या

---

in the case of an intelligent Basuto 'Twelve years ago' (the man himself is speaking) 'I went to feed my flocks The weather was hazy I sat down upon a rock and asked myself sorrowful questions, yes, sorrowful, because I was unable to answer them Who has touched the stars with his hands? On what pillars do they rest? The waters are never weary, they know no other law than to flow without ceasing—from morning till night, and from night till morning, but where do they stop, and who makes them flow thus? The clouds also come and go, and burst in water over the earth Whence come they? Who sends them?.. .I can not see the wind, but what is it? Who brings it, makes it blow?. .. Then I buried my face in both my hands'.." Casalis, *The Basutos*, p, 239), quoted in a foot-note at p 371 in *The Psychology of the Emotions* by Ribot

[१] The mystery of the Universe, Chance, Law of Evolution, Energy, Unknowable God

[२] Intellectual curiosity,

है, क्यों है, इस का नाम क्या है, यह कैसे हुआ, कैसे बनता है, इत्यादि। जो बाल्यावस्था मे ज्ञान के बर्धन का कारण है वही प्रौढ़ावस्था में भी।

जो अशिक्षित जाति को उन्नति के माग पर आगे बढ़ाता है वही सुशिक्षित जाति को और आगे चलाता है। पैथागोरस ने फलसफा का जन्म शुद्ध ज्ञान की इच्छा से, अथवा नवीन रचना कल्पना कर सकने के लिये उपयोगी ज्ञान पाने की इच्छा से, बताया है। तथा डेकार्ट ने संशय से। ये दोनो भी, एक ओर आश्चर्य से दूसरी ओर कुतूहल से, मिलते हैं। यह सब विचार भी निश्चयेन अंशतः ठीक हैं। जैसे बासूटो के प्रश्नों में शोक निगूढ़ होने का प्राकृतिक गभीर अभिप्राय है, वैसे ही इस कुतूहल, संशय ज्ञानेच्छा, मे भी वही अभिप्राय अंतर्हित है; निष्कारण कुतूहल नही है। यह आगे दिखाने का यत्न किया जायगा। पर तत्काल इस कुतूहलवाद को पच्छिम में यहां तक वढ़ा दिया कि विज्ञानशास्त्री और कलावित् कहने लग गए कि "सायंस इज़ फार दी सेक आफ सायस" 'आर्ट इज़ फ़ार दी सेक आफ आर्ट [1]"। अर्थात् मानव जीवन का और कोई लक्ष्य नही सिवा इस के कि शास्त्र की वृद्धि हो, कला को वृद्धि हो। मानव जीवन तो साधन, शेष, उपाय, मार्ग; और शास्त्र अथवा कला तो साध्य, शेषी, उपेय, लक्ष्य हो गए।

अतिवाद

पच्छिम मे यह अतिशयोक्ति और अंधश्रद्धा, अतिभक्ति और मूढ़-ग्राह, वैज्ञानिक आधिभौतिक शास्त्रो के विषय में वैसे ही फैली जैसी भारतवर्ष मे धर्मशास्त्रों के विषय मे फैली; अर्थात् यहां तक कि अपने को पडित मानने कहने वाले लोग भी, बुद्धिद्वेषी होकर, यह डिंडिम करने लग गए, कि "धर्म में बुद्धि का स्थान नहीं।" यद्यपि यह प्रायः प्रत्यक्ष-सिद्ध है, और पूर्व के भी और पच्छिम के भी पूर्वाचार्यों का माना हुआ सिद्धांत है, कि वैज्ञानिक शास्त्र भी और धर्म शास्त्र भी, सभी शास्त्र, परस्पर सम्बद्ध होते हुए, एक दूसरे की वाधा और व्याहति न करते हुए, एक व्यापक सत्य तथ्य ज्ञान के अंश और अंग होते हुए, देश-काल-निमित्त के अनुसार, मनुष्यों के व्यवहार के संशोधन और उन के जीवन के सुख के साधन और उत्कर्षण के लिए वने हैं और वनते जाते हैं। दर्शन के ग्रंथों से जो सूत्रादि पहिले उद्धृत किए गए, यथा यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, उन से स्पष्ट है कि धर्म पदार्थ मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन मात्र है, स्वयं साध्य नहीं। मनुष्य के लिए शास्त्र हैं, शास्त्र के लिए मनुष्य नहीं। इस तथ्य के

---

[1] "Science is for the sake of science," "Art is for the sake of art."

विरोधी अतिवाद की अतिवादता को विचारशील सज्जनों ने पच्छिम में भी अब पहिचाना है, और नामी नामी वैज्ञानिक कहने लगे हैं कि— "सायस इज़ फार लाइफ, नाट लाइफ़ फ़ार सायंस,"[१] अर्थात् शास्त्र और कला आदि सब मानव जीवन के सुख के साधन मात्र हैं, स्वय साध्य नहीं है। इस का प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि प्रत्येक सभ्य जाति में स्वास्थ्य और समृद्धि बनाने वाले कानून, विज्ञान के आधार पर बनाए जाते हैं, (वेद-मूलो हि धर्मः, धर्मो वेदे प्रतिष्ठितः, का जैसो अर्थ है, यानी ज्ञान पर, विज्ञान पर, सायस- शास्त्र-वेद पर धर्म-कानून को प्रतिष्ठित होना चाहिए ही), और बड़े बड़े कर्मांतों यन्त्रालयों के साथ वैज्ञानिक योग्याशाला[२] भी रक्खी जाती हैं, जिन की उपज्ञाओं,[३] जिद्दतों, ईजादों, का, नवीन आविष्कारों का, उपयोग उन कर्मांतों में किया जाता है। गत (ई० १९१४+१९१८ के) यूरोपीय महायुद्ध मे ऐसी उपज्ञाओं का कैसा राक्षसी दुरुपयोग किया गया यह भी प्रसिद्ध है।

सांयस के स्वय साध्य-लक्ष्य होने का जो अतिवाद कुछ दिनों प्रबल रहा, उसका मूल कारण यही रहा होगा कि मध्ययुगीन यूरोप में, कई सौ वर्ष तक, धर्म के बहाने, एक विशेष (रोमन कैथलिक) मत के रूप में धर्माभास ने अंधश्रद्धा को अतिप्रचड कर, स्वावलंबिनी बुद्धि को दबा कर, विज्ञान को निगड़ित कर रक्खा था। तपस्या से, त्याग से,[४] शक्ति और ऐश्वर्य मिलते हैं, क्रमशः ऐश्वर्यमद और विषयलोलुपता बढ़ती है, जो रक्षक थे वे भक्षक होजाते हैं, फिर लोक का रावण अर्थात् रोआना, 'रुलाना' करके, बड़ा उथल पुथल मचा कर, दड पाते हैं, पदच्युत होते हैं, नष्ट होते हैं; ऐसा क्रम इतिहास मे बहुधा देख पडता है। मन्युस्तन्मन्युमृच्छति। अति अभिमान का शमन तज्जनित प्रत्यभिमान और रौद्र क्रोध से होता है। प्रायः इतिहास के पृष्ठो में, और आंख के सामने प्रवर्त्तमान जगद्वृत्त मे, देखने में आता है कि धर्म और ज्ञान आदि के अधिकारी, तथा शासन और प्रभुत्व के अधिकारी, तथा धन के अधिकारी, आरभ में यदि अच्छा भी करते हैं, तो काल पाकर सत्यपथ से, अपने कर्त्तव्य और सत् लक्ष्य से,

---

[१] Science is for life, not life for science.

[२] Experimental Laboratory सुश्रुत में, "तस्माद् योग्या कारयेत्", योग्या शब्द 'एक्सपेरिमेंट' के अर्थ में मिलता है।

[३] Discoveries, inventions

[४] Self-denial, self-sacrifice

शेख़ सादी ने गुलिस्ता में कहा है: "ख़ुर्दन बराय ज़ीस्तन अस्त, न कि ज़ीस्तन बराय ख़ुर्दन; व माल अज़ बहे आसायिशे उम्र अस्त, न कि उम्र अज़ बहरे गिर्द कर्दने माल"। अर्थात्, खाने के लिये जीना नहीं, जीने के लिये खाना है; माल जमा करने के लिये ज़िन्दगी नहीं, ज़िन्दगी के आराम के लिये माल जमा करना है।

बहक जाते हैं, जनता के ज्ञान की सम्पत्ति का, निर्विघ्नता निर्भयता की सम्पत्ति का, अन्न-वस्त्र की सम्पत्ति का, शिक्षा-रक्षा-जीविका का, साधन करने के स्थान पर बाधन करने लगते हैं, जनता को ज्ञानशून्य और मूर्ख बना कर अपना दास बनाए रखना चाहते हैं।

अंग्रेजी में दो शब्द "प्रीस्टक्राफ्ट" "और स्टेटक्राफ्ट" है। अर्थ इन का—पुरोहित की कपटनीति और राजा की कपटनीति। दोनों का सार इतना ही है कि साधारण जनसमूह को बेवकूफ और कायर बना कर, अबुध और भीरु बना कर, उन को चूसते झूसते रहना।

चराणामन्नमचराः द्रंष्ट्रिणामप्यदंष्ट्रिणः।
बुधानामबुधाश्चापि शूराणा चैव भीरवः।

अर्थात् चलने वाले प्राणियों का आहार स्थावर वनस्पति आदि दांत वालों के दंतहीन, होशियारों के मूर्ख, और शूरो के भीरु होते हैं।

पर यह भी प्रकृति का अबाध्य नियम है, कि स्वार्थ वश किया हुआ पाप,

शनैरावर्त्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृंतति।

चक्र सदृश आवर्त करता हुआ, घूमता हुआ, "साइक्लिकल पीरियोडिसिटी"[२] से, क्रिया की प्रतिक्रिया के न्याय से, पाप लौटकर अपने करने वाले की जड़ को काट देता है। यही दशा पच्छिम मे पुरोहितों और राजों की हुई। पहिले उन्होंने प्रजा का हित किया। फिर स्वार्थी हो कर प्रजा की बहुत हानि की। अततः जनता ने अधिकांश उन पर से श्रद्धा हटा ली, और उन के अधिकार उन से ले लिए। इसी सिल्सिले मे दबी हुई बुद्धि और विज्ञान का, प्रतिक्रिया न्याय से, इतना अतिमात्र औद्धत्य हुआ कि उन्होने ऐसा कहना अपनी शोभा मानी की बुद्धि के आगे अतीद्रिय पदार्थ कोई नहीं ठहरता, (यद्यपि बुद्धि स्वयं अतींद्रिय है!), और विज्ञान स्वयं साध्य है, (यद्यपि मनुष्यो ने अपने जीवन के सुख के साधन के लिए ही उसका आविष्कार किया है!)।

विशेष प्रयोजन से जिज्ञासा

किसी विशेष अर्थ की खोज में भी विशेष ज्ञान का संग्रह हो जाता है, और उस ज्ञान के क्रमबद्ध, कार्य-कारण-परम्परान्वित, होने से शास्त्र बन जाता है। जैसे अन्न वस्त्र की खोज में कृषि शास्त्र और गोरक्षाशास्त्र बने, घरेलू बर्तनों के तथा अस्त्र शस्त्र के लिए तांबा लोहा आदि, आभूषण और वाणिज्य

---

[२] Cyclical periodicity

की सुविधा के लिए सोना चांदी आदि, अन्नपाचन शीतनिवारण तथा और वहुतेरे कामों मे सहायता देने वाली अग्नि के लिए कोयला आदि, खनिजों की खाज से धातु शास्त्र, भूगर्भ शास्त्र, आदि का आरंभ हुआ; पृथ्वीतल पर भ्रमण, समुद्र पर यान, आदि की आवश्यकताओ से भूगोल खगोल के शास्त्र रचे गए, रोग निवृत्ति के लिए गौरवशाली चिकित्सा शास्त्र, और उस के अग, शारीरिक अथवा कायव्यूह शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, जन्तु शास्त्र, आदि बनाए गए। तो यह भी मानने की बात है कि विशेष अर्थ के अर्थ से, विशेष दुःख की निवृत्ति और विशेष सुख के लाभ के लिए, शास्त्र में प्रवृति होती है।

इस प्रकार से, धर्माभास और धर्मदम्भ के अतिवाद का शमन, सायस-विज्ञान के आभास रूप प्रत्यतिवाद और प्रति गर्व से हुआ। अब दोनों अपने अपने आभासो और अतिवादों को छोड़ कर, तात्विक सात्विक मध्यमा वृत्ति पर आ जाँय, और परस्पर समन्वय, सङ्गति, सम्वाद, संज्ञान, सम्मति करें— इसी मे मानव जाति का कल्याण है। अस्तु। निष्कर्ष यह कि मानस कुतूहल भी निश्चयेन ज्ञान की वृद्धि मे अंशतः प्रेरक हेतु है, पर जैसे आश्चर्य वैसे कुतूहल भी, परम्परया, उक्त मूल प्रयोजन का अवांतर और अधीन साधक है। इसको विशद करने का यत्न आगे किया जायगा।

कर्तव्य कर्म में प्रवर्त्तक हेतु की जिज्ञासा

पच्छिम में कुछ दार्शनिको ने यह भी माना है कि कर्त्तव्य से जिस मनुष्य का चित्त किसी कारण से विमुख, निरुद्ध, प्रतिबद्ध, हो रहा है, उस को उस कार्य मे प्रवृत्त करने के लिए, तथा अकर्त्तव्य को करने के लिए जिस का मन चचल और व्युत्थित हो रहा है उस को उस से निवृत्त, निरुद्ध, शात करने के लिए, भो, फलसफा का प्रयोजन होता है। यह एक व्यावहारिक प्रयोजन भी फलसफा का है। यह वात भी ठीक ही है।[1]

वैराग्य से जिज्ञासा

संसार की दुःखमयता को देख कर के भी, जैसा पूर्व मे वैसा पच्छिम

[1] "The relationship between theoretical and practical philosophy is a psychological one The inhibited person requires a stimulant before he can act, or a sedative in order to bear inaction, the practical philosophies provide these Every philosophy, says Nietsche, however it may have come into existence, serves definite educative ends, e g., to encourage or to calm etc." *Herzberg*, The Psychology of Philosophers, p 213.

मे भी, कोमलचित्त, मृदुवेदी स्त्रियों और पुरुषों की, दार्शनिक विचार की ओर प्रवृत्ति हुई है[1]। यूरोप के मध्य युग मे, जैसा भारत के मध्य युग में, और वर्तमान समय मे भी, इस "दुःखमेव सर्वं विवेकिन." की दृष्टि का प्रभाव अधिकतर यह होता रहा और है,कि लोग किसी न किसी प्रकार के भक्ति मार्ग या पंथ में जा रहते थे। "मोनास्टरी", मठ, विहार, मे पुरुष; "कानवेंट" या "नन्नरी" में स्त्रियाँ[2]। इस प्रकार से, भक्ति से, ईश्वर में, विष्णु, महादेव, दुर्गा, अल्ला, गॉड, जेहोवा, अहुरा मज़्दा मे, ईसा मे, बुद्ध, मुहम्मद, जरदुश्त, राम, कृष्ण में, मन लगा कर, संसार के झगड़ों से अलग हो कर, पर कुछ लोकसेवा भी करते हुए, जन्म बिता देते थे। कुछ गिने चुने जीव, ज्ञान की ओर झुक कर, दार्शनिक विचारों की सहायता से, अपने चित्त की शांति करते थे और दूसरों को शांति देने का यत्न भी करते थे।

उत्तम प्रकार के, सात्विक, परार्थी, लोकहितैषी विवेक-वैराग्य का यह स्वरूप है; जैसा बुद्ध का हुआ; जैसा ब्रह्मज्ञान के सब सच्चे अधिकारियों को होना चाहिए; अपने ही छुटकारे की चिंता नहीं। पच्छिम के एक ग्र थकार ने कई पाश्चात्य दार्शनिको के उदाहरण दिए हैं, जिन को भी, ऐसी शुद्ध नहीं, पर इस के समीप की, कोमलचित्तता का अनुभव हुआ।[3]

उक्त सब प्रकार उपनिषदों में भी दिखाए हैं। श्वेतकेतु बाल्यावस्था मे, खेल कूद मे मग्न, प्रकृति के उग्र थे। पिता उद्दालक ने कहा, "वस ब्रह्मचर्यं, नैव सोम्यास्मत्कुलीनो ब्रह्मबंधुरिव भवति", गुरुकुल में, ब्रह्मचर्य का संग्रह करने वाली चर्या करते हुए, वास करो.विद्या सीखो; हमारे कुल मे,आर्य कुल मे, अनपढ़, अनार्य मनुष्य होने की चाल नहीं है। ब्रह्म शब्द के तीन अर्थ, परमात्मा भी; परमात्मनिष्ठ वेद अर्थात् सब सत्य विद्या, शास्त्र, ज्ञान भी; और अनंत संतान परम्परा की सृष्टि की दिव्य शक्ति का धारण करने वाला, शक्र, वीर्य, भी, तीनों का सञ्चय करो। श्वेतकेतु ने चौबीस वष की उम्र

---

[1] Thus, George Sand (quoted by Radhakrishnan, *Indian Philosophy*, I, 347) 'When the sadness, the want, the hopelessness, the vice, of which human society is full, rose up before me, when my reflections were no longer bent upon my proper destiny, but upon that of the world of which I was but an atom, my personal despair extended itself to all creation, and the law of fatality arose before me in such appalling aspect that my reason was shaken by it."

[2] Monastery, convent; nunnery.

[3] Herzberg, *The Psychology of Philosophers.*

तक पढा ; घर लौटे, विद्या मद से स्तब्ध, "मैं सब कुछ जानता हूँ, मेरे ऐसा बुद्धिमान् विद्वान् दूसरा नही।" तरह-तरह के मद होते हैं, बलमद, रूपमद, धनमद, ऐश्वर्यमद, तथा विद्यामद, बुद्धिमद भी। पिता ने देखा कि पुत्र ने बहुत कुछ सीखा, पर जो सब से अधिक उपयोगी बात है, जिस का सीखना सब से अधिक आवश्यक है, वही नहीं सीखा, मनुष्यता, इन्सानियत, नहीं सीखा, अपने को नहीं पहिचाना, मैं क्या हूँ, पोथी पत्रो के भार का वाहक ही हूँ, बहुत से शब्दों के उच्चारण करने का यंत्र मात्र हूँ, या कुछ और हूं, यह नहीं जाना। उसकी सोई हुई आत्मा को जगाया। कुतूहल के द्वारा पूछा, "पुत्र, बहुत बा ें सीखा; क्या वह भी सीखा जिस से अनसुनी बात सुनी हो जाय, अनजानी बात जानी हो जाय ?"। श्वेत केतु ने कहा, "यह तो नही जाना, सो आप शिक्षा दीजिए।"

जनक की सभा में, जल्प और विवाद से भी आरम्भ करके, याज्ञवल्क्य आदि, इसी परमार्थ ज्ञान पर, श्रोताओं को लाये। कितने ही प्रष्टाओ ने, उपनिषदों में, दूसरे विषयों के प्रश्नों से आरंभ किया है, पर अवसान इसी में हुआ है। अर्थात् दुःख की जिहासा और सुख की लिप्सा ; सुख कैसे मिलै, दुःख कैसे छूटै। मक्खी और मच्छर, सांप और बीछू, बाघ और भेड़िये, क्यो पैदा हुए, यह अक्सर पूछा जाता है। आम और ईख, गुलाब और चमेली, कोयल और बुलबुल, क्यों पैदा हुए, यह शायद ही कभी कोई पूछता हो। हाँ, मक्खी और मच्छर वग़ैरह कम कैसे हो, आम और ईख आदि बढ़ैं कैसे, इस पर बहुत खोज और मेहनत की जाती है।

सब का संग्रह

ज्ञान और इच्छा और क्रिया का अविच्छेद्य संबध है। जानाति, इच्छति, यतते। यद्ध्यायति तदिच्छति, यदिच्छति तत्करोति. यत्करोति तद्-भवति।

ज्ञान से इच्छा, उस से क्रिया, उस से फिर और नया ज्ञान, फिर और इच्छा, फिर और क्रिया, फिर और ज्ञान—ऐसा अनंत चक्र चला हुआ है। जिज्ञासा का अ ज्ञातुम् इच्छा, ज्ञान की इच्छा। आश्चर्य, कुतूहल, नई कल्पना करने की अंतःप्रेरणा, संशय निवृत्त करने की इच्छा—ये सब जिज्ञासा के ही विविध रूप हैं। और सब का मर्म यही है कि, साक्षात् नहीं तो परम्परया, कार्य-कारण का संबध जान कर, आज नही तो जब अवसर आवे तब, हम उस ज्ञान के द्वारा दुःख का निवारण और सुख का प्रसारण कर सकें। विशेष दुःख के उपाय की आकांक्षा, विशेष सुख के उपाय की कामना, से विशेष शास्त्र।

अशेष निःशेष दुःख की, दुःखसामान्य की, निवृत्ति की वांछा, उत्तम सुख, परमानंद, सुखसामान्य, की अभिलाषा, से शास्त्रसामान्य अर्थात् दर्शन-शास्त्र की उत्पत्ति होती है; और इस आशसा की पूर्त्ति ही इस शास्त्र का प्रयोजन है। मीमांसा का सिद्धांत है "सर्वमपि ज्ञान कर्मपरं, विहितं कर्म धर्मपरम् , धर्मः पुरुषपरः अर्थात् पुरुषनिःश्रेयसपरः"; सब ज्ञान, कर्म का उपयोगी है; उचित न्याय्य कर्म, धर्म का उपयोगी है; धर्म, पुरुष का अर्थात् पुरुष के निःश्रेयस का। आत्मज्ञान ही निःश्रेयस परमानद है। इसलिए,

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते। (गीता)

दर्शन की उत्पत्ति के, उक्त ज्ञानात्मक, इच्छात्मक, क्रियात्मक, "इंटेलेक्चुअल, इमोशनल, और प्रैक्टिकल अथवा ऐक्शनल्",[1] सभी स्थानों का संग्रह, गीता के एक श्लोक में मिलता है।

चतुर्विधा भजते मा जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ॥

आर्त्त, विशेष अथवा अशेष दुःख से दुःखित, जिज्ञासु, विशेष अथवा निश्शेष ज्ञान का कुतूहली; अर्थार्थी, अल्प अथवा परम अर्थ का अर्थी; और ज्ञानी; ये चार प्रकार के मनुष्य, मुझ को, विशेष इष्टदेव, ईश्वर, को, विशेष ज्ञानदाता, विशेष अर्थदाता को, अथवा "मैं" को, परमात्मा को, सर्वार्थ-दाता को, भजते हैं।

इन सब प्रकारों का मूल खोजा जाय, तो प्रायः सब का समन्वय हो जाय। अशक्तता, दुर्बलता, अतः पराधीनता और पर से भय, और भय का दुःख, और उस दुःख से छूटने की इच्छा, तथा स्वाधीनता, आत्मवशता, सर्व-शक्तिमत्ता, निर्भयता, और तज्जनित असीम सुख पाने की इच्छा—यह इच्छा इन सब प्रकारों के भीतर, व्यक्त नहीं तो अव्यक्त रूप से, अनुस्यूत हैं। 'वासूटो' मनुष्य के प्रश्न, देखने मे शुद्ध मानस कुतूहल से जनित होते हुए भी, शोकपूर्ण थे। क्यों ? उत्तर न दे सकने के कारण। "न सकना", अशक्तता, यही तो परवशता और दुःख का मूल स्वरूप है।

सर्वं परवश दुःखं सर्वमात्मवश सुखम्।
एतद्विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः॥
(मनु, अ० ४, श्लोक १६०)

सब परवशता, विवशता, वेबसी ही दुःख, सब आत्मवशता, स्वतंत्रता, खुदमुख्तारी ही सुख; यह सुख और दुःख का तात्विक हार्दिक लक्षण थोड़े मे ही जानो--यह मनु का आदेश है। दूसरे शब्दों में, इष्टलाभः सुखं, अनिष्टलाभः दुःखं; जो जो अपना चाहा पदार्थ है उसका मिलना सुख; जो जो अपना चाहा

[1] Intellectual, emotional, practical or actional.

नहीं है उसका मिलना दुःख। अपनी मर्जी के खिलाफ, अपने मन के विरुद्ध, कोई बात होना ही दुःख; अपनी ख्वाहिश के मवाफिक, अपने चित्त के अनुकूल, जो ही बात हो वही सुख। नश्वरता का दुःख, मृत्यु के भय का दुःख, यही सब भयों और सब दुःखों का सार है, परवशता की परा काष्ठा है; इस के निवारण के उपाय की जिज्ञासा मुख्य जिज्ञासा है; यह निवारण ही सब अर्थों का परम अर्थ है। और आत्मा के स्वरूप का ज्ञान, कि वह अजर-अमर है, स्वतंत्र है पराधीन नही; सब उस के अधीन हैं, वह किसी के अधीन नहीं है; जो कुछ सुख-दुःख का भान उस को होता है वह अपनी ही लीलामयी संकल्प शक्ति, ध्यान शक्ति, इच्छा शक्ति, माया शक्ति, अविद्या शक्ति से ही होता है, दूसरे किसी के किए नहीं होता है—यही ज्ञान एक मात्र परम उपाय सब दुःख के निवारण और सब सुख अर्थात् परम शांति रूप परम आनंद के प्रापण का है। यदि मृत्यु का भय और दुःख मनुष्य को न होता, तो निश्चय है कि पृथ्वी पर धर्म-मजहब-रिलिजन का और दर्शन शास्त्र का दर्शन न होता। इन की जरूरत ही न पड़ती। कवि ने हंसी मे बहुत सच कहा है, "ये भी कहेंगे फैली खुदाई बजोरे मौत" (अकबर इलाहाबादी)। जब और जिस को यह भय है, तब और तिस को धर्म की, मजहब-रिलिजन की, दर्शन की, आवश्यकता, इस के शमन के लिए, रही है और होगी। धर्म को, दर्शन को, पृथ्वी से उठा देने का प्रयत्न करना, आकाश को लाठी से तोड़ना और बिना वायु के मनुष्य को जीते रखना है।

इसी लिए भागवत मे, कुरान में, इञ्जील मे कहा है।[1]

यस्यानुग्रहमिच्छामि तस्य सर्वं हराम्यहम्।

इस का, भगवद् गीता के उक्त श्लोक के साथ मिला कर, यों अनुवाद किया जाय, तो दर्शन की उत्पत्ति के सब स्थानों का समन्वय हो जाय,

ईश, आतमा, अंतर्यामी, कहत पुकारि-पुकारी,
जाको चहौं अनुग्रह वाकी छीनौं सम्पद सारी।
संपद खोइ, होइ आरत अति, परम अरथ अरथावै,
जिज्ञासा करि, ज्ञान पाइ तब, सब जग में मोंहि भावै॥

पाश्चात्य कविता में उसी दिव्य वासना का अंकुर।

अंतरात्मा की यह दिव्य प्रेरणा, सात्विक वासना, सब देशों मे, सब कालों मे, अशिक्षित, सुशिक्षित सब मनुष्यों मे, 'वासूटो' मनुष्यों में, वैज्ञानिक में, वैदिक ऋषि मे भी, सदृश रूप से काम कर रही है; कहीं प्रसुप्त अव्यक्त अनुद्बुद्ध है, कही किंचिद् व्यक्त अंकुरित स्पंदित है, कहीं तनु

---

[1] पूर्वगत पृष्ठ १२ को देखिये।

है, कहीं विच्छिन्न है, कहीं व्यक्त स्फुट उद्बुद्ध है, कहीं उदार है; पर सब को आत्मज्ञान,[१] आत्म-दर्शन, की ओर ले चल रही है। यह दिखाने को, दो अंग्रेजी कवियों की उक्तियों का उद्धरण करना चाहता हूँ। एक को शांत हुए कोई तीन सौ वर्ष हो गए, दूसरे को गुज़रे अभी तीस बरस पूरे नहीं हुए।

जार्ज हर्बर्ट की गीत के सब पद्यों का संपूर्ण अनुवाद, उन के ऐसे सुंदर शब्दों में करना, तो मेरे लिए असंभव है, थोड़े में आशय यों कहा जा सकता है,

सिरजि मनुज को ईश ताहि सब सम्पति दीन्ह्यौ,
पर नहिं दीन्ह्यौ शाति, एक वा कौ रखि लीन्ह्यौ।
इन खेलन ते थकि अवश्य कबहुंक उकतावै,
करत शाति की खोज गोद मेरी फिरि आवै ॥[२]

ये सज्जन, जार्ज हर्बर्ट, अंग्रेज जाति के सच्चे ब्राह्मण पादरी थे। इन के जीवन में कोई विशेष दुरवस्था, अन्न वस्त्र का क्लेश, अथवा दुराचार पश्चात्ताप आदि का दुःख नहीं था; संसार से वैराग्य का भाव, इन के चित्त में, मृदु, सहज, शांत था। तदनुसार, कविता में हृदयोद्गार भी, इन का, सरल, शांत, भक्तिप्रधान है।

---

[१] Self realisation.

[२] When God at first made man,
Having a bowl of blessings standing by,
"Let us", He said, "pour on him all we can,
Let the world's riches which dispersed lie,
Contract into a span"
So Strength first made a way,
Then Beauty flowed, then Wisdom, Honour, Pleasure,
When almost all was gone, God made a stay,
Perceiving that alone of all his treasure,
Rest at the bottom lay.
For 'If I should," said He,
'Bestow this Jewel also on my creature,
He would adore My gifts instead of Me,
And rest in Nature, not the God of Nature,
So both should losers be.
Yet let him keep the rest,
But keep them with repining Restlessness,
Let him be rich and weary, that, at least,
If Goodness lead him not, yet Weariness
May toss him to My breast."

दूसरे कवि, फ्रान्सिस टाम्सन, के जीवन मे आर्थिक क्लेश, दुरवस्था, और अनाचार के पश्चात्ताप का शोक, बहुत तीव्र हुआ। उन के अनुभव के अनुसार उन का हृद्योद्गार भी तीव्र करुणा से तथा तीव्र आनन्द से भरा है।

पूर्ववत् स क्षेप से आशयानुवाद उसका यह है।

जब विषाद अत्यंत तिहारे हिय में छावै,
सरव प्रान तें करु प्रकार, उत्तर तैं पावै।
रहत देवता ठाढ़ो निसि दिन तेरे द्वारे,
मुख फेरे तूही रहै, वाको न निहारे [१] ॥

विस्तार से, इन पश्चिमी कवियों के अनुभवों का, उन के हृदय के भावों और बुद्धि के दर्शनों का, सरसतर प्रतिरूप तो, मीरा, कबीर, आदि सतो और सूफियों की उक्तियों में मिलता है।

मीरा ने रात मे, हृदय की व्यथा के अधकार में, सर्व प्राण से पुकार किया, और इष्ट का दर्शन पाया।

मीरा के प्रभु गहिर गभीरा, हृदय रहो जी धीरा,
आधि रात प्रभु दर्शन देंगे, प्रेम नदी के तीरा।

और कबीर ने भी उन्हें देखा और पहिचाना और गाया।

---

[१] O world Invisible !, we view Thee,
O world Unknowable !, we know Thee,
O world Intangible !, we touch Thee,
Inapprehensible !, we clutch thee !
Does the fish soar to find the ocean,
The eagle plunge to find the air—
That we ask of the stars in motion,
If they have rumour of Thee there ?
Not where the wheeling systems darken,
And our benumbed conceiving soars—
The drift of pinions, would we hearken,
Beats at our own clay-shuttered doors.
The angels keep their ancient places—
Turn but a stone and start a wing !
Tis ye, 'tis your estranged faces,
That miss the many-splendoured thing.
But, when so sad thou canst not sadder,
Cry—and upon thy so sore loss
Shall shine the traffic of Jacob's ladder
Pitched betwixt Heaven and Charing Cross
Yea, in the night, my soul !, my daughter !,
Cry—clinging Heaven by the hems ,
And lo !, Christ walking on the water,
Not of Gennesareth, but Thames,

मोकूँ कहा तू खोजै, बंदे!, मै तो तेरे पास,
नहीं अगिन मे, नहीं पवन मे, नहिं जल, थल, आकास,
नहिं मक्का मे, नहिं मदिना में, नहि काशी कैलास
नहिं मंदिर मे, नहि मस्जिद में, मै आतम बिस्वास—
मै तो सब स्वासा की स्वास।

दक्खिन के एक सूफी ने कहा है,

हक़ से नाहक़ मै जुदा था, मुझे मालूम न था,
शक्ले इन्सा मे ख़ुदा था, मुझे मालूम न था,
मतलए दिल पे मेरे छाया था ज़गारे ख़ुदी,
चाद बादल में छिपा था, मुझे मालूम न था,
बावजूदे कि मुफ़दए तेरा, नहनो अक़्रब,
सफ़हे मसहफ़ पे लिखा था, मुझे मालूम न था,
हो के सुल्ताने हक़ीक़त इसी आबो गिल में
दर बदर मिस्ले गदा था, मुझे मालूम न था।

जैसा किसी सत ने कहा है,

जा के घर सुख का भडारा, सो क्यों भटकै दर दर मारा।

क़ुरान और गीता में भी ये ही भाव मौजूद हैं,

व फी अन्फ़ुसेकुम इल्ला तुब्सरून।

अर्थात्, मैं तो तुम्हारे भीतर, तुम्हारी नफस मे, मौजूद हूँ, तुम्हारी नस नस मे व्यापा हूँ, पर तुम देखते ही नहीं हो, मुंह फेरे हुए हो, आंख बंद किए हो, तुम को आंख है ही नहीं, दर्शन करना चाहते ही नहीं।

अवजानति मा मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानंतो मम भूतमहेश्वरम्॥

अर्थात्, मोह में पड़े हुए जीव, मनुष्य शरीर के भीतर छिपे हुए परमात्मा को, अपने को, पहिचानते नही, और 'मेरा' यानी अपना, तिरस्कार करते हैं, अपने को तुच्छ समझते हैं, यद्यपि यह आत्मा, उनकी आत्मा, सब की आत्मा, सब पदार्थों का महेश्वर है।

दर्शन और धर्म (मज़हब, रिलिजन)।

पच्छिम के आधुनिक प्रकारों से जिन्होंने विद्या का सग्रह किया है उनको, जो बातें ऊपर कही गईं उनसे, प्रायः शंका होगी कि दर्शन का, फ़लसफ़ा का, और धर्म-मजहब का, संकर किया जा रहा है, और ऐसा करना ठीक नही है, क्योंकि पच्छिम में तो ये दोनों अलग कर दिये गये हैं।

इस शका का समाधान यो करना चाहिये।

जैसा गीता में कहा है,

न तदस्ति पृथिव्या वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्व प्रकृतिजैर्मुक्त यत्स्यादेभिस्त्रिभिर्गुणैः॥

पुरुष की प्रकृति के ये तीन गुण, सत्व, तमस्, रजस्, सब भूतों में, सब प्राणियो मे, सदा, सर्वत्र, व्याप्त, हैं। इन के विना कोई वस्तु है नहीं। ज्ञान, इच्छा, क्रिया, और गुण, द्रव्य, कर्म, इन्हीं के रूपांतर कहिये, परिणाम, प्रसूति, फल कहिये, होते हैं[1]।

पर ऐसा घनिष्ठ मैथुन्य, अभेद्य सबंध, होते हुए, इन तीनों गुणों और उन के सन्तानो में परस्पर अशमनीय कलह भी सदा रहता है, यहां तक कि इन के वैषम्य से ही सृष्टि, संसार, "कास्मास", और इन के साम्य से ही प्रलय, "केआस"[2], घोर निद्रा, होती है।

अन्योऽन्याभिभवा-श्रय-मिथुन-जनन-वृत्तयश्च गुणाः।
(साख्य-कारिका)

अर्थात, ये तीनो गुण, सदा साथ भी रहते हैं, एक दूसरे को जनते अर्थात् पैदा करते रहते हैं, एक दूसरे के आसरे से ही रहते हैं, और एक दूसरे को दबाते भी रहते हैं।

इस प्राकृतिक नियम के अनुसार, ज्ञान जब बढ़ता है तब इच्छा और क्रिया दब जाती हैं, इच्छा जब उभड़ती है तब ज्ञान और क्रिया पीछे हट जाती हैं, क्रिया जब वेग बांधती है तब ज्ञान और इच्छा छिप जाती हैं। और, ऐसा, एक भाव का प्राधान्य, दूसरों का गौणत्व, तीनों को पारी-पारी होता ही रहता है; विविध परिमाणो, पैमानो, पर। यथा, एक दिन में, सवेरे यदि ज्ञान का प्राधान्य, तो दोपहर को इच्छा, तीसरे पहर क्रिया। एक वर्ष में, यदि (साधारण सर्दी गर्मी वाले देश मे) वसत और ग्रीष्म में ज्ञान, तो वर्षा-शरद् में इच्छा, और शिशिर-हेमन्त मे क्रिया। एक जीवन में, आदि में ज्ञान (विद्यार्थी की ब्रह्मचर्यावस्था), फिर यौवन मे इच्छा (गार्हस्थ्य का आरम्भ), फिर क्रिया (गार्हस्थ्य की जीविकार्थ, और वानप्रस्थता की विविध यज्ञ और त्याग आदि के लिए), फिर और गभीर ज्ञान (सयास में आत्मचिंतन)। (यदि पुनर्जन्म माना जाय तो) एक जन्म में ज्ञान, दूसरे में इच्छा तीसरे मे क्रिया। एक मानव जाति और युग में ज्ञान, दूसरे मे इच्छा, तीसरे में क्रिया। इत्यादि।

---

[1] इस अर्थ को विशद करने का यत्न मैंने अपनी अँग्रेज़ी भाषा में लिखी पुस्तक, "The Science of Peace", के अध्याय ११ के परिशिष्ट में किया है।

[2] Cosmos, Chaos.

यह एक उत्सर्ग की, सामान्य नियम की, सूचना मात्र है। इसके भीतर बहुत से अवांतर भेद, विशेष-विशेष कारणों से, हो सकते हैं, जो ऊपर से देखने मे, अपवाद, इस्तिस्ना, "एक्सेपशन"[1] ऐसे मालूम होते हैं; किन्तु यह अनुगम प्रायः निरपवाद ही है कि जिस जगह, जिस समय, जिस चित्त मे एक का विशेष उदय होता है, वहाँ अन्य का अस्त होता है। यहाँ प्रसंगवश इन तीन के, स्थूल रूप से, क्रमिक चक्रक, और परस्पर कलह पर ध्यान देना है।

संसार की अनेकता में एकता भी अनुस्यूत है ही; अन्यथा तर्क, अनुमान, न्याय, भविष्य का प्रबन्ध, नियम, धर्म, कानून, व्याप्तिग्रह, अनुगम, सांसारिक जीवन का मर्यादित व्यवहार, कुछ भी बन ही न सकता; यह प्रायः प्रत्यक्ष है कि प्रकृति के अनन्त अवयव, असख्य अंश, सब परस्पर सम्बद्ध हैं, सब का अगांगि-भाव है ; यह भी प्रत्यक्षप्राय है कि चेतन एकवत् और सर्वत्र व्याप्त है, सब को बांधे हुए है, (और इस को विस्पष्ट सुस्पष्ट करके, शका समाधान करके, बुद्धि का संस्कार परिष्कार करके, हृदय में बैठा देना ही अतिम दर्शन, वेदान्त, का काम है); यहाँ तक कि अब पाश्चात्य वैज्ञानिक भी "ओर्गेनिक यूनिटी ऐण्ड कंटिन्युइटी आफ नेचर"[2] को पहिचानने लगे हैं, और कहने लगे हैं कि "सायंसेज आर नाट मेनी, सायंस इज़ वन"[3] ; अर्थात् शास्त्र बहुत और पृथक् और विभिन्न नहीं है, अस्ल मे शास्त्र, ज्ञान, वेद, एक ही है, और जिन को हम अलग-अलग शास्त्र समझे हैं वे सब एक ही महावृक्ष के मूल, स्थाणु, स्तम्भ, शाखा, प्रशाखा, वृन्त, पल्लव, आदि हैं। यद्यपि ऐसा है, तौ भी पर, तत्तच्छास्त्राभिमानी शास्त्रियों के, "सायंटिस्ट्स"[4] के, चित्त के अहंकार रूपी मुख्य दोष से, विविध शास्त्रों मे विरोध का आभास होता है, शास्त्री लोग एक दूसरे से कहा करते हैं कि हमारे तुम्हारे सिद्धांतों मे विरोध है, इत्यादि; यद्यपि स्पष्ट ही, एक ही सत्य तथ्य वास्तविक ज्ञान के अंशों में विरोध नहीं हो सकता; विरोध तो अविद्याकृत, अहकारजनित, राग, द्वेष, अभिनिवेश से दूषित, शास्त्रिंमन्यों के चित्तों मे ही हो सकता है।

---

[1] Exception.

[2] Organic unity and continuity of Nature.

[3] Sciences are not many, Science is one.

[4] Scientists.

ऐसे ही, ज्ञान-इच्छा-क्रिया में भी, यदि ये विद्या से प्रेरित हों तो, कलह न हो, अन्योऽन्य का घोर अभिभव न हो, उचित आश्रय-मिथुन-जनन हो। पर, सांसारिक, आभ्युदयिक इच्छा तो स्वयं साक्षात् अविद्या का रूप ही है, संसृति का, ससरण का, जनन-मरण का कारण ही है। क्रिया-प्रतिक्रिया के दोलान्याय से, चक्रकन्याय से, "साइक्लिकल पीरियोडिसिटी" और "ऐक्शन रिऐक्शन"[1] के न्याय से, जब वह अपना रूप बदल कर, नैश्रेयसिक, पारमार्थिक इच्छा अर्थात् मुमुक्षा, शुभ वासना, नैष्काम्य, मे परिणत होती है, तभी इन तीनो के विरोध और कलह का कथंचन शमन कर सकती है। तब तक इन का संग्राम होता ही रहता है।

ज्ञान-प्रधान मनुष्य, उपयुक्त प्रेरणा और सामग्री होने पर, दार्शनिक विचार की ओर झुकते हैं; इच्छा-प्रधान, भक्ति और उपासना की ओर; क्रिया-प्रधान, व्यावहारिक सांसारिक कर्म अथवा (पारलौकिक निष्ठा अधिक होने पर) कर्मकांड की ओर, होम, हवन, यज्ञ आदि 'इष्ट', और वापी, कूप, तटाक आदि के सार्वजनिक लाभ के लिये निर्माण 'आपूर्त्त', की ओर। सज्ज्ञान, सच्छ्रद्धा, सद्धर्म में, सज्जीवन में, तीनो की मात्रा, यथास्थान यथासमय, तुल्य रूप से होनी चाहिये; और आदर्श महापुरुषों के जीवन मे होती भी हैं। पर प्रायः यही देखा जाता है, पूर्व में भी, पच्छिम में भी, कि अपने-अपने इष्ट, अपनी-अपनी चाल, की प्रशंसा के साथ-साथ, दूसरों के इष्ट और चाल की निन्दा भी की जाती है। एक ओर राग है तो दूसरी ओर द्वेष भी। इसी से ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग, और कर्म मार्ग में, सौमनस्य के स्थान पर, बहुधा वैमनस्य देख पड़ता है, और फलसफी दार्शनिक में, और श्रद्धालु, मोमिन, 'फेथफुल बिलीवर'[2] मे, अन बन हो रहा करती है, एक दूसरे को बुरा ही कहते रहते हैं; और दुनियांदार कर्मठ आदमी दोनो को बेवकूफ समझते हैं। पच्छिम मे, प्लेटो आदि के समय से ग्रीस मे भी, रोम मे भी, ईसा के पूर्व के धर्मों के देवी देवों मे और उनके पुजारियों मे अति श्रद्धा करने वालों के विरुद्ध, तथा ईसा के बाद रोमन कैथलिक चर्च[3] के, श्रद्धांधता और मूर्खता के पोषक, धर्माधिकारियों के विरुद्ध, विचारशील दार्शनिक बुद्धि वाले, हर ज़माने मे, कुछ थोड़े से, लिखते-बोलते आये; पर प्रायः बहुत दबी ज़बान से। क्योंकि उपासनात्मक और कर्मकांडात्मक धर्मों के अधिकारियों पुजारियों की चतुरता और श्रद्धालुओ की मूर्खता का ज़ोर बहुत रहा।

---

[1] action reaction

[2] Faithful believer

[3] Roman Catholic Church

पर सोलहवीं शताब्दी के आरंभ से, जब से मार्टिन लूथर ने, जर्मनी मे 'पोपों' के (--रोमन कैथलिक सम्प्रदाय के 'जगद्-गुरु' महाशय 'पोप' कहलाते हैं, मुसल्मानो के 'जगद्-गुरु' 'खलीफा', और हिंदुओं मे तो पंथ-पथ के अलग-अलग बहुत से 'जगद्-गुरु' 'शंकराचार्य' आदि हैं—) विरुद्ध झगडा खडा किया, तब से, बुद्धिस्वातंत्र्य, पच्छिम मे धर्मनीतिमे भी और राजनीति मे भी, बढ़ता गया, और 'रिलिजन' और 'सायंस' का विरोध अधिकाधिक उग्र होता गया; जैसा पहिले कहा। यदि एक ओर श्रद्धाजड़ता थी, तो दूसरी ओर अश्रद्धाजड़ता भी देख पड़ने लगी। जैसे कृष्ण और बाणासुर के संग्राम मे, माहेश्वर ज्वर का प्रतिरोध वैष्णव ज्वर ने किया, वैसे अत्यास्तिक्य का वारण अतिनास्तिक्य ने यूरोप में किया। तब से पच्छिम मे दर्शन और धर्म का पार्थक्य हो गया। ईसा-युग के आदि काल में और मध्यकाल मे भी, पादरियों ने[1] दर्शन का अभ्यास किया, दर्शन के अच्छे-अच्छे ग्रन्थ लिखे, और उनसे अपने ईसा-धर्म का पोषण किया; पर अब फलसफा की प्रेरक अधिकांश "इंटेलेकचुअल क्युरिआसिटी" ही रह गई।

"फिलासोफी" शब्द का यौगिक अर्थ ही जिज्ञासा, ज्ञान की इच्छा, ज्ञातुम् इच्छा, है, ग्रीक भाषा के दो शब्दों को, "फाइलॉस" प्रेम, और, "सोफिया" विद्या, वैदुष्य, "विज़डम"[2] को, मिला कर यह अंगरेज़ी लफ्ज़ बनाया गया है। इसी यौगिक अर्थ के अनुसार, इन शास्त्रों को जिन को अब आधिभौतिक विज्ञान, "फिजिकल सायंसेज़" कहते हैं, उन को पहिले "नैचुरल फिलासोफी"[3] कहा करते थे। तो फिलासोफी मानो बुद्धि की खुजली मिटाने का एक उपाय, एक प्रकार, रह गई। सायस की एक कोटि फिलासोफी को छूती है, दूसरी कोटि नई-नई ईजादें करके व्यवहारिक कर्म को सहायता देती है। रहा उपासनात्मक धर्म, परलोक बनाने वाली बात; जिस को परलोक मे विश्वास हो, और उस को बनाने के उपाय की खोज हो, उस के लिए यह हृदय से सम्बन्ध रखने वाली बात दोनों से अलग पड़ गई।

इस प्रकार से ये तीनों अलग तो हो गये, पर नतीजा यह हुआ कि तीनो, दर्शन-उपासना-व्यवहार, ज्ञान-भक्ति-कर्म, खडित हो रहे हैं; और सिर, हृदय, हाथ-पैर मे, "हेड-हार्ट-लिम्ब्ज़"[4] मे, नित्य झगड़ा हुआ करता है। पर यह

---

[1] The Patristic philosophers, the Fathers of the Church, the Scholastic philosphers, the Schoolmen

[2] Philosophy, philos, sophia, wisdom.

[3] Physical sciences, natural philosophy.

[4] Head, heart, limbs,

झगड़ा तो नितांत अस्वाभाविक, प्रकृति के विरुद्ध, है। मनुष्य के शरीर मे सिर का, हृदय का, हाथ पैर का, घनिष्ठ सम्बन्ध है; एक से दूसरा अलग नहीं किया जा सकता, वैसे ही, उसके चित्त मे, ज्ञान, इच्छा, क्रिया का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारतवर्ष की उत्कृष्ट अवस्था मे, जब यहां की शिष्टता सभ्यता सर्वांगसम्पन्न थी, तब प्रायः ऐसा तीव्र संघर्ष नहीं था; ज्ञान, भक्ति, कर्म का समन्वय और समाहार जाना माना और बर्ता जाता था; जिसका प्रमाण, थोड़े मे, गीता है, अथवा उसका भी संक्षेप चाहिये तो उसी के दो श्लोक पर्याप्त हैं, यथा,

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते ।
सर्वत्रगमचिंत्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम् ॥
संनियम्येंद्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवंति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

कूटस्थ अक्षर अव्यक्त परम-आत्मा की पर्युपासना अर्थात् अन्वेषण—यह दर्शन का, ज्ञान का, अंश है। मामेव प्राप्नुवंति—मुझको, दिव्य उपाधि से उपहित, विशेष महा-पुरुष को, अति उत्कृष्ट ईश्वरत्वप्राप्त जीव को सौर जगत् के ईश-सूत्रात्मा-विराडात्मक नियंता को, शिव-विष्णु-ब्रह्मा को, पाना—यह भक्ति का अंश है। सर्वभूतहिते रताः—सब प्राणियों का यथाशक्ति हित करना—यह कर्म का अंश है। यदि और भी संक्षिप्तरूप से यही भाव देखना हो, तो गीता ही के श्लोक के एक पाद से दिखाया है—माम् अनुस्मर युध्य च। माम् (स्मर), मुझ अर्थात् परमात्मा को याद करो—ज्ञान, अनु-स्मर, मेरे पीछे पीछे चलने की इच्छा से, सेवा भाव से—भक्ति; युध्य च, पाप और पापियों से यथाशक्ति युद्धकरो—कर्म। भागवत आदि पुराणों में भी तीनो का समन्वय स्थान-स्थान पर किया है; पर सब से उत्तम और विस्तीर्ण प्रमाण तो मनुस्मृति है, जिस के ऊपर भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता प्रतिष्ठित है, और जो स्वयं अध्यात्मशास्त्र, वेदांत, के ऊपर प्रतिष्ठित है। मनु की प्रतिज्ञा है,

ध्यानिकं सर्वमेवैतद् यदेतदभिशब्दितम् ।
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥
सैनापत्यं च राज्यं च दंडनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥

अर्थात्, एतत् शब्द से, इदं, 'यह' शब्द से, जिस समग्र दृश्य-जात का, जगत् का, अभिधान होता है, वह सब ध्यानिक है; परमात्मा के ध्यान से, संकल्प से, ही बना है; इस लिए, ध्यान के शास्त्र को, अध्यात्म शास्त्र, अंतःकरण शास्त्र, योगशास्त्र, आत्म विद्या को, जो नहीं जानता है वह किसी भी क्रिया के

उचित रीति से नहीं कर सकेगा, और उसके उचित फल को नहीं पा सकेगा ; उसकी सब क्रिया अव्यवस्थित अमर्यादित होंगी। इस लिए सांसारिक व्यवहारों का निरीक्षण, उपदर्शन, नियमन, सेनापतित्व, दंडनायकत्व, राजत्व, अथ किं, सर्वलोकाधिपत्य भी, वेदशास्त्र के, वेदांत के, जानने वाले को ही सौंपा जाना चाहिए। जो मनुष्य की, पुरुष की, प्रकृति के तत्त्व को नहीं जानता, उसकी उत्पत्ति, स्थिति, विनाश का हाल नहीं जानता, वह उसके जीवन-संबंधी व्यवहारों का नियमन व्यवस्थापन क्या कर सकता है ?

यह भाव प्राचीन काल मे यहां था। पर यहां भी, सनातन-आर्य-वैदिक-मानव धर्म का बुद्धदेव ने जो संस्करण किया, उस के प्रभाव के क्रमशः लुप्त हो जाने पर, जो भारतीय सभ्यता का रूप बनता और बदलता रहा, उसमे कुछ वैसी ही सी दशा दर्शन और उपासना और व्यवहार की हुई जैसी पच्छिम मे; यद्यपि उतना पार्थक्य नही हुआ जैसा वहां। एक तो कारण यह होगा कि आधिभौतिक विज्ञान की वैसी समृद्धि यहां नही हुई जैसी वहां। इस लिये यहां, थोड़े दिनों पहिले तक, कुछ कुछ वह हाल था जो मध्ययुगीन यूरोप का था, जब वहां "स्कूलमेन" और "स्कोलास्टिसिज्म" के दर्शनों का प्रताप था। इधर कुछ दिनों से, भारतवर्ष में भी, उस वर्ग मे जिसने पाश्चात्य भाषा और शास्त्रों का अधिक अध्ययन किया है, इस पार्थक्य की वैसी ही दशा हो रही है जैसी पच्छिम में।

किंतु यह दशा श्लाघनीय और वांछनीय नही है। प्रकृति के विरुद्ध है, रोगवत् है चिकित्सा चाहती है, पूर्व में भी और पच्छिम मे भी। ज्ञान मार्ग, भक्ति मार्ग, कर्म मार्ग का, ज्ञान-विज्ञान अर्थात् फिलासोफी-सांयस का और भक्ति-उपासना अर्थात् रिलिजन का और सांसारिक व्यवहार अर्थात् "लाइफ इन दी वर्ल्ड" [२] का समन्वय, विरोधपरिहार, करना परम आवश्यक है। दिल तो कहता है कि किसी सगुण साकार इष्ट देव की पूजा करो जो आपत्काल मे सहाय हो, दिमाग़ कहता है कि ऐसा देव हो ही नहीं सकता; हाथ पैर कहते हैं कि खाओ, पीओ, दुनियादारी से मतलब साधो, और मुसीवत आवे, मौत आवे, तो मर जाओ—ऐसी हालत मे जिंदगी मे क्या चैन हो सकता है ? इस लिए तीनो का मेल करना जरूरी है। वह दर्शन सच्चा नहीं है, कच्चा है, जो अन्य दोनों से मेल मुहब्बत न कर सके, और उनको भी अपने साथ एक रास्ते पर न चला सके। दर्शन का अर्थ आंख है, देखना

[१] Schoolmen , Scholasticism.

[२] Life in the world, the day to day life of the world.

है। सब रास्तों को देख कर निर्णय करना, कि किस पर चलने से, किस तरह चलने से, क्या सामग्री साथ ले चलने से, हाथ और पैर, बिना खौफ खतरे के, बिना भय और क्लेश के, दिल को, सारे शरीर को, मनुष्य को, जो आंख का भी, हृदय का भी, हाथ पैर का भी मालिक है, उसके अभीष्ट लक्ष्य से मिला देंगे, मंजिल मकसूद तक पहुँचा देंगे यह दर्शन का काम है।

कुतूहल, जिज्ञासा, भी ज्ञान की इच्छा है; इस इच्छा का अभिप्राय भी यही है कि इस बात को जान कर हम भी समय-समय पर ऐसा-ऐसा काम कर सकें, इस ज्ञान से काम ले सकें। "नालेज इज पावर"[१]। पच्छिम में भी अब यह प्राचीन भाव फिर जोर कर रहा है कि "ऐज दी फिलासोफी आफ लाइफ, एज दी औटलुक अपान लाइफ, सो दी लाइफ", "आइडीयल्स आर दी ग्रटेस्ट मूविङ् फोर्सेस आफ नेशन्स," "एवेरी मूवमेंट हैज ए फिलासोफी बिहाइंड इट", "दी साउंडर दी[२] फिलासोफी दी मोर एफेक्टिव दी मूवमेंट," इत्यादि। ग्रीस देश की पुरानी कहावत है, "मनुष्य के जीवन की नेत्री फिलासोफी है"[३]। प्रत्यक्ष है कि कहना और करना, कौल व फेल, "वर्ड और डीड," एक दूसरे से बधे हैं, एक दूसरे की कसौटी हैं। "प्रैक्टिस" की, कृति की, जाँच, "प्रोफेशन"[४] से, वाणी से, ज्ञान से, विश्वास से; "प्रोफेशन" की, विश्वास की, जांच "प्रैक्टिस" से, कृति से। यदि कथनी के अनुकूल करनी, और करनी के अनुकूल कथनी, न हो, तो जानना कि कथनी झूठी है, बनावटी है। असली विश्वास, जो सब से गहिरा, मनुष्य के हृदय के भीतर धँसा रहता है, कृति उसी के अनुसार होती है, मुँह से कहना चाहे जो कुछ हो। बुद्धि भी, हृदय भी, कृति भी, तीनों एक साथ जिस तथ्य की साक्षी दें, वही तथ्य और सत्य है, और उसी को पाया हुआ, पहुंचा हुआ, जीव, तथा-गत रसीदा ऋषि (ऋच्छति, गच्छति, प्राप्नोति इति) है।

मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्।
मनस्यन्यत् वचस्यन्यत् कर्मण्यन्यद् दुरात्मनाम्॥

इस प्रसंग में, महात्मा शब्द का अर्थ है, वह जीव जिस को ज्ञान सच्चा अपरोक्ष हो गया है, जिस के दिल दिमाग हाथ-पैर मे विद्या एकरस होकर

---

[१] Knowledge is power

[२] As the philosophy of life, as the outlook upon life, so the life, Ideals are the greatest moving forces of nations, Every movement has a philosophy behind it, The sounder the philosophy the more effective the movement, etc

[३] *Philosophia biou kubernetes*

[४] Word and deed, practice, profession,

भीन गई है। तथा दुरात्मा शब्द का अर्थ वह जीव, जिसको ऐसा अपरोक्ष अनुभव नहीं हुआ है, जिस का ज्ञान अभी परोक्ष, है, शाब्दिक है, झूठा है। जो अविद्या के वश मे है, जिस के ख़ुद में अभी ख़ुदी गालिब है और ख़ुदा मगलूब है।

धर्म-मज़हब-रिलिजन का विश्वास, अन्य विश्वासों की अपेक्षा से, सच्चा और गहिरा इसीलिये समझा जाता है, कि मनुष्य का हृदय उस में लगा है, और उस के लिए वह सब कुछ करने, जान तक दे देने, के लिए तैयार होता है; क्योंकि उस को हृदय से दृढ़ विश्वास है, कि उस धर्म से उस को, इस लोक मे नहीं तो परलोक में, अवश्य सुख मिलेगा। जैसा पहिले कहा, मौत के भय से, मौत के दुःख के छूटने के उपाय की खोज से, धर्म उत्पन्न होते हैं। यह बात "फिलासोफ़ी आफ रिलीजन" अथवा "सायंस आफ रिलिजन"[१] की खोज करने वाले पश्चिम के विद्वान् भी मानते व कहते हैं। जिस को यह भय नही उस को धर्मादिक की आवश्यकता नहीं।

यस्तु मूढ़तमो लोके, यश्च बुद्धेः परं गतः।
द्वाविमौ सुखमेधेते, क्लिश्यत्यन्तरितो जनः॥

जिस को डर का पूर्वापरविचारात्मक ध्यान ही नही हुआ, या जो डर के पार पहुँच गया, हैवान है या इन्सानुल-कामिल है, पशु है या पशुपति है—ये दोनो सुखी हैं। बीच मे जो पड़ा है वही दुःखी है। जिस को यह निश्चय हो गया कि मै अमर हूँ, किसी दूसरे के वश मे नहीं, सब सुख-दुःख अपने ही किये से, अपनी ही लीला क्रीड़ा के अनुसार भोगता हूँ, उसको फिर बाहरी किसी धर्म की जरूरत नही रह जाती, सब धर्मका तत्त्व, मूल, उसके भीतर आ जाता है।

जब मनुष्य देखता है कि शरीर को तो मौत से छुटकारा नहीं ही हो सकता; जिस वस्तु का आरंभ होता है उस का अंत भी होता ही है; तब वह जीव मे, रूह मे, ईश्वर मे, रूहुल् आज़म मे मन अटकाता है, कि इस लोक मे नही तो परलोक में अजर अमर होंगे।

कुछ लोग चाहते हैं कि मजहब को दुनियाँ से उठा दें[२]। कई तो नेकनीयती से, और सहीह, एतबार करते हैं, कि जो वस्तु धर्मों मजहबों के नाम से दुनियाँ मे फैली है, उस से मनुष्यो को बड़ी-बड़ी हानियां पहुंची हैं, और उन की सद्बुद्धि के विकास मे, सच्चरित्रता की उन्नति मे, परस्पर स्नेह प्रीति के प्रसार मे, भारी विघ्न हुए हैं; और इस की उलटी बातो की वृद्धि

---

[१] Philosophy of Religion, Science of Religion

[२] यथा रूस देश के वर्तमान बोल्शेविक शासक।

हुई है; इसलिए वह समझते हैं, और चाहते और यत्न करते हैं, कि मजहब, धर्म, रिलिजन, दुनियां से ग़ायब हो जाय। पर वे गहिरी निगाह से नहीं देखते, कि ये सब दुष्फल, सद्धर्म के नही, बल्कि धर्माभास और मिथ्या धर्म के हैं; धर्मों के असली तात्त्विक अंश के नही है, प्रत्युत उस मिथ्या अंश के हैं, जिस को मतलबी स्वार्थी पुजारियों, मजहब का पेशा करने वालो, ने उन मे मिला दिया है। कोई लोग, जो खुद बदनीयत और बदकार होकर दूसरों को भी बिगाडने की नीयत से ही, उनके नजदीक धर्म की हँसी करते हैं, और उन को धर्म से अलग करना चाहते हैं, उनके विषय मे तो अधिक कहने का प्रयोजन नही। प्रथम वर्ग के लोगो को चाहिये, कि पहिले मौत को, या मौत के ख़ौफ़ को, दुनियां से ग़ायब कर दें; मजहब आप से ही लुप्त हो जायगा। जब तक यह नहीं कर सकते तब तक उन को धर्म के लुप्त करने में कामयाबी नही हो सकती। अंग्रेज. कवि कोलरिज ने, बहुत सरस शब्दों मे, अखंडनीय युक्ति कही है, जिसका आशय यह है,

नास्तिक कौन वस्तु ऐसी दै सकिहै,
हिय की व्यथा तिहारी जो परिहरिहै।
कहत ईश मेरे समीप तू आवै—
"नहिं दुख अस जासों न शांति तू पावै।
जहँ कहुँ दुखी होइ तू आँस बहावै,
मेरो मंदिर खोजि वहाँ तू धावै।
टूटौ हिय अपनो तू मोहिं दिखावै,
वाके जोरन कौ उपाय मोसों तू पावै"।
जिन सब आशा खोइ दई तिनकी वह आसा,
अँधियारे भरमत जन की वह ज्योति प्रकासा।
नहिं कोउ अन्य आसरो, करु वाही कौ ध्याना,
सब-दुख-मेटनहार वही है इक भगवाना। [१]

भारतवर्ष के संतो ने भी ऐसे ही कोमल करुणामय भावों का, बहुत मधुर शब्दों मे भजन किया है, यथा—

दीननाथ ! दीनबंधु ! मेरी सुधि लीजियै !
भाई नाहिं, बंधु नाहिं, परिजन परिवार नाहिं,
ऐसौ कोउ मीत नाहिं, जासौ कहौं—दीजियै !
खेती नाहिं, बारी नाहिं, बनिज ब्यापार नाहिं,
राज नाहिं, विद्या नाहिं, जाके बल जीजियै !
हे रे मन ! धीरज धरु, छाँड़ि कै पराई आस,

---

[१] Come, ye disconsolate ! where'er ye languish,
Come to God's altar, fervently here kneel,

जाही विधि राम राखैं वाही में रीझियै !
दीननाथ ! दीनबन्धु ! मेरो सुधि लीजियै ।

जिनके मन में प्रभु भक्ति बसै तिन साधन और किये न किये !
भव भीति मिटाई सबै तिनके नित नूतन उपजत आस हिये !

जब तक बच्चे की हालत में है, तब तक माता पिता का सहारा ढूंढना ही पड़ेगा। धीरे-धीरे, अपने पैरों पर खड़ा हो जायगा। एक दिन ऐसा आवेगा जब दूसरों को सहारा दे सकेगा, अपने बच्चों के लिए आप ईश्वर हो जायगा। प्रत्येक जीव को भक्ति मार्ग मे से गुज़रना ही होगा, और बाद मे, ज्ञान मार्ग में पहुँचकर, अपने पैरों पर खड़ा भी होना होगा, और, बालक भाव को छोड़कर, सेवक भाव की भक्ति भी बनाये रहना ही होगा।

देहबुद्ध्या तु दासोऽहं, जीवबुद्ध्या त्वदंशकः ।
आत्मबुद्ध्या त्वमेवाऽहं, इति भक्तिस्त्रिधा स्थिता ॥

देह की दृष्टि से, ईश्वर का दास हूँ; जीव की दृष्टि से, इष्ट देव भी मै भी, दोनो ही परमात्मा के अंश हैं; आत्मा की दृष्टि से, मैं और परमात्मा एक ही हैं।

धर्म की ओर से जन समुदाय को अरुचि, घृणा, क्रोध, और विरोधिता भी होती है, जब कुछ लोग, उस को अपनी जीविका और भोग विलास और दुष्ट कामनाओं की पूर्ति का उपाय बनाने के लिये, उस मे मिथ्या विश्वासों, दुष्ट भावों, और घोर दुराचारों और कुरीतियों को मिला देते हैं, और इन्हीं को धर्म का मुख्य रूप बता कर, सरलहृदय जनता के साथ, विश्वासघात करने लगते हैं, रक्षक के स्थान पर भक्षक हो जाते हैं। मानव जाति के इतिहास मे, 'धर्म' के नाम से, ऐसी ऐसी दारुण हत्या, बालकों की, स्त्रियों की, एशिया मे, यूरोप मे, अमेरिका मे, आफ्रिका मे, की गई है, और की जा रही हैं, जिनसे अधिक घोर यम यातना भी नही हो सकती।

Here bring your wounded hearts, here bring your anguish,
Earth has no sorrow that Heaven cannot heal.
Joy of the desolate, Light of the straying,
Hope, when all others die, fadeless and pure,
Here speaks the Comforter, in God's name saying,
"Earth has no sorrow that Heaven cannot heal"
Go, ask the infidel what boon he brings us,
What charm for aching hearts can he reveal,
Sweet as the heavenly promise that Hope sings us,
"Earth has no sorrow that Heaven cannot heal"

यस्याङ्के शिर आधाय जनः स्वपिति निर्भयः ।
स एव तच्छिरश्छिन्द्यात् किं नु घोरमतः परम् ॥

जिस की गोद में सिर रख कर मनुष्य सोता है वही सिर काट ले—इस से अधिक घोर पाप क्या हो सकता है ? तिस पर भी लोक किसी न किसी धर्म का आसरा चाहते और खोजते ही हैं। एक से उद्विग्न हो कर उस को छोड़ते हैं, तो किसी दूसरे को ओढते हैं, क्योंकि भीतर से अमरता चाहते हैं। जो उनके सच्चे शुभचिंतक हैं, उन्होंने हर जमाने में, जनता को वह रास्ता दिखाने का जतन किया है जिससे उन को अमृत लाभ हो, आबि-हयात मिलै, यानी अपनी अमरता और स्वाधीनता का निश्चय हो जाय।

धर्म की परा काष्ठा—दर्शन

अचम्भा तो यह है कि मौत का खौफ़ तभी ग़ायब होगा जब मजहब मुकम्मल होगा, और इन्सान कामिल होगा, और तभी, एक मानी में कह सकते हैं कि, मजहब भी गायब हो जायगा, क्योंकि ख़ुदी ग़ायब हो जायगी और सिर्फ़ ख़ुदा रह जायगा, और ख़ुदा को दूसरे के बताये मजहब की क्या जरूरत ? सब अच्छे से अच्छे, ऊँचे से ऊचे धर्म तो आप उस के भीतर भरे हैं।

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतो को विधिः को निषेधः ।

जिसने पहचान लिया कि परमात्मा तीनों गुणों की हरकतों से, विकारों से, परे है, उस को दूसरे के कहे विधि निषेधों की, कायदे कानूनों की, आवश्यकता नहीं, वह अपने भीतर से सब उपयुक्त विधि निषेधों को पाता रहता है।

दुःख की निवृत्ति की खोज से ही धर्म उत्पन्न होते हैं, और दुःख की आत्यतिक निवृत्ति का एक मात्र उपाय यही दर्शन है, परम-ईश्वर का दर्शन, परमात्म-दर्शन, ब्रह्म-लाभ, ख़ुदा का ख़ुद में नमूद हो जाना और ख़ुदी का ख़ुद से गायब हो जाना। यों ही "हेड" और "हार्ट" और "लिम्बज़" का, दिल, दिमाग, और हाथ पैर का, ज्ञान-इच्छा-क्रिया का, झगड़ा मिट जाता है, और "इन्टेलेक्चुअल, (थियोरेटिकल)—इमोशनल—ऐक्शनल (प्रैक्टिकल) इंटरेस्टस", तीनों का समाहार हो जाता है। यों ही सिद्ध होता है कि धर्म-मजहब-रिलिजन की परा काष्ठा का ही नाम दर्शन है। परा काष्ठा इस लिए कि जैसा पहिले कहा, जो पदार्थ आज काल धर्म, मजहब, रिलिजन के नाम से प्रसिद्ध हैं, उनसे यदि हृदय को सतोष होता है तो मस्तिष्क को प्रायः नहीं होता, और सासारिक व्यवहार दोनों से प्रतिकूल पड़ता है; और

दर्शन से, यदि सच्चा दर्शन है, तो सब का सामंजस्य, सब की परस्पर अनुकूलता, सब की तुष्टि, पुष्टि, पूर्ति, और सौमनस्य हो जाना चाहिये।

आत्म-दर्शन ही परम धर्म

जैसा मनु और याज्ञवल्क्य ने कहा है,

सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं स्मृतम्।
तद्ध्यग्र्य सर्वविद्याना प्राप्यते ह्यमृत ततः ॥ (मनु, अ० १२)

इज्याचार-दमा-हिंसा-यज्ञ-स्वाध्यायकर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद् योगेनात्मदर्शनम् ॥ (याज्ञवल्क्य, अ० १)

सब धर्मों का परम अर्थ यही है कि आत्म-दर्शन हो

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यते सर्वसंशयाः।
क्षीयते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ (मुडक उपनिषत्)

आत्मा के दर्शन होने पर, परमात्मा का स्वरूप ठीक-ठीक विदित हो जाने पर, हृदय की, बहुत दिनों की पड़ी हुई, सब गांठें, काम, क्रोध, लोभ आदि की ग्रंथियां,[1] कट जाती हैं, बुद्धि के सब असंख्य संशय उच्छिन्न हो जाते हैं, नये सांसारिक बंधन बनाने वाले सब स्वार्थी कर्म क्षीण हो जाते हैं, क्योंकि भेद-बुद्धि ही, पृथक्-जीवन की वासना ही, मैं अलग और अन्य जीव अलग, मन् दीगरम् तू दीगरी, यह भाव ही, मिट जाता है, सभी अपने ही हो जाते हैं, आत्मा ही में मग्न हो जाते हैं।

यही भाव सूफ़ियों ने भी कहा है,

गौहरे जुज़ ख़ुद-शिनासी नीस्त दर बहरे वुजूद।
मा बगिर्दे ख़्वेश मी गर्देम चूं गिर्दाबहा ॥
रहे इश्क जुज़ पेच दर पेच नीस्त।
बरे आरिफ़ा जुज़ ख़ुदा हेच नीस्त ॥
चश्म बन्दो गोश बन्दो लब बि बन्द।
गर न बीनी रूयि हक़ बर मा बिख़न्द ॥

---

[1] इन हृदय की ग्रंथियों को पच्छिम में "साइको-ऐनालिटिक" (pycho-analytic school) सम्प्रदाय के विद्वानों और गवेषकों ने "काम्प्लेक्स" (complex) के नाम से पहिचाना है। पर वे, विशेष-विशेष ग्रंथियों का निर्मूलन, उनके विशेष-विशेष स्वरूप और कारण के ज्ञान के द्वारा, करने का यत्न करते हैं, और आत्म-विद्या सब अशेष ग्रंथियों का एक साथ निर्मूलन आत्मज्ञान से करती है।

अर्थात्, भवसागर में आत्म-ज्ञान के सिवा और कोई मोती नहीं है। जैसे पानी का भँवर अपने ही चारो तरफ फिरता है, वैसे ही हम सब अपनी ही, अपने आत्मा की ही, परिक्रमा करते रहते हैं। प्रेम को राह पेंच के भीतर पेंच के सिवा और कुछ नहीं है; ज्ञानी के लिये परमात्मा के सिवा और कुछ कहीं भी नहीं है। आँख, कान, मुंह, बंद करो, परमात्मा अवश्य देख पड़ेगा।

योग सूत्र के शब्दों में,

चित्तवृत्तिनिरोधे द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

अर्थात्, चित्त की सब वृत्तियों का निरोध कर दिया जाता है, जब ज्ञानात्मक-इच्छात्मक-क्रियात्मक सब वृत्तियां रोक दी जाती हैं, जब मन सब तरफ से हट जाता है, तब द्रष्टा, 'देखनेवाला', सब संसार का साक्षी, आत्मा, अपने स्वरूप में, "मै" मे, अवस्थित हो जाता है, मैं, परमात्मा, सब संसार का साक्षी, सब का धारक, व्यापक, सब से अन्य, हूँ—ऐसी अवस्था, ऐसा ज्ञान, ऐसा भाव उदय होता है।

पैगम्बर मुहम्मद ने भी कहा है,

मन अरफा नफसहू फक़द अरफा रब्बहू।

अर्थात् आत्मा का, अपने का, ज्ञान और ईश्वर का ज्ञान एक ही चीज़ है। जिसने अपने को जाना उसने ख़ुदा को जाना।

ख़ुद-शिनासी, इर्फ़ानि ख़ुदा, हक़-बीनी, दीदार, ब्रह्मज्ञान, आत्म-दर्शन, ब्रह्मलाभ, आत्मलाभ, "दी विझन आफ गाड," "सेल्फ-नालेज"—यह सब पर्याय हैं, एक ही पदार्थ के विविध नाम हैं, जिसी पदार्थ से ऐकांतिक आत्यंतिक दुःख-निवृत्ति होती है, और इंतिहाई दवामी लाजवाल सुख-शांति का लाभ होता है।

यही दर्शन का और दर्शनशास्त्र का मुख्य प्रयोजन है।

ॐ

अध्याय २

दर्शन का गौण प्रयोजन

दर्शन के प्रधान प्रयोजन का वर्णन किया गया। उसका गुणरूप, गुणभूत, गौण, बड़ा गौरवशाली, और भी प्रयोजन है।

राजविद्या का अर्थ और उसकी उत्पत्ति की कथा

गीता का उपाख्यान किसको नहीं मालूम ? अर्जुन को जब किंकर्त्तव्य-विमूढ़ता, दीनता, विषण्णता ने घेरा, तब कृष्ण ने उस बेचैनी को आत्मविद्या के उपदेश से दूर किया। ब्रह्मचर्य की परा काष्ठा से, आत्मनिग्रह, आत्मवशता, से, दैहय आत्मा पर भी वशित्व[1] पाये हुये, मृत्यु पर भी विजय पाये हुए, इच्छा-मृत्यु, भीष्म ने, योग से शरीर छोड़ते हुए, जो कृष्ण की स्तुति की, उसमे इसको कहा है।

व्यवहितपृतनामुखं निरीक्ष्य स्वजनवधाद्विमुखस्य दोषबुद्ध्या।
कुमतिमहरदात्मविद्यया यश्चरणरतिः परमस्य तस्य मेऽस्तु ॥

शत्रुओं की सेना मे आगे बधु बांधवों को देख, उनके वध को महापातक मान, विषण्ण हुए अर्जुन की कुमति को जिसने आत्मविद्या से हटाया, उस हरि की सुदर मूर्ति मेरे मन में, स्नेह से आवृत, सदा बसै।

इस आत्मविद्या ही का नाम राजविद्या, राजगुह्य, है। जैसा स्वयं कृष्ण ने अर्जुन से कहा है।

इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञान विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तम।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥

आत्मविद्या का नाम राजविद्या क्यो पड़ा, इस विषय में, आजकाल, कुछ विद्वान्, छिछली सरसरी दृष्टि से, यों तर्क करते हैं कि यह विद्या पहिले

---

[1] Biological autonomy। शास्त्रीय सिद्धांत यह है कि नया शरीर, नया प्राण, उत्पन्न करने वाली, "शुक्रं ब्रह्म सनातनं" रूप, शक्ति को जो अपने शरीर से अवकीर्ण न होने दे, उस प्राण शक्ति को उसी शरीर के ही पोषण में परिणत करता रहे, तो बहुत काल तक उस शरीर को स्थिर रख सकता है, जब तक वह स्वयं उस शरीर के धारण से खिन्न न हो जाय। आज काल पच्छिम के विद्वानों ने जीर्ण-वृद्ध मनुष्य के शरीर को पुनः युवा बना देने का उपाय यह निकाला है कि वानर आदि

क्षत्रियों में उदित हुई। पर गहिरी दृष्टि से देखने से इस प्रकार के विचार, जात्यभिमान, वर्ग-प्रशसिता, आदि ओछे भावों से प्रेरित जान पड़ते हैं, और योग वासिष्ठ में जो इसके उत्पत्ति की कथा कही है वही मन में सच्ची होकर बैठती है। कथा यह है।

विश्वामित्र दशरथ के पास आये। "दुर्जन लोग (राक्षस) हमारे ऋषिकुल, गुरुकुल, ब्रह्माश्रम (विद्यापीठ) के सत्कार्यों में विघ्न करते है। यज्ञ का अर्थ है स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, द्रव्ययज्ञ आदि, मनुष्यों के स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के, देह और बुद्धि के, संस्कार परिष्कार करने वाले, और इस सस्कार के द्वारा इहलोक परलोक दोनो को सुधारने वाले, सब परोपकारी कार्य। राम जी को आज्ञा कीजिये कि मेरे साथ चले और इन दुष्टों का दमन करे"। "राम ने तो खाना पीना छोड़ रक्खा है, न जाने किस चिंता में पड़ गये हैं, किस मोह से मूढ़ हैं, या कोई रोग से रुग्ण हैं; आप उसका उपाय कीजिये, और ले जाइयं"। राम जी बुलाये गये। ऋषि ने पूछा। राम जी ने कहा। बहुत विस्तार से, बहुत सरस, मधुर, ओघवान्,

---

पशुओं के वृषण (अथवा यदि स्त्री हो तो वानरी आदि के रजःकोप) उसके शरीर में जमा देते हैं। पुराणों में इसकी सूचना इस प्रकार से की है कि इंद्र के अंडकोश जब, परदार-गमन के कारण, ऋषि के शाप से, सहस्राक्षता (अथवा उपदंश रोग) से, गिर गये (या सड़ गये), तब उनके स्थान पर स्वर्ग के वैद्यों ने मेष के वृषण लगा दिये। यह प्रकार राजस, तामस, और पापीयान् है, सात्त्विक नहीं। तो भी, उससे भी यही सिद्ध होता है कि शुक्र धातु के शरीर में बनने और सचित होने से, यौवन अर्थात् प्राण, ओजस्, तरस्, सहस्, तेजस्, महस्, वर्चस् आदि सूक्ष्म शरीर के गुण, शरीर में उत्पन्न होते हैं। सात्त्विक मानवीय शुक्र से, सात्त्विक मानवीय ओजस् आदि सब छः, ब्रह्मचर्य द्वारा; राजस तामस वानरीय शुक्र से, शालाक्य चिकित्सा द्वारा, प्रायः वानरीय ओजस्, तरस्, और सहस्, ही, किन्तु सूक्ष्मतर तेजस्, महस्, वर्चस् नहीं। पश्चिम मे यह आसुरी वाजीकरण-चिकित्सा कुछ वर्षों तक बहुत चली, पर अब अनुभव से निश्चय हो गया है कि उस के परिणाम बहुत बुरे होते हैं; इस से इस का प्रचार कम होता जाता है।

ओजो हि तेजो धातूनां शुक्रांतानां परं स्मृतम्। (वाग्भट)

अंग्रेजी में इस आशय को कहना हो तो स्यात् यों कहा जायगा कि,

The conservation of the normal vital seed and its psychophysical energy in the body, instead of allowing it to escape outside, will prolong the life of that body for an indefinite period, (*i e* for much longer than the usual, but not endlessly, of course), till the soul is itself tired-as it will surely become tired in course of time—of holding on to, and daily repeating the experiences, over and over again, of that one body

वेगवान्, बलवान्, हृदय को पकड़ कर खींच ले जाने वाले, शब्दों मे, संसार की अस्थिरता और दुःखमयता, और उसको देखकर अपने चित्त की विकलता और खेदपूर्णता, कहा। बुद्ध को भी, रामजी के बहुत वर्षों पीछे. यही अनुभव हुआ, और उनके पहिले तथा उनके पीछे, सब काल में, अपने अपने समय से, सब जीवों को, मृदुवेदिता और कोमलचित्तता उदय होने पर, वैसा ही होता रहा है और होगा। संक्षेप से, जो रामजी ने कहा वह यह है।

"ससार में जो प्रिय से प्रिय, स्थिर से स्थिर, महान् से महान्, पदार्थ हैं, उनकी अनित्यता को देख कर, सब प्राणियों को दुःखी देख कर, मुझे भारी व्यथा हो गई है, कुछ अच्छा नही लगता; यही मन मे फिर फिर उठता है कि, ऐसे नश्वर शरीर को, अपने आप खाना पीना वद करके, छोड़ देना अच्छा है; यम से नित्य नित्य डरते कांपते हुए, इस अपवित्र मलमय रक्त मांस अस्थि के संचय को पकड़े रहने का यत्न करना नहीं अच्छा।"

आपातमात्ररमणेषु सुदुस्तरेषु भोगेषु नाहमलिपक्षतिचचलेषु।
ब्रह्मन् रमे मरण-रोग-जरादिभीत्या शाम्याम्यहं परमुपैमि पद प्रयत्नात्॥

(योग वासिष्ठ, १-२१-३६)

विश्वामित्र बहुत प्रसन्न हुये। दशरथ से कहा, "राम का यह मोह परम सात्त्विक मोह है। राम को बडे काम करना है, इस लिये बड़े ज्ञान की इनको आवश्यकता है। नित्य और अनित्य, नश्वर और अनश्वर, फानी और बाकी, का विवेक जिसको हो, नश्वर से वैराग्य जिसके हृदय में जागे, नित्य की खोज मे जो सर्व प्राण से पड़ जाय, दिल और दिमाग दोनों मे जिसको इसकी सच्ची लगन लग जाय, उसको महा उदय, अभ्युदय भी निःश्रेयस भी, देने वाला, नित्य पदार्थ का बोध, मिलता ही है।

विवेकवैराग्यवतो बोध एव महोदयः।

छोटे छोटे कामों मे तो कृतार्थता पाने के लिये ऐसी लगन की आवश्यकता होती ही है, फिर अजर, अमर, अनादि, अनंत पदार्थ पाने के लिये क्यों न चाहेगी? पर जिसको यह धुन लगेगी, कि 'कार्यं वा साधयामि, शरीरं वा पातयामि', वह कृतार्थ हो होगा। सो राम को यह उत्तम जिज्ञासा उत्पन्न हुई है। इनके कुल के पुरोहित वसिष्ठ जी इसको पूरी करेंगे"। ऐसा विश्वामित्र ने कहा।

तव वसिष्ठ ने आरभ किया, और आदि में ही कहा कि इस जिज्ञासा को पूरी करने वाली ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, का नाम राजविद्या, राजगुह्य, भी है। और इसके विवरण के लिये समाजशास्त्र (सोसियालोजी)[1] की,

---

[1] Sociology

जो भारतवर्ष के पुराण-इतिहास का एक अंग है, कुछ मूल बातों की चर्चा कर दी। मानव इतिहास के आदि काल में मनुष्य परस्पर मेल मुहब्बत से, कापोतन्याय से,[१] रहते थे। इस काल को सत्ययुग[२] का नाम दिया जाता है, क्योंकि मनुष्यों को प्रायः असत्य बोलने के योग्य चपल बुद्धि ही न थी, सीधे सादे होते थे। इसको कृतयुग भी कहते हैं, क्योंकि वृद्ध कुलपति, जातिपति, प्रजापति,[३] नेता, जो कह देते थे उसको सब लोग बिना पूछ पाछ, बिना हुज्जत बहस, कर देते थे। "कृतमेव, न कर्त्तव्यं"; वृद्ध के मुह से उपदेश आदेश निकला नहीं कि युवा ने कर दिया; अभी करने को बाक़ी है—ऐसी नौबत नहीं आती थी। क्रमशः मनुष्यों मे अहंकार, द्वेष, द्रोह, स्पर्धा, ईर्ष्या आदि के भाव बढ़े। परस्पर युद्ध होने लगे। कापोतन्याय के स्थान में मात्स्य-न्याय प्रवृत्त हुआ[४]। शांति के स्थापन के लिये राजा चुने बनाये गये[५]। उनकी बुद्धि, समाज-रक्षा के कार्य मे, अक्षम, असमर्थ, क्षुब्ध, किंकर्त्तव्य-विमूढ, होने लगी। तब ब्रह्मा ने ऋषियों को उत्पन्न किया, आत्मज्ञान से सम्पन्न किया, और राजाओं को शिक्षा के लिये नियुक्त किया। तब आत्मविद्या की शिक्षा पाकर राजा लोग स्थितप्रज्ञ, स्थितधीः, स्थिरबुद्धि, स्थिरमति, हुए, और शांत मन से, प्रजा के द्विविध रक्षण का, अर्थात् पालन और पोषण का, द्विविध उपाय से, अर्थात् दुष्टनिग्रह और शिष्टसग्रह से[६], अपना कर्त्तव्य करने के योग्य हुए। तभी से यह विद्या राजविद्या कहलाई, क्योंकि विद्याओं की राजा है, और राजाओं की विद्या है, राजाओं के लिये विशेष उपयोगिनी है।

तेषां दैन्यापनोदार्थं सम्यग्दृष्टिक्रमाय च।
ततोऽस्मदादिभिः प्रोक्ता महत्यो ज्ञानदृष्टयः॥
अध्यात्मविद्या तेनेयं पूर्वं राजसु वर्णिता।
तदनु प्रसृता लोके राजविद्येत्युदाहृता॥
राजविद्या राजगुह्यं अध्यात्मज्ञानमुत्तमम्।
ज्ञात्वा राघव राजानः परां निर्दुःखतां गताः॥

(यो० वा, २-११-१६, १७, १८)

---

[१] Idyllic state of nature, "Pigeon-like"

[२] Golden age, Childhood of Mankind

[३] Patriarch

[४] Warring state of nature, "Fish-like

[५] Social contract

[६] Protection and nurture, Prevention of disorder and Promotion of general welfare इस विषय का, विस्तार से, "राज-शास्त्र" की लेख श्रेणी में, जो "काशी विद्या पीठ पत्रिका" में प्रकाशित हुई है, लेखक ने प्रतिपादन किया है।

इसका उपयोग—इहलोक, परलोक, उभयलोकातीत, सब के बनाने में

इस रीति से राजविद्या का जो आद्य अवतरण हुआ, उसी का दूसरा उदाहरण, नवीकरण, वा पुनरवतरण, भगवद्गीता का उपाख्यान और उपदेश है। इस परा विद्या को कृष्ण ने गुह्यतम, रहस्यों का रहस्य, राजों का राज, इल्मि सीना, भी कहा, और प्रत्यक्षावगम, अक्षों से, स्थूल इद्रियों से, देख पड़ती हुई, भी कहा। जैसा सूफियो ने भी कहा है,

मग़्रिबी, आ चि तू अश मी तलबी दर ख़लवत्,
मन् अया बर-सरि कूचः व कू मी बीनम्।

हे पच्छिम वाले, जिस वस्तु को तुम एकांत मे ढूंढ़ते हो, उसे मैं हर सड़क और गली में देख रहा हूँ। इसका आशय, आशा है कि, आगे खुलेगा। पच्छिम वाले का सम्बोधन अच्छा है। एक पच्छिम वाले ने अपने हृदय के उद्गार मे कहा है, जिस ईश्वर को मैं अपने बाहर सर्वत्र देख रहा हूँ, उसी को अपने भीतर भी देख लूं—यह मेरी सब से उत्कृष्ट इच्छा है।[१] इस प्रकार से, पूर्व पच्छिम के भावो में सादृश्य होते हुए भी, वैदृश्य, दक्षिण वाम का सा, बिम्ब प्रतिबिम्ब का सा, देख पड़ता है।

एक बेर इस विद्या के सिद्धांत हृदय में बैठ जायँ, तो फिर देख पड़ने लगता है कि वे चारो ओर समस्त संसार मे व्याप्त हैं। जब "शक्ले इन्सां में ख़ुदा है" यह मालूम हो जावे तब, जाहिर है कि, हर कूंचा व कू में वही ख़ुदा देख पड़ेगा जो खलवत मे तलाश किया जाता है। चैतन्य सर्वव्यापी है, यह निश्चय जब हो जाय तब उसके नियम, परमाणु मे भी और सौर सम्प्रदायों में भी, अणोरणीयान् मे भी और महतो महीयान् मे भी, एक से काम करते हुए, समदर्शी को देख पड़ेगे।

ब्रह्मा शब्द का अर्थ

योग वासिष्ठ की कथा में ब्रह्मा का नाम आया। पौराणिक रूपक मे यह नाम उस पदार्थ का है जिस को सांख्य मे महत्तत्त्व और बुद्धितत्त्व भी कहते हैं।

हिरण्यगर्भो भगवान् एष बुद्धिरिति स्मृतः।
महान् इति च योगेषु विरिञ्चिरिति चाप्यजः॥
सांख्ये च पठ्यते शास्त्रे नामभिर्बहुधात्मकः।
विचित्ररूपो विश्वात्मा एकाक्षर इति स्मृतः॥

[१] "My highest wish is to find within, the God whom I find every-where without"; Kepler, quoted by J H Stirling, on the title-page of his translation of Schwegler's *Handbook of the History of Philosophy*.

वृत नैकात्मक येन कृत त्रैलोक्यमात्मना।
तथैव बहुरूपत्वाद् विश्वरूप इति स्मृतः॥
सर्वतः पाणिपाद तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुख।
सर्वतः श्रुतिमल् लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥

(म० भा०, शाति, अ० ३०८)

मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः।
प्रज्ञा चितिः स्मृतिः सं विद् विपुर चोच्यते बुधैः॥

(वायु० पु०, पूर्वार्ध, अ० ४)

अव्यक्तः पावनोऽचिन्त्यः सहस्राशुः हिरण्मयः।
महानात्मा मतिर्ब्रह्मा विष्णुः शभुः स्वयभवः॥
बुद्धिः प्रज्ञोपलब्धिश्च सवित् ख्यातिर्धृतिः स्मृतिः।
पर्यायवाचकैः शब्दैर्महानात्मा विभाव्यते॥

(अनुगीता, अ० २६)

ब्रह्म की, परमात्मा, परम पुरुष, की, प्रकृति का पहिला आविर्भाव ब्रह्मा। जैसे,

स्रष्टा प्रजापतिर्वेधा धाता वेदनिधिर्विधिः। (अमर कोश)
अपारे ब्रह्मणि ब्रह्मा स्वभाववशतः स्वयं।
जातः स्पदभयो नित्यमूर्मिरम्बुनिधाविव॥

(योग वासिष्ठ)

समुद्र में लहर। आत्मा का पहिला रूप बुद्धि, जैसे सूर्य का पहिला रूप ज्योति। इसी पदार्थ को, सूफ़ी इस्तिलाह में, अहद का पहिला इज़्हार वाहिदीयत, अक़लि-अव्वल, अक़्लि-कुल, रूहि-कुल, लौहि-महफ़ूज़, उम्मुल-किताब, हक़ीकति मुहम्मदी, इत्यादि नाम से कहते हैं। ग्रीस देश के दार्शनिकों ने नूस, डीमियर्गास, आदि नाम इसी को दिये हैं। ईसाई मिस्टिक और ग्नास्टिक [२] सम्प्रदाय के विद्वानों ने, होली गोस्ट, क्राइस्टास, ओवर-सोल [३] आदि। पच्छिम के दार्शनिकों ने इसी के विविध पक्षों को ऐनिमा मंडी, यूनिवर्सल रीज़न, दी अनकान्शस, अनकान्शस-विल-ऐण्ड-इमैजिनेशन,

---

[१] Nous, Demiurgos

[२] Mystics, Gnostics

[३] Holy Ghost, Christos, Oversoul.

कास्मिक ऐडियेशन, मैस-माइंड, कलेक्टिव इंटेलिजेन्स, डिफ्यूज़्ड इंटेलिजेन्स[१], प्रभृति नामों से कहा है।

संस्कृत के कुछ नाम, इसी पदार्थ के, उद्धृत श्लोकों में दिये हैं। इन के सवा और भी वहुत हैं, सूक्ष्म सूक्ष्म गुणों, पक्षों, रूपों, लक्षणों के भेद से। अधिक प्रसिद्ध पौराणिक नाम, ब्रह्मा-विष्णु-शिव हैं, और दार्शनिक नाम महत्, बुद्धि, विद्याऽविद्या रूपिणी माया, शक्ति, आदि। बृंहयति जगत् इति ब्रह्मा, जगत् को जो बढ़ावै, फैलावै। विसिनोति सर्वान् प्राणिनः, विशति वा सर्वेषु प्राणिषु, इति विष्णुः, जो सब के भीतर पैठ कर सब को एक दूसरे से बांधे रहे। शेते सर्वभूतेषु इति शिवः, सब मे सोया हुआ है। वसति सर्वेषु, स्ववासनया वासयति सर्वमनांसि इति, वासुदेवः, सब हृदयों में बसा है, सब को अपनी वासना से वासित करता है। इसी से लोकमत, पब्लिक ओपिनियन, वर्ल्ड-ओपिनियन[२], मे इतना बल है, कि बड़े-बड़े युद्ध-प्रिय मानव-हिंसक देश-विजेता सेनाधिप भी, उसको सशस्त्रास्त्र सेनाओ से अधिक प्रबल मानते रहे हैं, और उस से डरते रहे हैं। जब वासुदेव-विश्वात्मा-ओवरसोल-ऐनिमामंडी-रूहिकुल की राय बदलती है तब बड़े बड़े राष्ट्रों के रूप तत्काल बदल जाते हैं। सब शास्त्र, सब अनंत ज्ञान विज्ञान, इसी मे भरे पड़े हैं, इसी से निकलते हैं, और इसी मे फिर लीन हो जाते हैं। किसी मनुष्य का कोई नई बात पाना, नये शास्त्र का आरंभ और प्रवर्तन करना, नया आविष्कार, ईजाद, उपज्ञ, करना, मानों इसी समुद्र मे ग़ोता लगा कर एक मोती ले आना है, उस छोटे अंश में अपनी अक़्ल को, बुद्धि को, अकलि-कुल से, महा बुद्धि से, अनंत बुद्धि से, महत्तत्त्व महानात्मा से, मिला देना है।

स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः।
भद्धत्स्वाननुभूतोऽर्थो न मनः स्प्रष्टुमर्हति॥ (भागवत)
विद्यते स च सर्वस्मिन् सर्वं तस्मिंश्च विद्यते।
कृत्स्नं च विंदते ज्ञानं तस्मात्सविन्महान् स्मृतः॥
वर्त्तमानान्यतीतानि तथा चानागतानपि।
स्मरते सर्वकार्याणि तेनासौ स्मृतिरुच्यते॥

---

[१] Amina Mundi, Universal Reason, The Unconscious, Unconscious-Will and-Imagination, Cosmic Ideation, Mass-mind, Collective Intelligence, Diffused Intelligence.

[२] Public opinion, World opinion,

ज्ञानादीनि च रूपाणि क्रतुकर्म फलानि च ।
चिनोति यस्माद् भोगार्थं तेनासौ चितिरुच्यते ।
(सर्वभूत-भवद्-भव्य-भाव-सञ्चयनात्तथा) ।
दृह्वाना विपुलीभावाद् विपुर चोच्यते बुधैः ॥ (वायु पु०)

भूत, भवद्, भविष्य, सब ज्ञान, सब अनुभव, सब भाव, सब पदार्थ इसी मे हैं। सब का इस को सदा स्मरण रहता है, इस से इसका नाम स्मृति है; सब का सचय है, इस लिये चिति ; इत्यादि । सूफियों ने भी कहा है ।

जो इल्मो हिकमत का वो है दाना
तो इल्मो हिकमत के हम हैं मूजिद ।
है अपने सीने में उस से जायद
जो बात वाएज़ किताब में है ॥
लौहि-महफ़ूज़स्त दर मानी दिलत ।
हर चि मी ख़्वाही शवद ज़ू हासिलत ॥
दर हकीकत खुद तु ई उम्मुल किताब ।
ख़ुद ज़े ख़ुद आयाति ख़ुद रा बाज याब ॥
आवाज़-इ खल्क़ नक़्क़ार-इ खुदा ।

अपने दिल में, समाज के हृदय में, बुद्धि में, सूत्रात्मा मे, सब कुछ भरा है। जिस विषय की तीव्र आकांक्षा समाज में उपजती है, उस विषय का ज्ञान भी शीघ्र हो उपजता (उपज्ञात होता) है। ईजाद, उपज्ञा, को गहिरा स्मरण ही समझना चाहिये। और न्याय सूत्र में कहा है, "स्मरणं तु आत्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्", परम-आत्मा ज्ञानमय है, उसका स्वभाव ही ज्ञातृत्व सर्वज्ञत्व है, इसी लिये जीव-आत्मा को स्मरण होता है।

तो पौराणिक रूपक ठीक है कि ब्रह्मा ने ऋषियों को उत्पन्न करके उनको ज्ञान दिया, और उन्होंने राजाओं को सिखाया। आज भी यह रूपक प्रत्यक्ष चरितार्थ है। नयी "सायंटिफिक डिस्कवरी",[१] वैज्ञानिक आविष्कार, विज्ञानाचार्य करते हैं; तदनुसार शासक वर्ग धर्म कानून बनाता है। इसी प्रकार से, पुराकाल मे, जब आत्मविद्या की समाज में तीव्र आवश्यकता और इच्छा हुई, तब वह प्रकटो, समाज के योग्यतम मनुष्यों की बुद्धि मे उसने अवतार लिया, और उसका उपयोग, प्रयोग, मनुष्यों के वैयक्तिक और सामाजिक जीवन के अंगों के नियमन, शोधन, प्रसादन के लिये, किया गया।

---

[१] Scientific discovery

ब्रह्म और धर्म। राजविद्या और राजधर्म

इतिहास-पुराणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि यह विद्या, भारतवर्ष की उत्कृष्टावस्था में, कभी भी केवल संन्यासोपयोगिनी ही नहीं, प्रत्युत समग्र सांसारिक व्यवहार की शोधिनी भी, समझी गई। धर्म-जिज्ञासा, ब्रह्म-जिज्ञासा, दोनों ही दर्शन की विषय हैं। प्रसिद्ध छः दर्शनों में वैशेषिक आदिम, और वेदांत अंतिम, समझा जाता है। वैशेषिक मे प्रायः बहिर्मुख दृष्टि के पदार्थों के विशेष विशेष धर्मों का विशेषतः, और मनुष्य के कर्त्तव्य कर्मविशेष रूपी धर्मों का सामान्यतः और आपाततः, विचार किया है। वेदांत मे प्रायः अंतर्मुख और फिर सर्वतोमुख दृष्टि से ब्रह्म का दर्शन किया गया है, जिसी के स्व-भाव से सब धर्म निकलते हैं, जिसी की प्रकृति पर सब धर्म प्रतिष्ठित हैं, जिस ब्रह्मतत्त्व के ज्ञान के बिना धर्मतत्त्व का अभ्रांत ज्ञान असम्भाव्य है, जिस ब्रह्म के अनुभव करने वाली अवस्था का एक नाम इसी हेतु से, योग दर्शन में, धर्ममेघ समाधि कहा है। धर्मान्, संसारचक्रनियमान्, विधीन्, मेहति, वर्षति, प्रकटी-करोति, उत्पादयति च ज्ञापयति च, इति धर्ममेघः। संसार-चक्र के नियम वा विधि रूपी धर्म[1] और उनका ज्ञान, जिससे उत्पन्न होते हैं, उस ब्रह्मावस्था का नाम धर्ममेघ और धर्ममेघ समाधि है।

ब्रह्म और धर्म, वेदांत और मीमांसा, ज्ञान और कर्म, वेद और लोक (इतिहास-पुराण), शास्त्र और व्यवहार, सिद्धांत और प्रयोग, राजविद्या और राजधर्म, नय और चार, सायंस और ऐप्लिकेशन, थियरी और प्रैक्टिस, मेटाफिजिक्स और एथिक्स-डोमेस्टिक्स-पेडागोजिक्स ईकोनामिक्स-सोसियोनामिक्स-पालिटिक्स,[2] इल्म और अमल, का पद पद पर संबंध है। बिना एक के दूसरा सधता ही नहीं। मनु का आदेश है,

ध्यानिक सर्वमेवैतद् यद् एतद्-अभिशब्दितम्।
न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते॥
सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं वा वेदशास्त्रविदर्हति॥
एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः॥

---

[1] The Laws of Nature, the Laws of the World-Order

[2] Science and application, theory and practice, metaphysics and ethics—domestics—pedagogics—economics—socionomics—politics,

याज्ञवल्क्य ने भी कहा है,

चत्वारो वेदधर्मज्ञा पर्षत् त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते य स धर्मः स्यादेको वाऽध्यात्मवित्तमः॥

वैयक्तिक और सामाजिक, वैयष्टिक और सामष्टिक, प्रात्येकिक और सामूहिक[1] मानव जीवन के किसी भी अंग का ठीक ठीक प्रबंध, ऐसा मनुष्य कैसे कर सकेगा, जिसको यह ज्ञान नहीं है कि मनुष्य क्या है, उसकी आत्मा का स्वरूप क्या है, उसकी प्रकृति, उसका स्वभाव, उसका चित्त, और चित्त की सत्क्रिया विक्रिया, क्या है, उसके शरीर की बनावट और धर्म और गुण दोष आरोग्य सारोग्य क्या है, उसके जीवन का तत्व क्या है, जीना मरना क्या है, जीवन के हेतु और उसके लक्षण क्या हैं? ऐसी बातों का जिसको ज्ञान हो, जो अध्यात्मवित् है, उसी को धर्म के व्यवसान और धर्म के प्रवर्तन के प्रभावी और विशाल कार्य सौंपने चाहिये। एक भी मनुष्य, यदि सचमुच अध्यात्मवित्तम है तो, जो निर्णय कर दे वह धर्म ठीक ही होगा। भारतीय समाज का सब प्राचीन प्रबंध, इसी हेतु से, अध्यात्मविद्या की नीवी पर, फिलासोफी और साइकालोजी[2] की बुनियाद पर, बाँधा गया था।

इस देश के प्राचीन विचार में धर्म और ब्रह्म का कैसा निकट संबंध था, कैसा इनके बीच में प्राण-संबंध, यौन-संबंध, माना जाता था, इसका उदाहरण मनु के श्लोक में देख पड़ता है, यथा,

जायते दुर्विवाहेषु ब्रह्मधर्मद्विषः सुताः। (३—४१)

अनमेल, बेजोड़, अनुचित, दुःशील, दुष्ट भाव से प्रेरित, दुर्विवाहों से, ब्रह्म और धर्म का, सज्ज्ञान और सदाचार का, द्रोह करने वाली सन्तान उत्पन्न होती है। यह एक गम्भीर बात अध्यात्मविद्या की, सैको-फिजिक्स[3] की, है। जो अध्यात्मविद्या, राजविद्या, दुःख के मूल का, मूल दुःख का, आध्यात्मिक मानस दुःख का, मूलोच्छेद करने का उपाय बताती है, वह उस मूल दुःख के सांसारिक, आधिभौतिक, आधिदैविक, शाखा पल्लव रूप दुःखों को भी काटने, छाँटने, कम करने का उपाय, निश्चयेन, राजधर्म के द्वारा, बताती है।

राजधर्म के, जिसो के दूसरे नाम राजशास्त्र, राजनीति, दण्डनीति, नीति शास्त्र, आदि हैं, ग्रंथों में, (धर्म-परिकल्पक ब्राह्मण और) धर्म-प्रवर्तक क्षत्रिय अर्थात् शासक के लिए, आन्वीक्षिकी विद्या के ज्ञान की आवश्यकता सब से पहिले रक्खी गई है।

---

[1] Individual and Social, Single and Collective

[2] Philosophy and Psychology

[3] Psycho-physics, higher eugenics.

मनु की सब शासकों, राजाओं, अधिकारियों के लिए आज्ञा है।

तेभ्यो (वृद्धेभ्यो) ऽधिगच्छेद्विनय[1] विनीतात्मापि नित्यशः।
बहवोऽविनयान्नष्टाः राजानः सपरिच्छदाः॥
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम्।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारम्भाश्चे लोकतः॥
इंद्रियाणां जये योगं समातिष्ठेद्दिवानिशं।
जितेंद्रियो हि शक्नोति वशे स्थापयितुं प्रजाः॥

(७—३९, ४०; ४३, ४४)

जिसको शासन का, प्रजा के पालन का, कार्य करना है, (और याद रखने की बात है कि सभी गृहस्थ, सभी व्यवहारी, अपने गृह और व्यवहार के मंडल के शासक, राजा, अधिकारी होते हैं), उसको सुविनीतात्मा होना चाहिये, और नित्य नित्य वृद्धों से, विद्वानों से, अधिकाधिक विद्या और विनय सीखते रहना चाहिये। बहुतेरे राजा, अपने परिच्छद परिवार सहित, अविनय के, उद्दंडता, उच्छृंखलता, स्वच्छंदता के कारण, नष्ट हो गये। इसलिये वेदों के, विविध शास्त्रों के, जानने वालों से, त्रयी विद्या को, वेदों, वेदांगों, मीमांसा, धर्मशास्त्र, और पुराणों को, तथा शाश्वत काल मे, सदा, हित करने वाली दण्डनीति को, तथा आन्वीक्षिकी को, सीखै; और वार्ता-शास्त्र, अर्थ-शास्त्र को, स्वय साक्षात् लोक के व्यवहार को देखकर सीखै; और अपनी इन्द्रियों को वश में रखने का यत्न दिन रात करता रहै। जिसकी इंद्रियां वश में हैं, वही प्रजा को भी अपने वश मे रख सकता है; जो स्वयं सन्मार्ग पर चलता है, वही उनको सन्मार्ग पर चला सकता है; जो अपना सच्चा कल्याण करना जानता है, वही उनका भी सच्चा कल्याण कर सकता है। जो आत्मज्ञानी नहा है वह, इंद्रिय-सेवी, मिथ्या-स्वार्थी, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मत्सरादि से अंध होकर, कूट नीति से,[3] धर्म के विरुद्ध दुर्नीति से, काम लेकर, पहिले प्रजा को पीड़ा देगा फिर आप स्वयं नष्ट हो जायगा।

शुक्र प्रभृति दूसरे नीति शास्त्रकारों ने भी यही अर्थ कहा है

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दंडनीतिश्च शाश्वती।

---

[1] विशेषेण नयन, leading, guiding, training, in special ways; discipline.

[2] अंगानि वेदाश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः। धर्मशास्त्रपुराणानि त्रयीदं सर्वमुच्यते॥ (शुक्रनीति १—१५५)

[3] Machiavellism, unprincipled and vicious policy.

विद्याश्चतस्र एवैता अभ्यसेन्नृपतिः सदा ॥
आन्वीक्षिक्यां तर्कशास्त्रं वेदांताद्यं प्रतिष्ठितम् ।
आन्वीक्षिक्यात्मविद्या स्यादीक्षणात्सुखदुःखयोः ॥
ईक्षमाणस्तया तत्त्वं हर्षशोकौ व्युदस्यति ॥ (शुक्रनीति, १-१५२)

राजा को, शासनाधिकारी को, जिसको मनुष्यों का पालन रक्षण करना है, इन्ही चार विद्याओं का अभ्यास करना चाहिये। आन्वीक्षिकी का अर्थ है सत्तर्क सदनुमान करने का शास्त्र, न्याय-शास्त्र, तथा वेदांत, आत्म-विद्या। यह नाम, आन्वीक्षिकी, इस विद्या का इस हेतु से पड़ा है कि, इससे सुख और दुःख के स्वरूप और कारणों का अन्वीक्षण, परीक्षण, किया जाता है, और इस ईक्षण का, दर्शन का, सुख दुःख के तत्त्व की पहिचान का, फल यह होता है कि, हर्ष के औद्धत्य और शोक के विषाद का व्युदास निरास करके, अधिकारी सज्जन, शांत स्वस्थ निष्पक्षपात चित्त से, अपना कर्त्तव्य कर सकता है और करता है।

कौटल्य ने अर्थशास्त्र मे कहा है,

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः। सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षिकी। बलाबले चैतासां (अन्यविद्यानां) हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपकरोति, व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति, प्रज्ञा-वाक्य-वैशारद्यं च करोति,

प्रदीपः सर्वविद्यानां उपायः सर्वकर्मणाम् ।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता ॥

विद्या-विनय-हेतुरिन्द्रियजयः काम-क्रोध-लोभ-मान-मद-हर्षत्यागात् कार्यः। कृत्स्नं हि शास्त्रमिदं इन्द्रियजयः। तद्विरुद्धवृत्तिः चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति। (कौटल्यकृत अर्थशास्त्र, अधि० १, अ० २; अ० ६)

राजा के सीखने की चार विद्याओं मे आन्वीक्षिकी विद्या के अंतर्गत सांख्य, योग, और लोकायत अर्थात् चार्वाकमत भी है। लोकायत मत यह है कि लोक ही, दृश्य ही, इंद्रिय का विषय ही, मुख्य है, सब कुछ है। इससे आरंभ करके जीव, क्रम से, इसके अत्यंत विपरीत, विवर्त्त, तथ्य को प्राप्त करता है, कि द्रष्टा ही, ईक्षिता ही, चेतन, आत्मा, "मैं" ही, मुख्य है, सब कुछ है, और दृश्य इन्द्रिय लोक मन इसके अधीन, इसके लिए, इसी का रचा हुआ, है। जब इस तथ्य को अनुभव करके 'तथागत' हो जाता है, तब आन्वीक्षिकी विद्या परिनिष्पन्न होती है और बुद्धि स्थिर होती है। इस विद्या से, अन्य सब अवांतर सुख-साधक दुःख-निवारक शास्त्रों विद्याओं का बलाबल, तारतम्य, जान

पड़ता है, मनुष्य के लिये कौन अधिक उपयोगी है कौन कम, किसका स्थान कहाँ है, किसका प्रयोग कहाँ पर कब कैसे करना चाहिये, उनका परस्पर संबंध क्या है, इत्यादि। इन सब बातों का हेतु के सहित अन्वीक्षण प्रतिपादन करके यह विद्या लोक का उपकार करती है। यह विद्या व्यसन में, आपत्ति में, क्षोभ और शोक उत्पन्न करने वाली अवस्था में, तथा अभ्युदय में, अति हर्ष और उद्धतता उत्पन्न करने वाली दशा में, मनुष्य की बुद्धि को स्थिर रखती है; तथा प्रज्ञा को, और वाणी को भी, विशारद निर्मल उज्ज्वल बनाती है, जैसे शरद्‌ऋतु जल को; वाल्मीकि ने, आदिकाव्य रामायण में, शरत्काल के वर्णन मे, उपमा दी है, "वेदांतिनामिव मनः प्रससाद चाम्भः"। ऐसे हेतुओं से यह विद्या सब विद्याओं का प्रदीप हैं, सब पर प्रकाश, रौशनी, डालने वाली है। इसके विना उनका मर्म अंधेरे मे छिपा रह जाता है। तथा, यह विद्या सब सत्कर्मों का प्रधान उपाय है, साधक है, और सब सद्धर्मों का सदा मुख्य आश्रय है; विना इसकी सनातन परमात्मा रूपी नीवी के, जड़ मूल बुनियाद के, सद्धर्म का भवन बन ही नही सकता, खड़ा ही नही रह सकता। सब विद्या और सब विनय का हेतु इंद्रियजय है। सो काम-क्रोध-लोभ-मान-मद-हर्ष आदि के त्याग से ही सध सकता है। इस त्याग का और आन्वीक्षिकी विद्या का अन्योऽन्याश्रय है। इंद्रियजय ऐसा आवश्यक है कि इसको यदि समग्र शास्त्र का, विशेषतः समग्र राजशास्त्र और अर्थशास्त्र का, सार कहें तो भी ठीक है। इसके विरुद्ध आचरण करने वाला, इंद्रियों के वश मे अपने को डाल देने वाला, राजा, चाहे चारो दिशा के समुद्रो तक की समस्त पृथिवी का भी मालिक, "चतुरुदधिमालामेखलाया भुवो भर्ता" भी क्यों न हो, सद्यः विनष्ट हो जाता है, यथा नहुष, रावण, दुर्योधन आदि।

कौटलीय अर्थ-शास्त्र का उक्त श्लोक, वात्स्यायन के रचे न्याय-भाष्य मे, पहिले सूत्र के भाष्य में भी मिलता है, केवल इतने भेद से कि चतुर्थ पाद यों पढ़ा है, "विद्योद्देशे प्रकीर्तिता।"

समग्र भगवद्‌गीता स्वयं आत्मविद्या का सार है, और परम व्यावहारिक भी है; "तस्माद्युध्यस्व भारत; मामनुस्मर युध्य च; नष्टो मोहः, स्मृतिर्लब्धा, करिष्ये वचनं तव;" यही उसके बीज और फल हैं—ऐसा तो प्रसिद्ध ही है। फिर भी विशेष रूप से उसमे कहा है,

अध्यात्मविद्या विद्याना वादः प्रवदतामहम्।
सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन॥
दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते॥

"तत्त्वबुभूपया वादः", तत्त्व जानने की सच्ची इच्छा से जो उत्तर प्रत्युत्तर किया जाय, ऐसा श्रेष्ठ वाद मैं हूँ, जल्प वितंडा आदि नही हूँ। अर्थात् आत्मा की सत्ता, सत्यता, उसी उक्ति प्रत्युक्ति में है जो सत्य के जानने की सच्ची कामना से भावित प्रेरित है। और ऐसे वाद के द्वारा अध्यात्मविद्या सिद्ध होती है, जो ही विद्या, सब विद्याओं में, मैं हूँ, अर्थात् इसी विद्या मे मेरा, परमात्मा का, तात्विक स्वरूप देख पड़ता है। वह स्वरूप क्या है? तो समस्त असंख्य सृष्टियों, संसारों, विश्वों, सौरादि सम्प्रदायों, का आदि मध्य और अंत भी है; सब विश्व इसी में जनमते, ठहरते, लीन होते हैं; सब चेतना के भीतर ही हैं। तथा इस अध्यात्मविद्या के तत्व को जानने वाला मनुष्य दुःख मे उद्विग्न नहीं होता, राग द्वेष भय आदि को दूर कर के स्थितधी स्थितप्रज्ञ रहता है। कौटल्य के शब्द गीता के इन्ही शब्दों के अनुवाद हैं।

योग-वासिष्ठ शुद्ध वेदाँत का ग्रंथ समझा जाता है। वेदाती मंडल में उसके विपय में यहाँ तक प्रसिद्ध है, कि अन्य सब वेदाँत के प्रचलित ग्रंथ, ब्रह्मसूत्र, भाष्य समेत, और ("वार्त्तिकांता ब्रह्मविद्या") सुरेश्वर-कृत बृहदारण्यक-वार्त्तिक सहित, सब साधनावस्था के ग्रंथ हैं, और योग-वासिष्ठ सिद्धावस्था का ग्रंथ है। सो उस योग-वासिष्ठ मे नीचे लिखे हुए, तथा उसके समान, श्लोक स्थान स्थान पर मिलते हैं, जो दिखाते हैं कि, वेदांत शास्त्र केवल स्वप्न-दर्शियो का मानस लूता-तंतु-जाल नही है, प्रत्युत नितांत व्यावहारिक, व्यवहार का शोधक, शास्त्र है।

कर्कटी के उपाख्यान में कहा है,

राजा चादौ विवेकेन योजनीयः सुमन्त्रिणा।
तेनार्यतामुपायाति, यथा राजा तथा प्रजाः ॥
समस्तगुणजालानामध्यात्मज्ञानमुत्तमम्।
तद्विद् राजा भवेद् राजा तद्विन् मत्री च मत्रवित् ॥
प्रभुत्व समदर्शित्व, तच्च स्याद् राजविद्यया।
तामेव यो न जानाति नासौ मत्री न सोऽधिपः ॥

(प्र० ३, अ० ७८)

यदि राजा को स्वय विवेक न हो तो मंत्री का, मत्र, सलाह, देने वाले का, पहिला कर्तव्य यह है कि राजा को विवेक सिखावै, तब राजा आर्य बनैगा; और जैसा राजा होता है वैसी ही प्रजा भी होती है। सब गुणों के समूहों मे सब से उत्तम आत्म-ज्ञान है। उसका जानने वाला राजा राजा, और उसका जानने वाला मत्री मंत्री। प्रभुता का तत्व समदर्शिता। प्रभु को, शासक को, निष्पक्ष, समदर्शी, राग-द्वेष से रहित, होना चाहिये। जो समदर्शी है, उसी के

प्रभुत्व को जनता हृदय से स्वीकार करती है, उसी का प्रभाव मानती है। वह समदर्शिता राजविद्या से, वेदान्त से, वेद के, ज्ञान के, अंत से, इंतिहा से, परा काष्ठा से, ही मिलती है। जो ऐसी राजविद्या को नहीं जानता वह न सच्चा राजा है न मंत्री।

ईशोपनिषत् के (जिसकी विशेषता यह है कि वह यजुर्वेद के संहिता भाग का अंतिम, चालीसवाँ, अध्याय भी है, और उपनिषत् भी है, अन्य कोई उपनिषत् किसी वेद के संहिता भाग मे अंतर्गत नहीं है) प्रायः प्रत्येक श्लोक में ब्रह्म और धर्म, ज्ञान और कर्म, का समन्वय किया है।

इस प्रकार से सिद्ध होता है कि पश्चिम मे चाहे जो कुछ विचार इस विषय में हो, कि फलसफा निरा मन बहलाव है, और फुरसतवालों का वेकार बेसूद खेल है, पूर्व में तो फ़िलासोफी, थियोरेटिकल नहीं बल्कि बड़ी प्रैक्टिकल,[1] भारत के उन्नति काल मे, समझी गई है; और इसका मुख्य प्रयोजन मानस शांति, मानस दुःख की निवृत्ति होकर, उसी का गौण, गुण-भूत, और गुर्वर्थ प्रयोजन सांसारिक व्यवहार का सशोधन-नियमन, और गृह कार्य, समाज कार्य, राज कार्य आदि का, तज्जनित स्थिरबुद्धि से, स चालन, और, यथासम्भव, व्यावहारिक दुःखों का निवर्त्तन और व्यावहारिक सुखों का वर्धन भी है।

पश्चिम में भी उक्त भाव, फिलासोफ़ी के अनादर का, कुछ ही काल तक, बीच मे, और विशेष मंडलियों में ही, रहा है। पुराने समय में ऐसा नहीं था, और अब फिर हवा वदल रही है। ग्रीस देश के प्लेटो नामक विद्वान् का मत पश्चिम देश के विद्वानों मे प्रसिद्ध है, कि शासक को फिलासोफ़र, दार्शनिक, भी होना चाहिये।[2]

---

[1] Philosophy, theoretical, practical

[2] E G Urwick, in the Preface to his *The Message of Plato* (pub 1920) says he has used the present writer's *The Science of Social Organisation or The Laws of Manu*, extensively in the earlier chapters Plato himself says in *Republic*, p 198 (English translation by Jowett, pub 1888)—"If in some foreign clime which is far away and beyond our ken, the practical Philosopher is, or has been, or shall be, compelled by a superior power to have the charge of the state, (there) this our constitution has been and is and will be"

प्लेटो के समय में रोम, ग्रीस, मिस्र, अरब, ईरान, और भारत में, रोज़गार व्यापार के लिये, इतना परस्पर आना जाना था, कि प्रायः निश्चय समझना चाहिये कि प्लेटो को मनु के आध्यात्मिक वर्णाश्रम धर्म और राज्यप्रबंध की कुछ टूटी फूटी खबर मिली, और उसी के अनुसार, विकलित रूप से, शुद्ध और सकल नहीं, कुछ कल्पना अपने "रिपब्लिक" नामक ग्रंथ में उसने लिख दी।

इस मत की ओर आधुनिक विद्वान् भी झुक रहे हैं, इसका उदाहरण देखिये ।

पश्चिम में आत्मविद्या की ओर बढ़ता झुकाव

इंग्लिस्तान के एक प्रसिद्ध विज्ञान शास्त्री, जे० आर्थर टामसन, ने जो लिखा है,[1] उसका आशय यह है। "केमिस्ट्री, जिसको अधिभूत शास्त्र[2] कह सकते हैं, फिजिक्स, जिसको अधिदेव शास्त्र[3] कह सकते हैं, और

---

[1] "In this chapter we shall begin with Chemistry and Physics, the hardly separable sciences of Matter and Energy, and work upwards through Biology, the Science of Organisms, to Psychology and sociology the Science of Man. The first quarter of the twentieth century has been marked by a fresh enthusiasm for what might be called the scientific study of Man, and since man is essentially a social organism, this study has had, as one of its corollaries, a recognition of the necessity for Sociology, the crowning science Just as there can be no true art of Medicine without foundations in Physiology, so there can be no true Politics, either national or international, until there are foundations in Sociology, securely laid and skilfully built on," *These Eventful Years,* Vol II, pp 423–446 ch xvii, "What Science can do for Man," (pub 1923)

[2] तत्त्वों, महाभूतों, "एलिमेंट्स", का शास्त्र। साठ वर्ष पहिले तक यूरोप में साठ सत्तर तत्त्व माने जाते थे। रूसी केमिस्ट वैज्ञानिक मेन्डेलेफ़ की उपज्ञाओं के बाद यह विश्वास दिन दिन दृढ़ होता जाता है कि सब तत्त्व क्रमशः एक ही मूल प्रकृति की परिणाम रूप विकृतियां हैं। भारतीय दार्शनिक दृष्टि से, इन विकृतियों में, पंच ज्ञानेन्द्रियों के अनुसार, पाँच विकृतियाँ, अर्थात् पांच महाभूत, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, मुख्य है। क्यों पाँच ही ज्ञानेन्द्रिय, पाँच ही कर्मेन्द्रिय, पाँच ही तन्मात्र, पाँच ही महाभूत, इत्यादि हैं, इस विषय पर प्रसिद्ध संस्कृत ग्रंथों में विचार नहीं मिलता।

[3] शक्तियों, प्राणों, देवों, का शास्त्र। पश्चिम में, इस शास्त्र में अब तक अधिक तर 'सौंड' अर्थात् शब्द शक्ति, 'लैट' अर्थात् ज्योति शक्ति, 'हीट' उष्णता, ताप, अथवा अग्नि शक्ति, 'इलेक्ट्रिसिटी' अर्थात् विद्युत् शक्ति, 'मैग्नेटिज़्म' अर्थात् आकर्षण शक्ति का अन्वेषण किया गया है। अब "एक्स-रे" आदि का आविष्कार होने लगा है।

बायालोजी, साइकालोजी, और सोशियालोजी, तीन जीव-शास्त्र, जो अध्यात्म शास्त्र के अग कहे जा सकते हैं, इन्ही को शास्त्रों में प्रधान कहना चाहिये। इनमें भी सोशियालोजी, समाज शास्त्र, मानव शास्त्र, शिरोमणि है। व्यक्ति के, व्यष्टि के, अध्यात्म का विवरण, अतःकरण बहिःकरण का वर्णन, यदि साइकालोजी है, तो समाज की, मानवसमष्टि की, साइकालोजी ही सोशियालोजी है। यदि एक प्रात्येकिक, वैयष्टिक. प्रातिस्विक, वैयक्तिक, 'पर्सनल' 'इन्डिविड्युअल', अध्यात्म-शास्त्र है, तो दूसरा सामूहिक, सामष्टिक, सार्वस्विक, जातीयक, 'कलेकटिव', 'सोशल', अध्यात्म-शास्त्र है। और बिना सच्चे समाज-शास्त्र रूपी नीव के, सच्ची, सुफल, दृढ़ राजनीति की इमारत बन नहीं सकता। जैसे, बिना शारीर-स्थान के, अर्थात् शरीर के सब अवयवों के, उत्तम ज्ञान के, सच्चा चिकित्सा-शास्त्र असंभाव्य है।"

इन्ही विद्वान् ने एक दूसरे ग्रंथ में इस आशय से लिखा है,[1]

"यद्यपि उक्त पॉच मुख्य शास्त्रों मे सोशियालोजी, समाज शास्त्र, को प्रधान कहा, पर इन पांचों के ऊपर मेटाफिज़िक अथात ब्रह्मविद्या, आत्म विद्या, का स्थान है। क्योंकि इन पाँचो का समन्वय करना, ज्ञान-समूह मे,

---

भारतीय ज्ञान इस विषय का सब लुप्त गुप्त होरहा है। इङ्गित मात्र मिलते हैं, कि वेद मन्त्रों की शक्ति उनके शब्द और स्वर (सौंड) में बसती है, भूस्थानी देवता अग्नि (हीट), अंतरिक्षस्थानी विद्युत् (इलेक्ट्रिसिटी), द्युस्थानी सौर ज्योतिः (लैट) हैं; जैसे पॉच मुख्य इन्द्रियों के विषय-भूत तत्त्व और उनके गुण हैं, वैसे ही एक एक तत्त्व के साथ एक एक विशेष शक्ति का प्रकार (अभिमानी देवता, प्राण) होना चाहिये, और इनके अवातर भेद बहुत हैं, यथा उन्चास भेद मरुत् (वायु) के, उन्चास अग्नि के; इत्यादि।

[1] "The five great fundamental sciences are (1) Sociology, (2) Psychology, (3) Biology—of the animate order, (4) Physics, and (5) Chemistry—of the physical order......The aim of Science is the *description* of facts, the aim of Philosophy, their *interpretation* There is much need for Metaphysics to function as a sublime Logic, testing the completeness and consistency of scientific description... ..*Why* things happen .....is no proper question for Science; its sole business is....*how* they happen....*Why* is the business of Metaphysics....Science is for Life, not Life for Science", *Introduction to Science* (H U Z Series), pp 47, 106, 166-7, 251

अर्थात् समग्र ज्ञान-पुरुष के काय-व्यूह में, अगत्वेन इनका यथा-स्थान समावेश करना,[1] उनके तारतम्य, बलाबल, और उचित प्रयोग, का निर्णय करना, इनके अन्तर्गत वस्तुओं के वर्णनों की समीक्षा परीक्षा करके, उन वर्णनों के परस्पर विरोधों को दूर करना, और उनकी त्रुटियों की पूर्त्ति करना—यह काम ब्रह्म विद्या ही कर सकती है।

सायस, विज्ञान, तो "हाउ", "कथम्", अर्थात् कैसे—इतना ही बतलाता है, वस्तु-स्थिति का वर्णन मात्र कर देता है। उसका अर्थ लगाना, अभिप्राय बताना, क्यों, "ह्वाइ", का निर्णय करना, यह मेटाफिज़िक, प्रज्ञान, का काम है। अर्थ का, अभिप्राय का, प्रयोजन का, "किमर्थं", "कस्मात्", क्यों, किस लिये, किस के लिये—इन प्रश्नों का आधार तो चेतन "लाइफ"[2], है। और सायस-विज्ञान चेतन का किंकर है, चेतन सायस-विज्ञान का किंकर नहीं।

यूरोप के बड़े यशस्वी, जगद्विख्यात, विज्ञान और प्रज्ञान के आचार्य, हर्बर्ट स्पेन्सर महोदय, ने भी इसी आशय के वाक्य इनसे पहिले कहे थे। ये सज्जन, ज्ञान के संग्रह की अनन्य भक्ति के कारण, उसके लिये नैष्ठिक ब्रह्मचर्य, तथा विविध प्रकार के अन्य त्याग और तपस्या के हेतु से सच्चे ऋषि-कल्प हुए। इन्होंने लिखा है,

"अध्यात्म शास्त्र का अधिकार अन्य सब शास्त्रों से ऊंचा है। यह तो एक स्वलक्षण, विलक्षण शास्त्र है, अद्वितीय है। इसके समान, इसका सजातीय, कोई दूसरा शास्त्र नहीं। यह दोहरा शास्त्र है। इसका संबंध ज्ञाता से भी और ज्ञेय से भी है, अचेतन शरीर से भी और चेतन शरीरी से भी, विषय से भी विषयी से भी। अन्य शास्त्रों का संबध केवल विषयों से है, वे एकहरे शास्त्र हैं। यदि हम से पूछा जाय कि मानस पदार्थों का अनुवाद शारीर शब्दों में करना अच्छा है, या शारीर का मानस में, तो हमको दूसरा ही विकल्प, अर्थात् शारीर पदार्थों का मानस पदार्थों में अनुवाद करना ही, अधिक उचित जान पड़ेगा।"[3]

---

[1] यथा-छंदः पादौ तु वेदस्य, हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते, इत्यादि।

[2] How, Why, Life, Science, Metaphysic

[3] "The claims of Psychology · are not· smaller but greater than those of any other Science · It is a double science which, as a whole, is quite *sui generis*.....Were we compelled to choose between the alternatives of translating (1) mental into physical, or (2) physical into mental, phenomena, the latter alternative would seem the more acceptable of the two.' *H Spencer, Principles of Psychology*, I, 141

श्री टामसन के वाक्यों मे, शास्त्रो का राशीकरण, पांच मुख्य शास्त्रो मे और छठें मेटाफिजिक मे, कहा गया; इसके आरंभक प्रायः स्पेन्सर महोदय ही हैं। इन्हों ने मेटाफिजिक, तथा बायालोजी, साइकालोजी, और सोशियालोजी पर बड़े बड़े और सर्वमान्य अति प्रामाणिक ग्रथ लिखे हैं[1]। और इनकी इच्छा केमिस्ट्री, फ़िज़िक्स, ऐस्ट्रानोमी (खगोल शास्त्र) और जीयालोजी[2] (भूगोल-भूगर्भ-शास्त्र) पर भी ग्रंथ लिख कर चेतनाचेतन जगत् का सम्पूर्ण चित्र खींचने की थी। पर यह इच्छा पूरी न हो सकी। यदि भारतीय दार्शनिक और पौराणिक शब्दो मे कहना हो तो यों कहेंगे, कि केमिस्ट्री और फ़िज़िक्स में, "अबुद्धिपूर्वः सर्गोऽयम्"[3], क्रमशः पंच महाभूतो और उनकी शक्तियों, गुणो, का तथा अवांतर भेदों का, आविर्भाव दिखाया जाता है; फिर ऐस्ट्रोनोमी मे महा विराट का, ब्रह्म के अंडों, ब्रह्मांडों, से पूर्ण समस्त जगत् खगोल का, वर्णन होता है; फिर जियालोजी मे पृथ्वी-गोल रूपी मध्य विराट का; फिर अन्य तीन मे क्षुद्र विराट का; तथा सोशियालोजी मे "सहस्रशीर्षा पुरुषः" आदि मानव-समाजात्मक विराट का, विविध-वर्ग-वर्णात्मक विराट[4] का, वर्णन होता है; और ब्रह्म विद्या इन सब की संग्राहक व्यवस्थापक है। "ब्रह्मविद्या सर्व-विद्या-प्रतिष्ठा"।

गणित और प्रज्ञान

"मैथेमैटिक्स,"[5] गणित, का सच्चा रहस्य भी तब खुलेगा जब वह ब्रह्म विद्या के गुप्त लुप्त अंश के प्रकाश मे जांची और जानी जायगी। यथा, रेखागणित (उकलैंदस) के पहिले साध्य का चित्र है—परस्पर गुथे हुए दो वृत्त, और उनके बीच में एक समबाहु त्रिभुज। ऐसा चित्र आदि मे

---

[1] *First Principles*, *Principles of Biology*, 2 vols, *Principles of Psychology*, 2 vols, *Principles of Sociology*, 3 vols, इनके सिवा *Principles of Ethics*, 2 vols, लिखा है, जिसको अंशतः *First Principles* अर्थात् Metaphysic का और अंशतः Psychology तथा Sociology का अंग समझा जा सकता है।

[2] Chemistry, Physics, Astronomy, Geology

[3] अर्थात् Unconscious Inorganic Evolution

[4] अर्थात् Organic Evolution, of organisms or individualities of various scales—sidereal systems, solar systems, single heavenly orbs, (stars and planets etc), vital organisms dwelling on these orbs, (gods, angels, men, animals, vegetables, minerals, etc), microscopic organisms living in and forming the cells and tissues of these vital organisms, etc, *ad infinitum*.

[5] Mathematics.

ही क्यों दिया ? क्योंकि, श्रीयन्त्र आदि के ऐसा, यह यन्त्र बहुत गभीर अर्थ का द्योतक है। इसमें आत्मविद्या का, वेदान्त का, सार दिखा दिया है। दो 'वृत्त', आद्यन्तहीन, अनादि और अनन्त, पुरुष और प्रकृति, चेतन और जड़, द्रष्टा और दृश्य, आत्मा और अनात्मा हैं, अभेद्य सम्बन्ध से परस्पर बद्ध भी हैं; अलग भी हैं; इनके बीच, इस सम्बन्ध से, चित्त-देह-मय, तीन तुल्य बल-वाले गुणों से बना, त्रिगुणात्मक जीव उत्पन्न होता है, इत्यादि।

भगवद्गीता का श्लोक है,

> यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
> तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

जगत् की, दृश्य पदार्थों की, विषयों की, असंख्य अनेकता को जब एकस्थ, एक में, द्रष्टा में, विषयी में, स्थित, प्रतिष्ठित, देख ले, और उस एक से इस अनेक के विस्तार के प्रकार को भी जब जान ले, तब जीव का ब्रह्म अर्थात् ज्ञान सम्पन्न होता है, तब जीव ज्ञान विज्ञान से सम्पन्न, प्रज्ञान और विज्ञान दोनों से पूर्ण, होता है, तथा, तब जीव स्वयं ब्रह्म पदार्थ, ब्रह्ममय, हो जाता है। इस सम्पूर्ण ज्ञान का पहिला अर्ध तो प्रज्ञान, मेटाफिज़िक, फिलासोफी, है; दूसरा अंश, विज्ञान, सायंस है। पहिला शांति शास्त्र, मोक्ष शास्त्र है, दूसरा शक्ति शास्त्र, योग शास्त्र, है। इस शक्तिशास्त्र का मर्म गणित शास्त्र जान पड़ता है। योग शास्त्र, शक्ति शास्त्र, का अति अल्पांश रूप, व्यावहारिक प्रक्रिया शास्त्र, विज्ञान, प्रचलित है, उसमें संख्या, अनुपात, मात्रा[१] (जो सब गणित का अंग हैं) अत्यंत आवश्यक है। यदि रसायन-कीमिया में, एंजिनियरिङ्ग-कर्मांत में, मेडिसिन-चिकित्सा में, प्रयोजनीय द्रव्यों की संख्या, मात्रा, अनुपात, पर ध्यान न रक्खा जाय तो कार्य बिगड़ जाय। इस लिये गणित को, एक रीति से, प्रज्ञान और विज्ञान को, जीव और देह को, परस्पर बांधने की रशना, रस्सी, समझना चाहिये। पर इस "सायंस आफ नम्बर्स",[२] यथातथ "सांख्य" (संख्या, सम्यक्-ख्यान), के रहस्य का ज्ञान अभी लौकिक मानव जगत् को नहीं मिला है। "ब्रह्मा" के "वेद" में गूढ है। हो सकता है कि उस वेद के तात्त्विक ज्ञाता, "वेद-द्रष्टा", "मन्त्र-द्रष्टा" और "मंत्र-कृत्", ऋषियों को, तपःसिद्धों को हो, और साम्प्रत मानव जातियों को काम क्रोध लोभादि से अंध प्रकृति को, देखते हुए, वे उन रहस्यों को इनकी बुद्धि में आने देना उचित नहीं समझते। जितना जान गये हैं उसी से प्रबल जातियों के प्रबल वर्ग, दुर्बलों की कोटियों का विनाशन और चमथानन कर रहे हैं। इस लिये

---

१ Numbers, proportions, degrees and quantities
२ Science of numbers.

ऐसी तीव्र उग्र शक्ति के देने वाले ज्ञान का तब तक प्रचार न होना ही अच्छा है जब तक मनुष्य मनुष्य नही है, राग द्वेष के विषय मे पशुओं से भी अधिक पतित हो रहे हैं[१]। अस्तु। प्रसगवशात्, शास्त्रो के वर्गीकरण के संबध मे, गणित शास्त्र की और उसके स्थान की चर्चा आ गई।

अध्यात्म विद्या की शाखा-प्रशाखा

प्रस्तुत विषय यह है कि पश्चिम मे भी अध्यात्म विद्या का आदर होने लगा है। अर्थात्, यों तो इस विषय पर ग्रथ यूरोप में भी बहुतेरे, प्रत्येक शताब्दी मे, लिखे जाते ही रहे हैं,और उनका अध्ययन अध्यापन भी होता ही रहा है, पर अब, विशेष कर के उन वैज्ञानिक मडलियों मे भी जिनमें इसका तिरस्कार हो चला था, कि यह अनुपयोगी जल्प विवाद मात्र का भंडार है, इसकी व्यावहारिक उपयोगिता में विश्वास, और इसकी शाखा प्रशाखाओं का अन्वेषण, और उनका अध्ययन, और मानस विकारों की चिकित्सा में, तथा व्यापारों मे (जिनमें इसके प्रयोग की संभावना भी नही की जाती थी), इसके प्रयोग का पक्षपात, दिन दिन बढ़ रहा है।

इसका एक सीधा प्रमाण यह है, कि इधर तीस चालीस वर्ष के भीतर, साइकालोजी आफ सेक्स (स्त्री-पुं-भेद, काम, मैथुन्य, की अध्यात्म विद्या), साइकालोजी आफ रिलिजन (उपासना की), साइकालोजी आफ आर्ट (ललित कला की) या ईस्थेटिक्स, साइकालोजी आफ इंडस्ट्री (व्यापार की), साइकालोजी इन पालिटिक्स (शासन नीति की), साइकालोजी आफ एविडेन्स (साक्षिता की), एक्सपेरिमेंटल साइकालोजी (अंतःकरण वहिष्करण के संबंध की परीक्षा के लिये 'योग्या' अर्थात् आज्माइश की) साइकालोजी आफ एड्यूकेशन (शिक्षा की), साइकालोजी आफ टाइम (काल, समय, की), साइकालोजी आफ रीज़निङ् (तर्क, अनुमान, की), साइकालोजी आफ लाफटर (हास की), साइकालोजी आफ इमोशन (क्षोभ, संरम्भ, राग-द्वेष, की), साइकालोजी आफ इन्सैनिटी (उन्माद की), साइकालोजी आफ कैरेक्टर (स्वभाव, प्रकृति, की) सोशल साइकालोजी (समाजकी), फिलासोफी आफ म्यूज़िक (संगीत की), साइकालोजी आफ कलर (रंग की), साइकालोजी आफ लैंग्वेज (भाषा की), चाइल्ड-साइकालोजी (बालकों की), ऐनिमल साइकालोजी (पशुओं की), साइकालोजी आफ कन्वर्शन (हृदय-विवर्त्त, भाव-परिवर्त्त, की), साइकालोजी आफ दी सोशल इन्सेक्ट्स (सघजीवी कीट, यथा पिपीलिका, मधु-मक्षिका, आदि की), साइकोलोजी-पाथोलोजी (मानस रोग चिकित्सा),

---

[१] "Where ignorance is bliss,'tis folly to be wise"

साइकालोजी आफ रिवोल्यूशन (राष्ट्र-विप्लव की), साइकालोजी आफ दी क्रौड (जन-सकुल की), साइकालोजी आफ लीडरशिप (नेतृत्व की), साइको-आनालिसिस (मानस रोग निदान), साइको-फिजिक्स (चित्त-देह संबध), साइकिऐट्री (विकृत चित्त की वृत्तियां),[१] इत्यादि नामों की सैकड़ों अच्छी अच्छी ज्ञानवर्धक, विचारोद्बोधक, तथा चिन्ताजनक, भ्रमकारक, और भयावह भी, पुस्तकें छपी हैं।

इन नामों से ही विदित हो जाता है कि मानव जीवन के सभी अगो पर साइकालोजी का प्रभाव पश्चिम में माना जाने लगा है। अग्रेजी कवि की बहुत प्रसिद्ध पक्ति है,

मानव के अध्ययन को उचित विषय है आप।[२]

"नो दाइ सेल्फ", अपने को जानो, यह ग्रीस देश के 'सप्तर्षियों'[३] में से, जिनका काल ईसा से छः सात सौ वर्ष पूर्व माना जाता है, एक, काइलोन, का प्रवाद था। और हाल मे "नो दाइ सेल्फ" नाम से एक ग्रथ इटली देश के एक विद्वान् ने लिखा है, जिसका अनुवाद अग्रेजी "लाइब्रेरी आफ फिलासोफी" नाम की ग्रंथ-माला में छपा है।

आत्म-विद्या और चित्त-विद्या।

इस स्थान पर यह कह देना चाहिये कि पश्चिम में अब कुछ दिनों से मेटाफिजिक को साइकालोजी से अलग करने की चाल चल पड़ी है। यह रविश एक दृष्टि से ठीक भी है। "अणुरपि विशेष. अध्यवसायकर:"। सूक्ष्म सूक्ष्म विशेषों का विवेक करने से ज्ञान का विस्तार, और निश्चय भी, बढ़ता है। विशेष और व्यक्त, सामान्य और अव्यक्त, प्राय: प्रर्यायवत् हैं। जितनी

---

[१] *Psychology of Sex ; Psychology of Religion* , *P of Art* or Æsthetics , P of Industry , P in Politics , P of Evidence , Experimental Psychology, Psychology of Education , P of Time , P of Reasoning ; P. of Laughter , P of Emotion , P of Insanity , P of Character , Social Psychology , Philosophy of Music, P of Colour , P of Language , Child-Psychology , Animal Psychology , Psychology of Conversion , P of the Social Insects , Psycho-pathology , Psychology of Revolution , P of the Crowd , P of Leadership , Psycho-analysis , Psycho-physics , Psychiatry , etc.

[२] "The proper study of mankind is Man."

[३] 'Know they self" , The seven sages of Greece

अधिक विशेषता, उतनी अधिक व्यक्ति, इंडविडि्युऐलिटी[1]। जितनी अधिक समानता, उतनी अधिक अव्यक्ति, युनिवर्सेलिटी[2]। पर, "अति सर्वत्र वर्जयेत्," इसका भी ध्यान रखना चाहिये। इतना विवेक करने का यत्न न करना चाहिये, कि विविक्तों में अनुस्यूत, अविवेकी, सब पदार्थों के अभेद्य संबध का हेतु, एकता का सूत्र, ही टूट जाय। टूट सकता ही नही। एकता और अनेकता, सामान्य और विशेष, जाति और व्यक्ति, पृथक् ही नहीं की जा सकते, इनका समवाय-सम्बन्ध है।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना[3] ॥ (भगवद्गीता)

सर्वदा सर्वभावाना सामान्यं वृद्धिकारणम्।
ह्रासहेतुः विशेषश्च प्रवृत्तिरुभयस्य तु ॥

सामान्यमेकत्वकर विशेषस्तु पृथक्त्वकृत्।
तुल्यार्थता तु सामान्य विशेषस्तु विपर्ययः ॥ (चरक, अ० १)

सब भूतों, सब पदार्थों, का मध्य मात्र व्यक्त है, जाहिर है; आदि अंत अव्यक्त हैं, बातिन हैं। सामान्य पर अधिक ध्यान देने से सब भावों की वृद्धि होती है; विशेष से ह्रास; सामान्य से एकता, विशेष से पार्थक्य। जिन्स पर, तजनीस पर, जोर देने से हम-जिन्सियत जोर पकड़ती है, इत्तिहाद, इत्तिफ़ाक़, इत्तिसाल, यगानगी, दिल में पैवस्त होती है; शखूस पर, तशख़ीस पर, ग़ौर करने से शख्सियत बढ़ती है, ख़ुसूसियत, ग़ैरियत, बेगानगी, इम्तियाज़, इन्फिराक़, की तरफ दिल रुजू होता है। मैं फ़ुलाँ शख्स हूँ—एक मूठी हाड़ माँस से वस्ल हुआ, बाकी सब आदमियों से फस्ल हुआ; मैं फ़ुलां कौम या मजहब का हूँ—उस क़ौम या मजहब वाले सब आदमियो से मेल हुआ, बाकी सब कौमो मजहबों से तनाव; में इन्सान हूँ—सब इन्सानो से वहदत हो गई मगर ग़ैर-इन्सानों से ग़ैरियत रही; मैं चेतन हूँ—सब चेतन जीव मेरे ही, मै ही, हो गये।

जगत् में इन दोनों भावो की प्रवृत्ति सदा होती रहती है, इनका भी अच्छेद्य अभेद्य द्वद्व है। मेटाफिजिक-ब्रह्मविद्या, का तो बड़ा काम ही यह है

---

[1] Individuality, Particularity, Singularity, Speciality.

[2] Universality, Generality.

[3] "Who knows ? From the Great Deep to the Great Deep he goes !", Tennyson The Unmanifest, the Indefinite, the Unconscious, is on both sides of the Definite, the Conscious, the Manifest.

कि इस सर्वव्यापी, सर्वसंग्रही, सर्वसंबंधकारी सूत्र को दृढ़ करे, सिद्ध करे, चित्त में बैठा दे, कि

सर्वं सर्वेण सम्बद्धं, नैव भेदोऽस्ति कुत्रचित् ।

मेंटल और फिजिकल फेनामेना का,[1] बौद्ध और भौतिक विकारों का, चित्त-वृत्तियों और शरीरावस्थाओं का, परस्परानुवाद करना, इसके सर्व-सग्रह के कार्यों में एक कार्य है ।

यथैव भेदोऽस्ति न कर्मदेहयोस्तथैव भेदोऽस्ति न देहचित्तयोः ।
यथैव भेदोऽस्ति न देहचित्तयोस्तथैव भेदोऽस्ति न चित्तजीवयोः ॥
यथैव भेदोऽस्ति न चित्तजीवयोस्तथैव भेदोऽस्ति न जीवब्रह्मणोः ।
यथैव भेदोऽस्ति न जीवब्रह्मणोस्तथैव भेदोऽस्ति न ब्रह्मकर्मणोः ॥

(योग वासिष्ठ)

कर्म और देह में भेद नहीं, देह और चित्त में भेद नहीं, चित्त और जीव मे भेद नहीं, जीव और ब्रह्म में भेद नहीं, ब्रह्म और कर्ममय संसरण-समष्टि में भेद नहीं। समुद्र और वीची तरङ्ग लहरी बुद्बुद स्पद में भेद नही। ब्रह्म-सूत्र पर जो भाष्य शकराचार्य ने रचा उसका नाम शारीरक भाष्य रक्खा है। शरीरे भवः, शरीरेण व्यज्यते, इति शारीरः, शरीरवान् ब्रह्म। अणोरणीयान्, महतोमहीयान्, छोटे से छोटे, बड़े से बडे, अनत असख्य जंगम्यमान जगत् पदार्थों का रूप धरे, अमूर्त्त होते हुए भी मूर्त्त ब्रह्म परमात्मा के विषय में जो भाषण किया जाय वह शारीरक भाष्य। क्यों कि अमूर्त्त ब्रह्म का व्याख्यान तो मौन से ही होता है।

गुरोस्तु मौन व्याख्यान शिष्यास्तुच्छिन्नसशयाः ।

निष्कर्ष यह कि मेटाफिजिक और साइकालोजी में विवेक करते हुए भी उनके घनिष्ठ सबंध को सदा याद रखना चाहिये। स्यात् अच्छा हो यदि यह सकेत स्थिर कर लिया जाय कि ब्रह्मविद्या का अग्रेजी पर्याय मेटाफिजिक, और अध्यात्मविद्या का साइकालोजी है; तथा आत्मविद्या शब्द दोनों का सग्राहक माना जाय। ग्रीक भाषा में मेटा का अर्थ परे है, और फिजिका का, द्रव्य, मात्रा, स्थूलेंद्रियों का समस्त विषय; जो ऐन्द्रिय प्रत्यक्ष से परे है, अर्थात् परम-आत्मा, ब्रह्म, उसकी विद्या ब्रह्म विद्या, मेटाफिजिक। साइकी का अर्थ चित्त, मनस्, जीव, और लोगास का अर्थ शब्द, व्याख्यान, शास्त्र; जीव का, चित्त का, अतःकरण का शास्त्र अध्यात्मविद्या, साइकालोजी। गीता में कहा

---

[1] Mental and physical phenomena,

है, "स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते"; इसका अर्थ एक यह भी हो सकता है कि, आत्मा का जो त्रिगुणात्मक स्वभाव है, जिसी को प्रकृति, जीव, चित्त, अंतःकरण आदि नामो से, सूक्ष्म सूक्ष्म भेदों से पुकारते हैं, वही अध्यात्म है; उसकी विद्या अध्यात्मविद्या है। समष्टयवस्था का नाम ब्रह्म; व्यष्टयवस्था का नाम ब्रह्मा; एक ब्रह्म-अंड का अधिकारी। अव्यक्त आकार का नाम चित्, चिति, चेतन, चैतन्य; व्यक्त रूप का नाम चित्त। सार्वस्विक, 'यूनिवर्सल', दशा का नाम परमात्मा, प्रातिस्विक, 'इन्डिविड्युअल', दशा का नाम जीवात्मा। आत्मा शब्द परम का भी, चरम का भी, दोनों का सग्राहक।

आत्मविद्या के अवांतर विभाग

ऐसी सूक्ष्म विवेक की दृष्टि से अब फ़िलासोफ़ी में, पश्चिम मे, कई पृथक् २ अंग माने जाने लगे हैं। (१) मेटाफ़िज़िक अथवा फ़िलासोफ़ी प्रापर, (२) साइकालोजी, (३) लाजिक, (४) एथिक्स, (५) ईस्थेटिक्स[१] प्रभृति। कुछ दशाब्दी पूर्व, हिस्टरी आफ़ फ़िलासोफ़ी भी इन्ही के साथ एक और अंग समझा जाता था, और इस विषय के ग्रंथों में अन्य सब अंगों के विकास और विकासकों का इतिवृत्त लिखा जाता था। पर अब अलग अलग हिस्टरी आफ़ एथिक्स, हिस्टरी आफ़ लाजिक, हिस्टरी आफ़ ईस्थेटिक्स, और हिस्टरी आफ़ साइकालोजी पर ग्रंथ लिखे और छापे जाने लगे हैं। गीता में कहा है, "नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे", अर्थात् मेरी, 'मै' की, मुझ परमात्मा की, विभूतियों का, विशेषों का, विस्तर (डीटेल्स) का, अन्त नहीं है; कहां तक खोजोगे; मुख्य मुख्य सामान्यों से, अनुगमो, निगमों, नियमों, लक्षणों से, सब विशेषों, विस्तरों, का ग्रहण करके संतोष करो। यही अर्थ मनु ने भी दूसरे प्रसग में, कहा है, "विस्तरं तु न कारयेत्"।

स्थूल रीति से कह सकते हैं कि सब से अधिक व्यापक अनुगमों के, जगद्व्यापी नियमो के, संग्रह को, शास्त्र को, मेटाफ़िज़िक या फ़िलासोफ़ी प्रापर कहते हैं। अतःकरण की, चित्त की, बनावट और वृत्तियों के शास्त्र को साइकालोजी, दी सायंस आफ माइंड। अभ्रांत, सत्य, तर्क और अनुमान के प्रकार के शास्त्र को लाजिक, दी सायंस आफ रीज़निङ्। सद् आचार के शास्त्र को एथिक्स, या मारल्स, दी सायस आफ़ कांडक्ट। उत्तम ललित कलाओं और उत्कृष्ट ऐंद्रिय सुखों के शास्त्र को ईस्थेटिक्स,[१] दी

---

[१] Metaphysic or Philosophy proper, the Science of Being, or Reality, or Truth, Psychology, the Science of Mind; Logic, the Science of Reasoning or Thinking, Ethics, or Morals, the Science of Conduct; Æsthetics, the Science of Fine Art and Refined Sensuous Pleasure

सायंस आफ फाइन आर्ट ऐंड रिफाइन्ड सेन्सुअस लेभर। इन सब का कैसा घनिष्ठ संबंध है, यह उनके लक्षणों के सूचक नामो से ही विदित हो जाता है। इतना और ध्यान कर लिया जाय तो भारतीय दर्शनों का, विशेष कर षड् दर्शनों का, और यूरोपीय दर्शनों का, समन्वय देख पडने लगेगा— यथा, अतःकरण और बहिष्करण का अविच्छेद्य स बध है; अतः साइकालोजी और फिजियालोजी, चित्त शास्त्र और शरीर शास्त्र, नितरां अलग नहीं किये जा सकते, केवल अपेक्षया, वैशेष्यात्, अलग किये जाते हैं। तथा फिजियालोजी का बायालोजी (जन्तु शास्त्र) से, उसका केमिस्ट्री (रसायन अथवा महाभूत शास्त्र) से, उसका फिजिक्स (अधिदेव शास्त्र) से, अटूट स बध है। इस लिये सभी शास्त्रों के विषय सभी शास्त्रो मे, न्यूनाधिक, उपनिपतित हैं, और सभी का सभी से स बध है। जैसा सुश्रुत में कहा ही है,

अन्यशास्त्रविषयोपपन्नाना चार्थानामिह उपनिपतितानाम् अर्थवशात् तद्विद्येभ्य एव व्याख्यानमनुश्रोतव्य, कस्मात्, न ह्येकस्मिन् शास्त्रे शक्यः सर्वशास्त्राणामवरोध. कर्तुम्।

एक शास्त्रमधीयानो न विद्याच्छास्त्रनिश्चयम्।
तस्माद् बहुश्रुतः शास्त्र विजानीयात् चिकित्सकः॥

(सूत्रस्थान, अ० ५)

किसी भी शास्त्र में, जब दूसरे शास्त्रों के विशेष विषय, प्रसंग वश से, आ जाते हैं, क्योंकि सबका सबन्ध सामान्यतः सब से हैं, तब उन २ शास्त्रों के विशेषज्ञों से उन २ विषयों को जान लेना चाहिये। एक ही ग्रथ में सब शास्त्रों के विषय विस्तार से नही बद किये जा सकते हैं, और बिना बहुश्रुत हुए कोई भी शास्त्र ठीक ठीक नही जाना जाता। यहां तक कि "एकमेव शास्त्र जानानः न किंचिदपि शास्त्र जानाति", एक ही शास्त्र को जानने वाला कुछ भी शास्त्र नही जानता। अँग्रेजी में भी कहावत है कि सुशिक्षितता, शिष्टता, कल्चर, का अर्थ यह है कि किसी एक विषय का सब कुछ और सब अन्य विषयों का कुछ कुछ जाने[१]। दर्शन शास्त्र का प्रधान गुण यह है कि इसमें सभी शास्त्रों के मूल अनुगमों, सिद्धांतो, का सग्रह और परीक्षण देख पड़ता है[२]। जैसा उपर कहा, एक कोटि पर चित्त अतःकरण बहिष्करण आदि, दूसरी

---

[१] To know every thing of something, and something of every thing is culture

[२] इन्हीं से फ़िलासोफी आफ़ ला (धर्म-क़ानून), फ़िलासोफ़ी आफ़ आर्ट (ललित कला), फ़िलासोफी आफ़ हिस्ट्री (इतिहास), इत्यादि नाम से भी ग्रंथ प्रकाशित हुए हैं।

कोटि पर महाभूत और उनके गुण, एक ओर साइकालोजी-फिजियालोजी, दूसरी ओर केमिस्ट्री-फिजिक्स; दोनो का संग्रह करने वाली मेटाफिजिक। वही योग वासिष्ठ की वात, जीव और कर्म दोनों का संग्रह ब्रह्म परमात्मा मे।

यदि सामूहिक रुप से सब को दर्शन शास्त्र कहें तो, ग्रंथो के विशेष विषयो की दृष्टि से, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, परा विद्या, का पर्याय अंग्रेजी भाषा मे मेटाफिजिक हो सकता है। तथा अध्यात्मविद्या, चित्त विद्या, अन्तःकरण शास्त्र का साइकालोजी; तर्क शास्त्र अथवा न्याय का लाजिक; आचार शास्त्र वा धर्म मीमाँसा का एथिक; कला शास्त्र का ईस्थेटिक।[1]

वेद-पुरुष के अंगोंपांग

कुछ दशाब्दियों तक यूरोप मे विशेष विशेष शास्त्रो के विकासकों में वैयक्तिक बुद्धिमत्ता के अभिमान से, अहयुता से, तथा देशीय जातीय अभिमान से[2], यह भाव कुछ कुछ था, कि मेरा शास्त्र सत्य और उत्तम तथा अन्य शास्त्र वृथा और मिथ्या[3]। संग्रह पर आग्रह नहीं, विग्रह पर बहुत; समन्वय का भाव नहीं, विपर्यय का वहुत, सम्मेलन, आश्लेषण, संयोजन, मडन, रजन की इच्छा नही, दृष्टि नहीं, विभेदन, विश्लेषण, वियोजन, खंडन, भंजन की बहुत; इत्तिहाद, इत्तिसाल, इन्तिबाक़ की ख़्वाहिश नही, नीयत नहीं, इन्फ़िराक, इन्फिसाल, इम्तियाज की बहुत। पर अब ज्ञान के विस्तार के साथ साथ इस का प्रतिपक्षी भाव भी फैलता जाता है,कि "दो सायंसेज और मेनी, सायंस इजवन"[4], विशेष विशेष

---

[1] अब हिंदी साहित्य में "मनोविज्ञान" नाम साइकालोजी के लिये लिखा जाने लगा है। बुरा नहीं है, शब्दतः अर्थतः ठीक भी हैं, पर शास्त्रांत या विद्यांत नाम भारतीय परिपाटी और सस्कृत भाषा की शैली के अधिक अनुकूल होता है। ऊपर इस शास्त्र के लिये अध्यात्मविद्या नाम लिखा गया है और आत्मविद्या वा ब्रह्मविद्या मेटाफ़िज़िक के अर्थ में। पर प्रायः प्रचलित संस्कृत ग्रथों में अध्यात्मविद्या और आत्मविद्या में विवेक नहीं किया जाता, दोनों का अर्थ ब्रह्मविद्या समझा जाता है, क्योंकि दोनो के विषय मिले हैं।

[2] Scientific Chauvinism, यह एक आंग्ल वैज्ञानिक का ही शब्द है।

[3] जैसा भारत में, शैव, शाक्त, वैष्णव, आदि, द्वैती, अद्वैती, विशिष्टाद्वैती, शुद्धाद्वैती, द्वैताद्वैती आदि, नैय्यायिक, मीमांसक, वेदान्ती, पांचरात्र आदि, में अब भी देख पडता है।

[4] Though sciences are many, Science is one. "समन्वय" नाम ग्रंथ में विविध विषयों पर विभिन्न मतों के विरोध का परिहार करने का यत्न मैंने किया है।

शास्त्र चाहे अनेक हों पर शास्त्रसामान्य एक ही है, अर्थात् सब शास्त्र एक ही महाशास्त्र के, वेद के, अङ्गोपाग शाखा-प्रशाखा हैं। पूर्वाध्याय में सांख्य मत के संबंध में जैसा कहा, "एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्"। प्रत्यक्ष है, जब प्रकृति, नेचर, एक है, तो उसका वर्णक शास्त्र भी एक ही होगा। संसार के एक एक विशेष अंश, अंग, पहलू, पार्श्व अवस्था को अलग अलग लेकर, उनका वर्णन अलग अलग ग्रंथों में कर देने से, प्रकृति में, और उसके शास्त्र मे, आभ्यंतर आत्यंतिक भेद तो उत्पन्न हो नही जायगा; केवल "वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः", यही ब्रह्म-सूत्र पुनरपि चरितार्थ और उदाहृत होगा। किसी विशेष अंश पर विशेष दृष्टि होने से विशेष नाम पड़ जाता है,। जैसे, जिस वस्तु से लिख रहा हूँ कई द्रव्यों से बनी है, पर नाम उसका लेखनी पड़ा है। क्योंकि उसके मुख्य प्रयोजन और कार्य लिखने पर ही दृष्टि है। अन्यथा, सब शास्त्र एक ही शास्त्र के अङ्ग हैं।[1]

भारत की तो पुरानी प्रथा है, 'एक एव पुरा वेदः' और सब विद्या उसी के उपवेद और अङ्गोपांग हैं। इसको दिखाने के लिए समग्र ज्ञान-शरीर का रूपक भी बांध दिया है।

छंदः पादौ तु वेदस्य हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते।
मुखं व्याकरणं प्रोक्तं निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते॥
शिक्षा च नासिका तस्य ज्योतिषं नयनं स्मृतम्॥

उसमें कुछ और पाद जोड़ दिये जांय तो तस्वीर स्यात् पूरी हो जाय, यथा,

आयुर्वेदोऽस्य नाभिस्तु गांधर्वं कंठ ईर्यते।
धनुर्वेदस्तु बाहुः स्यादर्थशास्त्रं तथोदरम्॥
शिल्पमूरुस्तथा मध्यं कामशास्त्रं तु कथ्यते।
आधिभौतिकशास्त्राणि देहनिर्मातृधातवः।
तथाधिदैविकान्यस्य प्राणाः स्पंदनहेतवः॥
हृद् राजधर्मः सर्वेषां धारकं प्रेरकं तथा।
अध्यात्मशास्त्रं मूर्धा चाप्यखिलानां नियामकम्॥

जिस रीति से फिलासोफी के भीतर पांच शास्त्रों का विवेक पाश्चात्य विचार में किया है, ठीक उस रीति से भारतीय विचार में नहीं किया है। पारस्त्य

[1] इस विषय पर, "पुरुषार्थ" नाम के ग्रंथ के प्रथम अध्याय में, और विशेष कर पृष्ठ १०-६६ में, मैंने विस्तार से विचार करने का यत्न किया है।

दर्शन शास्त्र मे सब प्रायः एक साथ बधे मिलते हैं। तो भी प्राधान्यतः केमिस्ट्री और फ़िजिक्स के दार्शनिक अंश की विशेष रूप से चर्चा वैशेषिक सूत्रो मे; लाजिक की न्याय सूत्रों मे; साइकालोजी की सांख्य और योग सूत्रों मे; एथिक्स की पूर्व (धर्म) मीमांसा मे; मेटाफ़िज़िक की उत्तर (ब्रह्म) मीमांसा में, की है। ईस्थेटिक का विषय साहित्य शास्त्र और कामशास्त्र में रख दिया गया है। मेटाफिज़िक को पहले पच्छिम मे आंटालोजी भी कहा करते थे, पर अब इस शब्द का व्यवहार कम हो गया है। जैसा पहिले कहा, मेटा शब्द का अर्थ ग्रीक भाषा में पीछे, परे, का है, और फ़िजिस, प्रकृति, दृश्य। जो दृश्य प्रकृति से अतीत है, परे है, उसके प्रतिपादक शास्त्र का नाम मेटाफिजिक। ब्रह्मविद्या का यह पर्याय ठीक ही है। पश्चिम में सायंस अर्थात् शास्त्र पदार्थ के प्रायः दो लक्षण प्रथित हैं, एक तो, "सायंस इज़ आर्गेनाइज़ड् सिस्टेमाटाइज़्ड् नालेज"[1], ज्ञान के खंडो का, खंड-ज्ञानो का, परस्पर सग्रथित, कार्य-कारण की परम्परा के सूत्र से सम्बद्ध, व्यूह, —यह शास्त्र है, दूसरा, "सायंस इज़ दी सीइङ् आफ सिमिलारिटी इन डाइवर्सिटी",[2] विविध पदार्थों मे, वैदृश्य के साथ सादृश्य, वैधर्म्य के साथ साधर्म्य, व्यक्ति के साथ जाति, विशेष के साथ सामान्य, को देखना —यह शास्त्र है। यह कथा यदि आधिभौतिक शास्त्रो की है, जो परिमित, सादि, सान्त, काल-देश-निमित्तावच्छिन्न, नश्वर पदार्थों की चर्चा करते हैं, "दी सायंसेज़ आफ दी फाइनाइट"[3], तो अध्यात्म शास्त्र का, जो अनादि अनंत अपरिमित देशकालावस्थाऽऽतीत नित्य पदार्थ का प्रतिपादन करता है, लक्षण यों करना उचित होगा, कि, वह "कम्प्लीट्ली यूनिफ़ाइड् नालेज" और "सीइङ् आफ यूनिटी इन मल्टिप्लिसिटी"[4] है, अर्थात् समस्त ज्ञानो का एक

---

[1] Science is organised, systematised, knowledge, ग्रथित: अन्यः, कारण और कार्य के सम्बन्ध रूपी, हेतु और फल के सम्बन्ध रूपी, सूत्र से विचारों का ग्रन्थन, तथा लिखित पत्रों का सूत्र से ग्रन्थन, जिसमें किया जाय, वह ग्रन्थ।

[2] Science is the seeing of Similarity in Diversity

साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानात्। वैशेषिक सूत्र, १-१-४.

[3] The Sciences of the Finite

[4] Completely unified knowledge, the seeing of Unity in Multiplicity

सूत्र में सग्रथन, एक व्यूह मे व्यूहन, अथ च सब अनेकों में एकता का दर्शन, है। इसी अर्थ को भगवद्गीता का पूर्वोद्धृत श्लोक प्रकट करता है, अर्थात् भूतो के गणनातीत पृथक्त्व को एकस्थ, और उसी एक से सख्यातीत पृथग् भूतो का विस्तार, जब जीव पहिचानता है तब ब्रह्म सम्पन्न हो जाता है।

ऐसे विचारों की ज्यो ज्यो यूरोप में वृद्धि होती जाती हैं, त्यों त्यो फिलासोफी और सायंस मे जो संबंध का सर्वथा विच्छेद होने लग गया था, वह क्रमश मिटता जाता है, और इनका परस्पर सबंध अधिकाधिक माना जाने लगा है। ढाई तीन सौ वर्ष पहिले, न्यूटन, लामार्क, आदि विद्वानों ने, अपने गणित, ज्योतिप, जन्तु शास्त्र, आदि के ग्रथों को नैचुरल फिलासोफी, जूओलाजिकल फिलासोफी[१], के नाम से पुकारा, और पचीस तीस वर्ष पहिले तक नैचुरल फिलासोफी नाम का एक ग्रंथ, फरांसीसी विद्वान् डेशानल का, उन विषयों पर जिनके लिये अब फिजिक्स शब्द कहा जाता है, विद्यालयों मे पढ़ाया जाता था। अब ऐसे शास्त्रों के लिये सायंस शब्द प्रयोग किया जाता है, जिस शब्द का प्रत्यक्ष रूप तथा मूल, लैटिन भाषा का धातु, सस्कृत शास्, शस्, से मिलता है। और साथ ही साथ, फिलासोफी का लक्षण, उसकी परिभाषा, ऐसे शब्दो में की जाने लगी है, यथा, शास्त्रों का शास्त्र, सर्वसग्राहक शास्त्र, सर्वव्यापक शास्त्र, सर्व-समन्वय, सर्वशास्त्रसार, व्यापकतम शास्त्र, और विशेप कर मानव जीवन सबंधी प्रश्नो का शास्त्र, इत्यादि।[२]

मुख्य और गौण प्रयोजनों का संबंध

ऐसे विचारों से इस प्रश्न का उत्तर हो जाता है कि दर्शन के उप-प्रयोजन क्या हैं, और उनका प्रधान प्रयोजन से सबध क्या है।

दुःख का समूल नाश कैसे हो, परमानद कैसे मिले, इसकी खोज में दुःख और सुख के स्वरूप का, और उनके कारण का, पता लगाना पडता है। आत्म-वशता ही सुख, और परवशता ही दुःख, यह जाना। परवशता का हेतु क्या है? द्रष्टा का, आत्मा का, दृश्य से, प्रकृति से, देह से,

---

[१] Natural philosophy, Zoological philosophy

[२] The Science of the Sciences, the sum of all the Sciences; Universal Science, the Synthesis of all Sciences, the Quintessence of all Sciences, the Science of the widest problems in all fields; and of those which affect Mankind most closely Alexander Herzberg, *The Psychology of Philosophers*, pp 9, 10, 11, 12, 13, (pub 1929).

वासना-कृत, अज्ञान-कृत, सयोग। यह संयोग कैसे मिटे ? द्रष्टा और दृश्य का ठीक ठीक तात्त्विक स्वरूप जाननेसे। दृश्य के अन्वीक्षण में अनित्य पदार्थ संबधी सब शास्त्र, जिनका सामूहिक, सामान्य, नाम अपरा विद्या है, आ गये। इन सब की जड़ गहिरी जाकर परा विद्या में ही मिलती है। कोई भी शास्त्र ले लीजिये। रेखा गणित का आरंभ इस परिभाषा से होता है कि बिंदु वह पदार्थ है जिसका स्थान तो है किंतु परिमाण नहीं। ऐसा पदार्थ कभी किसी ने चर्मचक्षु से तो देखा नही। इसका तत्त्व क्या है, इसका पता रेखा गणित से नही लगेगा, किंतु आन्वीक्षिकी से; जीव, अहं, मै, ही ऐसा पदार्थ है जिसका स्थान तो है, जहाँ ही 'मैं हूँ' वहाँ ही है, लेकिन इस "मै" का परिमाण नहीं ही नापा जा सकता। अंक गणित का आरभ "एक" संख्या से है; कभी किसी ने शुद्ध "एक" को देखा नहीं। यह मकान जिसके भीतर बैठ कर लिख रहा हूँ, एक तो है, पर साथ ही अनेक भी है, लाखों ईंट, सैकड़ों पत्थर, बीसियों दरवाजे खिरकी, बीसियों लोहे की धरनै, वगैरा वगैरा मिल कर बना है। तो इसको एक कहना ठीक है या अनेक ? इसका तत्त्व, कि संख्या क्या पदार्थ है, अंक गणित नहीं बताता, दर्शन शास्त्र बताता है; अहं, मै, ही तो सदा एक है, अ-द्वैत है, ला-सानी है; अनह, एतत, "यह" ही अनेक है। शक्ति गणित, डाइनामिक्स[1], का मुख्य पदार्थ शक्ति है, पर शक्ति क्या है, क्यों है, कैसे है, इसका हाल वह शास्त्र स्वयं कुछ नही बताता, आत्मविद्या बताती है कि "इच्छा" ही "शक्ति" है। रसायन शास्त्र, केमिस्ट्री[2], के मूल पदार्थ परमाणु, अणु द्व्यणुक, त्रसरेणु, आदि हैं, पर अणु क्या है, क्यों है, कैसे है, इसका हाल ब्रह्मविद्या से ही पूछना पड़ता है। जंतु शास्त्र, शरीर शास्त्र, बायालोजी, फिसियालोजी[3] मे प्राण पदार्थ क्या है, क्यों इतने जीव जंतुओं के भेद होते है, इत्यादि प्रश्नो का उत्तर परा विद्या में ही है। सृष्टि में आरोह-अवारोह, विकास-सकोच, मानव जाति के इतिहास में जातियो का उदय-अस्त, मनुष्य जीवन मे जन्म-वृद्धि-ह्रास-मरण, क्यों होते हैं, इसका उत्तर अध्यात्मविद्या से ही मिलता है। नीति शास्त्र, धर्म शास्त्र में, पुण्य पाप का वर्णन है, पर क्यों पुण्य का फल सुख और पाप का दुःख, यह ब्रह्मविद्या ही कहती है। चित्तशास्त्र में यह वर्णन तो किया जाता है कि चित्त की वृत्तियाँ ऐसी ऐसी होती है, पर क्यों ज्ञान-इच्छा-क्रिया होती हैं. क्यों राग-द्वेष होते हैं, क्यों सुख-दुःख होते हैं, इसका उत्तर आत्म विद्या से ही मिलता है। अनुमान का रूप और प्रकार

---

[1] Dynamics [2] Chemistry [3] Biology, Physiology

तो न्याय बताता है। पर व्याप्तिग्रह क्यों होता है, इसके रहस्य का पता वेदांत से ही चलता है। काव्य साहित्य मे रस पदार्थ, अलंकार पदार्थ, आनन्द पदार्थ का तत्त्व क्या है, यह आत्म विद्या ही बतलाती है।

ज्योतिप में, वासूटो मनुष्य के और वैदिक ऋषि के प्रश्न का उत्तर, कि किसने इन तारों को आकाश मे चपकाया, प्रज्ञान मे ही मिलता है, विज्ञान से नहीं। बासूटो मनुष्य का अनुभव हम लोग देख चुके हैं; अपने मन मे उठते हुए प्रश्नो का उत्तर न दे सकने के कारण वह विषाद मे पड गया; उसको अपनी निर्बलता का अनुभव होने लगा। अंधकार मे भय होता है, न जाने क्या जोखिम छिपी हो। जिसी अंश का ज्ञान नहीं, उसी अंश मे विवशता, परतन्त्रता, भय। बिना संपूर्ण के ज्ञान के किसी एक अंश का भी ठीक ज्ञान नही, और बिना सब अंशो के ज्ञान के सम्पूर्ण का ज्ञान नहीं; ऐसा अन्योऽन्याश्रय परा विद्या और अपरा विद्या का, दी सांयस आफ दी इनफिनिट और दी सायसेज़ आफ दी फाइनाइट [१] का, है। जैसे अनंत मे सभी सान्त अंतर्गत है, वैसे ही परा विद्या मे सभी अपरा विद्या अंतर्भूत हैं। कारण कारणानां का प्रतिपादक शास्त्र भी शास्त्र शास्त्राणां, अध्यात्मविद्या विद्यानाम्, है। इस एक के जानने से सब कुछ, मूलतः, तत्त्वतः, जाना जाता है, जैसा उपनिषद् के ऋषि ने कहा। साथ ही इसक यह भी है, कि जब अन्य सब कुछ, सामान्यत., जान ले, तभी इस एक के जानने का अधिकारी भी, ज्ञातु इच्छु भी और ज्ञातुं शक्त भी होता है। यह अन्योऽन्याश्रय है। इस ग्रन्थ के आदि में उपनिषत् की कथा कही है, कि समग्र अपरा विद्या जान कर तब नारद ने सनत्कुमार से परा विद्या सीखी। एक से अनेक जाना जाता है और अनेक से एक। कसरत दर वहदत और वहदत दर कसरत, दोनों का तअरुफ हो, तब मारिफत, इर्फान, हक, मुकम्मल हो, ब्रह्म सम्पन्न हो। इसी लिये गीता में, अर्जुन को कवल इतना समझा देन के लिये कि "युध्यस्व", कृष्ण को, "तस्मात्" सिद्ध करने के लिये सभी शास्त्रों की बातें संक्षेप से कहना पड़ गया। तुम्हारा कर्त्तव्य धर्म यह है; क्योंकि मानव समाज में तुम्हारा स्थान और दूसरो के साथ आदेय-देय संबध, परस्पर कर्त्तव्य सम्बन्ध, ऐसा है, क्योकि साम्प्रत मानव समाज, पुरुष की प्रकृति अर्थात् स्वभाव से प्रभूत त्रिगुणो के अनुसार कर्म का विभाग करने से, चातुर्वर्ण्यात्मक और चातुराश्रम्यात्मक है, और तुम अमुक वर्ण और आश्रम में हो, क्योकि यह मानव समाज, सृष्टि के क्रम में, पुराण इतिहास में वर्णित व्यवस्था से, ऐसी ऐसी मन्वतर और

---

[१] The Science of the Infinite, the Sciences of the Finite

वंशानुचरित की भूमि, कक्षा, काष्ठा, (स्टेज आफ इवोल्यूशन)[1] पर पहुँचा है; क्योंकि सृष्टि का स्वरूप ऐसा ऐसा सचर-प्रतिसचर, प्रसव-प्रतिप्रसव, के आकार प्रकार का है; क्योंकि परम आत्मा, परम पुरुष, की प्रकृति का रूप ही ऐसा है। विना जड मूल तक, आखिरी तह तक, पहुँचे, विना "गोइङ्‌ टु दी रूट आफ दी मैटर[2]", बिना कारणं कारणानां के जाने, कुछ भी स्थिर रूप से जाना नहीं जाता, निश्चित नही होता। किसी एक भी जुज्व का मकसद जानने के लिये कुल का मतलब जानना लाजिमी है; ऐसे ही कुल का मतलब समझने के लिये हर एक जुज्व का मकसद जानना जरूरी है।[3]

निष्कर्ष यह है कि दर्शन शास्त्र, आत्मविद्या, आन्वीक्षिकी, सब शास्त्रों का शास्त्र, सब विद्याओ का प्रदीप, सब व्यावहारिक सत्कर्मों का भी उपाय, दुष्कर्मों का अपाय, और नैष्कर्म्य अर्थात् अफल-प्रेप्सु कर्म का साधक, और इसी कारण से सब सद्धर्मो का आश्रय, और अततः समूल दुःख से मोक्ष देने वाली है—क्योंकि सब पदार्थों के मूल हेतु को, आत्मा के स्वभाव को, पुरुष की प्रकृति को, बताती है, और आत्मा का, जीवात्मा का, परमात्मा का, तथा दोनो की एकता का, तौहीद का, दर्शन कराती है।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणा।
आश्रयः सर्वधर्माणा शश्वदान्वीक्षिकी मता॥
ब्रह्मा देवाना प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह॥

द्वे विद्ये वेदितव्ये, परा चैवापरा च। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरण निरुक्त छंदो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते। (यस्मिन्) विज्ञाते सर्वमिद विज्ञात भवति। (मुडक-उपनिषत्)

विद्या चाविद्या च यस्तद्वेदोभय स ह।
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ (ईश)

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तार ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
नांतोऽस्ति मम दिव्याना विभूतीना परतप।

---

[1] Stage of evolution [2] Going to the root of the matter

[3] पृ० ८३—८४ पर सूचित विषयों का विस्तार अंग्रेज़ी भाषा में लिखे मेरे ग्रन्थों में किया है; विशेष करके, The Science of Peace, The Science of the Emotions, The Science of Social Organisation में; सक्षेप से, हिन्दी भाषा में लिखे "समन्वय" में।

एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ।
प्राधान्यतः, कुरुश्रेष्ठ, नास्त्यतो विस्तरस्य मे ॥

(गीता)

आत्मा और अनात्मा और उनके (निषेधात्मक, "न इति", "न इति") सम्बन्ध के सम्यग्दर्शन से, सम्यक्ज्ञान से, ही, चारो पुरुषार्थ उचित रीति से सम्पन्न हो सकते हैं । धर्म-अर्थ-काम, तीन पुरुषार्थ सांसारिक प्रवृत्ति मार्ग के, मोक्ष, परम पुरुषार्थ, ससारातीत निवृत्ति-मार्ग का । ऋषिऋण-पितृ-ऋण-देव-ऋण, तीन ऋणों को, क्रमशः तीन आश्रमो में, ब्रह्मचर्य-गार्हस्थ्य-वानप्रस्थ्य में, अध्ययन-अपत्यपालन-दानयजन के द्वारा चुकाकर, और साथ साथ धर्म-अर्थ-काम को साधकर, चौथे आश्रम, सन्यास, में, मोक्ष को सिद्ध करै । अन्यथा, बिना ऋण चुकाये, मोक्ष की इच्छा करने से, अधिक बंधन में पड़ता है; ऊपर उठने के स्थान में नीचे गिरता है । चौथे आश्रम में आत्मा की सर्वव्यापकता ठीक ठीक पहिचानी जाती है । ऐसे सम्यग्दर्शन से सब स्वार्थी वासना और कर्म क्षीण हो जाते हैं, और मनुष्य, आत्मा को सब में, और सब को आत्मा में, पहिचान कर, सच्चे स्वाराज्य को पाता है ।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।
अनपाकृत्य तान्येव मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः ॥
उच्चावचेषु भूतेषु दुर्ज्ञेयामकृतात्मभि. ।
ध्यानयोगेन सम्पश्येद् गतिमस्यान्तरात्मनः ॥
विप्रयोग प्रियैश्चैव संयोग च तथाऽप्रियै. ।
चिंतयेच्च गतिं सूक्ष्मामात्मन. सर्वदेहिषु ॥
सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
दर्शनेन विहीनस्तु ससार प्रतिपद्यते ॥
सर्वभूतेषु चात्मान सर्वभूतानि चात्मनि ।
सम सपश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ॥

(मनु)

॥ ॐ ॥

अध्याय ३

दर्शन की सामाजिक विश्वजनीनता

सांसारिक-दुःख-बाधन और सांसारिक-सुख-साधन

(काम्युनिस्ट) साम्यवाद और (साइको-आनालिटिक) कामीयवाद का अध्यात्मवाद से परिमार्जन

यह पहले कहा जा चुका है कि वेदांत शास्त्र खाली और बेकार वक्त का खेल नहीं है, केवल विरक्त सन्यासी, त्यागी, तारिकुद्दुनियाँ, गोशानशीन, फ़कीर ही के काम की चीज नहीं है; केवल ब्रह्मानंद का, लज्जतुल् इलाहिया का, ही साधक नहीं है; बल्कि दुनियावी मामिलात मे भी निहायत ज़रूरी मदद देता है; दुनिया और आकबत, इहलोक और परलोक, दोनो के बनाने का तरीका बतलाता है; इन्सान की ज़िन्दगी की सब तकलीफो को दूर करने, सब मुनासिब आरामो को हासिल करने, सब मसलों को हल करने, सब प्रश्नों का उत्तर देने, का रास्ता दिखाता है।

इस मज़मून (विषय) पर, तफ़सील (विस्तार) से लिखने का मौका (अवसर) यहाँ नही है। थोड़े मे सिर्फ इशारा (सूचना) कर देना काफी (पर्याप्त) होगा।

पुरुष अर्थात् जीवात्मा-परमात्मा की प्रकृति, (इन्सान यानी रूह-रूहुलरूह की फ़ित्रत), मे तीन गुण (सिफ़ात) हैं—सत्त्व, रजस्, तमस् (इल्म, वुजूद, शुहूद)। इन्ही के रूपांतर नामांतर (दूसरी शक्ल और नाम) ज्ञान-क्रिया-इच्छा (इल्म-फ़ेल-ख्वाहिश) हैं। इन तीन से तीन फ़ित्रतें आदमियों में देख पड़ती है, और एक चौथी फ़ित्रत वह जिसमें तीन मे से कोई एक फ़ित्रत खास तौर से नुमायाँ (विकसित, व्यक्त) नहीं हुई हैं। इन चार इन्सानी क़िस्मो, तबीयतों, की बिना (नींवी, बुनियाद) पर चार वर्णो, पेशों, की व्यवस्था (तन्ज़ीम) भारतवर्ष में की गई। जैसा गीता मे कहा है,

> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
> कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥

इन चार वर्णों के नाम संस्कृत मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहे हैं। ब्रह्म, वेद, ज्ञान का धारण करने वाला, ज्ञानप्रधान जीव, ब्राह्मण; क्षत से, चोट से, दुर्बलों का त्राण, रक्षा, करने वाला, क्रियाप्रधान जीव, क्षत्रिय, विशति भूमौ, विशः च धारयति, भूमि की खेती करने करानं वाला और धन का रखनेवाला, इच्छाप्रधान जीव, वैश्य, आशु द्रवति, बडो की आज्ञा से दौड़ कर तुरत काम कर देने वाला, अव्यक्तबुद्धि जीव, शूद्र। स्यात् अच्छा हो कि नये नामों का अधिक प्रयोग किया जाय, यथा, ज्ञानी, शूर, दानी, सहायक, ज्ञाता, त्राता, दाता, सहेता, शिक्षक, रक्षक, पोषक, सेवक; शास्त्री, शस्त्री, धनी, श्रमी, या ऐसे ही कोई और अर्थपूर्ण (मानीदार नाम, प्रत्येक मनुष्य की विशेष प्रकृति के द्योतक (जाहिर करने वाले)। अरबी फारसी से, आलिम, आमिल, ताजिर, मजदूर, या हकीम, हाकिम, मालदार, मिहनत-कश, वगैरह। नये नामों की इस लिये जरूरत है कि पुराने नाम निहायत बा-मानी (अर्थ-गर्भ) होते हुए भी अब बे-मानी (अर्थ-शून्य), बल्कि बदमानी (अनर्थकारी), हो रहे है। चारो तरफ जीर्णोद्धार और नवीकरण (मरम्मत व तजद्दुद) की जरूरत है।

ऐसे ही, मनुष्य की आयु (उमर) के चार विभाग (हिस्से) निसर्गतः (कुदरतन) होते हैं। पहिले में, अपनी योग्यता (लियाकत) के अनुसार (मुताबिक़) ज्ञान और सदाचार (इल्म व तहजीब) सीखना चाहिए। तन और मन को बलवान् मजबूत बनाना चाहिए। दूसरे मे, गृहस्थी (खाना-दारी) और रोजगार (जीविका कर्म) करना चाहिए। तीसरे मे, रोजगार से कनाराकशी और बिला मुआविजा, बेगरज (निष्काम, बिना फलाकांक्षा), खिदमते खल्क (लोकसेवा) करना चाहिए. अन्तकाल तक हिर्सी, लोभी, बना रहना नहीं चाहिए। चौथे मे, जब जिस्म और दमाग दोनों बहुत थकें, तब सर्वथा (बिल्कुल) सन्यासी फकीर होकर, परमात्मा के ध्यान मे, सब का भला मनाने मे, और केवल शारीर कर्म मे (ऐन जुरूरी हाजाते जिस्मानी के रफा मे) सारा समय बिताना चाहिए, जब तक शरीर के बन्धन (असीरी) से मोक्ष (नजात) न पावें। इस व्यवस्था (नज़्म) को चतुराश्रम-व्यवस्था कहते हैं।

इन चार वर्णों और चार आश्रमों मे सब मनुष्यो के सब कर्म-धर्म, अधिकार-कर्त्तव्य, हुकूक-फरायज काम-दाम, मिहनत-आराम, अध्यात्म विद्या (इल्मि रूह) के सिद्धांतो (उसूल) के अनुसार (मुताबिक़) प्राचीन समय मे, भारत (हिन्दुस्तान) में, बॉट दिये गए थे। और ऐसा कर देने मे वह सब प्रश्न (सवाल, मसले) शिक्षा, रक्षा, भिक्षा (तालीम, तहफ्फुज, तआम) के सम्बन्ध (तअल्लुक़) मे, उत्तीर्ण (हल) हो जाते थे,

जो आज सारे मानव ससार (इन्सानी दुनियां) को व्याकुल और उद्विग्न कर रहे हैं, और सिर्फ इस वजह (हेतु) से हैरान व परीशान कर रहे हैं कि अध्यात्म विद्या के उन सिद्धांतों को विद्वानों और शासकों ने, हकीमों और हाकिमों ने, शास्त्रियों और शस्त्रियों ने, आलिमो और आमिलों ने, भुला दिया है, और उनसे काम नहीं लेते, वल्कि दुनियावी हिर्स व तमा के ख़ुद ग़ुलाम हो कर उन उसूल के खिलाफ़ काम करते हैं, और अवाम (साधारण जनता) को भारी ईजा और नुकसान (पीड़ा और हानि) पहुँचा रहे हैं, और उनको अपना ग़ुलाम बना रहे हैं।

आजकाल पश्चिम मग्रिब में दो विचारधाराओ (ख़याल के दरियाओं) का प्रवाह (बहाव) बहुत बलवान् (ज़ोरदार) हो रहा है, इसलिए उनकी चर्चा (जिक्र) यहां कर देना, और उनकी जांच सरसरी तौर पर (आपाततः) वेदांत की दृष्टि (निगाह) से कर देना, मुनासिब (उचित) जान पड़ता है। एक ख़याल का सिलसिला मार्क्स और उनके अनुयायियों का है, जिसको सोशलिज़्म-कम्युनिज़्म, समाजवाद-साम्यवाद, कहते हैं, और जिसमें अवांतर मतभेद बहुत हैं; दूसरी विचारधारा, फ़्राइड और उनके पैरवो की है, जिसको सैको-आनालिसिस कहते हैं, जिसमे भी जिमूनी इख्तिलाफात बहुत हैं। इन दोनों की ओर जनता की प्रवृत्ति (रुझान) इस लिए है, कि मार्क्स आदि के विचार यह आशा दिलाते हैं कि यदि इस इस प्रकार से समाज का प्रबंध (बन्दोबस्त) किया जाय तो सब आदमियों को आवश्यक अन्न वस्त्र और परिग्रह (ज़रूरी खाना कपड़ा व माल-मता) मिल सकता है; और फ़्राइड वग़ैरह के ख़याल यह उम्मीद दिलाते हैं कि अगर यह यह तरीक़े बर्ते जायँ तो दाम्पत्य-सबधी, मैथुन्य-विषयक, कामीय (शहवत या इश्क से मुतअल्लिक़) इच्छा के व्याघात (ख्वाहिशों की शिकस्त) से जो दुःख और रोग पैदा होते हैं वह पैदा न हो, या दूर हो जायँ, या कम से कम हल्के हो जायँ। "साइको-आनालिसिस" शब्द का, व्युत्पत्ति से अर्थ, यौगिक अर्थ, धात्वर्थ (मसदरी मानी), तो "चित्त-वृत्ति-विवेचन" (इम्तियाजि-हरकाति-तबअ) है। पर इसके उपज्ञाता (मूजिद) फ़्राइड ने जो रूप इसको दिया है, जैसा ऊपर कहा, उसके विचार (लिहाज़) से, "कामीयवाद" शब्द इसके लिये हिंदुस्तानी भाषा में उचित (मौज़ूँ) जान पड़ता है।

स्पष्ट (ज़ाहिर) है कि आदमी की तीन एषणा, वासना, तृष्णा (हिर्स, तमअ) मुख्य (ख़ास, अह्म) हैं, लोकैषणा वा आहारेच्छा, वित्तैषणा वा धनेच्छा, दारसुतैषणा वा रतीच्छा, (ज़मीन की ख्वाहिश जिससे गिज़ा हासिल होती है, ज़र की, ज़न की)। इन्सानी ज़िन्दगी की जितनी

कठिनाइयां (मुश्किलें) हैं, वह सब इन्हीं तीन के सम्बन्ध में पैदा होती हैं। गूहन, गोपन, छिपाव रहस्य (पोशीदगी, एख़फा, राज़दारी, "सोक्रोटिवनेस") इन्ही के सम्बन्ध में होता है। इनको सहल (सरल) करने का उपाय जो बतावै, उसकी ओर ख्वाहमख्वाह लोग झुकेंगे।

लेकिन इन दोनो दलों (तबको) ने, ऊपर कही इन्सान की चार फ़ितरतों और किस्मों को, नही जाना माना है, अपने अपने स्कीम, सिस्टेम, नज़्म, व्यवस्था में उनका लिहाज नहीं किया है, न जिन्दगी के चार हिस्सो से ही काम लिया है। इसका नतीजा यह है कि दोनों मे से हर एक के अंदर बहुत विवाद, तनाज़ा, खडा हो गया है, और दोनो के दो मूजिदों ने, उपज्ञाताओं ने, यानी मार्क्स और फ्रायड ने, जो उम्मीदें बाँधी थीं वह पूरी नहीं हो रही हैं। प्रत्युत (बर अक्स इसके), भारत में हज़ारों वर्ष से चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य की व्यवस्था चली आ रही है, क्योंकि इनके आध्यात्मिक सिद्धांतों की नीवी पर अब भी कुछ न कुछ ध्यान बना है, यद्यपि (अगरचि) वह ध्यान बहुत अस्त व्यस्त (मुन्तशिर) हो गया है, और इस हेतु (वजह) से भारी दोष, दुर्दशा, परवशता (नुक्स, फजीहत, गुलामी) यहाँ उत्पन्न हो गई हैं। यदि उन सिद्धान्तों पर उचित रीति से ध्यान दिया जाय, और सात्विक-राजस-तामस प्रकृतियों के भेद (तफ़रीक, तमीज़) के अनुसार तीन प्रकार के आहार (गिज़ा) का (जो गीता मे कहे हैं), चार तरह की जीविकाओं (मआशों) का (जो मनुस्मृति में कही हैं), तथा आठ प्रकार के विवाहों (निकाहों, इज़दिवाजों) का (जो भी मनुस्मृति में कहे हैं) प्रबन्ध किया जाय, और विशेष दशाओ (खास सूरतों) में, कामशास्त्र में और आयुर्वेद में (जो भी वेद के अङ्ग हैं) कहे हुए उपायों से काम लिया जाय, तो अन्न-वस्त्र सम्बन्धी, परिग्रह सम्बन्धी, तथा कामवासना सम्बन्धी, सभी क्लेशो (दिक्क़तो) की चिकित्सा (इलाज) ठीक-ठीक, जहाँ तक मनुष्य का वश (इन्सान का काबू) चल सकता है, हो जाय।

फ़्राइड आदि का शुरू से कहना था कि, नाडी सम्प्रदाय (नर्वस सिस्टेम) के बहुतेरे विकार (न्यूरोसिस) किसी न किसी प्रकार के कामसन्ताप से उत्पन्न होते हैं, रोगी उस कारण (सबब) को अपनी सञ्ज्ञा (होश, 'कान्शसनेस') से दबा, हटा, भुला देता है, क्योंकि उनकी स्मृति (याद) पीड़ाजनक (तकलीफदिह) होती है, बीमारी के कारण को कुछ दूसरा ही समझने मानने लगता है, पर यदि चिकित्सक (तबीब) मित्र भाव से, बरस दो बरस तक उससे रोज़ाना बात करता है, पारस्परिक श्रद्धा और स्नेह (बाहमी

एतबार व मुहब्बत)[१] उत्पन्न करै, और विविध रीतियो (ख़ास तरीको) से (जिस 'टेक्नीक' को फ्राइड ने ईजाद किया है) उस भूली दबी स्मृति को

---

[१] इस सम्बन्ध में साइको आनालिसिस के शास्त्रियों ने Transference और Perfect candour, perfect trust, शब्दों का प्रयोग किया है।

"In the course of analytical treatment......the patient unconsciously transmits, to the analyst-physician, the emotions he has felt in times past for this or that person. The analyst becomes in turn the father, the sister, the lover, the nurse, and on to him is projected the patient's corresponding mood of rebellion, irritation, unsatisfied desire, jealousy, child-like dependence and the like. This is the transference, to the analyst, of unsatisfied emotion left over from some earlier experience, and present-day methods of analysis are largely concerned with analysing and making conscious the transference itself", Coster, *Yoga and Western Psychology*, p 60, see also Freud, *An Autobiographical Study*, p.75, and *Introductory Lectures on Psycho-analysis*, pp 360, 374.

गुरु-शिष्य भाव मे ये सब अन्तर्गत है। इस भाव के गुण भी और दोष भी जानकारों को मालूम हैं।

प्रायशो गुरवो, मित्र ?, शिष्यवित्तापहारकाः।
विरलाः गुरवस्ते ये शिष्यसन्तापहारकाः॥

फ़ारसी में भी कहा है,

चूँ बसा इब्लीस आदम-रूय अस्त।
पस बहर दस्ते न बायद दाद दस्त॥

तथा, त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

प्रायः अब इसी हेतु से साइको-आनालिसिस के सभी अवांतर भेदों के विश्वासी और प्रकारों के अभ्यासी समझने और कहने लग गये हैं कि psycho analytic treatment at its best is a process of *re-education*,

अर्थात् मानस-चिकित्सा का उत्तम रूप "पुनः संस्कार" है, जिससे रोगी का चित्त मानो नया हो जाता है, "प्रणवी भवति", उसकी दृष्टि नई हो जाती है, और इस लिए सारी दुनिया उसके लिये नई हो जाती है। इस प्रकार का द्वितीय जन्म, जीर्ण शीर्ण का पराकाष्ठा का प्रणवी-करण, विषादी का प्रसादी-करण, मर्त्य का अमर-करण, अ-स्व-स्थ पर-स्थ का स्व-स्थ-करण, परवश का आत्मवश-करण, जीवात्मा, का परमात्म-करण सच्चे दयालु सद्गुरु के द्वारा सच्चे श्रद्धालु सच्छिष्य के चित्त के "पुनः संस्करण" से ही होता है। तभी "नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा", यह बात सत्य होती है।

फिर से उद्बुद्ध करै, जगावै, असम्प्रज्ञातावस्था (बेहोशी की हालत) से सम्प्रज्ञातावस्था (होश की हालत) में लावै, और उस छिपी कामवासना (शहवत) की पूर्त्ति, शब्दों के द्वारा वर्णन कर देने से ही, करा दे, तो वह रोग मिट जाता है। लेकिन अब 'न्यूरोसिस' की इस प्रकार की चिकित्सा (इलाज) करने वालों को अनुभव (तज्रबा) अधिकाधिक (ज्यादा-ज्यादा) होता जाता है कि ऐसी चिकित्सा मे कई बड़े अपरिहार्य दोप (लाइलाज खराबियां) हैं; जो अपनी या दूसरे की, उत्पथ कामवासना (नाजायज़ शह्वत) और उस की वजह से अपने को पहुँची हुई तकलीफ़, सदमा, शर्म, समाज के भय से, या किसी दूसरे हेतु से, दबाई और भुलाई गई थी, वह जब चिकित्सा की सहायता (मदद) से निर्भय (बेखौफ़) होकर जागी, तब मनुष्य को, स्त्री या पुरुष को, उच्छृङ्खल बना कर, समाजविरोधी कुत्सित मार्गों (जमाअत के मुखालिफ मातूब राहों) में ले जाती है, यद्यपि वह विशेप 'न्युरोसिस' रोग दूर हो जाता है; और यदि उन कुत्सित मार्गों में, समाज के भय से, या अन्य हेतु से, मनुष्य न जा सका, और वासना को उन मार्गों से तृप्त न कर सका, न उसके भीतर स्वयं इतना आत्मबल (रूहानी क़ुवत) और धर्म-भाव (अक्ले सलीम, नेक नीयत) उत्पन्न हुआ, कि वह आप ही उस दुर्वासना को चित्त से बुद्धिपूर्वक दूर कर दे; तो अन्य घोर विकार उत्पन्न होते हैं-- इत्यादि।

फ्राइड आदि की गवेषणा (तफ्तीश) और लेखों से निश्चयेन (यकीनन्) बहुत सी ऐसी बातों की मालूमात (ज्ञान) साम्प्रत काल (इस जमाने) में पुनर्नव (ताज़ा) हुई, और जनता (अवाम) में बढ़ी और फैलीं, जिन पर पहले बहुत कुछ पर्दा डाला रहता था, और जो मालूमात कुछ थोड़े से ही अनुभवियों (तज्रबाकारों) शास्त्रियों (आलिमों) और वैद्यों (मुआलिजों) को दर पर्दा (गोपनीय भाव से) रहस्य (राज़) के तौर पर पुश्त दर पुश्त प्रायः (अक्सर) विदित (मालूम) हुआ करती थीं, और वह भी असम्बद्ध रूप (बेसिलसिला, ला नज्म, शक्ल) से। इस प्रकार के ज्ञान के पूर्वापर सम्बद्ध (मुसल्सल) शास्त्र के रूप में प्रसार होने से, निश्चयेन, कुछ लाभ (फायदा) है। पर, जब शास्त्र सम्पूर्ण नहीं, सर्वांगशुद्ध सर्वांगसम्पन्न (सहीहव मुकम्मल) नहीं, शास्त्राभास (नक़ली इल्म) की ही अवस्था (हालत) में है, तब उससे, अगर कुछ लाभ है, तो हानि (नुक़सान) अधिक (ज्यादा) है।

ज्ञानलवदुर्विदग्ध ब्रह्माऽपि त नरं न रंजयति।

× × × ×

नीम हकीम ख़तरइ जान॥

फ्राइड आदि के विचारों में जो कुछ तथ्य (सचाई) की छाया वा आभास (साय:, झलक) या अंश (जुज्व) है, उसका तात्त्विक और पूर्ण रूप सब आत्मविद्या मे ही मिलता है। काम के विप्रलम्भ से दस दशा जो उत्पन्न होती हैं , जिनमें सम्प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, और मरण[1] तक शामिल हैं, उनकी चर्चा साहित्य शास्त्र में (जो भी समग्र वेद का अंग है) की है। भर्तृहरि ने भी कहा है,

ते कामेन निहत्य निर्दयतरं नग्नीकृताः मुण्डिताः
केचित् पंचशिखीकृताश्च जटिलाः कापालिकाश्चापरे।

अर्थात्, कामदेव की निर्दय मार से घायल (जख्मी) बेचारे तरह तरह के फ़क़ीरी पन्थों मे शामिल हो कर कोई तो नग्न (बरहना) फिरते हैं, कोई सिर मुंडाये रहते हैं, कोई पाँच शिखा रख लेते हैं, कोई जटा बढ़ा लेते हैं, कोई कपाल लिये फिरते हैं ; यह सब निशान कामदेव की मार के ही है।

स्वयं वेद का वाक्य है—" काममय एवायं पुरुषः" । फ्राइड आदि ने जो सामग्री बड़े परिश्रम से एकत्र की है, उससे ऐसी प्राचीन उक्तियों के कई अंशों की अच्छी व्याख्या होती है। पर सब अंशों का, और गभीर तत्व का, उनको पता नहीं है। स्त्री-पुरुष का भेद ही क्यों है, इसका अन्वेषण उन्होंने नहीं किया। काम (इश्क़, शहवत) का तत्व क्या है ; काम का रूप एक ही है, या कई, और कौन मुख्य रूप हैं, और क्यों; इसका निर्णय उन्होंने नहीं किया। किसी रोगी पुरुष वा स्त्री के चित्त में लुप्त स्मृति के जगाने का फल अच्छा, किसी मे बुरा, क्यों होता है; एक ही प्रकार के काम के व्याघात से, भिन्न व्यक्तियों को भिन्न प्रकार के रोग क्यों होते हैं; भिन्न प्रकृतियाँ क्यों हैं, और कै हैं; इन बातों को नही निश्चय किया। विस्मृति से विशेष प्रकार के रोग क्यों होते हैं, स्मृति से क्यों अच्छे हो जाते हैं, इसका तत्व नही पहिचाना। यह सब तत्व आत्मविद्या से विदित होता है[2] ।

---

[1] Absent-minded and aberrant talk , lunacy, hysteria, delusions, halucinations, illusions , physical diseases of various sorts ; swoon, syncope, paralysis; death.

[2] इन बातों पर प्राचीन आत्मविद्या के विचार, मैंने, पृ० ८९ के फुटनोट में कहे, अन्यों में दिखाने का यत्न किया है। मार्क्स आदि की विचार-धारा की विशेष समीक्षा परीक्षा Ancient vs Modern Scientific Socialism नामक ग्रंथ में मैंने की है। तथा फ्राइड आदि की, Ancient vs Modern Psycho Anaylysis नाम की पुस्तक में, जो अभी छपी नहीं है।

मूल विस्मृति (फ़रामोशी) यह है कि आत्मा अपने को भूल जाय, परमात्मा अपने को शरीर मे बद्ध जीवात्मा समझने लगे; यह भूल ही, यह अविद्या, अज्ञान, ही, काम, वासना, तृष्णा, अस्मिता, का बीज है। उस अस्मिता (.ख़ुदी) के तीन क्रम (दर्जे) हैं, अहं स्याम् (लोकैषणा, मैं बना रहूँ), अहं बहु स्याम् (वित्तैषणा, मैं बहुत बडा होऊँ), अहं बहुधा स्याम् (दार-सुतैषणा, मैं बहुतों पर प्रभाववान्, बहुरूपी होऊँ, अपने ऐसे बहुतों को पैदा करूँ और वे मेरी भक्ति करैं और आज्ञा मानैं)। दार-सुतैषणा, मैथुन्य काम, यह काम की घोरतम अवस्था, परा काष्ठा, है। "सर्वेषां(सासारिकाणा)आनदाना उपस्थ एवैकायनम्" (बृहद् उपनिषत्) जैसे आँख सब दृश्य रूपों का केन्द्र है, वैसे ही प्रजनन इन्द्रिय सब सांसारिक आनन्दों का एकायन केन्द्र है। फ्राइड ने इस तथ्य का आभास 'प्लेझर-प्रिंसिपल'[1] के नाम से पाया और दिखाया है। पर,

यश्च अकामहतः एष एव परम आनन्दः, एको द्रष्टा अद्वैतो भवति, एतस्यैवानदस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवति। (बृहद् उपनिषद्)

इस अद्वैत अहन्ता के, इस ला-तश्रीक, ला-सानी, ख़ुदाई के, इस मा-सिवा अल्लाह की, कि "मेरे सिवा और कोई कुछ कहीं है ही नहीं", ला-इन्तिहा .ख़ुदी के, परम आनन्द को, जिसकी छाया मात्र सब द्वैतभाव की अस्मिता के आनन्द हैं, उन्हों ने स्वप्न में भी, दूर से भी, नहीं देखा; इस ओर ध्यान ही नहीं दिया। जिस वस्तु को फ़्राइड ने 'रियालिटी प्रिन्सिपल'[1] का अति कृत्रिम (मस्नूई) और भ्रमावह (गलत) नाम दिया है, जिससे अर्थ प्रकट (मुनकशिफ) होने के बदले (एवज़) छिप जाता है, उसको उपनिषदों में "भय" के नाम से कहा है, संसार द्वंद्वमय है, "कुल्ले-शयीन् जौजैन् व जिद्दैन्", आनद का विरोधी भय है, दोनों ही तुल्यरूप से 'रीयल' वास्तविक हैं, या दोनों ही 'अन्-रीयल' मिथ्या हैं, "तस्य भयाद्वायुर्वाति तस्य भयात् सूर्यस्तपति" एक तरफ़, दूसरी तरफ़, "आनदाद् ह्येव जातानि जीवति, आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"; उसी के .ख़ौफ़ से हवा चलती रहती है, और सूरज तपता रहता है, और उसी के सुरूरे जावेदानी, शादमानी, मस्ती से सब आलम, सब रूहें, सब जानें, पैदा होती हैं, और उसी मे जा मिलती हैं। दोनों की, ख़ौफ़ और मसर्रत की, भय और आनंद की, दवामी तहरीक (सतत प्रेरणा) से संसार चक्र (चर्खि दह्र) घूम रहा है।

---

[1] Pleasure-Principle, Reality-Principle, Freud, *Introductory Lectures on Psycho-analysis*, p 299, (pub 1933).

इस चक्कर के दुःख से आदमी छुटकारा चाहै तो उसको इसके सुख के भी छोड़ देने पर कमर बांधना होगा, और यह याद करना पड़ेगा कि "मै तो हाड़ मांस नहीं", "मैं आत्मविश्वास ही"।

विशेष प्रकार के नाड़ी रोग, न्यूरोसिस, खास किस्म की याद जगाने से दूर हो जाते हैं, यह ठीक है, लेकिन अक्सर नहीं भी होते, क्योंकि स्वादु (खुश जायका) भोज्य पदार्थों (खाने काबिल चीजों) की याद करने से ही भूख नहीं मिटती, "मन मोदक नहिं भूख बुताई", बल्कि कभी तो और जोर पकड़ती है; और बीमारी के फिर से उभरने का डर भी सर्वथा (कुल्लन्) नहीं मिटता। इसलिए जो मनुष्य "स्मृतिलाभ" (याद की बाजयाबी) के गुणों (नफों) को ठीक-ठीक जानना और अनुभव करना चाहै, दुःख के जड़ मूल का ऐकान्तिक आत्यंतिक (कत्तई व दवामी) नाश (दफा, इंजाल) चाहै, उसको आत्मविद्या की ही शरण लेना (इल्मिरूह, इलाहीयात, तसव्वुफ, पर ही तवक्कुल करना) पड़ेगा, और नीचे लिखे श्लोकों पर ध्यान देना होगा, जिन के ही अर्थ के व्याख्यान का अति दुर्बल प्रयत्न इस ग्रंथ मे यहां तक किया गया है।

थोड़े में, इन श्लोकों का आशय यह है। आत्मा की स्मृति ज्यों ज्यों उज्ज्वल होती है, त्यों त्यों मोह नष्ट होता है; सब सन्देह दूर हो जाते हैं; हृदय मे चिरकाल से गठी अस्मिता, अहंकार, काम, क्रोध, लोभ भय, ईर्ष्या आदि की गांठें कट जाती हैं; मर्त्य मनुष्य अमर हो जाता है, निश्चय से जान जाता है कि मैं अमर हूँ। विशिष्ट उत्तम ज्ञान, और वासना का क्षय, और भेद भावात्मक मन का नाश-यह तीन साथ साथ चलते हैं, यही हृदय की गांठो का कटना, उलझनों का सुलझाव, है। विषयो का ध्यान करने से उनमें आसक्ति, उससे काम उससे क्रोध, उससे मोह, उससे स्मृति का भ्रंश, उससे बुद्धिनाश, उससे आत्मनाश होता है। राग द्वेष ज्यों ज्यों कम होते हैं त्यो त्यो चित्त मे प्रसाद होता है, बुद्धि स्थिर होती है, दुःख मिटते हैं। यतियों का परम कर्त्तव्य है कि काम-वासना की जटाओ को, हृदय की गांठों को, आत्म विद्या के अभ्यास से काटैं, और आत्मा की स्मृति का, आत्मा के ज्ञान का, लाभ करे, और सब प्रकार के भयों से, अन्तक यम के, मृत्यु के, भय से भी, स्वयं मुक्त हों, और दूसरों को मुक्त करावैं। आत्मा का अवसाद भी, आत्मा की अहंकारात्मक संभावना भी, दोनों ही पतन के हेतु हैं; दोनो से बचना चाहिये। आहार की शुद्धि से सत्त्व की शुद्धि, उससे स्मृति का लाभ, उससे सब हृदय की ग्रंथियों का मोक्षण होता है। तब राग द्वेष से मुक्त जीव को भगवान् सनत् कुमार, जो परमात्मा की विभूति ही हैं, सब हृदयों मे स्थित हैं, तमस् के परे आत्म-ज्योति को दर्शन कराते हैं॥ ॐ॥

नष्टो मोहः, स्मृतिर्लब्धा[1], त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः, करिष्ये वचनं तव ॥ (गीता)
भिद्यते हृदयग्रंथिः[2], छिद्यन्ते सर्वसंशयाः[3] ।
क्षीयन्ते चाऽस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥ (मुण्डकोपनिषत्)
यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रंथयः[2] ।
यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा[5] येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति, अत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ (कठोपनिषत्)
वासनाक्षय-विज्ञान-मनोनाशैः महामते ।
विभेद्यन्ते चिराभ्यस्तैः हृदयग्रन्थयो दृढाः[2] ॥(मुक्तिकोपनिषत्)
ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥
क्रोधाद् भवति संमोहः[3], संमोहात् स्मृतिविभ्रमः[4] ।
स्मृतिभ्रंशाद्[4] बुद्धिनाशो,[5] बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसाद[6] मधिगच्छति ॥
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते[7] ॥ (गीता)
यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटाः[2]
दुरधिगमोऽसतां हृदि गतोऽस्मृत[4]कंठमणिः ।
असुतृपयोगिनामुभयतोऽपि भयं भगवन्
अनपगतान्तकादनधिरूढपदाद् भवतः ॥ (भागवत)
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं, नाऽत्मानमवसादयेत्[8] ।
आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥
आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी, इत्यज्ञानविमोहिताः ॥
आत्मसंभाविताः[9] स्तब्धाः धनमानमदान्विताः ।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥ (गीता)

आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे[1] सर्वग्रन्थीनां[8] विप्रमोक्षः[11] । तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः ॥ॐ॥

[1]Recovery of memory [2] Complexes [3] Doubts, delusions, hallucinations, illusions [4]Confusion of memory [5]Loss of understanding, [6] Placidity, lucidity, [7]Steady understanding [8]आत्मावसाद-ग्रंथिः Inferiority complex. [9] आत्मसम्भावन-ग्रंथिः, Superiority complex [10]Setting free, solving, re-solving, dissolving of the complexes, loosening, untying, of the heart-knots

अध्याय ४

'दर्शन'–शब्द; 'दर्शन'–वस्तु; 'दर्शन'–प्रयोग

॥ ॐ ॥ हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय 'दृष्टये' ॥ ॐ ॥

(ईशोपनिषत्)

"सोने के पात्र से सत्य का मुख ढका है। हे पूषन्! सब जगत् का पोषण करने वाले परमात्मन्! अन्तरात्मन्! उस ढकने को हटाइये, कि सत्य अर्थात् ब्रह्म का, परमात्मा का, आप का, और सनातन ब्रह्म परमात्मा पर प्रतिष्ठित धर्म का, कर्त्तव्य का, आत्मज्ञानानुकूल, आत्मविश्वासम्मत, कर्त्तव्य धर्म का, 'दर्शन' हम को हो!"

'दर्शन'–शब्द

'दर्शन' शब्द का प्रयोग, प्रस्तुत अर्थ मे, यथा 'षड्दर्शन', 'सर्व-दर्शन-संग्रह', कब से आरभ हुआ, इस का निश्चय करना कठिन है। ईशोपनिषत् का जो श्लोक ऊपर उद्धृत किया है, उस में "दृष्टये" शब्द आया है। प्रसिद्ध है कि ईशोपनिषत्, शुक्लयजुर्वेद संहिता का अतिम, अर्थात् चालीसवां, अध्याय है। स्यात् 'दृश्' शब्द का इस अर्थ में प्रयोग यही पहिला हो।

'दर्शन' की शक्ति का लाभ करने के 'रहस्य' योगमार्गीय उपाय

इस औपनिषदी ऋचा का अर्थ 'रहस्य' है—ऐसा अभ्यासी विरक्तों से सुनने मे आया है। 'मुडक' उपनिषत् में कहा है कि, "शिरोव्रत विधिवद्यैस्तु चीर्णं", जिन्होंने 'शिरोव्रत' का विधि से अभ्यास किया है, वे ही सत्य-दर्शन, आत्म-दर्शन, ब्रह्म-दर्शन, तथा सनातन आत्मा पर प्रतिष्ठित सत्य सनातन धर्म का दर्शन, करने की शक्ति पाते हैं। 'शिरोव्रत' का वर्णन देवी भागवत के ग्यारहवें स्कध में किया है। यम-नियमादि से शरीर और चित्त को पवित्र करके, एक प्रकार के विशेष ध्यान द्वारा, सिर के, मस्तिष्क के, भीतर वर्त्तमान 'चक्रों', 'पद्मों', 'पीठों', 'कन्दों' ('लतायफि-सित्ता') का उज्जीवन, उत्तेजन, संचालन करने का अभ्यास करना—यह 'शिरोव्रत' जान पड़ता है। अंग्रेजी मे इन 'कदों' ('ग्लड्ज़' 'प्लेक्ससेज़' 'गांग्लिया') को 'पिट्इटरी

नाडी,' 'पाइनीयल ग्लैंड', आदि के नाम से कहते हैं [१]। 'पाइनीयल ग्लैंड' में कुछ पीले अणु रहते हैं, स्यात् इसलिये 'हिरण्मय' कहा है, इस को संस्कृत में 'देवाक्ष' 'दिव्यचक्षु' 'तृतीय नेत्र आदि भी कहते हैं [२]। अपवित्र अशुद्ध मन और देह से अभ्यास करने से घोर आधि-व्याधि उत्पन्न हो जाती हैं। वेदों के अन्य मंत्र ऐसे 'रहस्यों' का इशारा करते हैं। यथा,

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्, तस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति; य इत्तद्विदुस्तत्त इमे समासते॥

शंकराचार्य ने, इस का अर्थ, श्वेताश्वरोपनिषत् के भाष्य में, इतना ही किया है कि "आकाश-सदृश अक्षर परम ब्रह्म में, सब देव आश्रित होकर अधिष्ठित हैं; उस परमात्मा को जो नहीं जानता, वह ऋचाओं से क्या करेगा? जो उसे जानते हैं, वे ये कृतार्थ होकर बैठे हैं।" पर अभ्यासियों से सुनने में आया है कि 'व्योम' शब्द का अर्थ, ऐसे प्रसंगों में, प्रायः शिरः-कपालांतर्गत आकाश होता है; तथा 'ऋचः', 'देवाः', आदि का अर्थ, मस्तिष्क और पृष्ठवंश में स्थित, विविध ज्ञान-कर्मेंद्रियादि से संबंध रखनेवाली, विविध नाड़ियों और नाडिग्रंथियों, चक्रों, का होता है। इन के पोषण और उपोद्वलन से सूक्ष्म पदार्थों के 'दर्शन', दिव्य भावों के 'ज्ञान', की शक्ति बढ़ती है।

दर्शन-वस्तु

आत्म-'दर्शन', आत्म-'ज्ञान', ही, भगवद्गीत 'गुह्य', 'गुह्याद् गुह्यतर', 'गुह्यतम', 'परम गुह्य', 'सर्वगुह्यतम', 'शास्त्र' का, वेद-वेदांत का, मुख्य इष्ट और अभिप्रेत है।

मां विधत्तेऽभिधत्ते मां, विकल्प्यापोह्यते त्वहम्।
एतावान् सर्ववेदार्थः; शब्द, आस्थाय मां, भिदाम्।
मायामात्रमनूद्यान्ते प्रतिषिध्य, प्रसीदति॥ (भागवत)

"मां' अर्थात् आत्मा, परमात्मा, को ही, तरह तरह से कहना; 'अहम्' पदार्थ, 'आत्मा', 'परमात्मा'-पदार्थ, के विषय में, विविध प्रकार के विकल्पों (कल्पनाओं) को उठाकर, उन का अपोहन, खंडन, निरसन, प्रतिषेध, (इनकार) करना, 'मां' परमात्मा को, ही, सब शब्दों से, तर्कों से, आस्थित

---

[१] Glands, plexuses, pituitary body, pineal gland

[२] H. P. Blavatsky, *The Secret Doctrine*, (Adyar edn.) Vol 5, pp [illegible], में इन चक्रों के विषय में, पाठकों को, यदि वे खोज करें, तो कुछ इशारे मिल सकते हैं।

प्रतिष्ठित करना; और सब भेदों को 'मायामात्र', धोखा, (जाल, फ़ित्ना), ही सिद्ध करना; यही समग्र वेद का, समस्त विद्या का, अर्थ है, उद्देश्य है, एकमात्र अभीष्ट लक्ष्य है ।"

'दर्शन'-शब्द का व्यवहार अन्य ग्रंथों और अर्थों में

आदिम उपनिषत्, 'ईश', में प्रयुक्त होने के बाद, अन्य उपनिषदों में बहुतायत से 'दृश्' धातु से बने शब्दों का, 'आत्म-दर्शन' के अर्थ में, प्रयोग हुआ है। यथा,

"आत्मा वाऽऽरे 'द्रष्टव्यः' श्रोतव्यो, मतव्यो, निदिध्यासितव्यः", "नाऽन्यद् आत्मनोऽपश्यत्", 'आत्मन्येवात्मान पश्यति, सर्वमात्मानं पश्यति". "आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इद सर्वं विदितम्", "आत्मनोवाऽऽरे दर्शनेन सर्वं विदितम्" (बृ०); "ब्रह्म ततमपश्यत्" (ऐ०); "यत्र नान्यत् पश्यति स भूमा", "तमसः पारं दर्शयति" (छां०), "अभेददर्शनं ज्ञान" (स्कद०), "यदात्मनात्मानं पश्यति" 'ब्रह्म तमसः पारमपश्यत्", "स्वे महिम्नि तिष्ठमान पश्यति" (मैत्री०); "तस्मिन् दृष्टे परावरे" "ततस्तु त पश्यति निष्कल ध्यायमानः" "त पश्यति यतयः क्षीणदोषाः" (कठ०); "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या", "विनश्यत्स्वविनश्यत यः पश्यति स पश्यति" (गीता०), "आत्मान पश्यावः" (छा०) । इति प्रभृति ।

प्रसिद्ध छः 'दर्शनों' में, पतञ्जलि के रचे 'योगसूत्रों' पर, व्यास नामक विद्वान् के बनाये भाष्य में, सांख्य के प्रवक्ता अति प्राचीन पंचशिखाचार्य के एक सूत्र का उद्धरण किया है, "एकमेवदर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्"। इस सूत्र का अर्थ अन्य प्रकारों से पुराने टीकाकारों ने किया है; स्यात् यों करना भी अनुचित न हो, कि "पुरुष और प्रकृति की 'विवेक-ख्याति', 'प्रकृति-पुरुषा-ऽन्यता-ख्याति', आत्मा और अनात्मा, 'अहम्' और 'इदम्' (वा 'एतत्') की परस्पर अन्यता की ख्याति अर्थात् ज्ञान—यही एकमात्र सच्चा अन्तिम 'दर्शन' है।"

प्रचलित 'मनुस्मृति' नामक ग्रंथ मे भी, जो यद्यपि मूल 'वृद्धमनु' नहीं कहा जा सकता, तो भी बहुत प्राचीन है, 'दर्शन' शब्द आत्मज्ञान के ही अर्थ में मिलता है। यथा,

> वेदाभ्यासस्तपो ज्ञानमिंद्रियाणां च संयमः ।
> अहिंसा गुरुसेवा च निःश्रेयसकरं परम् ॥
> सर्वेषामपि चैतेपामात्मज्ञान परं स्मृतम् ।
> तद्ध्यग्र्य सर्वविद्याना, प्राप्यते ह्यमृतं ततः ॥
> सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते ।
> दर्शनेन विहीनस्तु ससार प्रतिपद्यते ॥

"सब धर्मों, कर्मों, विद्याओं से बढ़कर आत्मज्ञान, सम्यग्दर्शन, है; इस से अमरता, दुःखों से मुक्ति, मिलती है।" याज्ञवल्क्य स्मृति मे भी इसी अर्थ का अनुवाद किया है।

इज्याऽऽ-चार-दमा-ऽहिंसा दान-स्वाध्याय-कर्मणाम्।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम्॥

"योग करके आत्मा का दर्शन करना, अपने सच्चे स्वरूप को पहिचानना (प्रत्यभिज्ञान करना)—यही परम धर्म है।"

बुद्धदेव के कहे हुए आर्यमार्ग के आठ 'सम्यक्' अंगों मे 'सम्यग्-दृष्टि' सब से पहिले है। जैन सम्प्रदाय के 'तत्त्वाधिगम-सूत्र' का पहिला सूत्र "सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः" है। इस को उमास्वाती (वा स्वामी) ने प्रायः सत्रह अठारह सौ वर्ष पूर्व रचा।

आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, ही मुख्य दर्शन है। मानव जाति के वर्त्तमान युग मे, ज्ञानेन्द्रियो मे सब से अधिक बलवान् और उपयोगी 'अक्षि' 'चक्षु', 'नेत्र' 'नयन' हो रहा है। 'देख' लेना ही ज्ञान का सब से अधिक विशद विस्पष्ट प्रकार माना जाता है; 'जो सुनते थे सो देख लिया'। 'श्रुतिप्रत्यक्ष-हेतवः', ऐसे सच्चे विद्वान् जो 'सुनी बात को प्रति-अक्ष, आंख के सामने, कर दिखायें'। सूफी लोग भी फारसी भाषा मे, आत्म-दर्शन को 'दीदार' कहते हैं। अंग्रेजी 'मिस्टिक' लोग भी उस को 'विझन आफ गाड' कहते हैं। आँख ही मनुष्य को रास्ता दिखाती है, उस को ले चलती है, 'नेता' 'नायक' का काम करती है, इसलिये 'नेत्र' 'नयन' कहलाती है।

'वाद', 'मत', 'बुद्धि', 'दृष्टि', 'राय'

विचार की शैली, विचार का प्रकार, मत, 'वाद', के अर्थ में गीता में 'दृष्टि' शब्द मिलता है।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरं।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहैतुकम्॥
एतां 'दृष्टि' मवष्टभ्य, नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥

"बुद्धि थोड़ी, राग-द्वेष (दम्भ-मदन) बहुत; 'दृष्टि', राय, यह है कि दुनिया अचानक पैदा हो गई है, उस का बनाने चलाने सम्हालने वाला कोई ईश्वर पदार्थ नहीं, ऐसी 'दृष्टि' वाले लोग, अपने उग्र, निर्दय, घोर, क्रूर कर्मों से, जगत का विनाश करने में, धार्मिक मर्यादा का भंग करने में ही, प्रवृत्त होते रहते हैं।"

न्याय-सूत्र के वात्स्यायन भाष्य में भी "प्रावादुकानां दृष्टयः", मिलता है। किन्हीं प्रतियों में "प्रावादुकानां प्रवादाः", ऐसा भी पाठ है। आशय दोनों शब्द का वही है। स्पष्ट अर्थ में थोड़ा अंतर कह सकते हैं। 'दृष्टि', 'दर्शन' का अर्थ है देखना, निगाह, राय, मत। 'वाद' 'प्रवाद' का अर्थ है कहना, राय का जाहिर करना। 'उन की राय यह है' 'उन का कहना यह है'। 'दर्शन' स्वगत, अपने लिये; 'वाद', 'प्रवाद', उस दर्शन का विख्यापन, प्रवचन, दूसरे के लिये।

'जगह बदली, निगाह बदली'

"प्रस्थानभेदाद् दर्शनभेद", यह कहावत प्रसिद्ध है। शिवमहिम्नस्तुति का श्लोक है,

प्रभिन्ने प्रस्थाने परमिदमदः पथ्यमिति च।

स्थान बदला, दृष्टि बदली। जगह बदली, निगाह बदली। हालत बदली, राय बदली। अंग्रेजी में भी यही कहावत है।

'ऐज दि स्टैंडप्वाइंट, सच दि व्यू; दि ओपिनियन चेञ्जेज विद् दि सिचुएशन।'[1]

महाभारत में (सौप्तिक पर्व में) श्लोक है।

अन्यथा यौवने मर्त्यो बुद्ध्या भवति मोहितः।
मध्येऽन्यया, जराया तु सोऽन्या रोचयते मतिं॥
तस्यैव तु मनुष्यस्य सा सा बुद्धिस्तदा तदा।
कालयोगे विपर्यासं प्राप्यान्योन्यं विपद्यति॥

'जवानी में बुद्धि, मति, एक होती है; मध्यवयस् में दूसरी; बुढ़ापे में तीसरी। पिछली बुद्धि पहिली बुद्धि को दबा देती है।" इस प्रकार से राय या मत के अर्थ में, 'बुद्धि' शब्द का भी प्रयोग होता है।

'दर्शन' शब्द का रूढ़ अर्थ

तो भी, अब रूढ़ि ऐसी हो रही है कि इस देश में, संस्कृत जानने वालों की मंडली में, 'दर्शन' शब्द से, मुख्यतया छः दर्शन, और साधारणतः प्रायः सोलह दर्शन, कहे जाते हैं, जिन का वर्णन माधवाचार्य के सर्व-दर्शन-संग्रह नामक ग्रंथ में किया है। चार्वाक, बौद्ध, आर्हत (जैन), रामानुजीय, पूर्णप्रज्ञ (माध्व) नकुलीशपाशुपत, शैव, प्रत्यभिज्ञा (काश्मीर-शैव), रसेश्वर (आवधूतिक सिद्धपारद-रस), औलूक्य (काणाद वैशेषिक), अक्षपाद (गौतमीय न्याय), जैमिनीय (पूर्व मीमांसा), पाणिनीय (वैया-

---

[1] As the standpoint such the view, the opinion changes with the situation.

करण), सांख्य (कापिल), पातजल (योग), शाकर (अद्वैत वेदांत)। मधुसूदन सरस्वती ने, महिम-स्तुति की टीका में, प्रस्थानभेद नामक प्रकरण में, छः आस्तिक, और छः नास्तिक दर्शन गिनाये हैं; अर्थात् (१) न्याय, वैशेषिक, कर्ममीमांसा, शारीर (ब्रह्म) मीमांसा, सांख्य, योग; (२) सौगत (बौद्ध) दर्शन के चार भेद, माध्यमिक, योगाचार, सौत्रांतिक, वैभाषिक; और चार्वाक और दिगम्बर (जैन)।

'वाद', 'इज़्म'

'वाद' शब्द मे सैकड़ो प्रकार अंतर्गत हैं। किसी भी शब्द के साथ 'वाद' शब्द लगा देने से एक प्रकार का 'वाद', एक विशेष मत, सकेतित हो जाता है; जैसे आजकाल अंग्रेजी में 'इज़्म' शब्द जोड देने से। एक एक दर्शन में बहुत बहुत वादों के भेद अन्तर्गत हो रहे है, अद्वैतवाद, द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, शुद्धाद्वैतवाद, द्वैताद्वैतवाद, भेदवाद, अभेदवाद, आरंभवाद, परिणामवाद, विकारवाद, विवर्तवाद, अध्यासवाद, आभासवाद, मायावाद, शून्यवाद, ईश्वरवाद, अनीश्वरवाद, दृष्टिसृष्टिवाद, क्षणिक-विज्ञानवाद, सत्कार्यवाद, असत्कार्यवाद, उच्छेदवाद, अनुच्छेदवाद, प्रभृति। अंग्रेजी में इन के समान मोनिज्म, ड्युएलिज्म, थीज्म, पैन्थीज्म, ट्रान्सफार्मेशनिज्म, रीयलिज्म, आइडियलिज्म, एवोल्यूशनिज्म, एब्सोल्यूटिज्म आदि हैं। बुद्धदेव के 'ब्रह्मजाल सूत्र' मे बासठ वाद गिनाये हैं। सैकडों गिनाये जा सकते हैं। 'मुडे मुडे मतिर्भिन्ना'। आजकाल नये नये वाद बनते जाते हैं, यथा—व्यक्तिवाद, समाजवाद, जातिवाद, व्यष्टिवाद, समष्टिवाद, वर्गवाद, साम्यवाद, साम्राज्यवाद, पूंजीवाद, श्रमवाद, लोकतन्त्रवाद, प्रभृति। अंग्रेजी में इन के मूल शब्द, जिन के ये अनुवाद हैं, इण्डिविड्युलिज्म, सोशलिज्म, फैशिज्म, नैशनलिज्म, कलेक्टिविज्म, कम्यूनिज्म, इम्पीरियलिज्म, कैपिटलिज्म, प्रालिटेरियनिज्म, डेमोक्रेटिज्म हैं। प्रत्येक वाद के मूल में एक 'दर्शन' 'फिलासोफी' 'मत' 'बुद्धि' 'राय' 'दृष्टि' लगी है। संस्कृत के प्रसिद्ध दर्शनग्रथों मे, यथा वेदान्त-विषयक, बादरायण के ब्रह्मसूत्रों पर शंकर के शारीरक-भाष्य, रामानुज के श्री-भाष्य, वाचस्पति मिश्र की भामती, श्रीहर्ष के खडनखडखाद्य, चित्सुखाचार्य की चित्सुखी, मधुसूदन सरस्वती की अद्वैतसिद्धि और सक्षेपशारीरक-टीका, अप्पय्य दीक्षित के सिद्धांतलेश, मे, एव, न्याय-विषयक, गौतम के न्याय सूत्रों पर वात्स्यायन भाष्य, उन पर उद्द्योतकर का वार्त्तिक, उस पर वाचस्पति की टीका, तथा नव्यन्याय-विषयक, गंगेश-कृत तत्त्वचिंतामणि, उस पर माथुरी, गादाधरी, जागदीशी आदि टीका; एव मीमांसा-विषयक, जैमिनिकृत पूर्व-मीमांसा-सूत्रों पर शाबर भाष्य, उस पर कुमारिल के

श्लोकवार्तिक और तन्त्रवार्तिक, पीछे खंडदेव की भाट्टदीपिका; आदि सैकड़ों ग्रंथों में प्रति पद, पूर्व पक्ष और उत्तर पक्षों की भरमार है। प्रत्येक 'पक्ष' को 'वाद' 'दृष्टि' कह सकते हैं।

'वाद' 'विवाद' 'सम्वाद'

वादों के साथ 'विवाद' भी बढ़ते जाते हैं। अनंत कलह और संघर्ष मचा हुआ है। वाग्युद्ध के कोलाहल से कान बधिर और बुद्धियां व्याकुल हो रही हैं। किसी विचार में स्थिरता, बद्धमूलता, नहीं देख पड़ती। कलियुग का अर्थ प्रत्यक्ष हो रहा है। 'सम्वाद', समन्वय, संमर्श, सामरस्य एकवाक्यता, का यत्न, और उस की आशा, दिन दिन कम होती जाती है। विरोध-परिहार के स्थान में विरोध-संचार-प्रचार ही अधिक हो रहा है; मनुष्य-मात्र के जीवन के सभी अंगों, अंशों, पहलुओं में, स्यात अंतरात्मा, सूत्रात्मा, जगदात्मा को, यह सबक, यह शिक्षा, मानव लोक को नये सिर से सिखाने की जरूरत जान पड़ती है, कि—

विपदः सन्तु नः शश्वत् तत्र तत्र जगद्गुरो।
भवतो 'दर्शनं' यत् स्याद् अपुनर्भव-'दर्शनम्' ॥ (भागवत)

"सिर पर विपत्ति पड़े विना, परमात्मा के दर्शन की इच्छा नहीं होती, और दर्शन नहीं होता, इसलिये, हे भगवन्, हे जगद्गुरो!, हम पर विपत्ति डालिये, कि हम आप की खोज करें, आपको पावें, देखें, और पुनर्जन्म को न देखें।"

वादों का समन्वय, और विवादों के स्थान में सम्वाद तभी हो सकता है, जब 'राग-द्वेष', और उन का मूल, 'अस्मिता', अहंकार', 'अहमहमिका', 'हमहमा', 'कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया', 'हम चु मन् दीगरे नीस्त', भेद-बुद्धि, स्पर्धा, ईर्ष्या, संघर्ष, के जगद्व्यापप्रभाव में कमी हो, और आत्मदर्शन की ओर मनुष्य झुके।

सद् किताबो सद् वरक़् दर् नार् कुन्।
जानो दिल् रा जानिबे दिलदार् कुन् ॥

"सैकड़ों पन्नों की इन मोटी मोटी सैकड़ों किताबों को, जिन में केवल कठहुज्जत भरी है, आग में डालो; और अपने दिल, अपनी सारी जान, को, दिलदार, परमात्मा, सर्वव्यापी अंतरात्मा, की ओर झुकाओ, तभी शांति, स्नेह, प्रेम, तबियत में मिठास जिंदगी में कोमलता, पाओगे।"

शास्त्राण्यभ्यस्य मेधावी ज्ञानविज्ञानतत्परः।
पलालमिव धान्यार्थी त्यजेच्छास्त्राण्यशेषत. ॥

"धान्य (धान) ले लो, पयाल को छोड दो; मुख्य अर्थ को, ज्ञान-विज्ञान के सार को ले लो, पोथियों और कठहुज्जतों को दूर करो।"

लेकिन, "पढ़े पंडित नही होता, पड़े (सिर पर मुसीबत पड़ने से) पंडित होता है", दुनिया ठीक ठीक, अपरोक्ष, समझ में आती है। इस समय, ईसा की बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध, विक्रम की बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में पृथ्वीतल के सभी देशों मे, सभी मानव जातियों की, जो परस्पर घोर कलि और कलह की अवस्था हो रही है, उस से यही अनुमान होता है कि सन् १९१४-१८ ई० के महायुद्ध से, मानव जाति के दुष्ट मानस भावों का विरेचन पर्याप्त नही हुआ, पुनरपि घोर 'महाभारत' और 'यादव-संहार' होगा; और तभी पुनः अध्यात्म-शास्त्र के तत्वों तथ्यो की ओर मनुष्य झुकेंगे, और उन के अनुसार छिन्न-भिन्न, जीर्ण-शीर्ण, दीन-हीन-क्षीण मानव समाज के पुनर्निर्माण का यत्न, वर्णाश्रम धर्म की विधि से, करेंगे, जैसा, महाभारत युद्ध के पीछे, भीष्म से उपदेश लेकर, युधिष्ठिर ने किया।

तत्त्वबुभुत्सया वादः, विजिगीषया जल्पः,
चिखण्डयिषया वितण्डा। (न्याय-भाष्य)
अध्यात्मविद्या विद्याना वादः प्रवदतामहम्। (गीता०)

गीता मे कहा है कि "सब विद्याओ में श्रेष्ठ अध्यात्म विद्या है"। न्यायशास्त्र में प्रसिद्ध है कि, "तत्व के निर्णय के लिये जो बातचीत, बहस, की जाय, वह 'वाद' कहलाता है; जो केवल वाग्युद्ध में अपने पक्ष का जय, और दूसरे का पराजय, करने की इच्छा से हो, वह 'जल्प'; और जिस मे अपने मत का प्रतिपादन न हो, केवल दूसरे का खडन, वह 'वितडा'।" इसलिये वार्तालाप के प्रकारो में उत्तम प्रकार 'वाद' है। यहाँ 'वाद' शब्द का अर्थ शका-समाधानात्मक, उत्तर-प्रत्युत्तरात्मक, 'बहस' है, 'मत' नही। अहमहमिका (हमहमा, खुदी, खुदनुमाई) का जोर जब तक है, 'मेरी ही राय सहीह, दूसरों की राय गलत', 'कबूल करो कि तुम हारे, मै जीता', तब तक जल्प, वितंडा, कलह, हुज्जत, फसाद, जग और जिदाल, का ही जोर रहेगा, विवाद मे ही रस मिलेगा, वाद और सम्वाद की ओर लोग मन न देंगे। तथा अधिभूत विद्याओं की, 'नफ़सानियत' की, कद्र बहुत होगी, और अध्यात्म विद्या का, 'रूहानियत' का, आदर कम होगा।

इसी कठ-हुज्जत से घबरा कर महिम्नस्तुतिकार बेचारा कहता है—

ध्रुव कश्चित् सर्वं, सकलमपरस्त्वध्रुवमिद,
परो ध्रौव्याध्रौव्ये जगति गदति व्यस्तविषये।
समस्तेऽप्येतस्मिन् पुरमथन ! तैर्विस्मित इव,
स्तुवन जिह्रेमि त्वा, न खलु ननु धृष्टा मुखरता॥

"कोई कहता है कि यह सब सत्य है, ध्रुव है, कोई कहता है कि यह सब असत्य है, अध्रुव है, कोई कुछ, कोई कुछ, अनंत प्रकार की अस्त-

व्यस्त बातों का कोलाहल मचा हुआ है। हे परमात्मन्!, तीनो पुर के मथने वाले!, (स्थूल, सूक्ष्म, कारण, तीनो शरीरों का, तथा जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तीनो अवस्थाओं का, अनुभव करने और उन से परे रहने वाले! उनका निषेध और नाश करने वाले! इस सब कोलाहल के बीच मे चकित और त्रस्त होकर मुझे आप की स्तुति मे भी मुख से शब्द निकालते लज्जा होती है, और कुछ भी कहना धृष्टता, ढिठाई, जान पड़ती है।"

परतु, मनुष्य की प्रकृति ही 'अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेश' से बनी है। जैसे क्रिया-प्रधान, शूर, साहसी, जीवों को भुजा से, या 'अस्त्र-शस्त्रो' से, युद्ध करने मे 'रण-रस' होता है, वैसे ज्ञान-प्रधान, वावदूक, विद्वान्, शास्त्री जीवों को, 'शास्त्रों' से, 'शास्त्रार्थ' विचार के बहाने, जिह्वा से, मल्लयुद्ध करने मे, 'अहंकार' का वीर-रस मिलता है। यूरोप देश में भी 'ओडियम् थियोलाजिकम्'[1] प्रसिद्ध है। मध्यकालीन भारत की कहानियों में यह कथा शंकर-दिग्विजय मे कही है, कि जब शंकराचार्य अपना शारीरक-भाष्य लेकर काशी आये, तब ब्रह्मसूत्र के कर्त्ता बादरायण व्यास, एक वृद्ध पण्डित का वेश बनाकर उन से किसी गली मे मिले; और वेदान्त-विषयक प्रसंग छेड़ा। फिर क्या था,

दिनाष्टक वाक्कलहो जजृम्भे।

आठ दिन रात, गगा के तट पर, खड़े खड़े ही हुज्जत जारी रही!

शंकर का, मडन मिश्र और उन की पत्नी परम विदुषी श्री शारदा देवी से, जो शास्त्रार्थ हुआ, उस की भी कहानी उसी ग्रन्थ मे कही है। आठ दिन तक तो ब्रह्मा के अवतार मंडन मिश्र से वाग्युद्ध हुआ। जब वे हार गये, तब सत्रह दिन तक सरस्वती की अवतार शारदा देवी से बहस हुई।

अथ सा कथा प्रववृते स्म तयोः, अतिजल्पतोः सममनल्पधियोः।
मति-चातुरी-रचित-शब्दझरी-श्रुति-विस्मयीकृत-विचक्षणयोः॥
न दिवा न निश्यपि च वादकथा विरराम, नैयामिककालमृते।
मतिवैभवादविरतं वदतोर्दिवसाश्च सप्तदश चात्यगमन्॥

"शब्दों की ऐसी झरी लगी, जैसी वर्षा मे आकाश से जल की धाराओं की; सुनने वालों के कान उन की ध्वनि से, और मन अचरज से, भर गये; नियम के कृत्यों के समय को छोड़ कर, हुज्जत बन्द ही न होती थी, न दिन में, न रात ही मे; सत्रह दिन बीत गये।" कवि ने यह स्पष्ट करके नहीं लिखा कि खाने के लिये कथा रुकती थी या नहीं; क्योंकि यह तो 'नियम' का 'कृत्य' नहीं हैं; शौच, स्नान, संध्यावदन, आदि तो नियत हैं, अपरिहार्य

[1] Odium theologicum.

हैं; पर उपन्यास तो किया जा सकते हैं। अस्तु ! कथा से यह तो सिद्ध हुआ कि मंडन मिश्र का कहना ही क्या है, वेदान्त-प्रतिपादक शंकराचार्य भी वाग्युद्ध के कम शौकीन न थे। नव्य न्याय और व्याकरण वालों ने इस कठ-हुज्जत के कौशल से, निश्चयेन प्राचीनों को परास्त कर दिया है; जो साध्य है उस को भूल गये हैं; साधन में ही मग्न हो रहे हैं, इन के कारण, साधन भी 'साधन' नहीं रहा, सर्वथा 'बाधन' हो गया। आजकाल, 'पंडित' लोग, 'वेदांत-केसरी', 'तर्क-पंचानन', 'सर्वविद्यार्णव', 'वाङ्मयसार्वभौम', 'सर्वतंत्र-स्वतंत्र', 'प्रतिवादि-भयंकर', आदि पदवियों को धारण करते हैं, आग्रह से, दर्प से, रस से। ऋषियों ने ऐसी पदवियां अपने को नहीं दीं। कहाँ आत्म-दर्शन का परम सौम्य भाव, कहाँ हिंस्र पशु केसरी, पंचानन, अर्थात् सिंह का भाव। भारतीय जीवन के सभी अंगों में ऐसी ही विपरीत, विपर्यस्त, बुद्धि का राज्य देख पड़ता है।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽवृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिस्सा पार्थ तामसी॥

"धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, जो माने, और सभी बातों को उलटा करके जो समझे, वह बुद्धि तामसी है।"

भारतवर्ष में बहुतेरे दर्शन होते हुए भी, अततो गत्वा, सिद्धांत यही है, कि आत्मदर्शन, अध्यात्मविद्या, ब्रह्मविद्या, वेद का, ज्ञान का, अंत है, इतिहा, खातमा, पराकाष्ठा है। इस में सब विद्या, सब ज्ञान, अंतर्भूत हैं। इस में सब 'वादों' का 'सम्वाद' हो सकता है, और हो जाता है; क्योंकि परमात्मा की प्रकृति ही 'द्वंद्वमयी' 'विरोधमयी' 'विरुद्धपदार्थमयी', 'सर्वविरुद्धधर्माणामाश्रय.', अथ च 'द्वंद्व-पदार्थ-निषेधमयी' है।

स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह। (उ०)
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा। (गीता)
ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा, गुह्यतमं ज्ञानं विज्ञानसहितं, पाप्मानं ज्ञानविज्ञाननाशनम्, गी०

एकेन विज्ञातेन सर्वं विज्ञातं भवति।
आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।
भिद्यते हृदयग्रंथिः, छिद्यंते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि, तस्मिन् दृष्टे परावरे॥ (उ०)

"ब्रह्मविद्या सब विद्याओं की प्रतिष्ठा, नीवी, नीव है। जब जीवात्मा संसार के असंख्य नाना पदार्थों को एक परमात्मा में स्थित, प्रतिष्ठित; और उस एक से इन सब का विस्तार, देख लेता है, तब उस का ब्रह्म अर्थात् ज्ञान

सम्पन्न परिपूर्ण हो जाता है; और वह स्वयम् ब्रह्ममय हो जाता है। सब विस्तार को एक मूल में बधे देखना—यह 'फिलासोफी' है, ज्ञान, प्रज्ञान, है; एक मूल से सब के विस्तार को देखना, विशेष के साथ जानना, यह 'सायंस' है, विज्ञान है।[1] उस एक के जानने से सब वस्तु जानी जाती है। उसी आत्मा का दर्शन करना चाहिये। उसका दर्शन हो जाने पर हृदय की गाँठ कट जाती है, संशय दूर हो जाते हैं, कर्म क्षीण हो जाते हैं।"

'दर्शन' प्रयोग। व्यवहार में

यह सिद्धात होकर भी, पुनः इस सशय में पड़ गया, कि आत्मदर्शन का प्रयोजन, उस का फल, क्या है; केवल आत्मदर्शी जीवात्मा की प्रातिस्विक, 'इंडिविड्यूअलिस्ट',[2] शख्सी, इन्फिरादी, शांति और व्यवहार-त्याग, प्रयत्न-त्याग, कर्मत्याग, संबधत्याग; अथवा सार्वजनिक, 'कलेक्टिविस्ट' 'सोशलिस्ट',[3] इज्माई, मुश्तरका, विश्वजनीन, सर्वजनीन, सुख समृद्धि के लिये, आत्मदर्शी का निरंतर प्रयत्न और व्यवहार-सशोधन। बुद्धदेव के बाद इसी मतभेद से हीनयान और महायान सम्प्रदायो के भेद बौद्धो में हो गये। तथा शंकराचार्य के बाद, हीनयान के समान आशय का, अर्थात् लोक-सेवा रूप व्यवहार के त्याग के भाव का, जोर, 'दश-नामी' सन्यासियो वेदांतियों मे अधिक हुआ, और रामानुजाचार्य ने महायान के सदृश लोक-सेवा लोक-सहायता के भाव को जगाया।

आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, का प्रयोग स्वार्थ ही है, अथवा परार्थ भी है, यह इस समय भारतवर्ष मे बहुत विचारने को बात है। भागवत मे, तथा अन्य पुराणों में, इस का निर्णय विस्पष्ट किया है, और आर्य-सिद्धांत यही जान पड़ता है, कि आत्मज्ञान, लोक-व्यवहार के शोधन के लिये, परमोपयोगी है, और इस शोधन के लिये उस का सतत उपयोग होना ही चाहिये।

गुण और दोष तो द्वन्द्वमय संसार मे सदा एक दूसरे से बधे हैं।

सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।
नात्यन्त गुणवत् किंचिन् नात्यतं दोषवत्तथा। (म० भा०)

यह भाव भी ठीक है कि

यतो यतो निवर्त्तते, ततस्ततो विमुच्यते।

---

[1] Philosophy, science.

[2] Individualist

[3] Collectivist, socialist

"जिधर जिधर से जीव हटता है, जिस का जिस का त्याग करता है, उस से उस से मुक्त होता है।" कैसे कहे कि ठीक नहीं है।

'संन्यास' का दुष्प्रयोग

पर इस में दोष यह देख पड़ता है कि, सच्चे विरक्त, संसार से सचमुच छुटकारा पाने की इच्छा करने वाले, सांसारिक वस्तुओं और व्यवहारों का निश्छल निष्कपट भाव से 'सन्यास' करने वाले, छोड़ देने वाले, बहुत कम देख पड़ते हैं। वैराग्य के बहाने शारीर स्वार्थ के साधने वाले, मिथ्याचारी, 'सन्यासी' का नाम और वेश धारण किये, गृहस्थों के समान सब प्रकार के धन सम्पत्ति सम्बन्धी व्यवहार करते हुए, मनुष्य, देश में बहुत बढ़ गये हैं। मनुष्य गणना से, प्रायः तीस, पैंतीस, स्यात पचास, लाख तक आदमी, इस अभागे देश में, बैरागी, उदासी, सन्यासी, तकियादार, मुतवल्ली, फकीर, औलिया, पथी, 'साधू'-संत', महंत, का नाम और वेश बनाये हुए, काषाय और 'दल्क', अलफी और खिर्का, कंथा और गूदड़ी, की आड में, (जैसे यूरोप देश में 'मंक' 'नन' 'एबट' 'एबेस' फादर-सुपीरियर' आदि), मठधारी, मंडलीश, सज्जादा-नशीन, स्वामी, गोस्वामी, पीठेश्वर, बने हुए, जवाहिर और गहने पहिनते, घोड़ा, गाडी, हाथी, और अब मोटरों, पर सवार होते, राजाई और नवाबी ठाठ से रहते, ऐश और आराम के दिन बिताते हैं। कभी कभी तो घोर पाप और जुर्म कर डालते हैं, और गृहस्थों के अन्य असह्य बोझों के ऊपर, राज-कर के भार आदि के ऊपर, अपना बोझ और अधिक लाद रहे हैं।

मंदिरों का दुरुपयोग

दूसरी ओर यह देख पड़ता है कि लोक-सेवा, लोक-सहायता, ईश्वर-भक्ति और परस्पर-भक्ति, सत्संग, इतिहास-पुराण-कथा, सदुपदेश, सर्वजनीन प्रेम, के प्रचार के लिये, बडे बड़े मंदिर, बडी बड़ी संस्था, बड़ी बडी मस्जिद, दरगाह, खानकाह, बनाई जाती हैं, और वे भी, थोड़े ही दिनों में, अपने सर्व-सत्ताक ('पब्लिक प्रापर्टी' के) रूप को छोड़कर, एक-सत्ताक ('प्राइवेट प्रापर्टी, इंडिविड्युअल या पर्सनल प्रापर्टी'[१] का) रूप धारण कर लेती हैं। एक दल, एक गुट, एक चक्रक, एक पेटक, एक कुल, एक व्यक्ति, की निजी जायदाद हो जाती है। कुछ साम्प्रदायिक संस्था तो ऐसी हैं, जिन में से एक एक में, हजार हजार, दो दो हजार, रुपया तक, प्रतिदिन, 'भोगराग' में ही खर्च हो

---

[१] Public property, private property, individual or personal property

जाता है। थोड़े से आदमियो को, कहिये कुछ हजारो को, सुस्वाद भोजन का सुविधा होता है, पर करोरों गरीबों का बोझ घटने के बदले बहुत बढ़ता है। यदि इन सस्थाओ की लाखों रुपये सालाना की आमदनियां, सच्चे आत्म-दर्शन, अध्यात्मविद्या, आन्वीक्षिकी विद्या, के अनुसार, जनता की उचित वेद-वेदांग-इतिहास-पुराण-ज्ञान-विज्ञान के विविध शास्त्रों की शिक्षा, तथा चिकित्सा और विविध ललित कलाओ और उपयोगी शिल्पों की उन्नति, आदि के कार्य में लगाई जाय, तो आज भारतवर्ष का रूप ही दूसरा हो जाय। कई मदिर ऐसे हैं, विशेष कर दक्षिण में, जिन में से एक एक की आमदनी आठ आठ, दस दस, पंद्रह पद्रह लाख रुपये साल तक की कही जाती है। बिहार और उड़ीसा की महती गद्दियों की संकलित, मजमूई, आमदनी, प्रायः एक करोर रुपया सालाना कही जाती है। कोई प्रांत, कोई सूबा, नही, जिस में हिंदू धर्मत्र देवत्र सस्थाओं और मुसलमानी वक्फो की आमदनी, पचासों लाख रुपयों की मीजान को न पहुँचती हो। यदि इस सब 'लक्ष्मी' का, उत्तम, शुद्ध, ब्रह्ममय और धर्ममय, आत्म-दर्शन के अनुसार, सत्प्रयोग, सदुपयोग, किया जाय, और इन सब संस्थाओ के 'साधु', सच्चे 'साधु' (साध्नोति शुभान् कामान् सर्वेषाम् इति साधु) और विद्वान् शिक्षक, सच्चे आलिम और पीर, हो जायँ, तो सब 'युनिवर्सिटियों', 'स्कूल कालेजों' पाठशाला, मद्रसों, का काम, उत्तम रीति से, इन्ही से निबहै; और इहलोक-परलोक-साधक, दुनिया और आकबत दोनों को बनाने वाली, अभ्युदय-निःश्रेयस-कारक, ज्ञान-वर्धक, रक्षा-वर्धक, स्वास्थ्य-वर्धक, कृषि-गोरक्ष-वार्ता-वाणिज्य शिल्प-पोषक, उद्योग-व्यवसाय व्यापार-व्यवहार-शोधक और प्रोत्साहक, शिक्षा का प्रसार, सारे देश मे हो।

आत्मज्ञानी ही व्यवहार कार्य अच्छा कर सकता है

सांख्य का रूपक है, पुरुष के आँख हैं, पैर नहीं; प्रकृति के पैर हैं, आँख नहीं; एक लंगड़ा है, दूसरी अधी; दोनो के साथ होने से दोनों का काम चलता है। ब्रह्म और धर्म, ज्ञान और कर्म, शास्त्र और व्यवहार, नय और चार, नीति और प्रयोग, 'थियरी' और 'प्राक्टिस', 'सायंस' और 'एप्लिकेशन', इल्म और अमल, का यही परस्पर सम्बन्ध है। इमी लिये मनु की आज्ञा है,

सैनापत्य च राज्य च दंडनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्य वा वेदशास्त्रविदर्हति॥

"सेनापति का कार्य, राजा का कार्य, दडनेता, न्यायपति, प्राड्विवाक, 'जज', 'मजिस्ट्रेट' का काम, अथ किम् सर्वलोक के अधिपति का, सम्राट्, चक्रवर्त्ती, सार्वभौम, का कार्य, उसी को सौंपना चाहिये, जो वेद के शास्त्र को,

वेद के अंत में, वेदांत में, अर्थात् उपनिषदों में, कहे हुए, वेद के अंतिम रहस्य को, जानता हो।

'प्रयोग' ही 'प्रयोजन'

'प्रयोजन' और 'प्रयोग' शब्द एक ही 'युज्' धातु से बने हैं। सत्ज्ञान का 'प्रयोजन', उस के संग्रह और प्रचार करने, सीखने सिखाने, का प्रेरक हेतु, यही है, कि उस का सत् 'प्रयोग' किया जाय; उस के अनुसार, चारो पुरुषार्थ साधे जायँ।

पुराणों से निश्चयेन जान पड़ता है कि, आर्यभाव, आत्मविद्या के विषय में, यही था कि, जब तक शरीर नितांत थक कर जवाब न दे दे, तब तक, वानप्रस्थावस्था में भी, जीवन्मुक्त का भी, कर्त्तव्य था, कि लोक-संग्रह, लोक-व्यवहार, लोक-मर्यादा, के शोधन रक्षण में, यथा शक्ति, यथा सम्भव, यथावश्यक, सहायता करता रहे।

व्यास जी के विषय में कहा है—

प्रायशो मुनयो लोके स्वार्थैकातोद्यमा हि ते।
द्वैपायनस्तु भगवान् सर्वभूतहिते रतः॥

प्रह्लाद का वचन है—

प्रायेण, देव !, मुनयः स्वविमुक्तिकामाः
स्वार्थं चरति विजने, न परार्थनिष्ठाः।
नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः,
नान्य त्वद् अस्य शरण भ्रमतोऽनुपश्ये॥ (भागवत)

"ऋषि मुनि लोग प्रायः 'स्वार्थ' से अपनी ही मुक्ति के लिये, एकांत मे, निर्जन, विजन, मे रहकर, ऐकांतिक यत्न करते हैं; किंतु भगवान् कृष्ण-द्वैपायन व्यास, निरंतर सर्वभूत के हित की चिंता मे लगे रहे, और उनकी शिक्षा के लिये, अति सरस, रोचक, शिक्षक, ग्रंथ लिखते रहे।"

मनुस्मृति सनातन-वैदिक-आर्य-मानव-बौद्ध (बुद्धि-सगत) धर्म की नीवी है। उस के श्लोकों से साक्षात् सिद्ध होता है कि, वदांत-शास्त्र, अध्यात्म-शास्त्र, आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, को, प्राचीन काल मे, ऋषि विद्वान् लोग, मानव धर्म का मूल और प्रवर्तक, नियामक, निर्णायक, मानते थे। आदि मे ही, ऋषियों ने भगवान् मनु से प्रार्थना किया,

भगवन् सर्ववर्णाना यथावद् अनुपूर्वशः।
अतरप्रभवाणा च धर्मान् नो वक्तुमर्हसि॥
त्वमेवैकोऽस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयभुवः।
अचिंत्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्वार्थवित्प्रभो॥

"अंतरप्रभावाणां च" के स्थान मे "सर्वेषामाश्रमाणां च" भी पाठ देख पडता है और अधिक उपयुक्त, प्रसङ्गोचित, न्यायप्राप्त है।)

"भगवन्! सब मुख्य वर्णों के, और प्रत्येक वर्ण के अवान्तर वर्णों के, तथा सब आश्रमो के, धर्मो को, आप हमे बताइये; क्योंकि परमात्मा ब्रह्म से स्वय उपजे स्वयभू ब्रह्मा का विधि-विधान, हम लोगो के लिये अचित्य अप्रमेय, है; ध्यानमय, ध्यानात्मक, मानस सृष्टि के तत्त्व को, अस्लियत को, कार्य को, उस के अर्थ, मकसद, मतलब, प्रयोजन को, आप ही जानते हो; इस लिये आप ही इन धर्मो को बता सकते हो।"

जो आत्मा और संसार के सच्चे स्वरूप को और प्रयोजन को नही जानता, वह धर्म का, कर्त्तव्य का, निर्णय नही कर सकता। हम क्या हैं, कहाँ आये, कहाँ जांयगे, जीना, मरना, सुख, दुःख, जीने का लक्ष्य, क्या है, क्यों है—जो मनुष्य इन बातो को नही जानता, वह कैसे निर्णय कर सकता है कि मनुष्य का कर्त्तव्य धर्म क्या है।

मनुस्मृति मे और भी कहा है।

> ध्यानिक सर्वमेवैतद् यदेतद्-अभिशब्दितम्।
> न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते॥
> अज्ञेभ्यो ग्रंथिनः श्रेष्ठाः, ग्रथिभ्यो धारिणो वराः।
> धारिभ्यो ज्ञानिनः श्रेष्ठाः; ज्ञानिभ्यो व्यवसायिनः॥
> भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः, प्राणिनां बुद्धिजीविनः।
> कृतबुद्धिषु कर्त्तारः, कर्त्तृषु ब्रह्मवेदिनः॥
> सरहस्योऽधिगतव्यो वेदः कृत्स्नो द्विजन्मना॥

"जो अध्यात्म-शास्त्र को नहीं जानता, वह किसी क्रिया को उचित रीति से सफल नही कर सकता। जो परमात्मा जीवात्मा के स्वरूप को नही पहिचानता, मनुष्य की प्रकृति को, उस के अंतःकरण की वृत्तियों और विकारों को, रागद्वेषादि के तांडव को, नही समझता, वह सार्वजनिक, विश्वजनीन, कार्य, राजकार्य आदि, कैसे उचित रूप से कर सकता है। पदे पदे भूल करेगा। ज्ञानियों में वही श्रेष्ठ हैं जो अपने ज्ञान के आधार पर सद्व्यवसाय, सद्व्यवहार, करते हैं; बुद्धिमानो में वे श्रेष्ठ हैं जो सत्कर्मपरायण कर्त्ता हैं, जो कर्त्तव्य कर्म से जान नही चुराते, मुंह नहीं मोडते; और कर्त्ताओं मे वे श्रेष्ठ हैं जो ब्रह्मवेदी ब्रह्मज्ञानी है; क्योंकि वे ही ठीक ठीक कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का, धार्मिक और अधार्मिक कर्म का, सात्त्विक और तद्विपरीत कर्म का, विवेक कर सकते हैं।" गीता में बतलाया है कि सात्त्विक बुद्धि वही है जो प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य भय-अभय, बंध-मोक्ष, के स्वरूप को ठीक ठीक पहिचानती है, अर्थात आत्मज्ञानवती है, वेद के रहस्य को जानती है।

धर्म-परिषत में, अर्थात् जो सभा धर्म का व्यवस्थापन, परिकल्पन, व्यवसान, आम्नान करती है, उस में, यानी कानून बनानेवाली मजलिस में, आत्मज्ञानी, मनुष्य की प्रकृति के ज्ञानी, पुरुष की ही विशेष आवश्यकता है।

> एकोऽपि वेदविद् धर्मं य व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
> स विज्ञेयः परो धर्मो, नाऽज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥
> अव्रताना अमन्त्राणा जातिमात्रोपजीविनाम्।
> सहस्रश. समेताना परिषत्त्वं न विद्यते ॥ (मनु)
> चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत् त्रैविद्यमेव वा।
> सा ब्रूते य सधर्मः स्याद्, एको वाऽऽध्यात्मवित्तमः ॥ (याज्ञवल्क्य)

"एक अकेला भी सच्चा अध्यात्मवित्, वेदांत का, आत्म विद्या का, ठीक ठीक जानने वाला, अतः मनुष्य की प्रकृति को सूक्ष्म रूप से जानने वाला, देश-काल-निमित्त को पहिचानने वाला, विद्वान् जो निर्णय कर दे, उसी को उत्तम, उपयोगी, लोकोपकारी, सर्वहितकर, धर्म-कानून जानना मानना चाहिये। मूर्ख, सदाचार-रहित, केवल जाति के नाम से जीविका चाहने वाले, यदि हजारों भी एकत्र होकर कहें, तो वह धर्म नहीं हो सकता।" इसी हेतु से, भारतवर्ष के क़ानून, अर्थात् स्मृतियाँ, सब अध्यात्मवित् महा-महर्षि, आदि-प्रजापति, आदिराज मनु भगवान् की, तथा उन के पीछे अन्य ऋषियों की, बनाई हुई हैं, जो दीर्घदर्शी, भावी सुफल दुष्फल के जानकार थे।

स्पष्ट ही मनु का आशय यह है, कि ब्रह्मज्ञानी आत्मज्ञानी को, जब तक शरीर में सामर्थ्य हो, लोक-व्यवहार के शोधन में, लोक कार्य के भार के वहन में, लगे रहना चाहिये। विरक्तमन्य होकर, वैराग्य का ढोंग रचकर, अपने शरीर का स्वार्थ सुख साधने में लीन होकर, मिथ्या फकीरी, उदासीनता, नहीं करना चाहिये, समाज पर, राजकीय कर के भार से प्रपीड़ित गृहस्थों पर, भार नहीं होना चाहिये। उन से जो अन्न वस्त्र मिलता है, उस के बदले में, किसी न किसी प्रकार से, शिक्षा, वा रक्षा, वा अन्य सहायता से, सार्वजनिक कार्यों में परामर्श के, सलाह-मश्विरा के, अथवा जाँच-निग्रानी के, रूप में, उन को कुछ देना चाहिये। यदि वनस्थाश्रम पार कर के, शरीर अशक्त होने पर, सन्यासाश्रम से, भिक्षा से, माधुकरी वृत्ति से, शरीर यात्रा का साधन कर रहा हो, तो भी, "शुभध्यानेनैवानुगृह्णाति"[1], अपनी मूर्ति, अपने आचरण, की सौम्यता और शान्तता से ही, लोक का शुभचिंतन करने से ही, यदा कदा जिज्ञासुओं को सदुपदेश से ही, वह लोक का भारी उपकार करता है।

[1] प्रशमैर् अवसानि लभयत्यपि नियंचि शम-निरीक्षितैः ॥ (किरातार्जुनीय)
अहिंसा-प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर-त्याग। (योगसूत्रम्)

ब्रह्ममय, शांतिमय, सर्वभूतदयामय, अहिंसामय महापुरुष के समीप, उन के स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर के पवित्र 'वर्चस्' ('औरा'[१]) के बल से, उन के पास जो मनुष्य, पशु, पक्षी, आ जाँय, उन में भी उतने काल के लिये, शांति का भाव भर जाता है। इस प्रकार से, आगे उद्धृत श्लोक चरितार्थ होते हैं, और साधु जन, सभी आश्रमों और वर्णों में, उन को चरितार्थ करते हैं। सैकड़ों वर्ष से, भारत मे बड़ा विवाद मचा हुआ है, और इस पर बड़े बड़े ग्रंथ लिखे गये हैं, कि वेदांत शास्त्र, विशेष कर गीता शास्त्र, कर्म का निवर्त्तक है, किंवा कर्म का प्रवर्त्तक है। पहले कह आये हैं, कि गीता के शब्दों से ही, 'तस्माद् युध्यस्व भारत' 'मामनुस्मर युध्य च' 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' आदि से ही, स्पष्ट सिद्ध होता है कि, कर्त्तव्यधर्मभूत कर्म मे गीता प्रवृत्त ही करती है। और मनु की आदिष्ट आश्रमव्यवस्था पर थोड़ा भी ध्यान देने से विशद हो जाता है कि, ऐसी बहस सब व्यर्थ है, उस के उठने का स्थान ही नहीं है। जब अत्यंत वृद्ध होकर आयु के चतुर्थ भाग में पहुँचै, तभी परिग्रह का, माल-मता का भी, और कर्मों का भी, 'सन्यास' करै। यही प्रकृति की आज्ञा है; इस लिये शास्त्र भी यही कहता है। हाँ, अपवाद तो प्रत्येक उत्सर्ग के होते हैं।

> सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
> अनेन प्रसविष्यध्वं, एष वोऽस्त्विष्टकामधुक्॥
> परस्परं भावयंतः श्रेयः परमवाप्स्यथ।...
> तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुक्ते स्तेन एव सः॥ ..
> भुंजते ते त्वघ पापा ये पचत्यात्मकारणात्।...
> एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
> अघायुरिंद्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ (गीता)

"जो भी कर्म, परोपकार बुद्धि से किया जाय, वह 'यज्ञ'; बिना 'यज्ञ' के भाव के समाज मे व्याप्त हुए, समाज पनप नहीं सकता; यह 'यज्ञ'-बुद्धि, परोपकार बुद्धि, ही, समाज की समष्टि और प्रत्येक व्यष्टि के लिये भी कामधेनु है; परस्पर विश्वास, परस्पर स्नेह प्रीति, परस्पर सम्वाद संगति, परस्पर सहायता, से ही समाज के सब व्यक्तियों को सब इष्ट वस्तु प्राप्त हो सकती है। जो दूसरे से लेता है, पर बदले में कुछ देता नहीं, अपने ही भोजन की फिक्र करता है, परमात्मा के चलाये हुए इस संसार-चक्र के चलते रहने के लिये अपना कर्त्तव्यांश नहीं करता, वह 'अघायु' है, 'अघभोजी' है, 'स्तेन' है,

---

[१] Aura

चोर है, उस का खाना पीना, उस का जीवन, सब पापमय है, हराम है।"
यही अर्थ मनु ने और ऋग्वेद ने भी कहा है।

अघ स केवल भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्।
यज्ञशिष्टाशन ह्येतत् सतामन्न विधीयते॥ (मनु)

"दैनंदिन पंच महायज्ञ करने के बाद, जो भोज्य पदार्थ गृह मे बचै, उस का भोजन करना—यही सत्पुरुषों के लिये उत्तम अन्न है।"

मोघमन्न विन्दते अप्रचेताः, सत्य ब्रवीमि वध इत् स तस्य।
नार्यमण पुष्यति, नो सखाय, केवलाघो भवति केवलादी॥

(ऋग्वेद, म० ७)

"अर्यमा सूर्य को भी कहते हैं, मित्र, सखा, दोस्त, को भी; सूर्य का एक नाम 'मित्र' भी है; जगत् के परममित्र सूर्य देव हैं। जो मनुष्य देव कार्य, पितृ कार्य, ऋषि कार्य, मित्र अतिथि कार्य, पश्वादि सर्वभूत कार्य, अर्थात् पंच यज्ञ कार्य, किये बिना, अपना ही उदर पोषण करता है, वह पाप ही का भोजन करता है वह अपने उत्तमांश का मानो वध करता है।"

हाँ, जब वानप्रस्थावस्था के योग्य, लोकसेवात्मक कर्त्तव्यों के योग्य, शक्ति शरीर में न रहे, तब अवश्य उन कर्मों का भी सन्यास उचित ही है। मनु की आज्ञा है।

आश्रमादाश्रम गत्वा, हुतहोमो जितेन्द्रियः।
भिक्षाबलिपरिश्रातः, प्रव्रजन् प्रेत्य वर्धते॥

"ब्रह्मचारी से गृहस्थ, उससे वानप्रस्थ, होकर, जब 'भिक्षा देने' और 'बलि देने', अर्थात् आज काल के शब्दों में, विविध प्रकार की लोकसेवा के कर्म करने, से (एव बहुविधाः यज्ञाः वितताः ब्रह्मणो मुखे—गीता), शरीर नितांत परिश्रांत हो जाय, तब उन को भी छोड़ दे।" गीता के 'एव प्रवर्त्तितं चक्र' आदि श्लोक का भी यही आशय है।

छांदोग्य उपनिषद् में भी यही कहा है।

यदेव विद्यया करोति, श्रद्धया, उपनिषदा, तदेव वीर्यवत्तर भवति।

"जो भी कार्य, सांसारिक-जीवन-संबंधी, गार्हस्थ्य-वानस्थ्य-संबंधी, अथवा परलोक-सबंधी, आत्मविद्या के अनुसार किया जाता है, वह अधिक वीर्यवान्, गुणवान्, फलवान्, होता है।" जो आत्म-विद्या के विरुद्ध किया जाता है वह बहुत हानिकर होता है।

या वेदबाह्याः स्मृतयः, याश्च काश्च कुदृष्टयः।
सर्वास्ता. निष्फलाः प्रेत्य, तमोनिष्ठा हि ताः स्मृताः॥
उत्पद्यन्ते च्यवते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च॥

जो 'दृष्टियाँ', बुद्धियाँ, वेद के शास्त्र अर्थात् वेदांत के विरुद्ध हैं, अध्यात्मशास्त्र के अनुकूल नहीं हैं, वे बरसाती गुच्छियों की तरह रोज पैदा होती और मरती रहती हैं। उन से न इस लोक में अच्छा फल सिद्ध होता है, न परलोक में।" आज काल तरह तरह के 'इज़्म' 'वाद' जो निकल रहे हैं, 'सैनिक-राज्य-वाद', 'धनिक-राज्यवाद' आदि, उन की यही दशा है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था की वर्त्तमान घोर दुरवस्था—अध्यात्मशास्त्र के प्रतिकूल आचरण करने से। अनुकूल आचरण से ही पुनः प्रतिष्ठापन व्यवस्थापन

जो आज काल चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम्य की घोर दुर्दशा हो रही है, उस में भी कारण यही है कि, उन का आध्यात्मिक तत्त्व, जिस का मूलरूप गीता तथा पुराणों में स्पष्ट प्रकार से किया है, भुला दिया गया है, और उस के विरोधी विचार पर आचरण किया जा रहा है।

> सात्विको ब्राह्मणो वर्णः क्षत्रियो राजसः स्मृतः।
> वैश्यस्तु तामसः प्रोक्तः, गुणसाम्यात्तु शूद्रता॥ (म० भा०)
> चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
> कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः॥ (गीता०)

इस का स्पष्ट अर्थ यह है कि स्वभाव अर्थात् प्रकृति के तीन गुणों के अनुसार, सत्व-ज्ञान-प्रधान ब्राह्मण वर्ण, रजः-क्रिया-प्रधान क्षत्रिय वर्ण, तमः-इच्छा-प्रधान वैश्य वर्ण, गुणों के साम्य से शूद्र वर्ण, निश्चित होता है।

महाभारत में यक्ष-युधिष्ठिर सम्वाद में, तथा सर्प-युधिष्ठिर सम्वाद मे, तथा शांति पर्व और अनुशासन पर्व मे, तथा भागवत पुराण, पद्म पुराण, भविष्य पुराण, वायु पुराण, आदि मे, पुनः पुनः "कर्मणा वर्णः" के सिद्धांत को स्थिर किया है। यह सिद्धांत सर्वथा अध्यात्म शास्त्र के अनुकूल है। किंतु इस को भुलाकर, किम्वा बलात् हटाकर, "जन्मनैव वर्णः' के अपसिद्धांत को ही वर्ण-व्यवस्था की नीव, आज प्रायः बारह सौ वर्ष से, स्वार्थी लोगों ने बना डाली है। इस से समग्र भारत की वैसी ही दुर्दशा हो गई है, जैसी बहुसत्ताक सार्वजनिक सम्पत्ति को कोई बलात्कार से एकसत्ताक निजी सम्पत्ति जब बना लेता है, तब अन्य आश्रितों की होती है।

मनु में, महाभारत में, शुक्रनीति में, अन्य प्रामाणिक ग्रंथों मे, पुनः पुनः कहा है, कि षड्भागरूपी भृति, वेतन, तनखाह, राजा को इसी लिये दी जाती है कि वह प्रजा की रक्षा करे। यदि नहीं करता, तो वह दंड पाने के

योग्य है, निकाल दिये जाने के योग्य है, उस के स्थान पर दूसरे को राजा नियुक्त करना चाहिये, इत्यादि; और मरने के बाद भी वह अवश्य नरक में गिरैगा।

> षड्भागभृत्या दास्यत्वे प्रजाभिस्तु नृपः कृतः। (शुक्रनीति)
> योऽरक्षन् बलिमादत्ते स सद्यो नरकं व्रजेत्।
> दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धार्यश्चाकृतात्मभिः।
> धर्माद्विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम्॥ (मनु)
> एतास्तु पुरुषो जह्याद् भिन्ना नावमिवार्णवे।
> अरक्षितारं राजानं अनधीयानमृत्विजम्॥ (म० भा०)

पर, प्रायः यह देखा जाता है, कि राजा, शासक, पुरोहित, आदि अपने कर्त्तव्य को सर्वथा भूल जाते हैं; सब प्रकार के अधिकार अपने हाथ में रखना चाहते हैं, प्रजा को, आश्रितों को, जिज्ञासुओं का, तरह तरह की पीड़ा देते हैं, उन के साथ विश्वासघात करते हैं। अंग्रेजी में कहावत हो गई है कि 'किङ्ज़' और 'प्रीस्ट्स्' अर्थात् राजा और पुरोहित, 'डिवाइन राइट बाइ बर्थ' का, 'जन्म से ही सिद्ध दैवी अधिकार' का, दावा करते हैं।[1] इन्ही मिथ्या अभियोगों दावों से उद्विग्न होकर, प्रजा ने, देश देश में, बड़े बड़े विप्लव कर डाले हैं। ऊपर उद्धृत मनु के श्लोक में कहा है कि, बिना 'कृतात्मा' 'आत्मज्ञानी' हुए 'दण्ड शक्ति' का धर्म के अनुसार धारण और नयन करना सम्भव नहीं, और जहाँ धर्म से दंड विचलित हुआ, वहाँ वह दंड, राजा को, बंधु बांधव समेत, नाश कर देता है। इसी प्रकार पुरोहितों का भी प्रभाव नष्ट हो जाता है।

'हिताय पुरः अग्रे प्रहितः; पुरः एनं हिताय दधति जनाः इति पुरो-हितः।;',

'यह हमारा हित साधेंगे' इसलिये जिन को जनता आगे करै, चुनै, वे 'पुरो-हित', जब वे हित के स्थान में अहित करने लगें, विश्वासघात करैं, ठगैं, तो अवश्य ही 'पुरोहित'-पद से भ्रष्ट होंगे, दूर किये जांयगे।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि, बिना वर्ण-आश्रम-व्यवस्था के, बिना 'सोशल आर्गेनिज़ेशन', 'तनज़ीमि-जमाअत' के, मनुष्यों को, न सामाजिक सुख, न वैयक्तिक सुख, मिल सकता है। और वर्ण व्यवस्था का सच्चा हितकर रूप, बिना 'कर्मणा वर्णः' के सिद्धांत के अनुसार चले, कदापि सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि 'कर्मणा वर्णः' ही अध्यात्म-शास्त्र का सम्मत है। इस का विस्तार से प्रतिपादन अन्य ग्रंथों में किया है।

---

[1] Kings, priests divine right by birth

इस के विरुद्ध, केवल 'जन्मना वर्णः' के अपसिद्धांत पर, आज सैकड़ों वर्ष से, अधिकार के लोलुप, कर्तव्य से पराङ् मुख, अपने को 'पैदाइशी ऊंची' मानने वाली जातियों ने, जो दुर्व्यवस्था चला रक्खी है, उसी का भयकर परिणाम यह है कि, आज, ढाई हजार से अधिक परस्पर अस्पृश्य जातियां हिन्दू नामक समाज में हो गई हैं; परस्पर ईर्ष्या-द्वेष, तिरस्कार, अहङ्कार से छिन्न-भिन्न, बलहीन, चीण हो रही हैं; भारत जनता ने, देश ने, स्वतन्त्रता, स्वाधीनता, खो दिया है, दूसरो के वश में सारा देश चला गया है; और तरह तरह के क्लेश सह रहा है।

सर्व परवश दुःख सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥ (मनु०)

वेद की आज्ञा है,

संगच्छध्वम्, सवदध्वम्, स वो मनांसि जानताम्।
समानी प्रपा, सहवोऽन्नभागः, समाने योक्त्रे सह वो युनज्मि।

"साथ चलो, साथ बोलो, सब के मन एक हों, साथ मे शुद्ध अन्न जल खाओ पीओ, साथ मिलकर उत्तम सर्वोपकारी कर्मों मे लगो।" पर आज देखा यह जाता है, कि किसी का मन किसी से नहीं मिलता; सब अपने को एक से एक पवित्रतम मानते हैं; 'हम पैदाइशी ऊचे, अन्य सब पैदाइशी नीचे,' यही जहरीला भाव फैला हुआ है; सच्चे शौच का, शुचिता का, सफाई का, अर्थ सर्वथा भूला हुआ है; दूसरे नाम की जाति मात्र के आदमी के छू जाने से ही अपनी जाति, अपना धर्म, गर जाता है, यह महामोह, वैदिक धर्म को 'छुई मुई धर्म' बनाये हुआ है।

आत्मज्ञान की, आत्मदर्शन की, दैनंदिन व्यवहार में कितनी उपयोगिता है, इस का प्रमाण गीता से बढ़कर क्या हो सकता है ?

योगः कर्मसु कौशल। तस्माद् युध्यस्व भारत।
मामनुस्मर युध्य च ॥ इत्यादि।
इद तु ते गुह्यतम प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं।
इति गुह्यतम शास्त्रमिदमुक्त मयाऽनघ।
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥

यह गुह्यतम ज्ञान गुह्यतम शास्त्र. राज-विद्या, राजगुह्य, वेद-रहस्य, अध्यात्म शास्त्र ही वह शास्त्र है जिस के लिये गीता मे यह भी कहा है कि—

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ ।

क्या कार्य है, क्या अकार्य है, इस का अंतिम निश्चय निर्णय, इस परम शास्त्र, गुह्यतम शास्त्र, अध्यात्म शास्त्र ही के द्वारा हो सकता है, जिस को वेद का रहस्य, उपनिषत् भी कहते हैं ।

राज-विद्या, राजगुह्य

इस को राजविद्या, राजगुह्य क्यों कहा ? इस प्रश्न का उत्तर योगवासिष्ठ के उत्पत्ति प्रकरण के ११ वें अध्याय मे दिया है । पहिले इस की चर्चा कर आये हैं, परंतु इस भूले हुए, नितांतोपयोगी, तथ्य का, पुनरपि दोहराना, याद दिलाना, उचित है, किम्वा आवश्यक है । क्योंकि इस को भूल जाने से, प्रतिपद याद न रखने से, काम में न लाने से, भारत जनता रसातल को चली जा रही है ।

कालचक्रे वहत्यस्मिन् क्षीणे कृतयुगे पुरा ।
प्रत्यह भोजनपरे जने शाल्यर्जनोन्मुखे ॥
द्वंद्वानि संप्रवृत्तानि विषयार्थं महीभुजा ।
ततो युद्ध विना भूपा महीं पालयितुं क्षमाः ॥
न समर्थास्तदा याताः प्रजाभिः सह दीनताम् ।
तेषां दैन्यापनोदार्थं सम्यग्दृष्टिक्रमाय च ॥
ततो महर्षिभिः प्रोक्ताः महत्यो ज्ञानदृष्टयः ।
बहूनि स्मृतिशास्त्राणि यज्ञशास्त्राणि चावनौ ।
क्रियाकर्मविधानार्थं मर्यादानियमाय च ॥
धर्मकामार्थसिद्ध्यर्थं कल्पितान्युचितान्यथ ।
अध्यात्मविद्या तेनेयं पूर्वं राजसु वर्णिता ॥
तदनु प्रसृता लोके राजविद्येत्युदाहृता ।
राजविद्या राजगुह्य अध्यात्मज्ञानमुत्तम ॥

'सोशियालोजी', समाज-शास्त्र, के कुछ तथ्यों की भी सूचना इन श्लोकों में कर दी है ।

"मानव महाजाति के इतिहास मे, ऐसे काल, युग, जमाने, को सत्ययुग अथवा कृतयुग कहते हैं, जिस में, मनुष्यों की प्रकृति सीधे साधे सरल स्वभाव के बच्चों की सी होती है, झूठ बनाने की बुद्धि ही उन को नहीं; सच ही बोलते हैं; इस से 'सत्ययुग' नाम पड़ा, जैसे बच्चे अपने माता पिता पर पूरा भरोसा करते हैं, और विना पूछे कहे उन की आज्ञा को मानते हैं, वैसे ही उस

समय में, सब मनुष्य, जाति के वृद्धों की, प्रजापति, ऋषि, 'पेट्रियार्क', 'प्राफेट'[1] 'नबी', नेताओं की, आज्ञा के अनुसार कार्य तत्काल कर देते हैं, 'कृतं एव, न कर्त्तव्यं', इस से 'कृत युग' नाम भी इस को दिया गया। उस समय में, प्रायः विना खेती बारी के उपजे, कंद, मूल, फल, तथा वृक्षों की छाल, वल्कल, आदि से, अन्न वस्त्र का काम चलता था। बाद में, समय बदला; मनुष्यों की संख्या बढ़ी; खेती आवश्यक हुई; उस के संबंध में झगड़े होने लगे; राजा बनाये गये; राजाओं में युद्ध होने लगे; सब मनुष्य चिंता-ग्रस्त, सब काम अस्त व्यस्त, होने लगे। तब उन व्यापक दीनता, हीनता, क्षीणता, को दूर करने के लिये, वृद्धों ने, कठिन तपस्या करके, गम्भीर ध्यान करके, 'पुरुष' की 'प्रकृति' का, आत्मा-जीवात्मा-परमात्मा के स्वभाव का, स्वरूप का, दर्शन किया, और उस ज्ञान की शिक्षा अधिकारियों को दिया। तब राज-कार्य, समाज-धारण-कार्य, धर्म अर्थ काम मोक्ष के साधन का कार्य, अच्छी रीति से चलने लगा। राजाओं को प्रजापालन रूपी अपना परम कर्तव्य करने में सहायता देने के लिये, उचित मर्यादा और नियम का विधान करने के लिये, चित्त को स्वास्थ्य और हृदय को साहसी और शूर बनाने के लिये, यह महा ज्ञान 'दृष्टि', ज्ञानरूपी 'दर्शन', यह आत्मविद्या, सम्यग्दृष्टि, 'सम्यग्दर्शन' महर्षियों ने राजाओं को पहिल पहिल सिखाई। इसलिये इस का नाम राजविद्या, राजगुह्य, पड़ा।"

शुक्रनीति में कहा है कि राजा को चार विद्या सीखनी चाहिये। आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, और दण्डनीति। आजकाल के शब्दों में (१) 'फिलासोफी' और 'साइकालोजी', (२) 'रिलिजन', 'थियोलाजी' और 'एथिक्स' या 'मोरल्स', (३) 'इकोनामिक्स' (४) 'पालिटिक्स' और 'ला'।[2]

मनु ने भी कहा है—

> त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ।
> आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः ॥

वृद्धाश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन् ।
तेऽभ्योधिगच्छेद्विनयं विनीतात्मापि नित्यशः ॥
आन्वीक्षिकीमात्मविद्यां वार्त्तारम्भांश्च लोकतः ।
त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दण्डनीतिं च शाश्वतीम् ॥

---

[1] Patriarch prophet

[2] Philosophy, psychology, religion theology, ethics, morals economics politics, law

सूक्ष्मता चान्ववेक्षेत योगेन परमात्मनः ।
देहेषु च समुत्पत्तिमुत्तमेष्वधमेषु च ॥

"इसको जान कर, आत्मा के तात्त्विक स्वरूप को और सुख-दुःख के तत्त्व को पहिचान कर, हर्ष-शोक के द्वंद्व मोह में नही पडता, शान्त स्वस्थ चित्त से, फल में आसक्त न होकर, सब कर्तव्यकर्म दृढ़ता से करता है। यह आन्वीक्षिकी विद्या सब विद्याओं का दीपक, सब कर्मों का उपाय, सब धर्मों का आश्रय है। राजा को चाहिये कि विद्वान् वृद्धों की नित्य सेवा-शुश्रूषा करै, उनसे विनय (डिसिप्लिन) सदा सीखता रहै; आन्वीक्षिकी अर्थात् आत्मविद्या को, और धर्मशास्त्र और दण्डनीति को भी उनसे सीखै; तथा वार्ता अर्थात् वाणिज्य व्यापार का ज्ञान, लोक-व्यवहार को देख कर, सीखै।" राजकार्य करने वाले के लिये आत्मज्ञान परम उपयोगी है, सब कर्मों का उपाय है, सब धर्मों का आश्रय है—यह बात ध्यान देने की है। सन्यासावस्था में तो, सब योनियो मे आत्मा की उत्तम और अधम गति का 'अनु-अव-ईक्षण' विचार, द्वारा पीछे-पीछे चल कर, खोज कर, देखना पहिचानना, उचित है ही।

बिना सदाचार के वेदान्त व्यर्थ

गीता में भी स्पष्ट कहा है, और दो बार कहा है—

लभते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥
सनियम्येंद्रियग्राम सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः ॥

"सर्वभूतों, प्राणियों, के हित में सर्वदा रत हुए विना ब्रह्मज्ञान सम्पन्न नही होता।"

आचारहीन न पुनन्ति वेदाः,
यद्यप्यधीताः सह षड्भिरङ्गैः ।
छन्दांस्येन मृत्युकाले त्यजन्ति,
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥

"दुराचारी जीव को, मृत्यु के समय, षड् अङ्गों सहित भी पढ़े हुए वेद, सब छोड़ कर चले जाते हैं, जैसे पर होने पर, चिड़ियों के बच्चे, मल से भरे खोते को छोड कर उड जाते है।" दुराचारी जीव का चित्त तो उन्ही दुराचार की बातों को अन्तकाल में याद करता है, सब पढ़े लिखे को स्वयं भुला देते हैं।

भुला देता है। वेद-वेदान्त की पुस्तकों को कितना भी रट डालै, पर यदि तदनु-कूल शुद्ध सदाचार न हो; घटाकाश, पटाकाश, मठाकाश, रज्जुसर्प, जपाकुसुम, शुक्तिरजत, मरुमरीचिका, जगन्मिथ्या, ब्रह्ममाया, आदि शब्द जिह्वा से कितना भी बोलै, पर यदि मन से निर्मम, निरहङ्कार, निस्स्वार्थ, शांत, दान्त, मैत्र, और शरीर से सद्धर्मानुसारी न हो; अथवा, यदि मन से और शरीर से, मनुष्य-सुलभ, अविद्याकृत, भूल चूक पाप हुए हैं, तो उनका पश्चात्ताप, प्रख्यापन, प्रायश्चित्त न किया हो, और गीता के शब्दों में, 'सम्यग्व्यवसित' न हो गया हो; तो उस मनुष्य को सद्गति नहीं मिल सकती।

ख्यापनेना,ऽनुतापेन, तपसा,ऽध्ययनेन च ।
पापकृन् मुच्यते पापात्...प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः ॥
यथा यथा नरोऽधर्मं स्वयं कृत्वाऽनुभाषते ।
तथा तथा, त्वचेवाऽहिः, तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥
यथा यथा मनस्तस्य दुष्कृत कर्म गर्हति ।
तथा तथा शरीर तत् तेनाऽधर्मेण मुच्यते ॥
कृत्वा पाप तु, सतप्य, तस्मात्पापात् प्रमुच्यते ।
नैव कुर्याम् पुनरिति निवृत्त्या पूयते तु सः ॥ (मनु० अ० ११)
य य वाऽपि स्मरन् भाव त्यजत्यते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौंतेय सदा तद्भावभावितः ॥
अंतकाले च मामेव स्मरन्, मुक्त्वा कलेवरम् ॥
यः प्रयाति स मद्भावं याति, नाऽस्त्यत्र सशयः ॥ (गीता)
याऽन्ते मतिः, सा गतिः । (आभाणकः)

"अपने किये पाप पर 'पछ्तता' ('पश्चात्ताप') कर, किसी सज्जन सत्पुरुष से उसका 'प्रख्यापन' कर, तथा पाप का उचित 'प्रायश्चित्त' करके, मनुष्य पाप से छूटता है। ज्यो ज्यों वह पछताता है, ज्यों ज्यों वह दूसरों से कहता है कि मुझसे यह पाप हुआ, ज्यों ज्यों वह उस अधर्म कर्म की अपने मन में निन्दा करता है, ज्यों ज्यों निश्चय करता है कि अब फिर ऐसा न करूगा, त्यों-त्यों उसका मन और शरीर शुद्ध होता है, और उस पाप से मुक्त होता है, जैसे सर्प पुरानी केंचुली से छूटता है। शरीर छोड़ने के समय, जिस भाव का स्मरण जीव करता है, वही भाव उसको नये जन्म मे पुनः मिलता है। और जिस भाव का, अपने जीवन काल में उसने अधिकतर अभ्यास किया है, उसी का स्मरण अन्त समय होता है।" इसलिये, तीन आश्रमों में, धर्मानुसार, तीनो सहजात ऋणों को चुका कर, और सांसारिक भावो और वासनाओं का भोग और व्यय और क्षय करके, जो जीव, चतुर्थ आश्रम में, निष्काम, निर्मम, निरहंकार होकर, अतकाल में, सर्वव्यापी, 'मां' 'अह', आत्मा की धारणा करता हुआ, शरीर को छोड़ता है, वह, निःसशय, परमात्मा को पाता है,

'मद्-भाव' को, 'मेरे' स्वभाव को, परमात्म-भाव, ब्रह्मभाव, सर्वव्यापकत्व भाव को, प्राप्त होता है, ब्रह्म में लीन हो जाता है।

धर्मसार, धर्मसर्वस्व, की नीवी—सर्वव्यापी चैतन्य आत्मा

और एक तत्त्व की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। सब धर्मों, सब मज़हबों, का यह निर्विवाद सिद्धांत है कि,

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं, श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्॥
यद्यदात्मनि चेच्छेत तत्परस्यापि चिंतयेत्॥ (म० भा०)
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥ (गीता)

"जैसा अपने लिये चाहो वैसा दूसरे के लिये भी चाहो। जो अपने लिये न चाहो वह दूसरे के लिये भी मत चाहो। जो अपने ऐसा सब का सुख-दुःख समझता है, वही सच्चा, परा काष्ठा का, योगी है।"

अफ़्ज़लुल् ईमानिउन् तोहिब्बा लिन्नासे मा तोहिब्बो
लि-नफ़्सिका; व तक्रहो लहुम् मा तक्रहो लि-नफ़्सिका॥ (हदीस)
डू अन्टु अदर्स ऐज यी वुड दैट् दे शुड् डू अन्टु यू। दिस इज़् दि होल् आफ़् दि ला ऐण्ड दि प्राफेट्स॥ (बाइबल)

आचार-नीति के इस व्यापक सिद्धांत को, जैसे मनु, कृष्ण, व्यास आदि ने कहा है, वैसे ही बुद्ध, जरथुस्त्र, वर्धमान महावीर जिन, मूसा, ईसा, मुहम्मद आदि अवतारों, महर्षियों, पैगम्बरों, मसीहों, रसूलों, नबियों, ऋषियों ने भी कहा है। केवल भाषा का भेद है, अर्थ का अणुमात्र भी भेद नहीं है। सिद्धान्त को कह कर सब यह कहते हैं कि 'यही धर्मसर्वस्व है', यही सब से ऊंचा 'अफ़्ज़ल्' ईमान है, यही 'होल' अर्थात् समग्र धर्म और उपदेश है।

पर इस आचार के सिद्धान्त का हेतु क्या है? इसका हेतु एकमात्र आत्मज्ञान का परम सिद्धान्त ही है, अर्थात् एक परमात्मा, एक चैतन्य, सब में व्याप्त है। यदि ऐसा न हो, तो कोई भी स्थिर हेतु उस आचार-सिद्धान्त के लिये नहीं मिलता। यदि उपकर्त्ता वा अपकर्त्ता, उपकृत वा अपकृत से, सर्वथा भिन्न, सर्वथा पृथक्, होता, तो वह उसका उपकार वा अपकार ही न कर सकता, न लौट कर उसका फल उसको मिल सकता। दोनों सदा सम्बद्ध हैं; सब में एक ही चेतना व्याप्त है, इसी कारण से किसी को सुख वा दुःख देना, पुण्य वा पाप करना, अंततः अपने को ही सुख या दुःख देना है, अपने ही साथ पुण्य वा पाप करना है। इसी लिये पुण्य वा पाप का फल अवश्य मिलता ही है; क्योंकि सचमुच कोई दूसरा तो है ही नहीं जिसको सुख या दुःख दिया गया हो; 'दूसरा'—यह भ्रम है। भ्रम से 'दूसरा' समझ के 'दूसरे'

को दिया; असल में अपने ही को दिया। इस लिये घूम फिर कर, "शनैरावर्त्त-मानस्तु" (मनु०), वह सुख वा दुःख, जहाँ से दिया जाता है, वही वापस आ जाता है। इसी हेतु से पाप के पीछे पश्चात्-ताप, और पुण्य के पीछे सन्तोष, पश्चात्-तोष, लगा हुआ है। अपने भीतर से ही, अन्तर्यामी, अन्तःसाक्षी, क्षेत्रज्ञ, अन्तरात्मा की प्रेरणा से ही, पाप के लिये पश्चात्ताप, फिर प्रख्यापन, और प्रायश्चित्त होता है। कभी देर में, कभी जल्द। इस प्रकार से, व्यापक 'ब्रह्म' ही व्यापक 'धर्म' का; सनातन परमात्मा ही, सनातनधर्म का, धर्मसर्वस्व का; वेद-वेदान्तोक्त आत्मा ही, वैदिक धर्म का; मानव (हृदि अय) हृदय में स्थित चैतन्य ही, मानवधर्म का, धर्मसार और सार-धर्म का; एकमात्र आश्रय है।

'कारावास-परिष्कार', 'सैको-ऐनालिसिस', आदि

यहाँ प्रसंग-प्राप्त होने से, एक बात लिख देना उचित जान पड़ता है। तथा, इस ग्रन्थ का एक मूल सिद्धान्त यह है, कि अध्यात्मशास्त्र जीवन के सभी व्यवहारों के शोधन के लिये परमोपयोगी है, इसलिये भी वह बात न्याय-प्राप्त है। वह यह है। केवल पश्चात्ताप (नदम) अथवा प्रख्यापन, (एतराफ़), भी, पाप के मार्जन के लिये पर्याप्त नहीं है; प्रायश्चित्त, (कफ्फ़ारा), भी जरूरी है; अर्थात् पाप से जितना दुःख किसी को पहुँचाया है, उसके तुल्य स्वयं कष्ट सहकर, उसको, या उसके स्थानीय किसी दूसरे को, सुख पहुँचा देना चाहिये। आजकाल 'प्रिज़न रिफ़ार्म'[1], कारागार-सुधार, की ओर जनता और अधिकारियों का ध्यान बहुत घूम रहा है। लोग विचारने लगे हैं कि क़ैदियों को, कष्ट नहीं, शिक्षा देना चाहिये; उनके ओर, वैर-निर्यातन (रिवेंज) और दंड ('पनिशमेंट')[2] का भाव नहीं, दया और सुधार का भाव रखना चाहिये। यह भाव एक हद तक, निश्चयेन उचित है। पर, याद रखना चाहिये, कि सब मनुष्य, अतः सब अपराधी ('मुज्रिम'), एक प्रकृति (फ़ित्रत) के नहीं होते; चतुर्विध प्रकृति के लिये चतुर्विध दंड विहित हैं। और, अपराधी के ऊपर केवल दया करने का फल यह होगा कि अपराध बढ़ेंगे, और कारावास को, दुष्ट बुद्धि के लोग, आराम-घर समझ कर, वहाँ अधिकाधिक जाने का यत्न करेंगे। इसलिये, आवश्यक है, कि अपराधी को इस प्रकार की 'शिक्षा' दी जाय, जिससे उसके मन में सच्चा पश्चात्ताप 'उत्पन्न हो', और वह उस प्रकार का 'प्रायश्चित्त' भी स्वयं करे। 'सैको-ऐनालिसिस'[3] के शास्त्री

---

[1] Prison-reform.

[2] Revenge, punishment.

[3] Psycho-analysis इस ग्रन्थ के तृतीय अध्याय को देखिये; उसमें इस 'नये शास्त्र' की चर्चा की गई है।

लोग भी, इधर उधर भूल भटक कर, धीरे-धीरे, इसी निर्णय पर स्थिर होते जाते हैं, कि 'न्यूरोटिक', ('अपस्मार' आदि के प्रकार के) रोगी का 'री-एड्यूकेशन' होना चाहिये। जो गंभीर अर्थ पुराने 'री-जेनरेशन' 'री-बर्थ'[1] का है, उसका एक अंश इस नये शब्द में यथाकथचित् आ जाता है। संस्कृत के बह्वर्थपूर्ण शब्द, 'द्वितीय-जन्म', 'उप-नयन-संस्कार', 'पुनः-संस्कार' आदि, इसी भाव को अधिक गभीरता पूर्णता से कहते हैं।

दर्शन की पराकाष्ठा

प्रस्थान के भेद से दर्शनो का भेद होते हुए भी, दर्शन की परा काष्ठा यही है कि, जैसे पंचशिखाचार्य ने कहा है, 'एकमेव दर्शनम्, ख्यातिरेव दर्शनम्।' इस सूत्र की चर्चा पहिले भी इस अध्याय में आ चुकी है। 'सम्यक् ख्यान ख्यातिः, सख्यान, संख्या, सांख्य।' अच्छी रीति से जानना। 'सख्या' शब्द गिनती का वाचक इस लिये हो गया है कि, जब किसी विषय के सब अगों की गिनती गिन ली जाती है, तब वह सर्वथा विदित, निश्चित, हो जाता है। विश्व में पचीस ही तत्त्व हैं, ऐसो गिनती जब गिन ली, तब विश्व 'सख्यात', सम्यगज्ञात, हो गया, और इस सम्यक्-ख्यान-शास्त्र का नाम 'सांख्य' शास्त्र हो गया। ऐसा भान होता है कि, भगवद्गीता के समय में सांख्य और वेदान्त का प्रायः वैसा भेद नहीं माना जाता था जैसा अब। वेदांत में सांख्य अंतर्गत था, तथा योग भी। गीता का श्लोक है।

> यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
> तत एव च विस्तार, ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥

यहां, भूतों के पृथग्भाव को एकस्थ देखना—यह विशेष रूपसे वेदान्त का विषय कहा जा सकता है; तथा, उस एक में से सब पृथग्-भाव के विस्तार की, प्रधान, महान्, अहंकार, मनस्, दस इंद्रिय, पच तन्मात्र, पच महाभूत, और इनसे बनी अनत 'असख्य' सृष्टि का 'सख्यान'—यह 'सांख्य' का विशेष विषय कहा जा सकता है। एक को 'ज्ञान', 'प्रज्ञान', 'मेटाफिजिक्स', 'फिलासोफी', दूसरे को 'विज्ञान', 'फिजिक्स', 'सायस' कह सकते हैं।[2] परम आत्मा में, मन का, विविध अभ्यास और वैराग्य से, योजन करना 'योग' है।

दर्शन तो एक ही है। आत्मा को, पुरुष को, प्रकृति से अन्य जानना, 'मै यह शरीर नहीं हूँ', ऐसा जानना, यही आत्मा का दर्शन है; और कोई दूसरा दर्शन नहीं है। पुरुष, परमात्मा, के स्वरूप को जानना; प्रकृति, स्वभाव, माया, के स्वरूप को जानना, इन दोनों के परस्पर अन्यत्व-रूपी इतरत्व-रूपी सम्बन्ध

---

[1] Neurotic, re-education, re-generation, re-birth

[2] Metaphysics, Philosophy, Physics, Science,

को जानना, अर्थात् यह जानना कि पुरुष 'की' होती हुई भी प्रकृति, पुरुष से अन्य है, भिन्न है; तथा 'अन्यत् न' 'अन्य' पदार्थ, परमात्मा से अन्य कोई वस्तु, है ही नही, असत् है; एक चेतन चिन्मय परमात्मा की एक चेतना का एक स्वप्न, सब अपने भीतर भीतर ही, ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञान-मय, एष्टा-इष्ट-इच्छा मय, कर्त्ता-कर्म-क्रिया-मय, भोक्ता-भोग्य-भोग-मय सुख-दुःख-मय, समस्त ससरण, खेल है क्रीड़ा, लीला, मनो-विनोद है—यही एक मात्र 'दर्शन' है।

इस वेदांत-दर्शन से, इसी मे, अन्य सब दर्शनों का समन्वय हो जाता है।

रुचीना वैचित्र्याद् ऋजुकुटिलनानापथजुषा
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ॥

सर्वसमन्वय

दर्शनों पर अनन्त पोथियां लिखी गई हैं, लिखी जा रही हैं, और लिखी जायँगी।

नास्त्यंतो विस्तरस्य मे।

इस विस्तार में न पड़ कर, एक दो सूचना, दर्शन के ज्ञानसार, इच्छासार, और क्रियासार अंगों के विषय में, कर देना उचित जान पड़ता है। आर्ष-बुद्धि सदा, समन्वय, सम्मेलन, सौमनस्य, साम्मनस्य, सम्वाद, सगति, विरोध के परिहार, कलह के शमन, पर अधिक ध्यान देती रहती है।

सर्वसम्वादिनी स्थविरबुद्धिः।

इति नाना प्रसंख्यानं तत्त्वाना कविभिः कृतम्।
सर्वं न्याय्यं युक्तिमत्त्वात्, विदुषा किमसाम्प्रतम् ॥ (भागवत)
समानमस्तु वो मनो, समाना हृदयानि वः।
स गच्छध्वम्, स वदध्वम्, स वो मनांसि जानताम् ॥ (वेद)

"बूढ़े आदमियों की बुद्धि, 'विवाद' करते हुए युवकों में 'सम्वाद,' मेल, कराने की ही फिक्र में रहती है। एक मन के, एक हृदय के, हो जाओ; समान विचार विचारो, समान बात बोलो, साथ साथ चलो। सृष्टि के, जगत् के, संसार के, मूल तत्त्वों की गिनती, व्याख्या, सख्या, कवियों ने नाना प्रकार से की है; सभी प्रकार, अपनी अपनी दृष्टि मे, न्याय-संगत है; सब के लिये विद्वान् लोग युक्तियां बताते ही हैं; इनमें कोई अपरिहार्य विरोध नहीं है।"

यह बात इसी से प्रसिद्ध होती है कि, 'वेद भगवान्' के मूर्त्त रूप की उत्प्रेक्षामय कल्पना में, सब विद्या, सब शास्त्र, उसी के अंग और उपांग बनाये गये हैं। किसी का किसी से विरोध नहीं है, प्रत्युत सबकी सबके साथ सह-कारिता सहायता है। जैसा पहिले कहा,

मूर्तिमान् भगवान् वेदो राजतेऽङ्गैः सुसङ्गतैः ।
छन्दः पादौ स्मृतावस्य, हस्तः कल्पोऽथ पठ्यते ॥
मुखं व्याकरणं प्रोक्तं, शिक्षा घ्राणं तथोच्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुः निरुक्तं श्रोत्रमीर्यते ॥
आयुर्वेदः स्वयं प्राणः, धनुर्वेदो महाभुजौ ।
गान्धर्वो रससम्प्लावः शिल्पवेदोऽस्थिपंजरः ॥
कामशास्त्रं तु जघनं, अर्थशास्त्रमथोदरम् ।
हृदयं मानवो धर्मः, मूर्धा वेदान्त इष्यते ॥

"मूर्तिमान् भगवान् वेद के पैर छन्द हैं, हाथ कल्प, मुख व्याकरण, नासिका शिक्षा, नेत्र ज्योतिष, कान निरुक्त, प्राण आयुर्वेद, भुजा धनुर्वेद, शरीर मे रसों का सम्प्लाव गांधर्ववेद, अस्थि-पंजर शिल्पवेद (स्थापत्यवेद, अर्थवेद) कमर काम-शास्त्र, उदर अर्थ-शास्त्र, हृदय मनूपदिष्ट मानव-धर्म, और मूर्धा वेदान्त है।"

स्वप्न और भ्रम भी, किन्तु नियम-युक्त भी

सब शास्त्रों के मूर्धन्य, इस अध्यात्म-शास्त्र का निष्कर्ष यही है कि, मैं, आत्मा, परमात्मा, अजर, अमर, अक्षर, अखंड, अव्यय, अक्रिय, अविनाशी, अपरिणामी, देश-काल-क्रिया से अतीत, अवस्था-निमित्त-भेद से परे, सब नामों-रूपों-कर्मों का धारण करने वाला भी, और उन सब से रहित भी, नित्य, सर्वगत, सर्वव्यापी, अचल, स्थाणु, सनातन, एकरस, चैतन्यमात्र 'है' और 'हूँ'। ये सब विशेषण, आत्मा में, 'मैं' में, और 'मैं' मे ही, किसी अन्य पदार्थ में नहीं, उपयुक्त चरितार्थ होते हैं। "मैं यह शरीर नहीं 'है', नहीं 'हूँ'"।

"नाहं देहो, न मे देहो"। यह ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-युक्त इच्छामय शरीर भी, और 'इदं', 'एतत्', 'यह' सब विषय रूप प्रतिक्षण-परिणामी, परिवर्ती, आवर्ती, विवर्ती, सदा विकारी, देश-काल-क्रिया से परिमित, नानामय, भेद-मय, नाम-रूप-गुण दोषमय, नश्वर, चंचल, दृश्य, प्रत्यक्ष ही चक्रवत् चक्कर खाने वाला, 'भ्रमने' वाला, कुटिल गोल घूमने वाला, (कुटिलं च सततं च अहर्निशं गच्छति, जंगम्यते, इति) जगत—'यह' सब मेरा, 'मैं' का, स्वप्न है, मन का खेल है।

पर खेल और स्वप्न होता हुआ भी नियमयुक्त, नियतियुक्त, मर्यादा-बद्ध, 'आर्डर्ड',[1] क़ायदों का पाबंद, है। द्वन्द्वमय है, इसी से नियमित है। जितना आय उतना व्यय, जितनी क्रिया उतनी प्रति-क्रिया, जितना गमन

[1] Ordered (i.e. governed by laws, by a 'Whirled' World-Order)

उतना आगमन, जितनी रात उतना दिन, जितना उजेला उतना अँधेरा, जितना लहना उतना पावना, जितना लेना उतना देना, जितना रोना उतना हँसना, जितना सुख उतना दुःख, जितना जीना उतना मरना, जितना एक ओर जाना उतना दूसरी ओर जाना, घूम फिर कर हिसाब बराबर हो जाना, सकलन व्यवकलन, गुणन विभाजन, मिल कर शून्य हो जाना—यही मुख्य नियम है। तभो तो दोनो को मिलाकर, दोनो का परस्पर आहार विहार परिहार संहार कराकर, सदा निर्विकार, महाशून्य, महाचैतन्य, एकरस, क्रमातीत, 'ला-शै', 'ला-ब-शर्त्ति-शै', 'ब-शर्त्ति-ला-शै', 'जाति-ला-सिफात', 'जाति-सादिज', सिद्ध होता है; और तभी अनन्त असख्य द्वन्द्वो के दोनो प्रतिद्वन्द्वियों के, जोड़ों के, 'जिहैन' के, जौजैन' के, क्रमिक प्रवर्त्तन, निवर्त्तन, विवर्त्तन, आवर्त्तन, अनुवर्त्तन से, ससार में सर्वत्र, सर्वदा, सर्वथा, प्रतिक्षण, प्रतिस्थल, प्रतिप्रकार, कुटिल गमन, चक्रवद् भ्रमण, भ्रम', देख पड़ता है। शरीर मे रुधिर चक्कर खा रहा है आकाश में 'ब्रह्म के अण्ड', पृथ्वी, चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, तारा चक्कर खा रहे हैं, श्वास-प्रश्वास जागरण-शयन, आहरण-विसर्जन. दिन-रात, शरद्-हेमन्तौ, शिशिर-वसन्तौ, वर्षा-ग्रीष्मौ, चक्कर खा रहे हैं।

संसार के जितने भी, जो भी, नियम हैं, वे सब, इसी क्रिया-प्रतिक्रिया, द्वंद्वी-प्रतिद्वन्द्वी, की तुल्यता और चक्रवद्भ्रमण रूपी मुख्य नियम के, जहाँ से चलना वहीं घूमकर लौटने के, अवांतर रूप ही हैं।

मुख्य द्वंद्व, मानव-जीवन में, जन्म-मरण, वृद्धि-क्षय, जागरण-स्वपन, सुख-दुःख हैं। इनके अवांतर मुख्य द्वन्द्व, जीवात्मा की व्यावहारिक दृष्टि से, ज्ञानांग में सत्य-असत्य (तथ्य-मिथ्या), इच्छांग में काम-क्रोध (राग-द्वेष), क्रियांग में पुण्य-पाप (उपकार-अपकार, धर्म-अधर्म) हैं। परमात्मा की पारमार्थिक दृष्टि से, "द्वंद्वैर्विमुक्ताः सुख-दुःख-सज्ञैः" की दृष्टि से, 'चिद्-अग' में, सत्यासत्य के परे, और दोनों को सग्राहक, मा-या' ('ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या'); 'आनंद-अग' में, राग-द्वेष के परे, 'शांति' ('योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते'); 'सद्-अग' में, पुण्य-पाप से परे, 'पूर्णता', 'निष्क्रियता', (पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते', 'न पुण्यं न च वा पापं इत्येषा परमार्थता'।

पारमार्थिक 'अभ्यास-वैराग्य' के द्वन्द्व से सांसारिक 'आवरण-विक्षेप' द्वन्द्वों का जय

मायादेवी अर्थात् 'अविद्या-अस्मिता' की दो शक्तियां, 'आवरण' और 'विक्षेप'; इन शक्तियों के प्रथम युग्म सन्तान कहिये, अस्त्र-शस्त्र कहिये,

काम-क्रोध, राग-द्वेष, हैं, ये ही विविध रूप धारण करके, जीव की आँख पर, बुद्धि पर, 'दर्शन-शक्ति' पर, 'आवरण', शारीर अस्मिता-अहंकार का पर्दा, (मैं अनन्त अनादि अजर अमर परमात्मा नहीं हूँ, मैं यह मूठी भर हाड़ मांस का नश्वर शरीर हूँ, ऐसे भ्रम का पर्दा) डाल कर, उसको अन्धा बनाकर, सांसारिक शरीर-सम्बन्धी क्षोभों से 'विक्षिप्त' कर देते हैं, उसका 'वि-क्षेपण' 'प्रक्षेपण' कर देते हैं; 'सत्य-प्रिय-हित' मार्ग से बँहका कर, असत्य-अप्रिय-अहित, अनुचित, अधर्म्य मार्ग पर, धक्का देकर दौड़ा देते हैं, लुढ़का देते हैं, धकेल देते हैं, इधर-उधर फेंक देते हैं। साधारण वार्त्तालाप में कहा जाता है कि काम-क्रोध-लोभ आदि आदमी को अंधा कर देते हैं, उसको कुराह में दौड़ा देते हैं।

काम एष क्रोध एष...विद्ध्येनमिह वैरिणम्।..
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्॥

कृष्ण के चार हज़ार बरस बाद मौलाना रूम ने भी इस तथ्य को पहिचाना और कहा है,

ख़श्मो शह्वत मर्द रा अह्वल कुनद।
ज़िस्तिक़ामत रूह रा मुब्दल कुनद॥
चूँ ख़ुदी आमद ख़ुदा पोशीदः शुद।
सद हिजाब अज़ दिल ब सूये दीदः शुद॥

ख़श्म और शह्वत, क्रोध और काम, आदमी को अह्वल, केकर, भेंगा, तिर्यग-दृष्टि, बना देते हैं; रूह को, जीव को, इस्तिक़ामत से, सीधे मार्ग से बदल कर, टेढ़ी राह पर ले जाते हैं। जहाँ ख़ुदी (स्वार्थ) आई, वहाँ से ख़ुदा (परमार्थ) छिप जाता है और दिल से सौ हिजाब, पर्दे, निकल कर, आँखों पर पड़ जाते हैं।

जीव को, जीवन्मुक्तावस्था में भी, इनसे सदा सावधान रहना और सदा लड़ते ही रहना चाहिये। नहीं तो

'विरक्तमन्यानां भवति विनिपातः शतमुखः।

"जो मनुष्य अपने को विरक्त मानने कहने लगते हैं, वे सौ सौ ओर नीचे गिरते हैं।"

परमात्मा के सर्वव्यापी और सर्वान्तर्यामी, शारीर-'अहंता' से अतीत, सार्विक-'अहंता के 'अभ्यास' से 'आवरण' शक्ति को, और सांसारिक विषयों की ओर 'वैराग्य' से 'विक्षेप' शक्ति को, तथा शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान रूप साधन-षट्क से काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मत्सर रूप षड्‌रिपु

को, जीतना चाहिये [1]। यदि इसमे कठिनाई हो, तो इन्ही के बल से इनको जीतने का जतन करना चाहिये, 'कंटकेनैव कंटकं'। कुछ चोरों को आत्मीय बना कर, अपना कर, और पहरुआ पुलिस यामिक चौकीदार बना कर, बाकी चोरो को रोकना चाहिये । यथा—

कामश्चेद् यदि कर्त्तव्यः, क्रियतां हरिपादयोः ।
क्रोधश्चेद् यदि न त्याज्यः, पापे तं सुतरां कुरु ॥
लोभो यद्यनिवार्यः स्यात्, धार्यतां पुण्यसञ्चये ।
मोहश्चेद् बाधते गाढं, मूढो भक्त्या हरेर्भव ॥
मदो मादयति त्वां चेद्, विश्वप्रेममदोऽस्तु ते ।
मत्सरो यदि कर्तव्यो, हेतौ तं कुरु मा फले ॥

'हरति अघ दुःख इति हरिः, हरः;' परमात्मा के कला-रूप, विभूतिरूप, किसी उत्तम इष्टदेव के, 'हरि' के वा 'हर' के, चरणों के दर्शन-स्पर्शन को घोर कामना करो। 'आशिक़े ज़ार हूँ मैं, तालिबे आराम नहीं'। क्रोध नही रुकता, तो पाप के ऊपर दिल खोल कर क्रोध करो न? यदि लोभ नहीं मानता, तो पुण्य के सञ्चय करने मे उसको लगा दो, और खूब पूरा करो। यदि मोह बाढ़ पर है, तो हरि-भक्ति में, हर-भक्ति में, अल्ला के इश्के-हक़ीक़ी मे, 'गाड' 'ख़ुदा' के 'डिवोशन' में, लोकसेवा में, 'ख़िदमते-ख़ल्क़' में, 'सर्विस आफ ह्यूमैनिटी' मे, मूढ़-मूढ़ हो जाओ।[2] यदि मद जोर करता है, तो विश्वप्रेम के मद से मत्त, मस्त, भले ही होवो। यदि ईर्ष्या मत्सर का ग़लबा जज़बा है, तो फल पर हसद मत करो, फल के हेतु पर डाह पेट भर के करो; अर्थात् यह ईर्ष्या मत करो, कि फ़लाना ऐसा सुखी है और हाय मैं नहीं हूँ; बल्कि यह ईर्ष्या करो, कि जिन गुणों के कारण वा जिस पुण्यकर्म के हेतु से, ख़ैरात और सत्राव के काम करने की वजह से, उसको ईश्वर ने, (या क़िस्मत, कर्म, स्वभाव, नियति, इच्छा, 'चान्स', 'फ़ेट', 'मैटर', 'नेचर',[3] ने, जिस किसी शब्द पर तुम्हारा मन लुभावै और विश्वास करै),

---

[1] अस्मिता-अहंकार से राग-द्वेष की, तथा इन दोनो से षड् की, और उनसे सैकड़ों मानस भाव विकारों, क्षोभों, संरंभों, वेगों वा उद्वेगों, 'ईमोशन्स', 'जज़बात' की, उत्पत्ति कैसे होती है—इसका वर्णन, विस्तार से, The Science of the Emotions नाम की अंग्रेज़ी पुस्तक में, तथा संक्षेप से, "पुरुषार्थ" नाम की पुस्तक के 'रस-मीमांसा' नामक अध्याय में, मैंने करने का यत्न किया है।

[2] God, devotion, service of humanity.

[3] Chance, Fate, Matter; Nature

ऐसा सुख दिया है, वैसा पुण्यकर्म मैं क्यों नहीं करता। इस रीति से यदि इन छः रिपुओं के, अन्तरारियों के, अन्दरूनी दुश्मनों के साथ व्यवहार किया जाय, तो इनके रूप का परिवर्त्तन हो कर, ये छः सच्चे मित्र बन जायँ, ऐन हकीकी दोस्त हो जाय। अर्थात्, भक्ति; दुष्ट-दंडन शक्ति; परोपकारार्थ-विभूति-सञ्चय; करुणा-वात्सल्य के साथ-साथ 'धर्मभीरुता', (क्योंकि मोह में करुणा, तथा भय-प्रयुक्त किं-कर्त्तव्य का अज्ञान, दोनों मिश्रित हैं); शौर्य-वीर्य; दुर्बल-रक्षा—इन छः के रूप में ये छः परिणत हो जायँ। यद्यपि पुण्यकर्म सोने की साँकल, और पापकर्म लोहे की साँकल है, पर आत्मदर्शी को भी, 'लोकसंग्रहमेवापि सपश्यन् कर्तुमर्हसि', 'मामनुस्मर युध्य च', के न्याय से, अपने हाथों अपने गले में सोने की शृंखला डालना, और फिर समय आने पर स्वयं उतार कर दूसरों को सौंप देना, उचित ही है। इसकी चर्चा भी उपनिषदों में, तथा मनुस्मृति में, की है। आत्मदर्शन का यह आवश्यक व्यावहारिक उपयोग है।

दर्शन और धर्म से स्वार्थ भी, परार्थ भी, परमार्थ भी

केवल अनन्त वादों पर विवाद करके, बाल की खाल निकाल करके, नितांत व्यर्थ कालक्षय और शक्ति का घोर अपव्यय करना, यह दर्शन का उद्देश्य नहीं है। दर्शन तो वह पदार्थ है, जिससे जनता का, ऐहिक भी, आमुष्मिक भी, पारमार्थिक भी, बाह्य सांसारिक व्यवहार में और आभ्यन्तर आध्यात्मिक व्यवहार में भी, कल्याण सधै; यदि नहीं सधता, तो जानना कि सच्चा दर्शन नहीं मिला, कोई कच्चा दर्शन ही मिला।

यदि शुद्ध सत्य दर्शन का प्रचार हो, (निरी कठ-हुज्जत और शुष्क तार्किक नियुद्ध मल्लयुद्ध का नहीं), तो अन्य सब कामों की अपेक्षा अधिक कल्याण, लोक का, इससे होगा। क्योंकि परस्पर-प्रेम, परस्पर-सदाचार, सब कर्मों के उपाय, सब धर्मों के आश्रय, सब धर्मों के समन्वय, सब वादों के संवाद, सब शास्त्रों के मर्म, की कुञ्जी इसी में है।

आश्रयः सर्वधर्माणां, उपायः सर्वकर्मणाम्।
प्रदीपः सर्वविद्यानां, आत्मविद्यैव निश्चिता॥

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयस-सिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिक-सूत्र)

"जिसमें इस लोक में अभ्युदय की, त्रिवर्ग की, अर्थात् 'धर्म' से अर्जित रक्षित 'अर्थ' द्वारा 'काम' की, सिद्धि हो, तथा 'निःश्रेयस', 'मोक्ष', की भी सिद्धि हो, वही तो 'धर्म' है, 'सनातन धर्म' है"। 'सनातन' क्यों? तो,

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः। (गीता)

"सनातन, नित्य, सर्व-गत, सर्व व्यापी, स्थाणु के ऐसा निश्चल, एक ही पदार्थ है—परमात्मा, ब्रह्म, चैतन्य, 'अहम्', 'मैं'।"

सोऽहमित्यग्रे व्याहरत् तस्मादहं-नामाऽभवत् (बृ०उ०)
अहमिति सर्वाभिधानम्। (नृसिंह उ०)

"सब का नाम, सर्वनाम, 'अहम्', 'मैं', है, सभी अपने को पहिले 'मैं', तब पीछे अपर ('और', अन्य) नाम से, कहता है। 'मै' राम, 'मैं' कृष्ण, 'मैं' बुद्ध, 'मैं' मूसा, 'मैं' जरथुस्त्र, 'मैं' ईसा, 'मै' मुहम्मद, 'मै' नानक, 'मैं' गोविन्द।

इस सनातन ब्रह्म के स्वभाव पर, इसकी प्रकृति के तीन गुणो पर, सर्व-काल मे प्रतिष्ठित, सर्वदेश-काल-अवस्था मे अबाध्य, जो धर्म हो, वही 'सनातन धर्म' हो सकता है। वह, गुण-कर्म के अनुसार, 'वर्ण–आश्रम' की व्यवस्था द्वारा, सामाजिक और वैयक्तिक जीवन की व्यवस्था करने वाला धर्म, वर्णाश्रम-धर्म ही, 'सनातन' धर्म है। उसी से अभ्युदय-निःश्रेयस की सिद्धि मनुष्यमात्र को हो सकती है; अन्यथा नहीं। पर खूब याद रहे, 'गुणेन कर्म', और 'कर्मणा वर्णः'। 'जन्मना वर्णः' नहीं। 'जन्मना वर्णः' का अप-सिद्धांत, अ-सिद्धान्त, कु-सिद्धांत, नितांत दोषपूर्ण विचार, अंगीकार कर लेने से ही तो भारतवर्ष और भारत-जनता का 'धर्म', इधर सैकडो वर्ष से, नितरां 'अ-सनातन', प्रतिपद विशीयमाण, हो गया है। परस्पर भेद-भाव, ईर्ष्या-द्वेष, अहङ्कार-तिरस्कार, से भरकर, परस्पर बहिष्कार से कलुषित होकर, सहस्रों पथों, सम्प्रदायों, मतो, आचार-भेदों, से छिन्न-भिन्न, ढाई हजार से अधिक जाति-उपजाति-उपोपजातियो को, वर्ण-उपवर्ण-उपोपवर्णो को, पैदा करके, यह 'हिन्दू' धर्म कहलाने वाला धर्माभास, मिथ्याधर्म, उसके मानने वाले और 'हिन्दू' कहलाने वाले समाज के साथ, प्रतिपद, प्रतिदिन, क्षय को प्राप्त हो रहा है। सच्चे सद्धर्म को तो सर्व-सग्राहक, सर्वाकर्षक, सर्व-प्रिय होना चाहिये। पर आजकाल, सैकडों वर्ष से, यह 'हिन्दू-धर्म', अध्यात्मशास्त्र और वेदान्त-दर्शन की भी दुर्दशा करके, सर्व-विग्राहक, सर्वविद्रावक, सर्वोद्वेजक, सर्व-कुत्सित हो रहा है; और कोटिशः मनुष्य इसको छोड़ कर अन्य धर्मो में चले गये, और जा रहे हैं।

यदि प्राकृतिक, स्वाभाविक, नैसर्गिक, गुण-प्राधान्य के अनुसार जीविका-कर्म की, और जीविका-कर्म के अनुसार वर्ण अर्थात 'पेशा' की, व्यवस्था के शुद्ध आध्यात्मिक सिद्धांत पर समाज का व्यवस्थापन, लोक का सग्रहण, किया जाय, तो आज यह क्षयरोग निवृत्त हो जाय, हिंदू-समाज' का रूप 'मानव-समाज' का हो जाय, 'हिन्दू' कहलाने वालों के आपस के वैमनस्य मिट जायँ, और भारत-वासी अन्य अ-हिंदू समाजों से भी 'हिन्दू'-समाज का वैर दूर हो जाय। जो वैर पुनः प्रतिदिन अधिकाधिक भयकर रूप धारण कर रहा है। चार 'पेशों' और चार अवस्थाओं के साँचे-ढाँचे में सारी दुनिया के सब मनुष्य अपने-अपने मजहब और क़ौम को बदले

बिना, बैठाल दिये जा सकते हैं; और समाविष्ट किये जाने चाहियें। तभी मनु के ये श्लोक चरितार्थ हो सकते हैं, जैसे होने चाहियें।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्य., त्रयो वर्णाः द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो, नास्ति तु पञ्चमः॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशाद् अग्रजन्मनः।
स्व स्व चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

अर्थात्, "पुरुष की त्रिगुणात्मक, सत्त्व-रजस्-तमो-गुणात्मक, प्रकृति के अनुसार, तीन प्रकार के, द्वि-ज, द्वि-जात, मनुष्य, और एक प्रकार का एक-जाति मनुष्य, पैदा होते हैं। (१) सत्त्वाधिक, ज्ञान प्रधान, विद्याजीवी, ज्ञानदाता, शिक्षक, विद्वान्; (२) रजोऽधिक, क्रिया-प्रधान, शस्त्रजीवी, त्राणदाता, रक्षक, वीर; (३) तमोऽधिक, इच्छा-प्रधान, वार्त्ताजीवी, अन्न-दाता, पोषक, दानी—यह तीन द्वि-ज होते हैं। अव्यजितगुण, अर्थात् जिसमे तीनों गुणों का साम्य है, तीन में से कोई एक गुण विशेष रूप से अभिव्यक्त नहीं हुआ है, श्रमजीवी, सर्वधारक, सर्वसेवक, सहायक—यह एक-जाति है। पाँचवाँ प्रकार का मनुष्य, पृथिवी पर, कहीं होता ही नहीं, जहाँ भी कहीं मनुष्य हैं, इन चार में से ही किसी न किसी प्रकार के हैं। एतद्देश, इस देश, भारतवर्ष, में उत्पन्न, 'अग्रजन्मा' से, आत्मज्ञानी, तपो विद्या-सम्पन्न, श्रेष्ठ विद्वान् से, पृथिवी-तल के समस्त मनुष्यों को, अपने-अपने स्वभाव और गुण के उचित स्व-धर्म-कर्म चरित्र की, शिक्षा लेनी चाहिये। 'एतद्देश' ही के विद्वान् से क्यों? इसलिये कि मानव-जाति के उपलभ्यमान इतिहास में, भारतवर्ष में ही, वेदान्त-दर्शन अर्थात् अध्यात्म-शास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार, वर्णों (अर्थात् पेशों, रोजगारों, जीविका-कर्मात्मक वर्गों) और आश्रमों के विधान से, समाज की व्यवस्था, बुद्धि-पूर्वक की गई है, अन्य देश में अब तक नहीं हुई। किंतु अब, सब देशों का सबंध हो जाने से, सब मे फैलना चाहिये।

'द्विज' कौन और क्यों, तथा 'अग्रजन्मा' कौन और क्यों?

(मातुरग्रेऽधिजननं, द्वितीयं मौंजिबन्धने। मनु०)
प्रथमं पृथिवी-लोके, आत्मलोके ततः पुनः।
द्विवारं जायते यस्मात् तस्माद् द्विज इति स्मृतः॥
अन्तर्दृष्टिविकासेन, येनाऽत्मा सुसमीक्षितः।
स्वचित्तगुणदोषाणां परीक्षाकरणे क्षमः।
यश्च जातः, स एवास्ति द्विजात इति निश्चयः॥
मानवो जायमानो हि शिरसाऽग्रे प्रजायते।
ज्ञानेन्द्रियधरत्वाच्चाप्युत्तमांगं शिरः स्मृतम्॥
(नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते। गीता)
सर्वेषां पुरुषार्थानां ज्ञानं साधनमुत्तमम्।

निधीनामुत्तमश्चापि योऽय ज्ञानमयो निधिः ॥
अतो यो ह्यात्मविज् , ज्ञानी, विश्वमित्र, तपोमयः ।
'अग्रजन्मा' स वाच्यः स्यान् , नाऽन्यस्त शब्दमर्हति ॥

"पहिला जन्म माता से, पृथिवीलोक में। दूसरा जन्म, आत्म-लोक में, अन्तर्दृष्टि के विकास से, जिससे आत्म-दर्शन होता है, और अपने चित्त के गुणों और दोषों की परीक्षा करने की क्षमता उपजती है। जिसको यह दूसरा जन्म हो जाय वही 'द्विज' है।

"मनुष्य का सिर आगे पैदा होता है, फिर धड़ और पैर; सिर ही में सब ज्ञानेन्द्रिय एकत्र हैं; इसलिये सिर को ही 'उत्तमाङ्ग' कहते हैं। सत्य ज्ञान के ऐसा, चित्त को और शरीर को पवित्र करने वाला दूसरा पदार्थ कोई नहीं है; सब पुरुषार्थों का उत्तम साधन सज्ज्ञान ही है; सब निधियों में, ज्ञान-धन ही उत्तम निधि है। इसलिये आत्मा का जानने वाला, ज्ञानी, विश्वजनीन, विश्व का मित्र, 'सर्वलोकहिते रतः', तपस्वी, निस्स्वार्थी, जो मनुष्य हो, वही 'अग्र-जन्मा' कहलाने योग्य है; दूसरे किसी को यह नाम, यह शब्द, केवल किसी कुल में जन्म होने से, नहीं मिल सकता।

'दर्शन' से गूढ़ार्थों का दर्शन

'दर्शन' शब्द का एक अर्थ दर्शनेन्द्रिय 'आँख' भी है। दर्शन शास्त्र के ठीक-ठीक अध्ययन से नई 'आँख' हो जाती है, जिससे 'पौराणिक' पुरानी बातों का अर्थ नया देख पड़ने लगता है, 'प्र-णवी'-भूत हो जाता है। सम्यग्दर्शन की 'प्र-णवी'-भूत आँख, भिन्न से भिन्न देख पड़ते हुए मतों में, एकता देख लेती है; देश-देश के वेष-वेष में अपने को छिपाते हुए बहुरूपिया 'मित्र' को 'यार' को, पहिचान ही लेती है।

मित्रस्य चक्षुषा पश्येम। (वेद)
ऐ ब चश्मानि दिल् म बीं जुज़ दोस्त।
हर चि बीनी बिदाँ कि मजहरि ऊस्त ॥ (सादी)

"जो कुछ हम देखैं, मित्र की, दोस्त की, आँख से देखैं; सभी तो परमात्मा ही का, परम सखा जगदात्मा ही का, इजहार है, आविष्कार है।" 'मित्र' नाम सूर्य का भी है; साक्षात् सब के प्राणदाता सूर्य है, सर्वात्मा के 'वरेण्य भर्गः', 'तजल्ली खास,' हैं। परमात्मा की दृष्टि से सब को देखो।

भागवत, महाभारत, आदि में बताया है कि, वैष्णव सम्प्रदाय में पूजित, 'वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध' के चतुर्व्यूह का, आध्यात्मिक अर्थ, 'चित्त, अहंकार, बुद्धि, मनस्' है; तथा आदिनारायण का अर्थ परमात्मा है। अन्य अर्थ भी कहे हैं, यथा, भागवत, स्कध १२, अ० ११ में, उक्त चार को तुरीय, प्राज्ञ, तैजस, विश्व कहा है; तथा, विष्णु की चार भुजा, और शंख, चक्र, गदा, पद्म आदि, आयुध और आभूषणों का भी अर्थ

कहा है। ऐसे ही, शैव सम्प्रदाय में, 'पच ब्रह्म', अर्थात् 'सद्योजात, वामदेव, अघोर, तत्पुरुष, ईशान' का आध्यात्मिक अर्थ, पंच महाभूतों में विद्यमान व्यज्यमान चैतन्य ही है। तथा शक्तिसम्प्रदाय में, 'दुर्गा' बुद्धि-शक्ति का, ज्ञान-शक्ति का, और 'राधा', 'प्राण-शक्ति' का, 'क्रिया-शक्ति का'; और 'उमा', 'इच्छा शक्ति', मूल-शक्ति, का, नाम है। तंत्र शास्त्र में 'ऐं' ज्ञानशक्ति का, 'ह्रीं' और 'श्रीं' क्रियाशक्ति का, तथा 'क्लीं' इच्छाशक्ति का, नाम है। इत्यादि।

'निरुक्त' नाम के वेदांग का उद्देश्य ही यह है, कि वेदों के शब्दों का 'निर्वचन', 'व्याख्यान', उचित रीति से किया जाय। अधिक ग्रन्थ इस विषय के लुप्त हो गये हैं; यास्क ही का 'निरुक्त' अब मिलता है, जो प्रायः दो वा ढाई हजार वर्ष पुराना कहा जाता है। इसमें बतलाया है कि वैदिक शब्दों और मंत्रों के कई प्रकार से अर्थ किये जा सकते हैं, और सभी अभीष्ट हैं; याज्ञिक (आधि-दैविक), ऐतिहासिक (आधि-भौतिक), और आध्यात्मिक। आधि-दैविक और आधि-भौतिक अर्थों में अवान्तर प्रकार भी हैं, यथा, एक मंत्र का अर्थ, ज्योतिःशास्त्र ('ऐस्ट्रोनोमी') के तथ्यों का भी संकेत कर सकता है, प्राणि-विद्या ('बायालोजी') के; शारीर-शास्त्र ('एनाटोमी-फ़िसियालोजी') के; पृथिवी-शास्त्र ('जीयालोजी, जीयोग्राफी') के, वैशेषिक-शास्त्र ('फ़िज़िक्स-केमिस्ट्री') के; मानव-इतिहास प्रभृति के, भी। आपाततः, यह असम्भाव्य जान पडता है; किन्तु 'समता-न्याय', 'सम-दर्शिता-न्याय', 'उपमान-प्रमाण', पर गभीर विचार करने से, 'जैसा एक, वैसे सब', 'ला आफ़ एनालोजी', पर ध्यान देने से, यह सर्वथा सम्भाव्य ही नहीं, अपि तु (बल्कि) निश्चित जान पडने लगता है। जैसे एक दिन में सूर्योदय, मध्याह्न, सूर्यास्त, वैसे एक वर्ष में वसन्त-ग्रीष्म, प्रावृट्-वर्षा, शरत्-शिशिर; वैसे एक जीवन में जन्म-स्थिति-मरण, बाल्य-यौवन, तारुण्य-प्रौढ़ि, वार्धक्य-जरा, यथा क्षुद्र-विराट्, वैसा ही महाविराट; जैसा मनुष्य का एक दिन वैसा ब्रह्मा का एक युग, महायुग, कल्प, महाकल्प आदि, जैसा एक मनुष्य का जीवन, वैसो एक मानव उपजाति, जाति, महाजाति, 'ट्राइब', 'सब-रेस,' 'रेस' का; जैसा अणु वैसा सौर-सम्प्रदाय; 'ऐज़ दी एटम्, सो दी सोलर सिस्टम्', 'ऐज़ दी माइक्रोकाज़्म सो दी माक्रोकाज़्म'।[1]

यावान् अयं वै पुरुषः यावत्या संस्थया मितः।
तावानसावपि महापुरुषो लोकसंस्थया॥ (भागवत, स्कंध १२, अ० ११)
त्रैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणि देहतः।...

---

[1] Astronomy, biology, anatomy-physiology, geology, geography, physics-chemistry, law of analogy, tribe, sub-race, race, 'as the atom, so the solar system', 'as the microcosm, so the macrocosm'

.. ब्रह्मांडसंज्ञके देहे यथादेशं व्यवस्थिताः ॥ (शिवसंहिता)

शरीरस्थानि तीर्थानि प्रोक्तान्येतानि, भारत ।
शरीरस्य यथोद्देशः शरीरोपरि निर्मितः ।
तथा पृथिव्या भागाश्च, पुण्यानि सलिलानि च ॥ (म० भा०, अनुशा, अ० ७०.)

"मनुष्य के शरीर मे जो तत्त्व और अवयव हैं, वही तत्त्व और तादृश अवयव 'महाविराट्' मे भी हैं, जैसे पिंडांड वैसा ब्रह्मांड। जैसे मानव-शरीर में विशेष-विशेष अवयव, मस्तिष्क, मेरुदंड, षट्चक्र, कन्द, नाड़ी आदि 'तीर्थ' हैं, 'तरण' के, ससार से क्रमशः 'उत्तरण' के, तर जाने के, स्थान वा मार्ग हैं, वैसे ही पृथ्वी के विशेष-विशेष गुण रखने वाले पुण्यस्थल हैं, मानव-शरीर के अवयवों के 'सम', 'समान', 'अनुरूप' हैं"। यद्यपि,

अत्युग्रभूरिकर्माणो नास्तिका रौरवा जनाः ।
तेऽपि तिष्ठन्ति तीर्थेषु, तीर्थसारस्ततो गत. ॥ (भागवत-माहात्म्य)

"वर्तमान कलिकाल मे तीर्थों मे प्रायः उग्र पाप करने वाले ही मनुष्य भर गये हैं, इसलिये सब तीर्थ सारहीन हो गये हैं।" आध्यात्मिक अर्थ ही इन सब अर्थों में मुख्य है; मनुष्य के निकटतम है, सब से अधिक उपयोगी है। वेदों मे, और उनके पीछे, जब वेदों की भाषा और सकेत लोक में दुर्बोध्य हो गए, तब पुराणों और इतिहासों मे, उस समय की बदली हुई बोली में, अर्थात् संस्कृत मे, प्राचीन ऋषियों ने, वेद के आशयों को, आख्यानो और रूपकों में, लिखा।

भारतव्यपदेशेन वेदार्थमुपदिष्टवान् ।

"वेदव्यास जी ने वेद के अर्थ का महाभारत के बहाने से, लिख दिया"; जो सर्व-साधारण के समझने योग्य मन बहलाने वाले कथानकों द्वारा, शिक्षा देने मे समर्थ हैं। ये आख्यान अक्षरार्थ की दृष्टि से, बच्चों के लिए, मन-बहलाव के साथ-साथ, साधारण आचार-नीति की शिक्षा देते हैं, गूढ़ार्थ की दृष्टि से, परिपक्व बुद्धि वालो को गम्भीर शास्त्रीय तथ्यों की शिक्षा देते हैं।

किन्तु काल के प्रवाह से, उन पौराणिक ऐतिहासिक रूपकों का अर्थ भी वैसा ही दुर्बोध हो गया, जैसा वैदिक मत्रो का। जैसे एक मनुष्य की, बीमारी से, चोट से, वा वार्धक्य से, प्राण-शक्ति क्षीण होने से, उसके शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, सभी दुर्बल हो जाते हैं; वैसे ही एक जाति वा समाज की सघ-शक्ति क्षीण होने से, उसका ज्ञान, उत्साह, शौर्य, समृद्धि, कला-कौशल, सभी शिथिल और क्षीण हो जाते है। सब ह्रासो का मूल-कारण शील-ह्रास है। इससे परस्पर के सबध को, संहनन, सघात, सघत्व को, दृढ़ करने वाले स्नेह प्रेम विश्वास का ह्रास; उससे बुद्धि-बल-शौर्य-विद्या-लक्ष्मी-ह्रास, सभी सद्गुणों का ह्रास; महाभारत शांति पर्व मे, बलि-इन्द्र की कथा से, यह दिखाया है। शील का सार कहा है—'अपने लिये जैसा चाहो वैसा दूसरे के लिये।'

'उत्तमांग', सब ज्ञानेन्द्रियों का, अंतःकरण का, आधार, सिर जब बिगड़ता है, तब सब बिगड़ता है; ज्ञान-प्रधान जीवों, समाज के शिक्षकों, में, जब शील विकृत हुआ, स्वार्थ और दम्भ बढ़ा, तब क्रमशः अन्य सब अंग, बाहु, उदर, पाद, सभी में विकार उत्पन्न हुआ; सारा समाज भ्रष्ट हुआ।

ब्राह्मण तु स्वकर्मस्थं दृष्ट्वा बिभ्यति चेतरे।
नान्यथा, क्षत्रियाद्यास्तु, तस्माद् विप्रस्तपश्चरेत् ॥ (शुक्रनीति)

ब्राह्मण को अपने धर्म कर्म में, सात्विक तपःसंग्रह और सात्विक विद्या-संग्रह में, प्रवृत्त देखकर, क्षत्रियादि अन्य वर्ण भी डरते हैं, और अपने-अपने उचित धर्म-कर्म मे लगे रहते हैं; अन्यथा, नहीं लगते, जब ब्राह्मण, तारक की जगह मारक, शिक्षक की जगह वंचक, हो गया; तो क्षत्रिय भी रक्षक के स्थान मे भक्षक, और वैश्य भी पोषक के स्थान में मोषक, और शूद्र भी सेवक के बदले धर्षक हो जाते हैं। इसलिये ब्राह्मण की सब से अधिक उत्तरदायिता है, जिम्मादारी है, उसको सब से अधिक आवश्यक है कि वह सात्विक तपस्या में, और सात्विक विद्या के अध्ययन और प्रचारण में, सदा लगा रहे। पर ऐसा किया नहीं; तपस्या छोड़ दी, दंभ ओढ़ लिया; सद्विद्या खो दी, ठग-विद्या और कठहुज्जत गले लगाया। पौराणिक आख्यानों और रूपकों का सच्चा अर्थ भुला दिया गया; उनके संस्करण और सुप्रयोग के ठिकाने, दुष्करण और दुष्प्रयोग ही बढ़ता गया। उपयोगी और बुद्धिवर्धक शिक्षा देने के स्थान मे अन्ध-श्रद्धा ही बढ़ाई गई। जो कथानक, स्पष्ट ही, बुद्धिपूर्वक निर्मित हैं, गढ़े हुए, बनाए हुए, 'रूपक' हैं, ('ऐलेगोरी' हैं), जिनके रूप ही से साक्षात् प्रकट होता है कि ये 'प्रतीक' ('फार्म्युला', 'सिम्बल') मात्र हैं;[1] थोड़े शब्दों मे बहुत आशय और अर्थ रख देने के लिये मंजूषा मात्र हैं, उनकी भी व्याख्या अक्षरार्थ से ही की जाने लगी, और उसी अक्षरार्थ की ओर साधारण भोली जनता की अंध-श्रद्धा भुकाई गई, उनका मूढ़ग्राह बढ़ाया गया। कारण यही कि, व्याख्याता लोगों के पास शील नहीं, सद्बुद्धि नहीं, सद्ज्ञान नहीं, बहुश्रुतता-बहुज्ञता नहीं, उनके स्थान पर दम्भ, अहंकार, कपट, 'बैडाल-व्रतिकता' 'बकव्रतिकता' आदि बहुत, जिसका मनु ने उग्र शब्दों में वर्णन किया है। इसी लिये मनु ने, व्यास ने, यह भी कहा है—

इतिहास-पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो, मामयं प्रतरिष्यति ॥

"इतिहास-पुराण के द्वारा वेद का अर्थ समझना चाहिये। जो बहुश्रुत, बहुशास्त्रज्ञ, नहीं है, वह वेद के, अर्थ का अनर्थ कर डालेगा।" जब इतिहास-पुराण का ही अर्थ भूल गया, तो उससे वेद वेदान्त के सच्चे अर्थ का उपबृंहण, उदाहरण, विस्तारण, निरूपण, कैसे हो?

---

[1] Allegory ; formula , symbol.

प्रत्यक्ष ही, प्रतिवर्ष कई बेर, सूर्यग्रहण चन्द्रग्रहण के अवसर पर, यह दृश्य देख पड़ता है, काशी ऐसे स्थान में, गंगा में स्नान करने को, लाख-लाख, दो-दो लाख, की भीड़, देहाती स्त्रियों पुरुषों की आ जाती है। उनको यही समझाया हुआ है, और समझाया जाता है, कि पुराणों में लिखा है कि, 'सिंहिका' राक्षसी के पुत्र का सिर विष्णु ने चक्र से काट डाला; सिर 'राहु' होगया; शरीर 'केतु' हो गया; सूर्य और चन्द्रमा ने, इशारे से, विष्णु को बताया था, कि सैंहिकेय भी देवों की पंक्ति में, उन दोनों के बीच में, अमृत पीने को, आ बैठा; इस द्वेष से, समय-समय पर, कटा सिर, जिसका नाम 'राहु' हो गया है, सूर्य और चन्द्रमा को निगलने के लिये दौड़ता है, स्नान करने से, और ब्राह्मणों को दान देने से ही, सूर्य और चन्द्रमा बच सकते हैं और बचते हैं। ऐसे मिथ्या प्रचार की किन शब्दों में निन्दा की जाय? ऐसे ही बहुविध शीलह्रास, सत्यह्रास, से ही तो भारत समाज का सर्वथा ह्रास हो रहा है।

मनु ने मानव-समाज की सभ्यता, शिष्टता, व्यवस्था, तहज़ीब, तन्ज़ीम, को 'दो त्रिकों' की दोहरी-तिहरी नीवी, नीव, आधार, बुनियाद, पर दृढ़तर प्रतिष्ठित करके ऊँची उठाया; "माता पिता तथाऽऽचार्यः" "ब्राह्मणाः क्षत्रियाः विशः", सतीमाता, सत्पिता, सद्‌आचार्य, तथा मातृस्थानी सद्वैश्य, पितृ-स्थानी सत्क्षत्रिय, आचार्यस्थानी सद्ब्राह्मण; तत्रापि, विशेष महिमा सती पतिव्रता और धर्मजात-संतति-त्रता माता की, सद्ब्राह्मण की, सत्क्षत्रिय की।

ज्ञानदो ब्राह्मणः प्रोक्तः, त्राणदः क्षत्रियः स्मृतः।
प्राणदो ह्यन्नदो वैश्यः, शूद्रः सर्वसहायदः॥
शिक्षको ब्राह्मणः प्रोक्तः, रक्षकः क्षत्रियः स्मृतः।
पोषकः पालको वैश्यः, धारकः शूद्र उच्यते॥
"उपाध्यायान् दशाचार्यः, शताचार्या स्तथा पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता, गौरवेणातिरिच्यते"॥ (मनु०)

सती स्त्री की, सद्ब्राह्मण की, सत्क्षत्रिय (राजा) की, मनु ने, ऋषियों ने, देवों से भी अधिक प्रशंसा की है। परन्तु, जब यह असत्, दुष्ट, पापी, भ्रष्टाचार हो जायँ, तो वैसी ही घोर निन्दा भी, इन्हीं तीन की, किया है। तत्रापि, शिरःस्थानी, उत्तमांगस्थानी, दुराचार ब्राह्मण की अधिक; क्योंकि, जैसा पहिले कहा, जब सिर बिगड़ा, बुद्धि में विकार आया, दमाग़ ख़राब हुआ, तब सब बिगड़ा; जब तक बुद्धि ठीक है, तब तक और किसी अंग को पहिले तो बिगड़ने नहीं देती; और, दूसरे, यदि बिगड़े तो बना लेती है।

अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति॥
न वार्यपि प्रयच्छेत्तु बैडालव्रतिके द्विजे।

न बकव्रतिके विप्रे, नावेदविदि धर्मवित् ॥
धर्मध्वजी सदालुब्धश्छाद्मिको लोकदम्भकः ।
बैडालव्रतिको ज्ञेयो हिंस्रः सर्वाभिसंधकः ॥
अधोदृष्टिर्नैष्कृतिकः स्वार्थसाधनतत्परः ।
शठो मिथ्याविनीतश्च बकव्रतचरो द्विजः ॥
ये बकव्रतिनो विप्रा ये च मार्जारलिंगिनः ।
ते पतन्त्यधतामिस्रे तेन पापेन कर्मणा ॥
न धर्मस्यापदेशेन पापं कृत्वा व्रतं चरेत् ।
व्रतेन पापं प्रच्छाद्य कुर्वन् स्त्रीशूद्रदम्भनम् ॥
प्रेत्येह चेदृशा विप्रा गर्ह्यन्ते ब्रह्मवादिभिः ।
छद्मना चरितं यच्च व्रतं रक्षांसि गच्छति ॥ (मनु)

"जो नामधारक, तपस्याहीन, विद्याहीन, अपने को ब्राह्मण बतलाने वाले, मिथ्या ब्राह्मण हैं, अच्छे ब्राह्मण नहीं है, जो बिडालव्रती, बकव्रती, हैं; भोली स्त्रियों और नासमझ पुरुषों का दम्भन करते हैं, उनको ठगते हैं, धोखा देते हैं, और अपने स्वार्थ के ही साधन में सदा तत्पर रहते हैं; ऐसे मिथ्या ब्राह्मण, जो दान लेते हैं, वे दान देने वालो को भी अपने साथ लेकर, नरक में गिरते हैं। ऐसे विप्र, जो व्रत आदि, लोक को दिखाने के लिये, ढोंग से करते हैं, उस व्रत से राक्षसों की, दुराचारियों की, ही पुष्टि होती है। सच्चे ब्राह्मण, ऐसे मिथ्या ब्राह्मणों की घोर निन्दा करते हैं।" यह मनु के श्लोको का आशय है मूल के सब उग्र शब्दों का अनुवाद नहीं किया है। दाता, प्रतिग्रहीता, दोनों का नरक में पडना अपरिहार्य ही है, तथा 'राक्षसों' की वृद्धि। चाहे मूर्खता से ही, जो कोई, बिना जॉचे-समझे, पाप को छिपाये हुए और सज्जन का वेष धारण किये हुए पापी का, भरण-पोषण करेगा, वह प्रत्यक्ष ही देश में पापाचार को बढ़ावेगा, फैलावेगा· जिसका फल 'राक्षसों' और दुष्टों की वृद्धि, और सब के लिये नरक, तरह-तरह का दुःख।

ऐसी ही घोर निन्दा दुष्ट क्षत्रिय की, राजा की, की है।

दण्डो हि सुमहत्तेजो दुर्धरश्चाऽकृतात्मभिः ।
धर्माद् विचलितं हन्ति नृपमेव सबान्धवम् ॥
तस्याहुः सम्प्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्यकारिणं प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥
तं राजा प्रणयन् सम्यक् त्रिवर्गेणाभिवर्धते ।
कामात्मा विषमः क्षुद्रो दण्डेनैव निहन्यते ॥
अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन् ।
अयशो महदाप्नोति नरकं चाधिगच्छति ॥

यो राज्ञः प्रतिगृह्णाति लुब्धस्योच्छास्त्रवर्त्तिनः ।
स याति नरकानीमान् पर्यायेणैकविंशतिम् ॥
दशसूनासहस्राणि यो वाहयति सौनिकः ।
तेन तुल्यो (नृपः पापी), घोरस्तस्य परिग्रहः ॥ (मनु०)

"दंडनशक्ति प्रबल और तीक्ष्ण तेजःपुंज है; अकृतात्मा पुरुष, राजा जिसने सर्वव्यापी आत्मा का 'दर्शन' नहीं किया है, 'आन्वीक्षिकी' विद्या से आत्मा की प्रकृति का 'अन्वीक्षण' नहीं किया है, वह इस दंड-शक्तिका धारण और 'नयन', प्रयोग, उचित प्रकार से नहीं कर सकता है। यदि धर्म से यह शक्ति बिछल जाय, हट जाय, तो बन्धु बान्धव समेत राजा ही का विनाश कर देती है। सत्यवादी, निष्पक्षपाती, धर्म-अर्थ-काम के तत्त्व को जानने वाला, प्रज्ञानवान्, सद्विवेक से काम करने वाला, ही राजपुरुष, इस शक्ति का धारण प्रणयन करने के योग्य है। कामात्मा, बिषमदर्शी, अन्यायी, क्षुद्रबुद्धि राजपुरुष, उसी दंडशक्ति से मारा जाता है। जो राजपुरुष अदंडनीय को दंड देता है, और दंडनीय को दंड नहीं देता, वह बडा अयश, अपजस, बदनामी, पाता है, और घोर नरक में पड़ता है। जो राजा लोभी, पापी, राजधर्मशास्त्र के विरुद्ध आचरण करने वाला है, उससे दान दक्षिणा लेना भी महापाप है; ऐसा राजा तो दस हजार सूना, 'बूचड़-खाना', कस्साब-खाना', चलाने वाले सौनिक, 'कस्साब,' बूचड,' के बराबर है; क्योंकि वह लाखों करोरों ग़रीब प्रजा को पीड़ा देकर, उनसे धन चूस कर, अपने ऐश मे उड़ाता है, और तरह-तरह के महा पाप करता है। ऐसे राजा से जो दान लेता है, वह साक्षात् ही उसके पापो की सहायता करता है; इसलिये, उसके साथ, इक्कीस-इक्कीस नरकों में अवश्य पडता है।'

पुराण के रूपकों का सच्चा अर्थ, ज्योतिष आदि शास्त्रों के शब्दों में व्याख्या करके, साधारण जनता को समझाना सिखाना चाहिये, जिसमे उनका सज्ज्ञान सद्बुद्धि बढ़े। सूर्य के चारो ओर सात (या दस या और अधिक) ग्रह जो घूम रहे हैं, और पृथ्वी के चारो ओर चन्द्रमा जो घूम रहा है, यही देवों की पंक्ति अमृतपान कर रही है। 'विसिनोति, विशति, सर्वान् पदार्थान्, इति विष्णुः', सब पदार्थों मे पैठी हुई, सबको एक दूसरे से बाँधे हुए, सीये हुए, पारमात्मिक सर्वव्याप्त ज्ञान, का ही नाम 'विष्णु' है; वही ज्ञान, वही सर्वशक्तिमान् चैतन्य, सौर सम्प्रदाय को चला रहा है, अमृत पिला रहा है। सूर्य और चन्द्रमा के बीच मे जब पृथ्वी आ जाती है, तब, पृथ्वी की छाया, चन्द्रमा पर पड़ कर, उसको, अंशतः या पूर्णतः, छिपा देती है; अथवा जब सूर्य और पृथ्वी के बीच में चन्द्रमा आ जाता है, तब चन्द्रमा की छाया पृथ्वी पर पड़ती है, और पृथ्वी पर बसने वाले मनुष्यों की आँख से, सूर्य, अंशतः छिप जाता है; इसी को, बच्चों को समझा देने के लिये, कहते हैं कि, देवों की पंक्ति में

सूर्य और चन्द्र के बीच में, अमृत पीने को, छल से, दैत्य आ बैठा. उसका सिर काटा गया, और वह सिर, तब से, सूर्य वा चन्द्र को निगलने का यत्न करता रहता है। बच्चे पूछा करते हैं, 'यह क्या है ?' 'ऐसा क्यों होता है ?' पर पूर्ण शास्त्रीय उत्तर समझ नहीं सकते; इसलिये ऐसे रूपक से उनको उत्तर देना उचित है, जो यदि सम्पूर्णतः सत्य नहीं है, तो सम्पूर्णतः मिथ्या भी नहीं है। जब बच्चा जरा सयाना हो, और सच्चा कार्य-कारण-भाव समझने की शक्ति उसके चित्त मे उदय हो, तब उसको तथ्य समझा देना ही धर्म है; इसके बाद भी उसको रूपक के अक्षरार्थ पर ही विश्वास दिलाते रहना, और यह डराना, कि यदि श्रद्धा नहीं करोगे तो नास्तिक होगे, और नरक मे जाओगे—ऐसा करना महापाप है, असत्य का, और अज्ञान, मिथ्याज्ञान, का, प्रचार करके, भोले मनुष्यों का दम्भन वञ्चन करना है, ठगना है।

ऐसे ही रूपक बहुतेरे इतिहास-पुराणों मे भरे हैं। यथा—(१) समुद्र में 'अनत' और 'शेष' नामक सहस्र फण वाले सर्प पर विष्णु का सोना; उनकी नाभि से कमल का निकलना; उस कमल पर ब्रह्मा का उत्पन्न हो कर बैठना, विष्णु के कर्णमल से मधु-कैटभ दो असुरों का निकलना, और ब्रह्मा, को खा जाने का यत्न करना, विष्णु का उनको मारना; इत्यादि। (२) गणेश का, पार्वती के स्वेद से, उत्पन्न होना; उनका नैसर्गिक सिर काटा जाना; उसके स्थान पर हाथी का सिर, सो भी एक दाँत का, लगाया जाना; चूहे पर सवारी करना। (३) वृत्र-नामक असुर की उत्पत्ति और उसके उपद्रव; वज्र की उत्पत्ति; सुरों के राजा इन्द्र का, ऐरावत हाथी पर सवार हो कर, वृत्र को मारना; उस हत्या के पाप का, चार जीवसमुदायों मे, चार वरदान देकर, बाँटना; पर्वतों के परों को, जिनके बल से वे पहिले उड़ते-फिरते थे, वज्र से काटना; (४) हिरण्याक्ष का, पृथ्वी को, समुद्र के भीतर डुबा देना; विष्णु का वराहरूप धारण करना, हिरण्याक्ष को मारना, पृथ्वी को उभारना, विष्णु के स्पर्श से, भूमि के गर्भ से, भौम अर्थात् मङ्गल नामक ग्रह (प्लानेट)[1] का उत्पन्न होना। (५) विंध्य पर्वत का इतना ऊँचा उठना, कि सूर्य का मार्ग रुकने लगे; देवों की प्रार्थना पर, ब्रह्मा का उनसे कहना कि अगस्त्य ऋषि से कहो, क्योंकि वे विंध्य पर्वत के गुरु हैं, देवों की प्रार्थना पर, अगस्त्य का, जो पहिले उत्तर दिशा में वास करते थे, दक्षिण को जाना; जब विंध्य पर्वत के पास आए, तब विंध्य का साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम करना और कहना कि जो आज्ञा कीजिये वह करूं, अगस्त्य का आज्ञा देना, कि जब तक मैं दक्षिण से न लौटूं तब तक तुम ऐसे ही पड़े रहना। (६) दैत्य-दानवों से पीडित होकर, देवों का अगस्त्य से प्रार्थना करना, कि आप समुद्र को

[1] Planet

पी जाइये, तो इन्द्र इन दैत्य-दानवों को मार सकै, जो समुद्र में छिप जाया करते हैं; अगस्त्य का समुद्र को पी जाना, इन्द्र का दैत्य-दानवों को मारना; पीछे मूत्र-रूप से समुद्र के जल का विसर्जन होना और जल का क्षार हो जाना। (७) सूर्य की पत्नी 'संज्ञा' का, सूर्य के ताप से तप्त होकर, अपनी प्रतिरूप, 'छाया-संज्ञा', को, अपने स्थान पर गृह में रख कर, 'अश्विनी' के रूप से, पृथ्वी पर छिप कर तपस्या करना; संज्ञा के पुत्र 'यम' से और 'छाया-संज्ञा' से कलह होना, छाया-संज्ञा का यम को शाप देना, कि तूने मुझको पैर से मारने की धमकी दी, इस लिए तेरे पैर में कृमि पड़ जायँ, और तू लँगड़ा हो जाय, यम के रोने और शिकायत करने पर सूर्य को पता लगना कि यह असली संज्ञा नहीं है, सच्ची संज्ञा की खोज में जाना, अश्व का रूप धरना, दो अश्विनी कुमारों की उत्पत्ति होना, उन दोनों का देववैद्य होना। (८) शतानन्द ऋषि के शाप से उनकी पत्नी अहल्या का पाषाण हो जाना, इन्द्र को सहस्र व्रण हो जाना, चन्द्रमा को क्षय रोग हो जाना; ऋषि से आराधना करने पर, व्रणों के स्थान मे नेत्र हो जाना, और चद्रमा का, एक पक्ष मे क्षय के बाद, दूसरे पक्ष मे पुनः वृद्धि होना, रामचंद्र के पैर के स्पर्श से अहल्या का पुनः सजीव हो जाना। (९) समुद्र का मथा जाना; मन्दर पर्वत मथानी; वासुकि सर्प, मन्थन-रज्जु (नेत्र, नेती, घोरनी, मथने की रस्सी), एक ओर देव, दूसरी ओर दैत्य, खीचने वाले, पहिले हालाहल विष का निकलना, फिर चौदह रत्न का, जिनमें अमृत भी, वारुणी शराब भी, इत्यादि। (१०) स्वायम्भुव मनु के पुत्र महाराज प्रियव्रत का रथ पर चढ़ कर, सात बेर पृथ्वी की परिक्रमा करना, रथ के पहियों के धँसने से सात द्वीप और सात समुद्र, बन जाना। (११) कश्यप महर्षि की तेरह पत्नियों से तेरह जाति के जीव-जन्तुओं की उत्पत्ति होना; उन पत्नियो में से, दो, गरुड़ की माता विनता, और सर्पों की माता कद्रू, मे पण (बाज़ी) लगना—'सूर्य के घोड़े उच्चैःश्रवा की गर्दन और पूँछ के बाल काले हैं या सुफेद'; काले सर्पों से घोड़े की गर्दन और पूँछ ढकवा कर, कद्रू का बाज़ी जीतना, और विनता का उसकी दासी हो जाना; यदि अमृत का घड़ा गरुड़ ला दे, तो विनता दासित्व से मुक्त की जाय—ऐसा कद्रू का कहना, हजार दाँत के ज्वालामय, अति वेग से घूमते हुए, चक्र के बीच में से, अपने महाबली पक्षों और चंचु के प्रभाव से, गरुड का उस अमृत के घड़े को लाना, कद्रू के हाथ में रखना; कद्रू का उसको दर्भ-घास की चटाई पर सर्पों के लिए रखना; इन्द्र का झपट कर घड़े को उठा ले जाना; सर्पों की जिह्वा का, धारदार दर्भों के चाटने से, कट कर, दोहरी हो जाना, इत्यादि। (१२) ब्रह्माण्ड के बीच में, सोने का, मेरु पर्वत, उस पर तेंतीस मुख्य और तेंतीस कोटि अवान्तर, देवों का वास; उसके शिखर पर, 'हिम-आलय' मे, 'कैलास' पर, शिव का स्थान;

उनकी पत्नी पार्वती; सिर पर से 'गंगा' का प्रवाह, जो आगे चल के, 'त्रिवेणी' हो गई, उस जगत्पावनी गङ्गा पर 'अविमुक्त' क्षेत्र, काशी, की स्थिति; वहाँ शिव का 'अविमुक्त' निरन्तर निवास, उस काशी वाराणसी में पहुँच कर जो जीव, शरीर त्याग के अनन्तर, 'ब्रह्मनाल' नामक वीथी (गली) से, 'मणिकर्णिका' तक पहुँचे, उसको 'तारक' मन्त्र का उपदेश हो, और 'काश्यां मरणान् मुक्तिः', 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः', वह मोक्ष पावै। इत्यादि।

उदाहरण-रूपेण, बारह मुख्य रूपक ऊपर कहे। सैकड़ों अन्य मुख्य और गौण रूपक, ऐसे ही, इतिहास-पुराण में भरे हैं। जो थोड़ा भी विचार कर सकते हैं, उनके लिये स्पष्ट है कि यह सब आख्यान, किसी विशेष अभिप्राय से, बुद्धिपूर्वक, दीदः-च-दानिस्तः, रचे हुए हैं; स्वाभाविक, प्राकृतिक, इतिवृत्तों के वर्णन, नहीं हैं। इनके अक्षरार्थ को वास्तविक मनवाने का यत्न करना, मूर्खता फैलाने वाला कपट और दम्भ है; तथा मान लेना अंध-श्रद्धा और मूढ़ ग्राह है। पर सैकड़ों वर्षों से, भारतवर्ष में, यही देख पड़ रहा है। एक ओर ऐसे छल कपट से, और दूसरी ओर ऐसी अंध-श्रद्धा से, सद्बुद्धि, सज्ज्ञान, सद्भाव, सदिच्छा, सद्व्यवहार का, कितना ह्रास हुआ है—यह भारत जनता की हीन-दीन दशा से, अधःपात से, ही प्रकट है। जब उत्तमांग-स्थानीय, धर्माधिकारी, धर्म-नेता, धर्म-व्याख्याता, किसी देश, किसी समाज, में, राजस-तामस दुर्बुद्धि-दुःशील-दुश्चरित्र का नमूना सबके आगे रक्खैं, तो क्यों न जनता पर आपत्ति-विपत्ति आवै? यूरोप में भी, तथा अन्य देशों में भी, ऐसे ही कारणों से, जब पुरोहितों और राजाओं की, अर्थात् 'यूरोपीय ब्राह्मणों और क्षत्रियों' की, बुद्धि भ्रष्ट हुई, तब बड़े-बड़े विप्लव हुए हैं।

> अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयंधीराः पंडितम्मन्यमानाः।
> जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा, अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः॥
> अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसाऽऽवृता।
> सर्वार्थान् विपरीतांश्च, बुद्धिः सा, पार्थ! तामसी॥ (गीता)

"जब अन्धों के नेता भी अन्धे हों, अविद्या ग्रस्त हों, पर स्वयं बड़े धीर-वीर पंडित होने का अभिमान करते हों, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म समझते समझाते हों, तब नेता और नीत दोनों ही अवश्य नष्ट होंगे।"

रूपकों का अर्थ

ऊपर कहे हुए, तथा अन्य रूपकों में से कुछ के वैज्ञानिक ऐतिहासिक, आध्यात्मिक आदि व्याख्याओं का संकेत, किसी-किसी की पूरी व्याख्या, पुराण इतिहास स्मृति आदि में किया है, पर ऐसे कोनों में, और ऐसे ढंग से, कि उनकी ओर साधारण पाठक-पाठक का ध्यान

नहीं जाता; और उनको ढूँढ निकालना, खलिहान में से सूई ढूँढने के बराबर होता है। जिस प्राचीन काल मे यह रूपकमयी सङ्केत-भाषा प्रथित रही होगी, उस समय इनका समझना सहज रहा होगा; जैसे आजकाल 'शार्ट-हैंड' जानने वालों को, या संस्कृत लिपि और भाषा जानने वालो को, या फ़ारसी लिपि और भाषा जानने वालों को, आपस में, एक दूसरे का लिखा समझना सहल है; दूसरों को नहीं। अब वह संकेत-भाषा बहुत कुछ भूली जा चुकी है; जैसे प्राचीन शिलालेखो, ताम्रपत्रों, इष्टका-लेखों के 'हायरोग्लिफ़', 'क्यूनिफ़ार्म अक्षर',[1] 'खरोष्ठी' आदि लिपि, भूली हुई हैं; विशेषज्ञ ही उनका अर्थ, सो भी सर्वथा निश्चयेन नहीं, लगा सकते हैं। एक कठिनाई और है, निश्चयेन मतलबी स्वार्थी लोगों ने, इन पुराण-इतिहास स्मृति आदि ग्रन्थों में, समय-समय पर, क्षेपक भी मिला दिये हैं। इन कारणों से ऐसे रूपको का अर्थ करना दुस्साध्य हो रहा है। अध्यात्म-शास्त्र के दीपक के प्रकाश से, उसका विरोध न करके आधिदैविक, आधिभौतिक, पाश्चात्य, पौरस्त्य, वैज्ञानिक शास्त्रों की सहायता से, थोडा बहुत सूझ पड़े तो सम्भव है।[2]

कुछ रूपको की व्याख्या, कहीं-कहीं, प्रसङ्गवश, अपने अन्य ग्रथों में, मैंने, यथाबुद्धि, करने का यत्न किया है; यद्यपि, अपनी बुद्धि और ज्ञान की क्षुद्रता के कारण, यह तो निश्चय है ही नहीं, कि व्याख्या ठीक है; तथा यह निश्चय है कि यदि ठीक भी है, तो 'सर्वतः संप्लुतोदक' समुद्र मे से एक छोटे लोटे के इतना भी नहीं ग्रहण किया जा सका है। इस यत्न के समर्थन मे इतना ही कह सकता हूँ, कि प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों, और नवीन पाश्चात्य विद्वानों के ग्रंथों, के अनुसार ही व्याख्या की कल्पना की है; 'नवीन', 'मौलिक', 'अपूर्व', कल्पना करने की शक्ति तो मेरे पास ज़र्रा बराबर भी नहीं है।

उदाहरण-रूप से, केवल सूचनार्थ उक्त रूपको मे से कुछ की व्याख्या, सक्षिप्त, यहां लिख कर सतोष करूँगा।

(१) पृ० ५७-६० पर, पहिले ब्रह्मा शब्द का आध्यात्मिक दार्शनिक

---

[1] Hieroglyph; cuneiform

[2] इस रीति से वैदिक रूपकों का बुद्धिसंगत अर्थ करने का यत्न आर्यसमाज के विद्वानों ने आरम्भ किया है। श्री वासुदेवशरण के (जो अब लखनऊ के म्युज़ियम के 'क्युरेटर' हैं) लेख भी, इस विषय के, अच्छे हैं। सन् १९३७ में, उन्होंने, ऐसे लेखों का संग्रह, 'उरुज्योति' के नाम से, छपाया है। अच्छा ग्रन्थ है। सूक्ष्म बुद्धि, उत्कृष्ट भाव, वेदाभ्यास, प्राचीन-प्रतीचीन-ज्ञान से लिखा गया है।

अर्थ, विस्तार से, कहा जा चुका है। जिस कमल पर ब्रह्मा का आसन है, उसका मार्मिक अर्थ यह है,

मानसस्येह या मूर्तिर्ब्रह्मत्व समुपागता।
तस्यासनविधानार्थं पृथिवी पद्ममुच्यते॥
तस्मात्पद्मात् समभवद् ब्रह्मा वेदमयो निधिः।
अहकार इति ख्यातः सर्वभूतात्मभूतकृत्॥

(म० भा०, शातिपर्व, अ० १८०)

आकाश के कई नाम हैं, वरुण भी, समुद्र भी। "अदब्धानि वरुणस्य व्रतानि," (वेद०) 'वरुण के, आकाश के, आश्चर्य अगाध हैं'। इस आकाश-समुद्र मे, किरण ('कोरोना'[1]) सहित सूर्य, स्वय, कमल-पुष्पवत्, (अथवा वटपत्रवत्, क्योंकि इस अनन्त समुद्र में ऐसे पत्र और पुष्प, असख्य, भरे हैं) प्लवमान हैं, तैर रहे हैं, उनके भीतर, उनके ऊपर, चेतनमय, 'आदित्य-नारायण' 'नराणां अयन', आदि-शक्ति, से उज्जीवित जीवों के बीज-समूह, लेटे हैं;

ध्येयः सदा सवितृमण्डलमध्यवर्त्ती,
नारायणः सरसिजासनसन्निविष्टः।

उनके नाभि से, सूर्य-गोलक के मध्य से, कमल-नाल के सदृश, आकर्षण-विकर्षण-शक्ति-रूपिणी 'रेखा', 'रश्मि', सात (वा दस वा अधिक) निकली हैं; उनमे से एक एक के सिरे पर, एक-एक ग्रह ('प्लानेट'[2]) विद्यमान हैं; उन ग्रहों में से एक पृथ्वी है; इसको भी पद्म, कमल, कहते हैं; और वास्तव में, आधुनिक स्थलमयी पृथ्वी, जलमय समुद्र के तल पर, पत्र फैला कर उलटे रक्खे हुए कमल के सदृश है; उत्तरी ध्रुव में उन कमल-पत्रों का मध्य अथवा नाभि है, महाद्वीप, एशिया, यूरोपाफ्रिका, अमेरिका आदि, पद्म कमल के पत्र हैं; बड़े-बड़े अन्तरीप, ('केप'), यथा 'केप कामोरिन' (कन्याकुमारी), 'क्र आफ गुड होप', 'केप हार्न', आदि, उन पत्रों के नोके-टोंके, 'टिपेक्स'[3], हैं; पृथ्वी के जीव-जन्तुओं की, चेतनाओं की बुद्धियों की अहंकारों 'अहभावों' की, समष्टि का नाम, पृथ्वी-नामक ब्रह्म-के-अंड ब्रह्मांड की सूत्रात्मा का नाम, पार्थिव 'ब्रह्मा' है; इन ब्रह्मा की आसन-रूप, मांडाग्धनी, विकास-सकोच-भूमि, विस्तार-निस्तार-स्थान, जो यह पृथ्वी है,

उसी को पद्म कहते हैं; 'पृथिवी पद्ममुच्यते'। जल के गोले पर, कमल को उलट कर, पत्र फैला कर, रख दो, तो 'ग्लोब' का रूप झट देख पड़ जाता है। जल को चिपटा फैला कर, उसमे से कमल की नाल ऊँची निकाल कर, उसके ऊपर, आकाश की ओर उसका मुख कर के, कमल के पत्ते खिला दो, तो 'रूपक' बिल्कुल बिगड़ जाता है।

ऐसे ही, 'जीविका-कर्मणा वर्णः' के सिद्धान्त से समाज संस्कृत परिष्कृत होता है, बनता है; 'जन्मना वर्णः' से सर्वथा 'विकृत' होता है, 'बिगड़' जाता है।

सर्वार्थान् कुरुते बुद्धिर् विपरीतांस्तु तामसी।

तामसी बुद्धि सब अर्थों को विपरीत कर डालती है।

षड्भाग या दास्यत्वे प्रजाभिस्तु नृपः कृतः।

"अपनी कमाई में से छठां हिस्सा देकर, प्रजा ने, राजा को, अपना नौकर, चौकीदार, पहरुआ, रक्षा के लिये बनाया"; वह नौकर अपने को स्वामी समझने लगा; रक्षक से भक्षक बन गया; खादिम से हाकिम हो गया; सारी हवा उलट-पलट गई। ऐसे ही विद्वान् ब्राह्मण को, दान-मान देकर, प्रजा ने गुरु बनाया; उसकी बुद्धि ऐसी विपरीत हुई कि,

गुरवो बहवः संति शिष्यवित्तापहारकाः।
विरलाः गुरवस्ते ये शिष्यसंतापहारकाः॥

"शिष्य के वित्त का, धन का, अपहरण करने वाले, ठगने वाले, 'गुरु' तो देश में भर गये हैं; शिष्य के 'संताप' का, मानस शारीर दुःखों का, अपहरण निवारण करने वाले गुरु देख नहीं पड़ते।" यही कथा धनिकों की, 'वैश्यों' की, बुद्धि की विपरीतता की है; जो लक्षपति हैं वे कोटपति होना चाहते हैं; आश्रित सेवक वर्ग और प्रजा का, पर्याप्त मात्रा में, उचित प्रकारो से, अन्नवस्त्र से, भरण नहीं करते। ऐसे ही, 'सेवक' 'सहायक' 'शूद्र' वर्ग भी, 'द्विजों' के धर्मभ्रंश से, अपने धर्म-कर्म से भ्रष्ट हो रहा है। यह प्रसंगतः।

आकाश समुद्र में 'अनंत-शेष' नामक महासर्प, असंख्य 'मंडल' (गेडुरी) बाँधे हुए, प्रत्यक्ष ही फैला है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह चैतन्य की 'शक्ति' है, जो सब ब्रह्मांडों को, तारों को ('आर्ब्ज आफ़ हेवन' को)[1] सर्प के मंडलों, आवेष्टनों, के आकार में सतत घुमा रही है। ज्योतिष शास्त्र की दृष्टि से 'मिल्की-वे',[2] 'देवपथ', 'आकाश-गंगा', का भी रूप महासर्प का सा है; उसी के हज़ारों फणों, मंडलों, आवर्त्तों, चक्रों, में से एक के सिर पर रक्खा

[1] Orbs of heaven

[2] Milkyway

हुआ, उसी का, एक अणु, हम लोगों का सौर-जगत् है। 'शेष' इस लिये कि, असंख्य बेर सृष्टि-स्थिति-लय होते ही रहते हैं; विद्यमान सृष्टि से पूर्व जो सृष्टि, विगत कल्प वा महाकल्प में, हुई थी, उसी के 'शिष्ट', शेष', बचे हुए, प्राकृतिक तत्त्वों भूतों से यह नई सृष्टि बनी है। इसी हेतु से 'मनुः सप्तर्षयः चैव', 'शिष्ट' कहलाते हैं, पूर्व कल्प से 'अवशिष्ट', ठहर गये, हैं, इस कल्प के मानव जीवों को 'शिष्ट-आचार' की शिक्षा देने के लिये, उनको चतुः-पुरुषार्थ के साधन का उपाय बताने के लिये; जैसे पुरानी पुश्त, नई पुश्त को, पाल-पोस कर, लिखा-पढ़ा कर, जीविका का उपाय बता कर, रोजगार में लगा कर, अपने पैरों पर खड़ा कर, स्वावलम्बी स्वाधीन स्वतन्त्र बना कर, तब, स्वयं आराम विश्राम करने के लिये, पर-लोक को चली जाती है; जब तक नई पुश्त ऐसी पुष्ट नहीं हो जाती, तब तक पुरानी पुश्त 'ठहरी' रहती है, 'शिष्ट' रहती है।

'मधु कैटभ' की कथा, दुर्गासप्तशती में एक प्रकार से कही है; महाभारत, शांतिपर्व, अ० ३४७ में, दूसरे प्रकार से। रूपक ही तो हैं; भिन्न ग्रन्थों में, घटा-बढ़ा कर, प्रकार के भेद से, विविध रूप से कहे गये हैं। 'मधु' का अर्थ तमस्, और 'कैटभ' का रजस्, महाभारत के उक्त स्थान में कहा है। 'विष्णु' के 'कर्ण' के 'मल' से, अर्थात् श्रोत्रेन्द्रिय सम्बन्धी आकाश-तत्त्व के विकार से, ये राजस-तामस भाव अधिक बढ़े, ब्रह्मा के सात्त्विक, ज्ञानमय, वेदों को, उन्होंने छीन लिया, और 'ब्रह्मा' का, बुद्धितत्त्व महत्तत्त्व का, नाश करने को उद्यत हुए। तब 'विष्णु' ने, सत्त्वप्रधान देव ने, बहुत वर्षों तक उन दोनों से युद्ध करके, उनको, "उस स्थान पर जहां पानी नहीं था" मारा; पुनः सत्त्व का, ज्ञान का, उदय हुआ; ब्रह्मा की विधि-विधानात्मक, क़ायदा-मर्यादा से बँधी, सृष्टि का सम्भव हुआ। इत्यादि।

'बायालोजी', 'प्राणिविद्या', की दृष्टि से, पृथ्वी के आदि-काल में में, लाखों वर्ष पूर्व, जब जंतुओं की सृष्टि का युग आया, तब बड़े-बड़े, सौ सौ और डेढ़-डेढ़ सौ फ़ुट लम्बे, 'राजस-तामस' जन्तु ('सौरियन्स')' उत्पन्न हुए। उस समय, पृथ्वी का तल, अधिकांश जल से आर्द्र, गीला, कीचड़ के ऐसा था। 'सलिलेन परिप्लुता'। लाखों वर्ष में, पृथ्वी-तल अंशतः शुष्क और घन हुआ, प्राचीन भयंकर 'दैत्य-दानव' प्राणी धीरे-धीरे नष्ट हुए; क्रमशः सत्त्वाधिक मनुष्यों की उत्पत्ति का युग आया। इत्यादि।

(२) गंगा के रूपक का अर्थ, 'समन्वय' नामक ग्रन्थ में मैंने विस्तार से करने का यत्न किया है; और उसमें सम्बद्ध अन्य रूपकों का भी।

---

(३) वृत्रासुर की कहानी, वर्षा ऋतु का रूपक है। यास्क ने 'निरुक्त' में ही ऐसा स्पष्ट कहा है। पर, ऐसा जान पड़ता है कि, यास्क के समय में वह सब ज्ञान भारत से लुप्त हो चुका था जो, इस सम्बन्ध मे, अब पाश्चात्य विज्ञान ने पुनर्वार खोज निकाला है। यह रूपक, प्रति वर्ष की वर्षा का तो है ही; पर पृथ्वी पर जब वर्षा का प्रथम वार, आरम्भ हुआ, प्रायः उसका भी है। पाश्चात्य 'भूशास्त्र' ('जियालोजी')[१] बताता है कि, पूर्व युग में, लाखों बल्कि करोरों वर्ष पहिले, जब जल-स्थल का, समुद्रों और द्वीपों का, ऐसा विवेक और पार्थक्य नहीं था जैसा अब है, तब 'कार्बोनिक ऐसिड गैस'[२] के बड़े-बड़े बादल, पर्वताकार, उड़ते रहते थे। इसको पौराणिक रूपक में यों कहा है कि पर्वतों के पक्ष थे, पर थे। फिर जल-स्थल का पार्थक्य होने लगा। उस युग मे प्राणियों के रूप दूसरे थे; और उसके पीछे, क्रमशः, वृक्षों, पशुओं, मनुष्यों के रूप में बहुत परिवर्तन हुआ—इसका वर्णन मार्कण्डेय पुराण से उद्धृत करके, नये समय के अंग्रेजी शब्दों मे, मैंने अन्यत्र किया है[३]। क्रमशः, जल समुद्रों में एकत्र हुआ। सूर्य के ताप से भाफ उठ कर वर्षा का आरम्भ हुआ। पहिले, हवा मे, 'वृत्र-असुर' रूपिणी भाफ इतनी भरी कि 'देवताओं' का, अन्य प्राकृतिक शक्तियों का, काम रुकने लगा। आज-काल कल के कारखानों के 'एंजिनों' से धूंए के बादल निकल कर, आस-पास की, आदमियों की बस्ती को कितनी तकलीफ देते हैं, यह इसका प्रत्यक्ष नमूना है। 'इन्द्र' ने 'वज्र' से, बिजली से, भाफ को मारा वह मर कर जल रूप से पृथ्वी पर बह चली। 'इन्द्र' के 'हाथी' का नाम 'ऐरावत' है; 'इराः आपः' इरा एक नाम जल का है; 'इरावान्, समुद्रः'। समुद्र से पैदा हुआ 'ऐरावत' हाथी भी एक प्रकार का मेघ ही है; 'वृत्र' दूसरे प्रकार का मेघ है। पाश्चात्य विज्ञान का कहना है कि 'पाजिटिव' और 'नेगेटिव'[४] विद्युत् के सम्पात से, बिजली की ज्वाला, चमक, गरज, तड़प, आदि, उत्पन्न होते हैं। दधीचि ऋषि की हड्डी से इंद्र का वज्र बना; इसका भी अवश्य कोई रहस्यार्थ होगा; यहां वैज्ञानिकों की गवेषणा का प्रयोजन है; अस्थि में कोई विद्युज्जनक तत्त्व होगा; 'फास्फोरस'[५] तो होता है; उसमें चमक है; पर पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने विद्युत् से उसका सम्बन्ध तो स्यात् नही बताया है। वृत्र,

---

[१] Geology.

[२] Carbonic acid gas.

[३] *The Science of Social Organisation, or the Laws of Manu* Vol. 1, ch. 2.

[४] Positive ; negative.

[५] Phosphorus.

असुर होकर भी, 'त्वष्टा' नामक 'देवर्षि' का 'मानसपुत्र' था; इस लिये इन्द्र को ब्रह्महत्या लगी; (कहीं कथा के भेद से, वृत्र के बड़े भाई विश्वरूप के तीन सिर फाट डालने से, इन्द्र को यह ब्रह्महत्या लगी; और वे तीन सिर तीन पक्षी हो गये, 'कपिजल', 'कलविंक', और 'तित्तिरि'; यह रूपक के भीतर रूपक है; और इसका कुछ और गूढ अर्थ होगा)। उस ब्रह्महत्या को, चार जीवों में, चार वरदान के बदले, 'इन्द्र' ने बाँट दिया। पृथ्वी ने एक हिस्सा पाप का लिया; इससे कहीं-कहीं ऊसर हो जाती है; वरदान यह मिला कि खोदने से जो गढ़े हो जायँ, वे भर जायँगे। जल ने एक भाग लिया, काई, फेन, मल, उतराने लगा, रत्न भी, और बहुविध बहु-मूल्य पदार्थ भी, और जीव-जतु भी होने लगे। वृक्षों ने एक हिस्सा लिया; निर्यास, गोंद, रूपी मल बहने लगा; पर डाली कट जाने पर फिर से नई डाल पैदा होने लगी। स्त्रियों ने एक हिस्सा लिया, मासिक मलिनता होने लगी; पर 'नित्यकाम' का वर मिला। पुराण का सकेत प्रायः यह है कि, वह मैथुनीय प्रकार, सन्तानोत्पत्ति का, जो अब देख पड़ता है, वर्षा-युग के आरंभ से पहिले नहीं था। मार्कंडेय आदि पुराणों में, स्पष्ट शब्दों में, दूसरे प्रकार, मानव-संतानन के, कहे हैं। यह 'नित्य-काम' उस समय में तो चाहे 'वर-दान' समझा गया हो, पर, मानव-जगत् की वर्त्तमान अवस्था में तो 'शाप-दान' हो रहा है। मनुष्यों की संख्या की अतिवृद्धि से 'जीवन-सग्राम', 'स्ट्रगल फार लाइफ',[1] बहुत भीषण दारुण हो रहा है।

यह सब इतिवृत्त (जो भू-शास्त्र का विषय है) पृथिवी के, और उससे सम्बद्ध पदार्थों और प्राणियों के, जीवन में अवस्था के परिवर्त्तन का, स्पष्ट ही वर्षा से सम्बन्ध रखता है। वर्षा से ही भूमि-तल में ऊसर और उर्वरा का भेद उत्पन्न होता है, और खातों की पूर्ति होने लगती है। जल बह कर निम्न स्थलों में एकत्र होता है। वृक्षों के व्रणों का अवरोपण होता है, जख्म भर जाते हैं, नई डालियां, शाखें, शाखा, निकलती हैं। मानव-संसार में, पहिले, ऐसा अनुमान होता है, मासिक स्त्रीधर्म नहीं होता था; पुराणों में ऐसा सङ्केत है कि, एक युग, अति प्राचीन काल में, ऐसा हो गया है, जब स्त्री और पुरुष का भेद नहीं था, "अमैथुना. प्रजाः पूर्वम्"; फिर एक ऐसा युग ('एज')[2] आया जिसमें मनुष्य उभय-लिंग 'अर्धनारीश्वर' था, जैसा अब कृमि होते हैं; और कभी कदाचित् कोई कोई पशु, और मनुष्य भी, करोड़ों में एक हो जाते हैं। इत्यादि।

---

[1] Struggle for life.

[2] Age.

आध्यात्मिक शिक्षा, इन कहानियों की यह है कि एक गुण के साथ एक दोष लगा हुआ है।

नात्यंतं गुणवत् किंचिन् नात्यंत दोषवत्तथा । (म० भा०)

हर कमाले रा ज़वाले, व हर ज़वाले रा कमाले।

(४) हिरण्याक्ष की कथा, 'ऐस्ट्रानोमी' और 'जियालोजी',[1] ज्योतिष-शास्त्र और भू-शास्त्र, के इतिवृत्तों का रूपक जान पड़ता है। पाश्चात्य भू-शास्त्रियों का तर्क है कि, किसी अति प्राचीन काल में, पृथ्वी में भारी उपप्लव, विप्लव, 'कैटाक्लिज्म'[2], 'अधरोत्तर' हुआ, और एक बड़ा खंड टूट कर अलग हो गया; वही खंड क्रमशः चन्द्रमा बन कर पृथ्वी के आकर्षण से बँधा हुआ पृथ्वी के चारों ओर, लाखों वर्ष से, परिक्रमा कर रहा है। पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने तो यहाँ तक नाप-तौल का हिसाब लगाया है कि, यदि चन्द्रमा का चूर्ण बना कर 'पैसिफिक' महासागर में भरा जाय, तो उसका विशाल गर्त्त ठीक-ठीक भर जायगा। पौराणिक रूपक का संकेत यह है, कि पृथ्वी के शरीर में भयंकर उत्पात हुआ; ऐतिहासिक दृष्टि से सम्भव है, कि उस समय में, हिरण्याक्ष नाम का महासम्राट्, मानव-जगत् पर राज्य करता हो; एक महाद्वीप समुद्र में डूब गया; दूसरा टूट कर आकाश में मँडराने लगा; क्रमशः गोल होकर, 'भूमि' का, अर्थात् पृथ्वी का, पुत्र 'भौम' अर्थात् मंगल ग्रह (अंग्रेजी में जिसको 'मार्स'[3] कहते हैं) बन गया। यह निश्चय करना, कि भूमि से चन्द्र निकला, अथवा मंगल निकला, महा-वैज्ञानिकों का, अथवा योगसिद्ध सूक्ष्मदर्शी महर्षियों का, काम है। रहस्य-विद्या के अन्वेषी कुछ सज्जनों का तो यह मत है कि, पृथ्वी से चंद्रमा नहीं, प्रत्युत चद्रमा के शरीर से पृथ्वी के शरीर की उत्पत्ति हुई है, किंतु उपलब्ध पुराणों में इसका संकेत इस लेखक को नहीं मिला।

इस सम्बन्ध में, पुराणों के एक अन्य रूपक की भी चर्चा कर देना अनुचित न होगा। देवताओं के गुरु बृहस्पति के पास, चन्द्रमा, विद्या-ग्रहण के लिये, गये; उनकी पत्नी तारा को लेकर भागे, 'सग्रामे तारकामये', 'दिवि-स्थित' देवों में घोर संग्राम हुआ; अन्त में ब्रह्मा ने, चद्रमा से छीन कर, तारा को बृहस्पति के पास पुनः भेजा; चन्द्रमा से जो तारा को पुत्र हुआ, वह बुध, 'मर्क्युरी',[4] नाम का ग्रह हुआ; वह, एक बेर मानव-शरीर धारण कर, पृथ्वी पर आया; यहां उसका समागम, उभय-लिंग, अर्धनारी-

---

[1] Astronomy, geology.

[2] Cataclysm.

[3] Mars

[4] Mercury

अर्धपुरुष, सूर्यवंशी इला-सुद्युम्न के साथ, उस मासार्ध में हुआ, जिस समय 'इला' के शरीर में स्त्री की अवस्था अधिक व्यक्त थी; इला को पुरूरवा नामक पुत्र हुआ, उससे सोम-वंश चला। कृष्णपक्ष-शुक्लपक्षात्मक चांद्र मास से, स्त्रियों के आर्त्तव का, सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष ही है। इला-सुद्युम्न की कथा में प्रायः इसका भी संकेत होगा। यह सब रूपक के भीतर रूपक, कथा के भीतर कथा, की अनन्त शृंखला है।

पाश्चात्य ज्योतिर्विदों का कहना है, कि बृहस्पति ग्रह के चारों ओर नौ चन्द्रमा घूमते हैं, जैसे अपनी पृथ्वी के चारों ओर एक ही; इन नौ में से चार उतने बड़े हैं जितना इस पृथ्वी का चन्द्र; अन्य बहुत छोटे हैं। उनका कहना यह भी है, कि सौर-जगत् की वर्त्तमान अवस्था, करोरों वर्ष तक आकाश में बड़े-बड़े उथल-पथल, परस्पर की खींचातानी, और तोड़-फोड़ के बाद, स्थिर हुई है। उनमें से बहुतों का मत यह है कि, आदि-काल में, एक महाज्योतिर्लिंग वा ज्योतिर्गोल' ('नव्युला' [1]) का प्रादुर्भाव हुआ, जो कोटियों योजन, चारों दिशा में, तथा ऊपर-नीचे विस्तृत था; इसमें 'चक्र' के ऐसी 'भ्रमि' उत्पन्न हुई, और भ्रमि के वेग से, उससे टूट-टूट कर कई खंड उसके चारों ओर घूमने लगे, और क्रमशः अधिकाधिक घन होकर, सप्त, नव, वा दश, वा और अधिक, ग्रह बने। इस मूल तर्क में थोड़ा बहुत परिवर्त्तन किया गया है, पर अधिकांश अब भी पश्चिम में यही माना जाता है। इस विचार से, पौराणिक रूपक की संगति होती है। उस आदि-काल में जब 'तारकामय' संग्राम हो रहा था, संभव है कि, पृथ्वी के चंद्र, वा किसी अन्य 'देव' ने, अर्थात् स्वर्ग-आकाश के 'गोलक' ने, 'ब्रह्म के अंड' ने', बृहस्पति के नौ चन्द्र-ताराओं में से किसी एक को अपने आकर्षण के भीतर खींच लिया हो, और उनके टकराने से, एक टुकड़ा टूट कर 'बुध' बन गया हो, इत्यादि। बाद में, बुध से कुछ 'जीव', इस पृथ्वी पर, 'सूक्ष्म शरीर' में, आये हों, और यहां के मानव गर्भों में प्रविष्ट हुए हों; जैसे, सैकड़ों वर्षों से मनुष्य स्त्री-पुरुष, पृथ्वी के एक देश को छोड़ कर, दूसरे देश में जा बसते हैं अमेरिका की वर्त्तमान बस्ती सब यूरोप के देशों से गये हुए 'एमिग्रान्ट्स', [2] प्रवासियों, से ही बसी हुई है।

(५) अभी, १५ जनवरी, सन् १९३४ को भारत में, बिहार प्रान्त में, तथा नेपाल में, भारी भूकम्प हुआ; कितने शहर और ग्राम बरबाद हो गये, उस प्रान्त के पृथ्वीतल का रूप बदल गया, बीसियों हजार मनुष्य, पाँच-सात मिनट के भीतर-भीतर, मर गये। उसके बाद पाश्चात्य वैज्ञानिकों

---

[1] Nebula
[2] Emigrants

ने तथा भारतीय ज्योतिषियों ने अपने-अपने शास्त्र के अनुसार, कारणों का अनुमान किया, और पत्रों मे छपाया। अन्य बातों के साथ, पाश्चात्यों ने यह लिखा कि हिमालय पर्वत धीरे-धीरे ऊंचा होता जाता है। पृथ्वी के तल में स्थिरता नहीं है, कुछ न कुछ गति होती रहती है, कहीं ऊँचा कहीं नीचा होता रहता है; यथा, कृष्ण के शरीर छोड़ने के बाद, द्वारका समुद्र मे डूब गई। भागवत मे, कृष्ण के मुख से कहलाया है कि, 'पृथ्वी पर से मेरे चले जाने के बाद, द्वारका को समुद्र निगल जायगा।'

द्वारका तु मया त्यक्ता समुद्रः प्लावयिष्यति। (भागवत)

पर बम्बई के नीचे का तीर ऊंचा हो रहा है। पौराणिक रूपक है कि परशुराम ने 'समुद्र से जमीन मांग कर' अपना आश्रम बसाया, और नये ब्राह्मण बनाये; क्योंकि पुराने ब्राह्मणों ने उनको पृथ्वी छोड देने को कहा, जिन्ही ब्राह्मणोंके उपकार के लिये उन्हो ने, प्रजापीड़क, उद्दंड प्रचंड, दुर्दान्त क्षत्रिय राजाओ का, अन्य तीनवर्णो की सेना बना कर, दमन किया था। इसके विपरीत, भारत का पूर्वीय तीर डूबता जाता है। विशाखपत्तन '(वैजागापटाम)' नगर में, विशाख (अर्थात् स्वामिकार्तिक, कार्तिकेय, साम्ब, षण्मुख) का विशाल मन्दिर, जो पहाडी के ढार पर, ऐन समुद्र के किनारे बना था, वह अब समुद्र के जल के भीतर चला गया है; सारा पहाड़, क्या सारा तीर, धीरे-धीरे धँस रहा है।

ऐसे ही, कोई समय ऐसा था, जब विन्ध्य पर्वत उठ रहा था; उस समय अगस्त्य का तारा उत्तर मे था। पाश्चात्य ज्योतिषियो का कहना है, कि पृथ्वी की दो ही गति नहीं हैं अर्थात् अपने अक्ष पर घूमना, और सूर्य के चारो ओर घूमना; अपि तु ग्यारह या तेरह गतियां हैं; अक्ष भी अपना स्थान कई प्रकार से बदलता रहता है; इस लिये ध्रुव तारा भी बदलते रहते हैं; जो तारा अब उत्तरी ध्रुव तारा है, वह पंद्रह हजार वर्ष पहिले ध्रुव तारा नहीं था, दूसरा था; पौराणिक कथा है कि, उत्तान-पाद' क पुत्र 'ध्रुव' को, विष्णु ने वरदान देकर, ध्रुव का स्थान दिया; उनकी पत्नी का नाम 'भ्रमिः', (अर्थात् चक्कर खाना, गोल घूमना); उनके पुत्र, 'कल्प' और 'वत्सर', इत्यादि। इन नामों से ही स्पष्ट देख पड़ता है कि, यह कथा ज्योतिष का रूपक है। ध्रुव की कथा (भागवत, स्कंध ४, अ० ९) मे यह भी कहा है कि, 'षट्त्रिंशद् वर्षसाहस्रं' छत्तीस हजार वर्ष तक ध्रुव का राज्य रहैगा, अर्थात् इतने वर्ष के युग के बाद अक्ष का स्थान बदलेगा, और कोई दूसरे तारा की ओर, उत्तरी कोटि, अक्ष की, वेध करैगी। अक्ष के स्थान में यहां तक परिवर्तन होता है कि उत्तरी ध्रुव दक्षिणी, और दक्षिणी ध्रुव उत्तरी, हो जाता है, जैसे शीर्षासन में मनुष्य का सिर नीचे और पैर ऊपर हो जाता है। इस पूर्ण परिवर्तन में, लाखा बल्कि करोरों वर्ष लगते

हैं; इसके सिवा, अक्ष, लट्टू के ऐसा झूमता भी है, (अंग्रेजी में इसे 'प्रिसेशन' कहते हैं)[1]। जब-जब अक्ष के स्थान में, विशेष और सद्यः परिवर्तन होता है, तब-तब पृथ्वीतल पर विशेष उत्पात अधःपात होते हैं। ऐसा अनुमान किया जा सकता है, कि एक समय में ऐसा ही परिवर्तन हुआ; अगस्त्य का तारा जो पहिले उत्तर में देख पड़ता था, दक्षिण में आ गया, उसी समय विन्ध्य पर्वत लोट गया, और पृथ्वीतल की शकल ही बदल गई। अजब नहीं कि पश्चिम के भू-शास्त्रियों के 'गोंडवाना लैंड' की कथा इस पौराणिक विंध्य पवत की कथा से सम्बन्ध रखती हो। 'जीयालोजी', भू-शास्त्र, में कहे 'आइस एज', 'ग्लेशल एज' हिम-युग', आदि में, उष्ण कटिबंध, 'टारिड जोन', के स्थान में 'शीतकटिबंध', 'आर्क्टिक जोन'[2], के परिवर्त्तन में, और इसके विपरीत परिवर्त्तन में भी, अक्ष का स्थान-परिवर्त्तन ही कारण होता है।

महाभारत के कर्ण पर्व में दो श्लोक आये हैं, जिनका अक्षरार्थ ठीक नहीं बैठता। कर्ण का एक अति घोर घातक बाण, अर्जुन की ओर आते देख कर, रथ क पहिये को सारथिभूत कृष्ण ने, इस जोर से, पैर के आघात स, दबाया, कि वह 'पाँच अंगुल' जमीन में धँस गया।

रथस्य चक्रं सहसा निपीड्य, पचागुल मज्जयति स्म वीरः।

इसका फल यह हुआ, कि तीर अर्जुन के गले में न लग कर, मुकुट में लगा, और मुकुट गिर गया। श्रीकृष्ण ने पहिये को फिर निकाल लिया, इसके बाद, पृथ्वी ने कर्ण के रथ के पहिये को ग्रस लिया; कर्ण ने रथ से उतर कर, पहिया पकड कर, इस जोर से उभारा, कि सातों द्वीपो सहित, शैल-वन-कानन समेत 'चार अंगुल' पृथ्वी उठ गई, पर पहिया न छूटा।

सप्तद्वीपा वसुमती सशैलवनकानना।
गीर्णचक्रा समुत्क्षिप्ता कर्णेन चतुरंगुलम्॥

स्पष्ट ही यह कथानक असम्भाव्य, किमुत प्रहसन, है; यथा, पश्चिम की, "बैरन मंचासेन के पराक्रम' नाम की, बालकों को हँसाने की एक कहानी में लिखा है, कि एक समय यह वीर पुरुष घोड़े पर चलता हुआ सो गया; जब घोड़े की गति बंद होगई तो चौंक कर जागा; देखा कि दलदल में घोड़े के चारों पैर पेट तक धस गये हैं; दोनों घुटनों से उसने घोड़े को जोर से दाबा; गूँथी हुई अपनी मोटी चोटी ('पिग-टेल')[3]

---

[1] Precession

[2] Gondwana land, geology, ice age, glacial age; torrid zone, arctic zone

[3] Pig-tail

को दाहिने हाथ से मजबूत पकड़ कर, भारी झटका ऊपर की तरफ़ दिया; घोड़ा और सवार, दोनों, दलदल से बाहर, मिस्ल 'फुट-बाल' के जा गिरे, और चल दिये ! खुद पृथ्वी पर खड़ा कर्ण, सारी पृथ्वी को चार अंगुल उठा लेता है ! 'मंचासेन' की क्या ताब जो इसके आगे मुखड़ा दिखा सके ! इस रूपक का अर्थ यों ही बैठता है, कि कर्ण और अर्जुन के युद्ध के समय, या तो अच्च 'चार-पाँच अंगुल हिला', या और किसी कारण से (—भूकम्प के कई भिन्न-भिन्न कारण, वराह-मिहिर आदि ने भी, और पाश्चात्य वैज्ञानिकों ने भी, बताये हैं—) भूकम्प हुआ, भूमितल मे दरारें पड़ी, और बंद हो गई; जैसा भूकम्पों में अक्सर देखा जाता है, और बिहार के भूकम्प मे देखा गया; अर्जुन का पहिया तो निकल आया, और कर्ण का पहिया इस ज़ोर से दरार के बंद होने के समय उसमे पकड़ गया कि न निकल सका, और एक दूसरे के खून के प्यासे, दोनों शूर बीर, ऐसे भूकम्प से भी कम्पित न हो कर, लड़ते हो रहे, जब तक कर्ण मारा नहीं गया।

(६) अगस्त्य के प्रताप से समुद्र के सूख जाने और फिर भर जाने का भी व्याख्यान ऐसा ही जान पड़ता है। समुद्र के जल के क्षार होने के कारण के विषय में, पाश्चात्यों का मत है कि आदि से ही ऐसा है। पर उनका यह भी कहना है, कि समुद्र के जल मे जो क्षार है, वह ज्वालामुखी पर्वतों से निकले हुए 'क्लोराइड्ज़ और सल्फेट्स'[1] से बहुत मिलता है। इससे अनुमान हो सकता है कि पौराणिक ऋषियों की दृष्टि में, अगस्त्य के स्थान के परिवर्तन से सूचित, पृथ्वी के विशेष व्याकुल अंगविक्षेप अर्थात् विप्लव से स्फुरित, ज्वालामुखी पर्वतों में से, जो समुद्र के भीतर भी हैं, निकले हुए क्षारों से, समुद्र का जल क्षार हुआ हो; और इसी को उन्हों ने अगस्त्य के मूत्र द्वारा जल के विसर्जन के रूपक से कहा हो।

(७) अश्विनीकुमार की उत्पत्ति के रूपक की व्याख्या करने का यत्न, अन्यत्र, अंग्रेजी भाषा मे किया है[2]। यहां हिन्दी शब्दों में उसका संक्षेप लिखता हूँ।

'संज्ञा' का अर्थ चेतना, 'होश', है। वह सूर्य की, प्रकाशमय सर्व-सविता परमात्मा की, 'पत्नी', सहधर्मिणी, किं वा नामांतर मात्र, है ही। क्रमशः, पृथ्वी पर, जीवत् शरीरो मे, 'प्राणियों' में, (प्र-अनिति इति प्राणी, जो साँस ले), उस संज्ञा का आविष्कार हुआ। संज्ञा का रूप 'अश्विनी' का हुआ। 'अश्नति विषयान् इति अश्वाः,' वा 'आशु वहन्ति विषयान् प्रति जीव,

---

[1] Chlorides, sulphates

[2] *The Science of Social Organisation or The Laws of Manu* Vol. 2, pp. 598-602.

तथा जीव प्रति च विषयान्, इति अश्वाः, इन्द्रियाणि', 'इन्द्रियाणि हयान् आहुः', (उपनिषत्) ; 'अश्वाः तिष्ठन्ति यस्मिन् स अश्वत्थः ।'

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् । (गीता)

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः । (कठ उपनिषत्)

"ज्ञान और कर्म का इन्द्रियों को ही 'अश्व' कहते हैं । वे 'विषयों' को 'अश्नन्ति', चखती हैं; वा विषयों को जीव के पास और जीव को विषयों के पास ले जाती हैं । यह इन्द्रियां जिसमे स्थित हों, उसी का नाम 'अश्विनी' भी, और 'अश्वत्थ' भी । इस 'अश्वत्थ' (वट) के पेड़ का विशेष यह है कि, इसका मूल (मस्तिष्क, माथा) ऊपर होता है, और शाखा प्रशाखा (नाडियां) नीचे फैलती हैं । मानवशरीर का नाडी-सम्प्रदाय ('नर्वस् सिस्टेम')[1] ही यह 'अश्वत्थ' है । अश्वत्थ से उपमा इस लिये दी, कि वट-वृक्ष में भी 'बरोह' ऊपर से नीचे लटकती हैं । (अश्वत्थ का अर्थ पीपल भी किया जाता है; पर उससे उपमा ठीक नहीं बैठती, क्योंकि पीपल के पेड में 'बरोह' प्रायः नहीं देख पड़ती); इस अश्विनी की नासा से युग्म, जोड़ुआं, दो कुमार, एक साथ पैदा हुए । इनका नाम 'नासत्य' और 'दस्र' पड़ा । दक्षिण और वाम नासिका के श्वास-प्रश्वास ही यह 'अश्विनी-कुमार' हैं । 'अश्विनी' की 'नासा' से उत्पन्न हुए, इस लिए नाम भी 'नासत्यौ' पड़ा । 'दस्रौ' भी । अलग-अलग, एक का नाम 'नासत्य', दहिनी नासा के श्वास प्रश्वास का; दूसरे का नाम 'दस्र', बाईं नासा के श्वास-प्रश्वास का । 'दस्र' का अर्थ शीत भी है । 'ह-ठ-योग' की शिक्षा है कि, दक्षिण नासा, 'सूर्य्य-नाडी', 'ठ', के श्वास-प्रश्वास से, शरीर में गर्मी, उष्णता, बढ़ती है; वाम नासा, चन्द्रनाडी, 'ह', के श्वास-प्रश्वास से, ठंढ, शीतता, बढ़ती है । विविध प्रकारों से प्राण अपान का आयमन, आयाम, प्राणायाम ही मुख्य 'ह-ठ-योग' है ।

प्राणायामः परं बलम् ।

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् ।

प्राणायामः परं तपः । (मनु)

प्राणायाम ही 'देव-वैद्य' है, दिव्य औषध है, इसको विधा ठीक-ठीक जिसको विदित हो, और इसका अभ्यास उस विधा के अनुसार जो करे, उसको कोई रोग नहीं सता सकता । इत्यादि ।

अश्विनीकुमार के जन्म की कथा के साथ और भी कितनी ही सूक्ष्म-सूक्ष्म बातें कही हैं, जिनका अर्थ लगाना अति कठिन हो रहा है । यथा, सूर्य की, 'सुवर्ण-संज्ञा' मे दो पुत्र, वैवस्वत मनु, यम, और एक कन्या, 'यमुना' ।

---

[1] Nervous system

'छाया-संज्ञा' से दो पुत्र, भावी आठवें मनु सावर्णि, शनैश्चर (ग्रह), और एक कन्या 'तपती'। वैवस्वत तो, वर्तमान मन्वंतर के अधिकारी प्रजापति हुए; यमुना, नदी के रूप में पृथ्वी पर उतरीं; यम, प्रेतलोक के दंडधर नियत हुए; सावर्णि, आगामी मन्वंतर के अधिकारी प्रजापति होंगे; शनैश्चर, ग्रहों में रख दिये गये; तपती का विवाह, सूर्यवंशी इक्ष्वाकुवंशी महाराज संवरण के साथ हुआ। यम को 'छाया-संज्ञा' का शाप हुआ था; सूर्य ने, छाया-संज्ञा के वचन की मर्यादा रखने के लिये, इतना अंश उसका बचा रक्खा, कि प्रति वर्ष, एक महीना, यम के पैर को कीड़े खायँगे, और फिर वह पैर अच्छा हो जाया करैगा। इन सब कथाओं में, मानव-इतिहास (ऐन्थ्रोपालोजी), प्राणिविद्या (बायो-लोजी), भू-शास्त्र (जियालोजी), तथा ज्योतिःशास्त्र (ऐस्ट्रानोमी), के भी रहस्य भरे हैं—ऐसा अनुमान किया जा सकता है।[१] यथा, किसी युग, 'जियोलाजिकल एज', [२] में, नासिका और श्वास से युक्त प्राणियों की उत्पत्ति पृथ्वी पर प्रथम-प्रथम हुई; नाडी-व्यूह का आविर्भाव शरीरों में स्यात् तभी विशेष विस्पष्ट रूप से हुआ, सूक्ष्म कीटवत् जल-जन्तुओं में, जो श्वास-प्रश्वास नहीं लेते, नाड़ीव्यूह नहीं देख पड़ता; तथा अन्य उनसे कुछ थोड़ी उत्कृष्ट योनियों में भी, जिनमें पंच इंद्रियां व्यक्त नहीं हैं, कम ही है। जैसे शनैश्चर स्पष्ट ही एक ग्रह है, वैसे 'यम' भी स्यात् वह ग्रह हो सकता है, जिसको पाश्चात्य विद्वान् 'वल्कन' कहते हैं, या वह जिसका नाम उन्होंने 'प्लूटो' रक्खा है। ग्रीस देश के 'पुराण' ('मैथालोजी') मे 'वल्कन' एक देव का नाम है, और वह भी लँगड़े कहे हैं; परन्तु उनका कर्म वह कहा है, जो वैदिक पुराणों में 'त्वष्टा विश्वकर्मा' का बताया है, अर्थात् सब प्रकार की कारीगरी; और प्लूटो नामक देव को प्रेत-जीवों का राजा कहा है, और उनका स्थान पृथ्वी के भीतर महाविवर मे बताया है। अब पाश्चात्य ज्योतिषियों ने, सन् १९३० मे, एक नये ग्रह का पता लगाया है जिसका नाम उन्होंने, ग्रीक पुराण से लेकर, 'प्लूटो' रक्खा है। यह ग्रह बहुत छोटा है, और उसकी चाल में कुछ विचित्रता भी है, जिससे उसको 'लँगड़ा' कहना सार्थ होता है। इत्यादि।[३]

(८) अहल्या के उपाख्यान का अर्थ लगाने का यत्न, 'पुरुषार्थ' नाम के ग्रन्थ के 'कामाध्यात्म' अध्याय में, मैं ने किया है[४]। इसकी कृषि-शास्त्रीय

---

[१] Anthropology, biology; geology, astronomy. [२] Geological age. [३] Vulcan; Pluto, mythology

[४] यह ग्रन्थ आधा छप गया है। आशा है कि थोड़े ही महीनों मे पूरा छप कर प्रकाशित हो सके।

('ऐग्रिकल्चरल्')[१] व्याख्या यह हो सकती है कि, 'शतानन्द' नामक पति, जो, यदि अपनी 'हल-योग्या' 'हल्या' भूमि की उचित रीति से कृषि करते, तो 'सैकड़ों आनन्द' उससे प्राप्त करते, उसको 'हल-रहिता' 'अहल्या' 'अकृष्टा' छोड़ कर चले गये; 'इन्द्र' और 'चंद्र' ने, जो विद्युत्, जल, वर्षा के देव हैं, उस भूमि को भ्रष्ट कर दिया; वह अनुपजाऊ, पाषाणवत्, हो गई; जब रामचन्द्र ने उसको घूम फिर कर, पाद-चारण, 'पाद-स्पर्श', करके, देखा, और उसका उचित प्रबन्ध किया, तब वह फिर चेतन हो उठी। आयुर्वेदीय ('मेडिकल') शिक्षा इस आख्यान से यह मिलती है, कि व्यभिचार दोष से 'इन्द्र' को, राजा को, सहस्र व्रण वाला, उपदंश, ('सिफिलिस') नामक, भयंकर रोग हो गया, तथा चन्द्रमा को राजयक्ष्मा, क्षय ('थाइसिस');[२] ऋषि की आराधना करने से, उचित चिकित्सा करने से, रोग अच्छे हुए; पर चिह्न और शेष कुछ न कुछ रहो गये।

नैतादृशमनायुष्यं यथैतत्पारदारिकम्। (मनु)

"परदार-गमन के ऐसा आयुर्नाशक कोई दूसरा दुराचार नहीं"; इससे जो आधि-व्याधि उत्पन्न होते हैं, वह पुश्त दर पुश्त भयङ्कर रूप दिखाते हैं, तरह-तरह के उन्माद, तरह-तरह के कुष्ठ आदि चर्म रोग भी। मनु ने कहा है कि पाप अपना फल दिये बिना नहीं रहता।

न त्वेव तु कृतोऽधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः।
यदि नाऽत्मनि पुत्रेषु, न चेत्पुत्रेषु नप्तृषु॥

"यदि स्वयं पाप करने वाले पर नहीं, तो उसके लड़कों पर; नहीं तो नाती-पोतों पर"; व्यभिचार से उत्पन्न रोगों का ऐसा पुश्त दर पुश्त संचार प्रत्यक्ष ही देख पड़ता है। 'बाइबल' में भी यही बात कही है, कि पितरों के पाप का दंड, तीसरी चौथी पुश्त तक, उनको संतान को भोगना पड़ेगा। उनके पुण्य का फल, उत्तम शरीर, उत्तम बुद्धि, धन-संपत्ति आदि के रूप में, भोगते हैं, तो पाप का फल क्यों नहीं? अंततो गत्वा, प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख का कारण, अपना ही पूर्व-कर्म होता है। जिसी से अच्छे या बुरे कुल में जन्म होता है, और अच्छा या बुरा शरीर, बुद्धि, आदि मिलती है।

अध्यात्म-शास्त्र के उन अंगों की दृष्टि से, जिसको अब 'साइकिएट्री'[३] और 'सैको-ऐनालिसिस' कहते हैं, अर्थात् 'आधि-चिकित्सा', मनोरोग-चिकित्सा, इस कथा का यह अर्थ हो सकता है कि, महामानस ('शॉक') से, अहल्या को, 'टेटनस' वा 'सिनकोपी' के प्रकार की निःसंज्ञता, स्तब्धता, की बीमारी हो

---

[१] Agricultural.

[२] Medical, syphilis, phthisis

[३] Psychiatry, psycho-analysis, shock, tetanus, syncope

गई, जो रामचन्द्र के पदस्पर्श से, कोमल-सुख-स्पर्श से, 'मैग्नेटिक टच्' से, अच्छी हुई।[1] इत्यादि।

(९) समुद्र-मंथन की कथा तो प्रायः स्पष्ट ही है। आकाश-समुद्र में, द्वन्द्वात्मक विरुद्ध शक्तियां, 'देव-दैत्य', 'मंदर' पर्वत ('मैटर', महाभूत समूह) के द्वारा, मथन कर रही हैं; 'चक्रवत्' वह 'मंदर' 'भ्रमता' है, घूमता है, एक बेर एक ओर फिर उसके विरुद्ध दूसरी ओर; 'ऐक्शन' और 'रि-ऐक्शन', क्रिया-प्रतिक्रिया, के न्याय से। सर्प ही वेष्टनी, नेत्री, रस्सी है, अर्थात् संसार मे सब वस्तुओं की गति सर्प-मंडलाकार, कुंडलाकार, 'कुंडलिनी' ('स्पाइरल' और साइक्लिकल') होती है; ऐसे विरोधी घर्षण से, 'संघर्ष' से, प्रतिस्पर्धा से, सब प्रकार के अनुभव उत्पन्न होते हैं; चौदह रत्नों' का नाम विशेष करके बता दिया; एक-एक मे रहस्यार्थ भरा होगा।[2]

(१०) प्रियव्रत के रथ के सात बेर घूमने से सात द्वीप, सात समुद्र, बन जाने का अर्थ, माडम ब्लैवैट्स्की के महाग्रन्थ 'दी सीक्रेट डाक्ट्रिन्'[3] का आश्रय लिये बिना समझ में नहीं आता। जैसे उपनिषदों और पुराणों में 'त्रिक' की, ('सर्वमेतत् त्रिवृत् त्रिवृत्'), तथा 'पंच' की, (पंच ज्ञानेंद्रिय, पंच कर्मेंद्रिय पंच महाभूत, पंच अंगुली, पंच प्राणों में 'पंच स्रोताम्बु', 'पंचपर्वा' अविद्या आदि, दर्शन ग्रन्थों मे, उपनिषदों मे, कही हैं), वैसे 'सप्त' की भी महिमा है, (सप्तऋषयः, सप्तप्राणाः, सप्तार्चिषः, सप्तजिह्वाः, सप्तहोमाः, सप्तलोकाः, सप्तद्वीपाः, सप्तसमुद्राः, प्रभृति)। एक परिपाटी, इस विषय के विचार की, यह है, कि मानव-जीवों का समूह, प्रत्येक महामन्वतर में (मन्वतर शब्द का अर्थ, दो मनुओं के बीच का, अन्तर का, काल—ऐसा कुछ विद्वान् करते हैं) सात बेर, सात महाजातियों में ('रेसेज़' मे) जन्म लेता है। एक-एक महाजाति, एक-एक नये द्वीप में, अधिकतर, अपने निर्दिष्ट युग, अर्थात् काल-परिमाण ('साइक्ल', 'पीरियड')[4] को भोगती है। प्रत्येक महाजाति मे अवान्तर सात-सात जातियां होती हैं। रामायण की कथा में, जाम्बवान् ने कहा है कि, "जब मैं जवान था, तब वामनावतार के समय में, जब से वामन ने तीन क्रम, 'क़दम', बढ़ाये, तब से मैंने इक्कीस बार पृथ्वी की परिक्रमा कर ली, पर अब तो बूढ़ा हो गया, समुद्र पार न कर सकूँगा; इस लिये हनुमान् को ही समुद्र को तैर कर पार करना चाहिये"। इक्कीस बार

---

[1] Magnetic touch

[2] Matter, action-reaction, spiral, cyclical

[3] Madam H. P Blavatsky, *The Secret Doctrine*

[4] Races, cycle, period.

परिक्रमा का भी अर्थ कुछ ऐसा ही होगा, कि एक विशेष जीव-समूह ने, ऋक्ष जाति की सूत्रात्मा ने, उतने काल में इक्कीस बार जन्म लिया, इत्यादि। प्रियव्रत के रथ की परिक्रमा का अर्थ कुछ ऐसा हो। अनुमान से जान पड़ता है। पाश्चात्य भू-शास्त्री भी कहते हैं कि, पृथ्वी के महाद्वीप, समुद्र में डूबते-उतराते रहते हैं; और पृथ्वी का स्थल-जल-सन्निवेश बदलता रहता है। ऊपर 'गोंडवाना-लैंड' की चर्चा की गई। पाश्चात्य वैज्ञानिक, इसका दूसरा नाम 'लेम्युरिया' बतलाते हैं। भारतवर्ष और अफ्रीका का मध्य-भाग इसमें शामिल था; 'इन्डियन ओशन' स्थलमय था। उसके टूट कर डूबने पर, नया सन्निवेश बना। तथा, सबसे पुराना समुद्र 'पैसिफिक' है उसके बाद 'इन्डियन ओशन', उसके बाद एटलांटिक ओशन' बना। इत्यादि।[1]

(११) निरुक्त में कहा है, 'पश्यकः, सूर्यः, कश्यपो भवति'। सूर्य ही का नाम कश्यप है। सूर्य की विशेष शक्ति वा विभूति, पृथ्वी का अधिकारी देव बन कर, कश्यप 'ऋषि' कहलाई। 'अदिति', पृथ्वी का ही नाम है। 'दिति' आदि भी पृथ्वी के रूप हैं, अंश, 'आसपेक्ट' 'पहलू' हैं। इस प्रकार के तेरह 'अंशों' से, तेरह प्रकार के, तेरह मूल 'जाति', 'आर्डर्स', के, जीव उत्पन्न हुए। 'आदित्य', 'दैत्य', 'दानव', 'मानव', पशु, पक्षी, सर्प, जल-जन्तु आदि। यह सब 'बायालोजी,' 'जूआलोजी', शास्त्रों के तथ्यों के रूपक हैं।[2]

विनता को प्रायः गरुड और अरुण की माता कहा है। अरुण, सूर्य के सारथी हैं; प्रातःकाल की रक्तिमा का नाम है। गरुड, विष्णु के वाहन हैं; 'छन्दोमयेन गरुड़ेन समुह्यमानः', ऐसा विष्णु का वर्णन किया है; वायु पुराण में कहा है कि 'विनता' छन्दों की माता है। कद्रू का अर्थ 'कुत्सित' भी है; 'सोम रस रखने का भूरे रंग का पात्र' भी है; 'सर्पों की माता' भी है। गरुड पक्षी सर्पों को खा जाता है। महाकाल के प्रवाह की सूचना गरुड के महावेग और महाबल और परमात्म-स्वरूप विष्णु के वाहनत्व से होती है; वैदिक छन्द विष्णु की स्तुति करते हैं; उनके सुप्रयोग से 'वैष्णवी' शक्ति का आवाहन हो सकता है, और मनुष्य को सहायता मिल सकती है। सर्प छोटे-छोटे 'मंडलाकार' 'कुंडलित' 'साङ्क'[3] युग हैं, उनको महाकाल खा जाता हैं। कद्रू को इच्छा होती है कि 'सर्प' अमृत पीकर अमर हो जायँ; नासमझ जीव चाहता है, कि हमारा जन्ममरणधर्मा स्थूल शरीर ही

---

[1] Gondwana land, Lemuria, Indian Ocean; Pacific Ocean, Atlantic Ocean

[2] Aspect, orders, biology, zoology.

[3] Cycle

अमर हो जाय; विनता को ठगने का यत्न करती है। 'सहस्रार' चक्र में, ब्रह्मरंध्र में, 'अमृत' का घड़ा रक्खा है; जो जीव, योगसाधन से ब्रह्मरंध्र तक पहुँचता है, आत्मा का स्वरूप, अपना स्वरूप, पहिचान लेता है, वह अमर हो जाता है; 'अमर हो जाता है' का अर्थ है, अपनी, आत्मा की, अमरता को पहिचान लेता है; 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्म भवति'; कोई नई अमरता उस को नही मिलती; कैसे मिल सकती है ? भूली हुई, अपने भीतर भरी हुई, अमरता को याद कर लेना ही तो अमर हो जाना है। गरुड़ सच्चे योगी, तो योग-बल से, 'छन्दोमय' मंत्र का जप, ध्यान, मनन करने से, दो पक्ष और एक चंचु के, इड़ा, पिंगला, और सुषुम्ना के बल से, 'सहस्रार' तक पहुँच कर, उस घड़े को लाते हैं; पर वाम-मार्गी, अहंकारी, राग द्वेष के दुष्ट भावो से भरे, सर्प, उसको नहीं पा सकते; अपनी जिह्वा को दुभासिया, झूठी, बना लेते हैं। वे अमृत नहीं पी सकते, सोम ही पी सकते हैं, जिससे नशा होता है 'इन्द्रोऽमाद्यत सोमेन'; मालूम होता है कि भाँग की-सी कोई नशीली औषधि रही; उसको बहुत से लोग मिल कर राजस-तामस प्रत्यक्ष पशु-यज्ञ मे, पीते थे। और मांसादि खूब खाते थे; जैसे आजकाल भी 'सेरी मोनियल डिनर्स'[1] मे। 'सात्त्विक यज्ञ' दूसरी ही वस्तु थी, काम-क्रोध-मोह-भय-अहंकार का बलिदान उसमे किया जाता था; अपने भीतर के पशुओ का; बाहरी का नहीं। सोम ओषधि के कई प्रकार होते हैं, ऐसा भी पुराने ग्रंथों से जान पड़ता है; एक प्रकार का प्रयोग, कायकल्प के लिये, शरीर के नवीकरण के लिये, किया जाता था; 'अमेरिकन इन्डियन' लोग 'मेस्कल' नाम की एक ओषधि जानते हैं, जिसके खाने से कुछ देर के लिये सूक्ष्म इंद्रिय, दिव्य चक्षु, दिव्य श्रोत्र ('क्लेयरवायस' आदि) खुल जाते है।[2]

(१२) मनुष्य-शरीर क्षुद्र-विराट् है; ब्रह्माड में, महाविराट् मे, जो पदार्थ हैं, वह सब इसमे भी हैं। इसके बीच मे 'मेरुदंड', 'पृष्ठवंश', है। उसमें तैंतीस गुरिया ('वर्टिब्री') हैं। बारह 'आदित्य', ग्यारह 'रुद्र', आठ 'वसु', दो 'इन्द्र-प्रजापति' वा 'अश्विनी-कुमार'। पच्छिम के शारीर-शास्त्री ('एनाटोमी-फिसियालोजी' के वैज्ञानिक) कहते हैं कि, गले में सात ('सर्विकल'),पीठ में बारह ('डार्सल' वा 'थोरासिक'), उनके नीचे कटि में पाँच ('लम्बर'), उनके नीचे कमर मे पाँच ('सैक्रल'), उनके नीचे पृष्ठ-मूल मे चार ('काक्सिजियल'); तैंतीस की गिनती दोनों प्रकार में मिलती है;[3] विभाजन,

---

[1] Ceremonial dinners

[2] American Indian , mescal ; clairvoyance.

[3] Vertebrae ; anatomy, physiology , cervical , dorsal or thoracic ; lumbar ; sacral ; coccygeal

वर्गी-करण, मे भेद है। मस्तिष्क के कंदों से, और इन गुरियों से निकलने वाली और उनमें पैठने वाली नाड़ियों से, ज्ञान और कर्म की इंद्रियों का सम्बन्ध है; तत्तत् इन्द्रिय, और तत्तद्विषयभूत पच-महाभूतों के अभिमानी, चैतन्यांश, 'देव' कहलाते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पॉच कर्मेंद्रिय, एक मनस्, इन ग्यारह इंद्रियों के 'अभिमानी', 'अहकारवान्', देवता, ग्यारह 'रुद्र' कहलाते हैं।

पर्वभिर्निर्मितो यस्मात् तस्मान्मेरुस्तु पर्वतः।
तत्र सचारिणी देवी शक्तिराद्या तु पार्वती॥
तस्य मूर्ध्नि स्थितो देवो ब्रह्मरन्ध्रे महेश्वरः।
अनन्ताना च केलीना तयोः कैलास आसनम्॥
मानस्य एव ताः सर्वाः, सरस्तस्माच्च मानस।
दीव्यन्ति, यत्तु क्रीडति विषयैरिंद्रियैरपि,
तस्माद्देवा इति प्रोक्तास्तास्ताः प्रकृतिशक्तयः॥
महेश्वरस्यात्मनस्तु सर्वे ते वशवर्त्तिनः।
'इदम' द्रावयत्यस्मादात्मेदद्रस्तु कथ्यते॥
'इदद्र' सतमात्मान 'इन्द्र' आचक्षते बुधाः।
देवानामाश्वरश्चेंद्र इति पौराणिकी प्रथा॥

इस प्रकार से सग्रह श्लोक कहे जा सकते हैं।

शिव के सिर से आकाश-गगा बहती है; वही सुषुम्ना है; 'सु-सु म्ना', 'अति उत्तम मनन', 'महा-आनन्द'। उसकी 'धारा' को उलटी बहावै, प्राण-शक्ति 'रा-धा' की उचित उपासना करै, 'ऊर्ध्व-रेतस्', 'ब्रह्मनाल' से (जो स्थूल काशी नगरी की एक गली का नाम है) 'मणि-कर्णिका' घाट को जाय, तो 'ब्रह्म-लाभ' हो, 'तारक' मत्र मिलै, तर जाय, मुक्त हो जाय। मेरु के ('स्पाइनल कार्ड' के) बीच की नाली ही, प्रायः 'सुषुम्ना' शब्द से संकेतित होती है। उसके दहिने तरफ 'पिंगला', और बाई ओर 'इडा', कही जाती हैं; ये प्रायः दोनों 'सिम्पाथिक नर्व्ज़ हैं'। कुडलिनी का, जो शक्ति की एक रूपान्तर[1] ही है, इन नाड़ियों स सम्बन्ध है। योग-वासिष्ठ के निर्वाण-प्रकरण के पूर्वार्ध के अन्तिम अध्यायों में, तथा अन्य ग्रन्थों में, भिन्न प्रकारों से, इसका सकेत मात्र वर्णन किया है। इत्यादि।

यह सब 'क्रिया', विविध 'योग-मार्गों' के प्रक्रियात्मक अभ्यास का विषय है, बिना उच्च-कोटि के अनुभवी, यम-नियमादि मे निष्णात, सद्गुरु के, तथा बिना वैस ही सच्चे हृदय से युयुक्षु, मुमुक्षु, शुद्ध पवित्र चरित्र युक्त

---

[1] Spinal cord, sympathic nerves

शिष्य के, इन गूढ़ रहस्य विषयों का पता चलना, कठिन है; और योग की भूमियों को, उस रहस्यज्ञान की सहायता से, क्रमशः पार करने वाला अभ्यास करना तो अति कठिन है।

अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य-अपरिग्रहाः यमाः।
शौच-सन्तोष-तपः-स्वाध्याय-ईश्वरप्रणिधानानि नियमाः। (योग-सूत्र)
अभ्यासेन तु, कौंतेय, वैराग्येण च गृह्यते। (गीता)
तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन् मुजादिषीकामिव धैर्येण।
इह चेद् अशकद् बोद्धु प्राक् शरीरस्य विस्रसः,
ततः सर्वेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते।
लब्ध्वा विद्या योगविधि च कृत्स्न,
ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युः। (कठ०)

यह सब गीता और उपनिषदों के वाक्य हैं। आशय यह है कि, वेदांत के निश्चित ज्ञान से 'चित्त-विमुक्ति' हो जाती है; पर उसके पीछे भी, 'योग-विधि' से, सूक्ष्म शरीर को स्थूल शरीर से बाहर निकाल सकने से, 'शारीर मुक्ति' होती है, तथा 'चित्त-विमुक्ति' अधिक दृढ़ होती है। मुहम्मद ने भी, कुरान में कहा है, 'मुतो कब्लुन तमूतो', यानी मौत से कब्ल मौत को जानो; मरने से पहिले मरो; जीते जी 'जिस्मि-कसीफ' से 'जिस्मि-लतीफ' को अलग करने की शान को हासिल करो। मुल्ला जामी ने कहा है—

यक बार मिमीरद हर कसे, बेचारः जामी बारहा।

यानी "और लोग तो एक ही बार मरते हैं, बेचारा जामी बार-बार मरता है;" यानी स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर को निकाल कर, उसके द्वारा दूसरे लोकों की, आलमों की, सैर करता है।

कुछ अन्य रूपक

ऐसे ही रूपक, पद पद पर, पुराणों में भरे हैं। यथा जब इंद्र की सौतेली माता दिति (पृथ्वी) गर्भवती थी, और इंद्र का भयंकर शत्रु उससे उत्पन्न होने वाला था, तब इंद्र (विद्युत्) ने, उसमें योगबल से प्रवेश करके, वज्र से उसके सात टुकड़े किये, और जब वे सात रोने लगे, तो 'मत रो', 'मत रो', कह कर, एक एक के सात सात टुकड़े किये; इससे उनका नाम उनचास 'मरुत्' (वायु) हुआ, और वह गर्भ से निकल आये; फिर इंद्र ने दिति से अपना अपराध क्षमा कराया, और दिति ने इंद्र और मरुतों में सदा के लिये मित्रता करा दी। अवश्य ही इस बुद्धिपूर्वक गढ़े हुए रूपक का कुछ विशेष अर्थ होगा। स्यात् वैसा ही कुछ हो, जैसा पच्छिम के वैज्ञानिक लोग अब कहते हैं, कि बहुत किस्म की 'गेस'[1] होती है। और 'सात' संख्या का भी,

---

[1] Gas.

इनके क्रमिक विकास ('ईवोल्यूशन') से, सम्भवतः कुछ वैसा संबंध हो सकता है, जैसा पाश्चात्य रूसी वैज्ञानिक मेंडेलेयेफ के पाये और बतलाये 'पीरियाडिक ला' में दिखाया है; अर्थात् आदिम परमाणुओं से इतनी इतनी 'संख्या' पर, ऐसे ऐसे 'केमिकल एलिमेंट्स' बनते हैं; 'सांख्य' दर्शन में पंच-भूतों की क्रमिक उत्पत्ति, वेदांत का 'पंचीकरण', आदि भी, इन भावों से मिलते हैं। ऐसे ही मत्स्य पुराण में, अग्नि की पत्नियां, उनके बेटे, पतोहुएं और पोते, सब मिलकर उनचास अग्नि कहे हैं। निश्चयेन यह भी निरी कहानी नहीं हो सकती। पच्छिम के वैज्ञानिकों ने तरह तरह की 'रे' निकालना शुरू किया है।[1] पर क्या ठीक अर्थ है, यह कहना अब कठिन हो गया है। भारत के शील के साथ साथ, ज्ञान का भी सर्वथा ह्रास हो गया है।

कुछ सीधे ऐतिहासिक रूपकों की भी चर्चा कर देना उचित होगा। इनका अर्थ सरल और प्रायः निस्सन्देह है।

बहुत पूर्वकाल में, परम यशस्वी ध्रुव के वंश में, अंग का पुत्र वेन हुआ। बड़ा दुष्ट निकला। बाल्य काल में ही, अन्य बालकों की हत्या तक उसने आरम्भ किया। अंग राजा, नितांत निर्विण्ण होकर, रातों रात जंगलों में जाकर लापता हो गये। मंत्रियों ने ऋषियों से निवेदन किया। अराजकता में महादोष, वेन के अभिषेक की आज्ञा दी। राज-सिंहासन पर बैठ कर, वेन और भी मदमत्त हो गया; प्रजा को अति कष्ट देने लगा; सारी समाज-व्यवस्था को बिगाड डाला, धर्म-कर्म, जीविकावृत्ति, को संकर कर दिया; भेरी के घोष से, यह आज्ञा देश में घुमाई, कि ईश्वर की, देवों की, पूजा कोई न करै, सब मेरी ही पूजा करैं, क्योंकि,

एते चान्ये च विबुधाः, प्रभवो वरशापयोः,
देहे भवति नृपते, सर्वदेवमयो नृपः।

"सब देवता, राजा के शरीर में ही हैं; वही वर और शाप का देने वाला है"। ऋषियों ने आपस में सलाह की,

अहो उभयतः प्राप्तं लोकस्य व्यसनं महत्;
दारुण्युभयतो दीप्ते इव, तस्करपालयोः।
अराजकभयादेष कृतो राजाऽतदर्हणः;
ततोऽप्यासीद् भयं त्वद्य; कथं स्यात्स्वस्ति देहिनाम्।
माताणः समदृक् शान्तो दीनानां समुपेक्षकः,
स्रवते ब्रह्म तस्यापि, भिन्नभाण्डात्पयो यथा।

"काठ के टुकड़े में दोनों ओर से आग लगा दी जाय, वह दशा प्रजा की हो गई; अराजकता में चोर डाकुओं के भय से इसको राजा बनाया; यह

[1] Evolution, Periodic Law, Chemical Elements, Rays.

उनसे भी अधिक दुष्ट निकला; प्रजा का कैसे भला हो ? समदर्शी, ब्रह्मज्ञानी, शान्त, दान्त, त्यागी, तपस्वी, ब्राह्मण, यदि दीन प्रजा को दुर्दशा देखता हुआ उपेक्षा करै, तो उसका ब्रह्मज्ञान नष्ट हो जाता है जैसे फूटे बर्तन में से दूध।"

ऋषियों ने राजा वेन को समझाने का यत्न किया; एक न सुना; तब उन्होंने उसको 'हुंकार' से मार डाला। वेनकी 'बाई' जांघ को मथा'; उसमें से अति कुरूप बुद्धिहीन पुरुष उत्पन्न हुआ, उसको ऋषियों ने, "निषीद" 'अलग बैठ जाओ', ऐसा कहा; उससे 'निषाद' जाति उत्पन्न हुई। वेन की दक्षिण और वाम भुजाओं को ऋषियो ने मथा; दाहिनी से पृथु निकले; और बाईं से अर्चिः नाम की कन्या, दोनो का विवाह कर के, पृथु का राजपद पर अभिषेक किया।

अर्थात्, वेन की संतान में ऋषियों ने खोज की; उसके दुराचार व्यभिचार से उत्पन्न, कुरूप कुबुद्धि जन्तुओ को, 'निषादों' को, अलग कर दिया; सद्विवाह धर्म-विवाह से उत्पन्न, सदाचारी पृथु को राजा बनाया, और उसी वंश की उत्तम कन्या से उसका विवाह कर दिया। उस आदि काल में सपिंडों सगोत्रों का भी कभी-कभी विवाह हो जाता था; यथा ईजिप्ट देश में 'फेरो' 'फ़रऊन', का, तथा पेरू देश मे 'इंशा'[1] राजाओ का, बहुधा अपनी बहिन से ही विवाह होता था।

पृथु बड़े प्रतापी, यशस्वी, प्रजा-पालक, नूतन-युग-प्रवर्तक हुए। उनके समय मे अकाल पड़ा; प्रजा भूखों मरने लगी; राजा से आक्रन्दन किया; धरा वसुन्धरा धरित्री भूतधात्री (पृथ्वी) पर पृथु को बड़ा क्रोध हुआ, उसको धमकाया, 'तू क्यो मेरी प्रजा को अन्न नही देती ?' धरा देवी ने 'गौ' का रूप धारण किया; आदिराज पृथु ने, 'मनु' को (कुटुम्बी प्रजापतियों को) 'वत्स', बछवा, बना कर, गौ को 'वत्सला' दुग्धवती पिन्हा कर के, उससे सब ओषधियों, अन्नों, को दूहा; बृहस्पति (ज्ञानियों) को वत्स बना कर, ऋषियों ने 'छन्दोमय' वेद, समस्त ज्ञान, दूहा; इन्द्र को, (इन्द्रियों की शक्ति को), वत्स बना कर देवों ने 'सोम' वीर्य, ओजस्, बल, दूहा, दैत्य दानवों ने, दुष्टों ने, 'सुरा', शराब; अप्सरा और गंधर्वों (कलावन्तो) ने, (गां, वाचं धयति इति गंधर्वाः, आपः सरंति आभिः इति अप्सरसः, द्विप्रकाराः सूर्यस्य रश्मयः) 'गांधर्व मधु', संगीत विद्या, सिद्ध विद्याधरों ने विविध विद्या और सिद्धियां; मायावियो ने तरह तरह की माया; राक्षसों ने रुधिर; विषधरों ने विष; वृक्षों ने विविध प्रकार के रस; पशुओं ने मातृदुग्ध; पर्वतों ने नाना प्रकार के धातु; इत्यादि। सब प्रकार से प्रजा का 'रंजन' हुआ, इस लिये प्रजा ने पृथु को 'राजा' कहा,' 'आदिराज' माना, धरा को पृथु ने अपनी पुत्री माना, इसका

---

[1] Pharaoh.

नाम 'पृथ्वी' हुआ; (ज्योतिष में पृथ्वी नाम इसलिये रक्खा गया है, कि सब ग्रहों मे वह अधिक 'घन' 'सालिड' 'डेन्स'[1] है, पृथु अर्थात भारी है)। पृथु में सच्चे राजा के सब गुण पराकाष्ठा में थे,

मातृभक्तिः परस्त्रीषु पत्न्या अर्धम् इवाऽत्मनः,
प्रजासु पितृवत् स्निग्धः, किंकरो ब्रह्मवादिनाम्,
देहिनामात्मवत् प्रेष्ठः, सुहृदां नन्दिवर्धनः,
मुक्तसंगप्रसंगोऽथ, दण्डपाणिः असाधुषु,
अयं तु साक्षाद् भगवान्स्त्र्यधीशः
कूटस्थ आत्मा कलयाऽवतीर्णः ।

प्रजा ने उसको जगदात्मा भगवान् का कलावतार ही माना।

चूर्णयन् स्वधनुष्कोट्या गिरिकूटानि, राजराट्
भूमंडलं इदं वैन्यः प्रायश्चक्रे समं विभुः;
निवासान्कल्पयाचक्रे तत्र तत्र यथाऽर्हतः,
ग्रामान्, पुरः, पत्तनानि, दुर्गाणि विविधानि च,
घोषान्, व्रजान्, सशिबिरान्, आकरान्, खेटखर्वटान्
प्राक् पृथोरिह नैवैष पुरग्रामादिकल्पना;
यथासुखं वसति स्म तत्र तत्रा ऽकुतोभयाः ॥

"पृथु ने धनुष की कोटि से पर्वतों को चूर कर के, 'समथर,' 'समस्थल' बनाया, और उस पर, प्रजा के बसने के लिये, जैसे पिता पुत्रों के लिये, ग्राम, पुर, पत्तन, दुर्ग, (घोसियों के गाय बैल रखने के) 'घोष', (घूमते फिरते पशु चराने वाले गोपालों के लिये डेरे तम्बू के) 'व्रज', (सेना के) 'शिबिर', आकर (खान), खेट, खर्वट (छोटे छोटे गांव), आदि बनवाये। पृथु के पहिले यह सब नहीं था, प्रजा इधर उधर पड़ी रहा करती थी"। इसी से पृथु आदिराज कहलाये।

इस कथा का अर्थ स्पष्ट ही यह है, कि पृथु के समय से पहिले, पृथ्वीतल की, और ऋतुओं की, अवस्था कुछ दूसरी थी, जैसी अब भी दक्षिण समुद्र के टापुओं मे हैं, बारहो महीने, वसंत का सा मौसिम, बीच बीच मे बर्सात, कभी, कभी भारी वात्या, तूफ़ान, प्रजा को मकान बनाने, गांव शहर बसाने, की, न आवश्यकता, न बुद्धि। फिर अवस्था बदली; पृथु के राज्य काल में, नये सिर से, एक बड़े 'सिविलिजेशन'[2], सभ्यता, शिष्टता, का प्रादुर्भाव हुआ; विशिष्ट ज्ञानवान् जीवों ने मनुष्य जाति मे जन्म लिया,

---

[1] Solid, dense.

[2] Civilisation

शास्त्रों का अविष्कार किया; मानव जीवन के प्रकार में परिवर्तन कर दिया। जैसे आज काल, सौ वर्ष के भीतर भीतर (आधिभौतिक विज्ञान और विविध यंत्रों के निर्माण में अद्भुत वृद्धि होने के कारण, समग्र मानव जीवन, रहन-सहन, आहार-विहार, वाणिज्य-व्यापार, अटन-भ्रमण, शिक्षा-रक्षा, के बाह्य प्रकारों में, सर्वथा काया-पलट हो गया है; सभ्यता, कृषि-प्रधान के स्थान में, यन्त्र-प्रधान हो गई है। वैसे पृथु के समय में ही ग्राम, नगर, आदि बने और बसे; खेती बारी का हुनर पैदा हुआ, गाय भैंस बकरी पाल कर उनके दूध से काम लिया जाने लगा; गीत-वाद्य की विद्या पैदा हुई; अच्छी के साथ बुरी बातें भी आईं, शराब, गोश्त, का भी व्यवहार आरम्भ हुआ इत्यादि। यह सब विषय, आज काल, पच्छिम के, 'सोशियालोजी'[1] शास्त्र, 'सामाजिक जीवन के आरम्भ और विकास के इतिहास,' का है। ब्रिटेन के नामी वैज्ञानिक श्री आल्फ्रेड रसेल वालस ने; 'सोशल एनवाइरनमेंट एंड मोरल प्रोग्रेस'[2] नामक अपने ग्रन्थ में लिखा है, कि अग्नि का, खेती का, दूध दही घी के प्रयोग का, ऊन और रूई से कपडा बनाने का, और ऐसी ही कई अन्य परमावश्यकीय वस्तुओं का, उपज्ञान, जो स्यात् लाखों नहीं तो दसियों बीसियों हजार वर्ष पहिले हुआ, वह इधर के सौ वर्ष के अत्यद्भुत आविष्कारों से भी अधिक आश्चर्यमय है।

यों तो गो शब्द के कई अर्थ हैं; गाय बैल, स्वर्ग, सूर्य, किरण, वज्र (बिजली), इन्द्रिय, बाण, दिशा, वाणी, पृथ्वी, तारे, इत्यादि। धातु से अर्थ, 'गच्छति इति गौः' 'जो भी चले'; अंग्रेजी शब्द भी 'गो' और 'काउ'[3] इसी से निकले हैं। पर इन रूपकों में 'गो' शब्द का अर्थ पृथ्वी ही है।

'कामधेनु' गौ के लिये, विश्वामित्र (क्षत्रिय, पीछे ब्राह्मण) का, वसिष्ठ (ब्राह्मण) के साथ; तथा विश्वामित्र के भगिनीपुत्र जमदग्नि (ब्राह्मण) और उनके पुत्र परशुराम का, कार्त्तवीर्य (क्षत्रिय) के साथ, बहुत वर्षों तक, घोर सग्राम हुआ। दोनों 'कामधेनुओं' ने, अपने 'खुर, पेट, पूछ, सींग' से, 'शक, पह्लव, काम्बोज, यवन, म्लेच्छ' आदि जातियों की बड़ी बडी सेनाएं उत्पन्न कीं। दोनों तरफ भारी जनसंहार हुआ; वसिष्ठ के भी, विश्वामित्र के भी, सौ सौ पुत्र मारे गये, जमदग्नि और उनके कुटुम्ब के बहुतेरे मारे गये; परशुराम ने कार्त्तवीर्य और उसके वंश को मारा, और फिर फिर, तीन

---

[1] Sociology

[2] Alfred Russell Wallace, *Social Environment and Moral Progress*

[3] Go, Cow.

वर्णों की सेनाएं बना बना कर, इक्कीस युद्धों मे, पृथ्वी को 'निःक्षत्रिया' करने का महायत्न किया। बहुत वर्षों के, और बड़े बड़े तरह तरह के उपद्रवों, और प्रजा और राष्ट्रों के विसवों, के बाद, शांति हुई।

विश्वामित्र और कार्त्तवीर्य दोनों की कथाओं का, आज काल के शब्दों मे, अर्थ यही है कि महाभारत काल से पहिले, ब्राह्मण वर्ग और क्षत्रिय वर्ग में, उपजाऊ भूमि का लोभ बहुत बढ़ा; दोनों ने उचित से अधिक भूमि को, अपने भोग विलास के लिये, अपने अधिकार में रखना चाहा, प्रजा की भलाई की चिन्ता बहुत कम की, आपस मे युद्ध हुए; क्षत्रियों की सेना तो बनी बनाई थी, ब्राह्मणों ने बाहरी जातियों को, अपनी भूमि की पैदावार देकर, अपनी सहायता के लिये, बुलाया, दोनों का बहुत ध्वंस हुआ; अंत में, किसी किसी रीति से, संधि शान्ति हुई। यही कथा, यूरोप के इतिहास मे, कई बेर हो चुकी है। 'चर्च और स्टेट' 'प्रीस्ट और किंग', 'सासरडोटलिस्ट और मिलिटरिस्ट', 'थियोक्राट और टाइमोक्राट'[1] के बीच में, जमीदारी धन, आज्ञा-शक्ति, अधिकार, भोग विलास, की अति लालच से, बड़ी बडी लड़ाइयां हुईं; जिनमे प्रजा की तबाही हुई। 'फ्रेंच रिवोल्यूशन' के समय भी 'चर्च' की बहुत जायदाद छीनी गई, हाल में, रूस मे, जनता ने, 'प्रीस्ट' की भी, और ज़मीदार की भी, सब जमीन छीन ली[2]; सन् १९३६-३७-६८ मे, स्पेन में, प्रजा-विनाशक भारी गृहयुद्ध हुआ जिसमे भी एक मुख्य कारण यह था, कि 'चर्च' की बहुत जमीन, नये बनाये संघ-राज्य के अधिकारियों ने, छीन ली थी; और इस गृहयुद्ध में चर्च के पक्ष वाले सेनानियों की जीत हुई है।

'सोशियोलाजिकल हिस्टरी' का, 'ईवोल्यूशन का[3] ऐसा रूप और क्रम क्यों होता है, इस प्रश्न का उत्तर, चैतन्य-परमात्मा की प्रकृति के प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप असख्य प्रकार के विकास-सकोच को बतलाने वाले आत्म-दर्शनशास्त्र से मिलता है।

रूपकों की चर्चा का प्रयोजन

यहाँ, यह सब चर्चा, केवल इस वास्ते कर दी, कि 'दर्शन' से कहाँ तक 'आँख' फैलने का सम्भव हो जाता है, यह जिज्ञासु को मालूम हो जाय, पुराण ग्रन्थों के अक्षरार्थ पर अंध-श्रद्धा न की जाय; न यक-बारगी, उनको अस्पृश्य

---

[1] Church and state, priest and king, altar and throne, crozier and sceptre, book and sword, tiara and crown, sacerdotalist and militarist; theocrat and timocrat.

[2] French Revolution; church; priest.

[3] Sociological history, evolution

की गप्प कह कर, कूडेखाने में फेंक दिया जाय; बल्कि उनका बुद्धि-सम्मत, युक्ति-युक्त, गूढ़ अर्थ खोजा जाय। पहिले ही कहा है, पर फिर से याद दिला देना उचित है, कि ऊपर जो अर्थ पौराणिक रूपकों के सूचित किये गये हैं, वे कदापि निश्चित प्रमाणित नहीं है; युक्ति-द्वारा कल्पना मात्र है, बुद्धिमान् पाठक स्वय इनमे विस्तार, संकोच, मार्जन, शोधन कर लेंगे।

कोई कहेगा कि 'महायासे लघुक्रिया', 'कोह् कन्दन व काह् बरावर्दन', पहाड़ खोद कर चूहा निकालना; भारी मिहनत करके, एक-एक रूपक का अर्थ खोजें, वह भी निश्चित न हो, और ऐसी कोई नई बात भी न मालूम हो, तो ऐसा क्यो करें? पाश्चात्य विज्ञान की पुस्तकों से, क्या इस सबसे बहुत अधिक ज्ञान, हमको, इसकी अपेक्षा बहुत सरलता से, नहीं मिल सकता?

इस शका का मुख्य समाधान यह है, कि अध्यात्म-विषयक, योग-विषयक, जो ज्ञान इन प्राचीन ग्रन्थो से, उनकी वर्त्तमान शीर्ण-जीर्ण अवस्था मे भी, मिल सकता है, वह अभी तक पाश्चात्य वैज्ञानिकों को प्राप्त नहीं हुआ है। पश्चिम में, जो पाञ्चभौतिक वस्तुओं का आधिभौतिक विज्ञान, और बाह्य शक्तियों का ('हीट', 'लैट', 'सौंड', 'इलेक्ट्रिसिटी', 'मैग्नेटिज्म' आदि का)[1] आधि-दैविक विज्ञान, वहाँ के अन्वेषकों गवेषको ने प्राप्त किया है, उसको हमे, आदर के साथ, और सदुपयोग के लिये, लेना ही चाहिये; पर उसके साथ, हमको अपने प्राचीन आध्यात्मिक ज्ञान का, और आभ्यंतर शक्तियों के आधिदैविक ज्ञान का, जीर्णोद्धार करके समर्थन करना, भी परम आवश्यक हैं। सभव है कि, वैदिक और पौराणिक सूचनाओ और रहस्यों पर, उचित रीति से, ध्यान करने से, नई आधिदैविक और आधिभौतिक बातों का भी विज्ञान मिले। दोनों के, प्राचीन और प्रतीचीन के, पुराण और नवीन के, प्रज्ञान और विज्ञान के, उत्तम समिश्रण से, समन्वय से, और सम्यग्दर्शन के अनुसार सत् प्रयोग से, 'सनातन'-पदार्थ के अनुकूल 'धर्म' के बताये मार्ग पर चलकर सदुपयोग करने से, ही, भारत का, तथा सर्व मानव जगत् का, कल्याण हो सकता है।

सभी ज्ञान, कर्म के वास्ते हैं।

"सर्वमपि ज्ञानं कर्मपर"—यह मीमांसकों का मत है। अर्थात् "सब ज्ञान का प्रयोजन यही है कि किसी कर्म का उपयोगी हो।" शांकर सम्प्रदाय के वेदान्तियों ने इस उत्सर्ग मे यह अपवाद लगाया है कि, "ऋते आत्मज्ञानात्"; "आत्मज्ञान स्वय साध्य है, किसी कर्म का साधक नहीं।" कर्मकांडी मीमां-

---

[1] Heat, light; sound, electricity; magnetism.

सकों ने इस शांकर मत का दूसरी रीति से उत्तर दिया है। जैसा तन्त्र-वार्त्तिक की न्याय-सुधा नामक टीका में सोमेश्वर भट्ट ने (अ० १, पाद २, में) कहा है।

परलोकफलेषु कर्मसु विनाशिदेहादिव्यतिरिक्तनित्यकर्तृभोक्तृरूपात्मज्ञान विना प्रवृत्त्यनुपपत्तेः, अहं-प्रत्ययेन च, देहेऽपि दृष्टेन, स्फुटतया तद्व्यतिरेकस्य ज्ञातुम् अशक्यत्वात्, शास्त्रीयम् आत्मज्ञान क्रतुविधिभिरपेक्षित,.. उपनिषज्जनितस्यात्म-ज्ञानस्य...क्रत्वगत्वावधारणात् तद्द्वारेण पुरुषार्थानुबन्धित्वम्।

अर्थात् "स्वर्ग-साधक यज्ञादि कर्म-कांड मे मनुष्य की प्रवृत्ति नहीं हो सकती, जब तक उसको यह विश्वास न हो, कि इस नश्वर शरीर से व्यतिरिक्त कोई आत्मा है, जिसको स्वर्ग का अनुभव हो सकता है। और ऐसा विश्वास, आत्मा के अस्तित्व का, उपनिषदों से होता है। इस लिये उपनिषत् और तज्जनित आत्मज्ञान भी कर्मपरक हैं।"

इसका भी प्रत्युत्तर, 'आत्म-ज्ञान' और 'आत्म-अनुभव' मे सूक्ष्म विवेक करने से हो सकता है; यथा, 'अनुभव' का केवल तृतीय अंश 'ज्ञान' है; अन्य दो अश, 'इच्छा' और 'क्रिया'; यह तीनो मिलकर, 'अहं अस्मि' इस 'अनु-भव' में अतर्गत हैं; ऐसा अनुभव, स्पष्ट ही 'कर्म-परक' नहीं हो सकता, सब कर्म, सब इच्छा, सब ज्ञान, इसमें अन्तर्गत हैं, "स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः", तथा, स्वर्गादि-साधक यज्ञादि काम्य-कर्म से, निर्गुण परमात्मज्ञान का कोई सम्बन्ध नहीं, केवल जीवात्मज्ञान से सम्बन्ध है, यह विचार करने से भी प्रत्युत्तर हो सकता है। यज्ञों से, स्वर्ग की प्राप्ति वेदो में कही है; पुनःपुनः जन्म-मरण के बन्ध से मोक्ष, और अमरत्व की प्राप्ति, नहीं कही है; आत्मानु-भवात्मक ज्ञान, बाह्य विषयों के, तथा आंतःकरणिक बौद्ध प्रत्ययों वृत्तियों के भी, ज्ञान से भिन्न है; इत्यादि। पर इस सब सूक्ष्मेक्षिका में पड़ने का यहां काम नहीं है; अपने को यह अभीष्ट ही है, कि जीवात्मज्ञान अर्थात् जीवात्मा की त्रिगुणात्मिका प्रकृति का, उसके गताऽगत का, आवागमन का, पुनःपुनः जन्ममरण का, अवारोह-उपारोह का, प्रवृत्ति-निवृत्ति का, ज्ञान, तो, न केवल कर्म-परक है, अपितु सत्कर्म के, सज्जीवन के, लिये, नितांत आवश्यक है, विना उसके, काम ठीक चल सकता ही नहीं;

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते (मनु)
अध्यात्मविद्या विद्याना वादः प्रवदतामहम्। (गी०)

गीता मे मुख्यत. जीवात्मा की प्रकृति का ज्ञान, अर्थात् 'अध्यात्म-विद्या', और उससे नितरां प्रसक्त होने के कारण 'आत्म-विद्या' 'ब्रह्मविद्या', भी, जो कही गई, वह स्पष्ट ही इसी लिये कि, वह अर्जुन के लिये 'कर्म-परक' हो, उनको धर्म-युद्ध के कर्म मे प्रवृत्त करै। "मां अनुस्मर" ज्ञानांश, 'थियरी',

"युध्य च" कर्मांश', प्रैक्टिस"।[1] यहाँ, इसके सिवा इतना ही कहने की आवश्यकता है, कि मीमांसा का यह सब आशय, तथा शांकर सम्प्रदाय वालों का भी, तथा अन्य बहुत कुछ अर्थ, मनु भगवान् के थोड़े से श्लोको में भरा पड़ा है। उस पर पर्याप्त ध्यान देने से, सच्चा आत्म-दर्शन भी हो सकता है, और तदनुसार लोक-यात्रा भी, व्यक्ति की भी, समाज की भी, कल्याणमय बनाई जा सकती है।

धर्म और दर्शन, दोनों, स्वार्थ भी परार्थ भी, परमार्थ भी

यतोऽभ्युदय-निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः। (वैशेषिक सूत्र)

वेदान्त पर, ब्रह्मविद्या पर, प्रतिष्ठित, मानव धर्म ऐसा है, कि इससे इहलोक और परलोक, अभ्युदय और निःश्रेयस, दोनों, 'अभ्युदय' में अंतर्गत धर्म, अर्थ, काम भी, और 'निःश्रेयस' अर्थात् मोक्ष भी, सभी चारों पुरुषार्थ, उत्तम रीति से सध सकते हैं। "ब्रह्मविद्या सर्वविद्याप्रतिष्ठा" है, इस लिये अध्यात्मविद्या तो उसके अंतर्गत ही है।

न केवल संस्कृत शब्दों मे, भारतवर्ष के ही बुजुर्गों ने, कहा है, बल्कि अरबी-फ़ारसी शब्दों मे, सूफ़ी बुजुर्गों ने भी कहा है,

गौहरे जुज़ ख़ुद-शिनासी, नीस्त दर बहरे वुजूद ,
मा ब गिर्दे ख़्वेश मी गर्देम् चू गिर्दाबहा।
तरीक़त बजुज़ ख़िदमते ख़ल्क़ नीस्त ;
ब तसबीहो सज्जादः ओ दल्क़ नीस्त।

"इस भवसागर में मोती है तो केवल ख़ुदशिनासो, आत्मज्ञान, ही है। जैसे पानी में भँवर अपने ही चारो ओर घूमता और चक्कर खाता है, वैसे ही हम सब अपनी आत्मा के ही चारो ओर भ्रमते रहते हैं; 'मैं', 'मैं', 'मैं',— इसी पर हमारी ज़िन्दगी नाचती-फिरती रहती है। सच्चे 'मैं', सच्चे आत्मा, को पाने और साबित करने का तरीक़ा, सिवा इसके और कुछ नहीं है, कि ख़िलक़त की ख़िदमत करो, लोकसेवा करो। तसबीह अर्थात् माला फेरना, और सज्जादा यानी आसन बिछा कर चुप्पी साधना, दल्क अर्थात् कन्था कथरी गूदड़ी ओढ़ना—यह आत्मा को पाने का उपाय नहीं हैं।" हाँ, यह सब भी, विशेष अवस्था मे, साधन के अंग हैं; पर तभी सच्चे और सफल होंगे, जब सर्वभूतदया, सर्वभूतप्रियहितेहा, सर्वभूतहिते रतिः, ख़िदमते खल्क़, उनके पीछे, उनके साथ, लगी रहे, उनकी प्रेरक हो।

यदि वह चालीस या पचास लाख वेशधारी साधु-संत, वैरागी,

---

[1] Theory ; practice.

उदासी, संन्यासी, फकीर, औलिया, महन्त, मठधारी, मन्दिराधिकारी, तकियादार, सज्जादा-नशीन, आदि, जिनकी चर्चा पहिले की गई—यदि ये लोग, आरामतलबी और पाप त्याग कर, सच्चे 'साधु', सच्चे आत्मदर्शी और लोकहितैषी, खादिमे-खल्क, हो जायँ, तो आज इस अभागे देश के सब प्रकार के दुःख के बन्धन टूट और छूट जायँ; इन सब आर्थिक, शासनिक, धार्मिक, रक्षा-शिक्षा-भिक्षा-सम्बन्धी, सभी दुःखो, बन्धनों, गुलामियों से मोक्ष मिलै, नजात हो; और भारत भूमि पर स्वर्ग देख पड़ने लगे; तथा, इसके नमूने से, अन्य देशों मे भी उत्तम समाजव्यवस्था फैले।

जैसा पहिले कहा, एक-एक मन्दिर की, विशेष कर दक्षिण में, इतनी आमदनी और इतनी इमारत है, कि सहज में एक एक युनिवर्सिटी, विश्वविद्यालय, कलागृह, और चिकित्सालय, का काम, उनमे के एक-एक से चल सकता है। यदि सब वक्फ की जायदादों का, और सब धर्मत्र देवत्र सस्थाओं और 'अखाड़ों' और मन्दिरो और दर्गाहो का, प्रबन्ध, सद्बुद्धि से हो; और उनके अधिकारी, सदाचारी और लोक-हितैषी हों, और स्वय पढ़ने-पढ़ाने आदि के काम मे, और रोगियो की चिकित्सा में, लग जायँ; तो इनकी आमदनी और मकानात से, आज पचास युनिवर्सिटी, और हुनर सिखाने के कालिज, और प्रत्येक गांव में एक स्कूल, अर्थात् समग्र भारत मे सात लाख स्कूल, और हर बड़े शहर में एक चिकित्सालय, आयुर्वेद-तिब्ब के अनुसार, काम कर सकते हैं। और इतने सदाचार का, 'इंद्रियनिग्रह' के लिये और प्रजा की संख्या की अतिवृद्धि रोकने के लिये, तथा अन्य सब प्रकार से, समस्त जनता पर, शासक पर और शासित पर, कैसा कल्याणकारक प्रभाव पड़ेगा, यह सहज में समझा जा सकता है।

वर्णधर्म और आश्रमधर्म का मूल-शोधन, इस अध्यात्मशास्त्र के तत्त्वों के अनुसार, कैसा होना चाहिये और हो सकता है, जिससे समाज के सब दुःख दूर हो जायँगे—इसका प्रतिपादन अन्य स्थानों और अवसरों पर, इस लेखक ने पुनःपुनः किया है। यहाँ विशेष विस्तार करने का अवसर नहीं है। तौभी इस अध्याय के अन्त में, संक्षेप से, उस धर्म के मुख्य तत्त्वों का वर्णन, मनु के, तथा अन्य, श्लोकों से, उनके अनुवाद के साथ, किया जाता है।

दर्शनसार और धर्मसार

विस्मृत्य-इवपरात्मत्वं, जीवात्मत्व गता चितिः,
वासनाना प्रभावेण भ्रामिता बहुलान् युगान्,
बह्वीर्योनीरनुप्राप्य, मानुष्यं लभते ततः,
तामसान् राजसान् भावान् सात्त्विकाश्च, पुनः पुनः।

परोपकारात् पुण्यानि, पापान्यप्यपकारतः,
दुःखानि चाप्यसख्यानि, तथाऽसख्यसुखानि च,
द्वद्वा-न्यन्या-न्यनन्तानि नानारूपाणि सर्वशः,
जीवोऽनुभूय मानुष्ये, सत्त्वोद्रेके सुकर्मभिः,
"अनेकजन्मससिद्धः,ततो याति परा गतिम्;
बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान् 'मा' प्रपद्यते;" (गी०)
आत्मनः परमात्मत्त्वं संस्मरन् वेत्ति तत्त्वतः;
बुद्ध्याऽऽत्मान तु सात्त्विक्या सम्यग्गृह्णाति सूक्ष्मया;
दुःखातीता सुखातीता शाति चापि समश्नुते।
"प्रवृत्ति च निवृत्ति च, कार्याऽकार्ये, भयाऽभये,
बंध मोक्षं च या वेत्ति, बुद्धिः सा सात्त्विकी स्मृता"। (गी०)
बुद्ध्या समग्र सात्त्विक्या वेदशास्त्रं सुबुध्यते।
"चातुर्वर्ण्यं, त्रयो लोकाः चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्,
भूत, भव्यं, भविष्य च, सर्वं वेदात् प्रसिध्यति।
धर्मं बुभुत्समानाना प्रमाण परम श्रुतिः"; (मनुः)
श्रुतिं बुभुत्समानानामात्मज्ञान परायणम्।
पुरुषार्थाश्च चत्वारः, चतस्रश्चापि वृत्तयः,
ऋणानि चैव चत्वारि, चतस्रश्चैषणास्तथा,
हृदयाप्यायनीयानि स्वधर्मोत्साहनानि च
विशिष्टेष्टानि चत्वारि तोषणानि मनीषिणाम् —
सम्यग् अध्यात्मविद्यायाः एतत् सर्वं प्रसिध्यति।
"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट गुणकर्मविभागशः;
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः"। (गी०)
समाजकायव्यूहस्य चत्वार्यंगानि चैव हि;
शिक्षाव्यूहस्, तथा रक्षाव्यूहः, पोषक एव च,
सेवाव्यूहश्च तुर्यश्चा,प्यगिनोऽङ्गानि सति हि।
यथा शरीरे ज्ञानागं शिरो, ज्ञानेन्द्रियैर्भृत,
बाहू क्रियाग च तथा, सर्वशौर्यक्रियाक्षमं,
इच्छागमुदरं चैव सग्राहि-आहारि-पोषक,
पादौ च सर्वसेवागं सर्वसंधारकं तथा।
आयुषश्चापि चत्वारो भागाः, आश्रम-संज्ञिताः;
प्रत्येक आयुषः पादे जीवेनाश्रम्यते यतः,
तत्तद्वयोऽनुरूपे हि, विशषे धर्मकर्मणि।
"आश्रमादाश्रमं गत्वा, यज्ञैरिष्ट्वा च शक्तितः,
ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य, मनो मोक्षे निवेशयेत्", (मनु०)

चतुर्थ आश्रमे तुर्यऋणापनयनाय हि ।
"अनपाकृत्य तान्येव मोक्षमिच्छन् व्रजत्यधः" ।
सुखाभ्युदयिक चैव, नैःश्रेयसिकमेव च ,
प्रवृत्त च, निवृत्तं च, कर्म द्विविधमुच्यते " । (मनु०)
धर्मश्चार्थश्च कामश्च, त्रय ह्यभ्युदयः स्मृतः ;
मोक्षो यस्तु चतुर्थोऽर्थः, त हि निःश्रेयसं विदुः ।
"इज्या ऽऽचार-दमा-हिंसा-यज्ञ-स्वाध्याय-कर्मणाम् ,
अय तु परमो धर्मो यद् योगेनाऽऽत्मदर्शनम् "। (याज्ञवल्क्य स्मृति०)
"सर्वभूतेषु चाऽऽत्मान, सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ,
सम पश्यन्नात्मयाजी स्वाराज्यमधिगच्छति ;
सर्वमात्मनि सपश्येत् , सच् चाऽसच्च, समाहितः ;
सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाऽधर्मे कुरुते मनः ।
आत्मैव देवताः सर्वाः, सर्वमात्मन्यवस्थितम् ;
आत्मा हि जनयत्येषा कर्मयोग शरीरिणाम् ।
एव यः सर्वभूतेषु पश्यत्याऽऽत्मानमात्मना ,
स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माऽभ्येति परं पदम् "। (मनु०)
ब्रह्माभ्येति पर पदम् ॥ ॐ ॥

अर्थात्, "चितिशक्ति, चेतना, चैतन्य, अपने परमात्म-भाव को मानो भूल कर, जीवात्म-भाव को धारण कर लेता है । वासनाओं के अनुसार, लाखों योनियों में, लाखो प्रकार के शरीरों में, जन्म लेता है, और असंख्य द्वन्द्व, सुख-दुःख-प्रधान, भोगता है । अवारोह-पथ, प्रवृत्ति-मार्ग, अधो-गति, 'क़ौसि-नज़ूल', पर उतरता हुआ, देवभाव से, क्रमशः, कीट-पतग आदि भाव से भी जड़, निःसंज्ञ प्राय, मणि ('मिनरल'),[१] पत्थर, आदि की अवस्था में आ पहुँचता है, और फिर इससे उठकर, आरोह-पथ, निवृत्ति-मार्ग, ऊर्ध्व-गति, 'क़ौसि-उरूज', पर चढ़ता हुआ, मनुष्य-भाव में आता है । इस योनि में भो बहुत जन्म लेता है; असख्य तामस, राजस, सात्त्विक, इच्छा-क्रिया-ज्ञान, के भावों का, और उनके साथ बँधे हुए असख्य दुःख और सुख के भावों का, अनुभव करता है । बहुत जन्मों के, 'तनासुख' के, बाद, सत्त्व के उद्रेक से, 'इल्म' की बेशी होने पर, सत्कर्म कर के, अपने परमात्म-भाव को, 'रूह-आज़म' की हालत को, फिर पहिचानता है; तब उसको, सुख-दुःख दोनों से परे, सच्ची शान्ति, मोक्ष, निर्वाण, परमानद, 'नजात', 'फ़ना-फ़िल्ला', 'सुरूरि-जावेदानी', ब्रह्मानन्द, 'लज्ज़तुल्-इलाहिया', ब्रह्मलीनता, 'इरितमाक़', मिलता

---

[१] Mineral.

है। इस ऊर्ध्वगामी 'देवयान', पर भी, क्रमशः, जीव को उन सीढ़ियों पर चढ़ना पड़ता है, जिनसे वह उतरा है। अति सूक्ष्म, अति सात्त्विक, बुद्धि वह है, जो प्रवृत्ति और निवृत्ति, कार्य और अकार्य, भयस्थान और अभय-स्थान, बंध और मोक्ष, के सच्चे रूप को, ठीक-ठीक पहिचानती है। ऐसी सात्त्विक बुद्धि, वेद-शास्त्र के मर्म को जानती है। वह मर्म, मनुष्य के वैयक्तिक और सामाजिक, प्रातिस्विक और सार्वस्विक, 'इन-फिरादी' और 'इजमाई', 'इंडिविड्युअल' और 'सोशल', कल्याण के लिये, वर्ण-आश्रम धर्म में रख दिया है।[1] "परमात्मा के स्वभाव से, प्रकृति से, उत्पन्न तीन गुण; सत्त्व, रजस्, तमस्, जो ज्ञान, क्रिया, और इच्छा के मूलतत्व वा बीज हैं; इनकी प्रधानता से, तीन प्रकार के, तीन स्वभाव के, तीन प्रकृति के, मनुष्य, (१) ज्ञान-प्रधान, ज्ञानी, शिक्षक, 'आलिम', (२) क्रिया-प्रधान, रक्षक, शूर, 'आमिल', (३) इच्छा-प्रधान, पोषक, संग्रही, 'ताजिर', (४) इन तीन के साथ चौथी प्रकृति, 'बालक-बुद्धि', 'अव्यक्त-बुद्धि', जिसमे किसी एक गुण की प्रधानता, विशेष विकास, न देख पड़े, गुण-साम्य' हो, वह सेवक, श्रमी, 'मजदूर'। ये हुए चार वर्ण; मुख्य 'पेशे'। किसी देश के किसी सभ्य समाज में, ये चार वर्ण अवश्य पाये जाते हैं; पर उतने विवेक से, और उस काम-दाम-आराम के, धर्म-कर्म-जीविका के, विभाजन के साथ नहीं, जैसा भारतवर्ष में, प्राचीन स्मृतियों में, इनके लिये आदेश किया है।

"जैसे समाज के जीवन मे चार मुख्य पेशे, वैसे प्रत्येक मनुष्य के जीवन मे चार 'आश्रम'; (१) ब्रह्मचारी, विद्यासीखने का, 'तालिबि-इल्म', 'शागिर्द', का; (२) गृहस्थ, 'खानादार', का; (३) वानप्रस्थ, 'गोशा-नशीन,' का; (४) सन्यासी, 'फ़क़ीर', 'दुर्वेश' का।

"मनुष्य के चार पुरुषार्थ, 'मकासिदि-जिन्दगी', हैं। धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष वा ब्रह्मानन्द, यानी 'दयानत, दौलत, लज्ज़ति-दुनिया, और नजात या लज़्ज़तुल् इलाहिया'। पहिले तीन आश्रमों मे अधिकतर धर्म-अर्थ-काम, और चौथे मे विशेष-रूप से मोक्ष, को साधना चाहिये।

"तीन (अथवा चार) ऋणों को, कर्जों" को, लेकर, मनुष्य पैदा होता है। (१) देवों का ऋण, जिन्हो ने पंच महाभूतो की सृष्टि, परमात्मा के नियमो के अनुसार, फैलाई है; जिन महाभूतो से हमारी पचेंद्रियों के सब विषय बने हैं; (२) पितरों का ऋण, जिनकी सन्तति, वंश-परम्परा से, हम हैं; जिनसे हम को यह शरीर मिला है, जो देह हमारे सब अनुभवो का साधन है; (३) ऋषियो का ऋण, जिन्हों ने वह महासंचय, विविध

---

[1] Individual; social.

प्रकार के ज्ञानों का, शास्त्रों में भर कर रख दिया है, जिसकी ही सहायता से, हमारा वैयक्तिक और सामाजिक जीवन, सभ्य शिष्ट बनता है, और जिसके बिना हम पशु-प्राय होते; (४) चौथा ऋण, परमात्मा का, कहा जा सकता है, जो हमारा चेतन ही है, प्राण ही है, जिसके बिना हम निर्जीव होते। इन चार ऋणों के निर्मोचन निर्यातन का उपाय भी, चार आश्रमों के धर्म-कर्मो का उचित निर्वाह ही है। (१) विद्या-सग्रहण, और सन्तति को विद्यादान, से, ऋषि ऋण चुकता है; क्योंकि उससे, प्राचीनों का, ज्ञान के सग्रह में, जो भारी परिश्रम हुआ है, वह सफल होता है; (२) सन्तति के उत्पादन, पालन, पोषण, से पितरों का ऋण चुकता है, क्योंकि जैसा परिश्रम हमारे माता पिता ने हमारे उत्पादन, पालन, पोषण, के लिये किया, वैसा हम अपने आगे की सन्तति के लिये करते हैं; (३) विविध प्रकार के 'यज्ञ' करने से, 'इष्ट' और 'आपूर्त्त' से, देवों का ऋण चुकता है। यथा, वायु देवता से हमारा श्वास-प्रश्वास चलता है, हवा को हम गन्दा करते हैं, उत्तम सुगन्धी पदार्थों के धूप-दीप से, होम-हवन से, हवा पुनः स्वच्छ करना चाहिये; जङ्गल काट काट कर, हम, लकड़ी को, जलाने मे, मकान और सामान बनाने के काम में, खर्च कर डालते हैं; नये लखराँव, बाग, उद्यान, लगा कर, फिर नये पेड़ तैयार कर देना चाहिये; वरुण देव के जल का प्रति-दिन हम लोग व्यय करते रहते हैं; नये तालाब, कुँए, नहर आदि बना कर, उसकी पूर्त्ति करना चाहिये। ये सब यज्ञ हैं। परोपकारार्थ जो भी काम किया जाय वह सब यज्ञ है। गीता में कई प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया है। उसमें भी, होम-हवन आदि 'इष्ट' कहलाते हैं, और, वापी, कूप, तटाक, वृक्षारोपण आदि 'आपूर्त्त'। इन सब यज्ञों से देव-ऋण चुकता है। (४) परमात्मा का ऋण, मुक्ति प्राप्त करने से, सब में एक ही आत्मा को व्याप्त देखने से, चुकता है। क्रम से, चार आश्रमों में चार ऋण अदा होते हैं। यह याद रखना चाहिये कि, सब बात, 'प्राधान्येन', 'वैशेष्यात्' 'भूयसा', कही जाती हैं, 'एकान्तेन', 'अत्यन्तेन', नहीं। ससार मे सब वस्तु, सब भाव, सब आश्रम, वर्ण, आदि, सदा मिश्रित हैं, जो जिस समय प्रधान रूप से व्यक्त होता है, उसी का नाम लिया जाता है।

"ऐसे ही तीन वा चार एषणा, 'हिर्स', 'तमा', 'आर्जू', 'तमन्ना', तृष्णा, आकांक्षा, वासना, मनुष्य को, स्वाभाविक, 'फित्रती', पैदाइशी, होती हैं। (१) लोकैषणा, 'अह स्याम्', 'मैं इस लोक और परलोक में सदा बना रहूँ, मेरा नाश कभी न हो', इसका शारीर रूप 'आहार' की, 'गिजा' की, इच्छा है; और मानस रूप, 'सम्मान', यश, कीर्त्ति, 'नेकनामी', 'इज्जत', की ख्वाहिश; (२) वित्तैषणा, 'अह बहु स्याम्', 'मैं और अधिक, ज्यादा, होऊँ'; इसका शारीर रूप, सब अंगों की, हाथ पैर की, पुष्टि, बलवृद्धि, सौन्दर्यवृद्धि; और मानस-रूप, विविध प्रकार के धन 'दौलत' का बढ़ाना; (३) दार-सुतै-पणा, 'अह बहुधा स्याम्',

'प्रजायेय', 'मैं अकेला हूँ, सो बहुत हो जाऊँ; मेरे पत्नी हो और बालबच्चे हों', 'अहलो-अयाल हों', 'जौजा व औलाद हो', बहुतो पर मेरा अधिकार हो, ऐश्वर्य हो, 'हुकूमत' हो; (४) चौथी एषणा मोक्षैषणा है, 'नजात' की ख्वाहिश; इस सब जंजाल मे, 'फितना, फ़िसाना, जाल' मे, बहुत भटक लिये, अब इससे छुटकारा हो। यह चार एषणा भी, चार पुरुषार्थों की रूपांतर ही हैं, और चारो आश्रमो के धर्म-कर्म से, उचित रीति से पूरी होती हैं।

"चारो वर्णों के लिये चार मुख्य धर्म अर्थात् कर्त्तव्य, 'फ़र्ज', और चार वृत्तियाँ, जीविका, 'रिज़्क'; और चार तोषण, राधन, प्रोत्साहन, (अंग्रेजी में 'स्टिम्युलस', 'इन्सेन्टिव्',),[1] 'मुहर्रिक', 'राग़िब', हैं। (१) विद्योपजीवी, शास्त्री, शास्त्रोपजीवी, विद्वान्, शिक्षक, उपदेष्टा, ज्ञानदाता, 'आलिम' 'मुअल्लिम', 'हकीम', के लिये, ज्ञान-संग्रह और ज्ञान-प्रचार करना; अध्यापन, याजन, प्रतिग्रह, यानी, विद्या सिखा कर, किसी विषय का ज्ञान देकर, उसके लिये आदर सहित दक्षिणा ('आनरेरियम') लेना; किसी 'यज्ञ' मे पब्लिक वर्क' में, सार्वजनिक हित के कार्य मे, ज्ञान की, 'इल्मी', सहायता देकर, दक्षिणा 'फी', लेना; वा आदर के साथ जो कोई दान दे, 'भेंट', उपहार, पुरस्कार, दे, 'नजर,' 'प्रेज़न्ट' दे. वह लेना। (२) क्रियोपजीवी, 'शस्त्री', 'शस्त्रोपजीवी, रक्षक, आदेष्टा, शासक, त्राणदाता, 'आमिल', 'हाकिम', 'आमिर', 'अमीर' के लिये, (अरबी में 'अम्र' का अर्थ 'आज्ञा' है), अस्त्र-शस्त्र के, हथियार के, द्वारा, दूसरों की रक्षा, हिफाजत, करना, और उसके लिये, जो कर, ख़िराज, 'टैक्स', लगान, मालगुजारी,' राष्ट्र की ओर से वेतन, मिले, उसे लेना। (३) वार्त्तोपजीवी, कृषक, गोपालक, वणिक्, रोजगारी, 'ताजिर', पोषक, व्यापारी, के लिये, अन्नवस्त्र आदि जीवनोपयोगी, विविध प्रकार के, आवश्यकीय, निकामीय, और विलासीय पदार्थ, 'नेसेसरीज़, कम्फ़र्ट स्, और लक्ज़रीज,'[2] जुरूरियात, आसायिशात, और इश्रतीयात, उत्पन्न करना, और उचित दाम लेकर देना, और जो इस रोज़गार से, लाभ, 'मुनाफा', हो, वह लेना। (४) श्रमोपजीवी, सेवोपजीवी, 'मजदूर', (शुद्ध शब्द फ़ारसी का 'मुज्द-वर' है), भृतक, कर्मकर, किंकर, के लिये, अन्य तीन वर्णों की सेवा-सहायता करके, जो मजदूरी, व्रात, भृति, मिलै, वह लेना।

"यह, चार पेशों के चार प्रकार के धर्म-कर्म, अधिकार-कर्त्तव्य, हक़-फ़र्ज, और उनकी चार प्रकार की जीविका, हुई। तोषण उनके, ऊपर कहे जा चुके,

---

[1] Stimulus, incentive, honorarium, public work, fee; present; tax.

[2] Necessaries, comforts, luxuries

अर्थात् ज्ञानी के लिये विशेष सम्मान, 'इज्जत' 'आनर'; शासक के लिये विशेष अधिकार, आज्ञा-शक्ति, ऐश्वर्य, ईश्वर-भाव, 'हुकूमत' 'आफ़िशल पावर', 'आथारिटी'; पोपक के लिये विशेष 'दौलत', धन-सम्पत्ति, 'वेल्थ'; सेवक सहायक के लिये विशेष क्रीडा-विनोद, 'खेल तमाशा' 'तफ़रीह्', 'ऐम्यूज़मेंट' 'ले'[1]

"जैसे एक मनुष्य के शरीर के व्यूह ('आर्गेनिज्म') मे चार अंग देख पडते हैं, सिर, बाँह, धड, और पैर; वैसे ही मनुष्य समाज के व्यूह में भी चार अग, चार अवान्तर, परस्पर सम्बद्ध, सम्प्रथित, संहत, सघातवान्, व्यूह होते हैं। (१) शिक्षा-व्यूह, 'लर्नेड प्रोफेशन्स', (२) रक्षा-व्यूह, 'एक्सिक्युटिव प्रोफेशन्स'; (३) वार्त्ता-व्यूह 'कामर्शल प्रोफेशन्स'; (४) सेवा-व्यूह 'इड-स्ट्रियल प्रोफेंशन्स'[2]। शिक्षक वर्ण वा वर्ग और विद्यार्थी आश्रमी वा वर्ग मिल कर शिक्षा-व्यूह बनता है। शासक वर्ण और वनस्थ आश्रमी मिल कर रक्षा-व्यूह; वानप्रस्थ सज्जन, शासक वर्ग को, परामर्श और उपदेश देते रहते हैं; और उनके काम की देख रेख करते रहते हैं, जैसा इतिहास-पुराणों में ऋ-षियों और राजों के प्रश्नोत्तर की कथाओं से दिखाया है। वणिग् वर्ण और गृहस्थ आश्रमी मिलकर वार्त्ताव्यूह बनता है। श्रमी वर्ण और सन्यास-आश्र-मी मिल कर सेवाव्यूह सम्पन्न होता है; श्रमी वर्ण समाज की शारीर सेवा-सहायता करता है; और संन्यासी, आध्यात्मिक सेवा-सहायता करता है।

"इस प्रकार वैयक्तिक और सामाजिक जीवन का सर्वांग-सम्पूर्ण, उत्तमोत्तम प्रबन्ध, परमात्मा के दर्शन पर निष्ठित प्रतिष्ठित वेद-वेदान्त से निर्दिष्ट, धर्म के अनुसार, बाँधा गया है।

"एक पर- ब्रह्म, परम-आत्मा, सख्यातीत, के अतर्गत दो, अर्थात् पुरुष-प्रकृति, जीव की दो गति, अधोयान-ऊर्ध्वयान, समस्त ससार की द्वन्द्व-मयता, (सुख-दुःख, सत्य-मिथ्या, राग-द्वेष, क्रिया-प्रतिक्रिया, तमः-प्रकाश, शीत-उष्ण, अग्नी-षोम, घन-तरल, मृदु-क्रूर, हँसना-रोना आदि); चार आश्रम; चा-र ऋण, चार जीविका; चार तोषण, चार गुणावस्था, (सात्त्विक, राजस, तामस, गुणातीत); चार शारीर अवयव, सिर, धड, हाथ, पैर, चार अंतःकरण के अंग, बुद्धि, अहकार, मनस्, चित्त; चार इन के धर्म, ज्ञान, इच्छा, (सकल्प विकल्पात्मक) क्रिया, स्मृति, चार अवस्था, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय; चार प्राकृतिक नियम, अर्थात्, (१) जीव का, विविध योनियों से, विविध शरीरो का

---

[1] Honor, official power, authority; wealth; amusement, play

[2] Organism; learned professions; executive professions; commercial professions; industrial professions

ओढ़ना-ओढ़ना, (२) क्रिया-प्रतिक्रिया न्याय से परोपकार-रूप पुण्य का फल सुख, और पराऽपकार-रूप पाप का फल दुःख, भोगना, (३) वासना के अनुसार कर्म, और कर्म के अनुसार जन्म, और मरण, पुनःपुनः; (४) रागात्मक वासना से संसरण में प्रवृत्ति, वैराग्य से संसार से निवृत्ति। चार पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष—यह समग्र दर्शन और धर्म का संग्रह है।"

यदि इसके अनुसार, मानव प्रजा आचरण करे, तो सबका उचित रीति से, शिक्षण, रक्षण, पोषण, धारण, हो, और सब का कल्याण हो। यह चार वर्ण वा वर्ग वा पेशे, और चार आश्रम, स्वाभाविक हैं; मनुष्य की प्रकृति के ही बनाये हुये हैं, इनका किसी विशेष धर्म, मजहब, 'रिलिजन' से, वा किसी विशेष प्रदेश से, अविच्छेद्य सम्बन्ध जरा भी नहीं है। 'काम्युनिज्म, सोशालिज्म, बालशेविज्म,' 'साम्यवाद' की परिपाटी से, वा फैशिज्म,' 'कैपिटलिज्म', 'पूंजीवाद' की पद्धति से, वा 'लेबरिज्म', 'प्रालिटेरियानिज्म' 'श्रमिकवाद' की रीति से, वा 'डेमोक्रैटिज्म', 'प्रजातंत्रवाद,' 'सर्वमानववाद' की शैली से, किसी से भी इन सिद्धांतो का आत्यंतिक विरोध नहीं है; यदि विरोध है, तो प्रत्येक के केवल उस अंश से है जो 'आत्यंतिक' है; प्रत्युत, सभी इनका उपयोग कर सकते हैं; सभी को शिक्षक, रक्षक, पोषक, सहायक चाहिये ही, जहां कहीं मनुष्य हैं और उनका समाज है, वहीं ये चार वर्ग उपस्थित हैं, भारत के प्राचीनो ने इतना ही विशेष किया है, कि मर्यादा बुद्धिपूर्वक बाँध दी है, और काम-दाम-आराम का बँटवारा उचित रीति से कर दिया है। जब तक मनुष्य के शरीर के अंग, और चित्त के धर्म, और दोनो की बनावट, वैसी रहेगी जैसी इस समय है, तब तक वर्ण और आश्रम के ये सिद्धांत अटल रहेंगे; और इन के प्रयोग से, तथा इनके ही प्रयोग से, सब अतिवाद, 'एक्सट्रीमिज्म', से उत्पन्न विरोधो का परिहार, और सब वादों का समन्वय, हो सकेगा।[1]

"एक आश्रम से दूसरे, तीसरे, चौथे मे, क्रमशः, सब मनुष्य जायँ; तीन ऋण चुका कर, अर्थात् विद्याध्ययनाऽध्यापन कर के, संतान उत्पन्न कर के, (उतनी ही जितने का वह परिपालन सुख से कर सकैं; पशुओं के ऐसी इतनी अधिक नही कि उनका पालन न हो सकै, और अधिकांश उनमे से मर ही जावैं, या रोटी के लिये एक दूसरे के खून के प्यासे हो जावें), तथा विविध लोकोपकारात्मक यज्ञ करके, तब मोक्ष का साधन करैं; तो सबको चारो पुरुषार्थ सिद्ध हों।

---

[1] Religion, communism, socialism, Bolshevism, Fascism, capitalism, laborism; proletarianism, democratism, extremism.

"जो अपने में सबको, और सब में अपने को, देखता है, वही सच्चा स्वा-राज्य, स्व-राज्य, उत्तम 'स्व' का राज्य, स्वर्गवत् राज्य, स्थापन कर सकता है। अपने भीतर आँख फेर कर देखने से, ससार के सब भाव, सद्भाव भी, असद्भाव भी, पुण्यात्मक भी, पापात्मक भी, सभी देख पड़ जाते हैं। इनको जो इस प्रकार से, अतर्दृष्टि से, देख लेता है, और उनके भेद को निश्चय से समझ लेता है, द्वद्वमय संसार में सत् और असत् के विवेक को भी और संसार को भी पहिचान लेता है, वह फिर अधर्म मे मन को नही लगने देता। अधिकाधिक धर्म की ओर, वैराग्य की ओर, आत्मलाभ ब्रह्मलाभ की ओर, मोक्ष की ओर, चलता है। आत्मा ही सब देवों का देव है, सब इसी मे विद्यमान है, यही सब जगत् का चलाने वाला है। इस तथ्य को जिसने जाना, वही समता, के, साम्य के, सच्चे अर्थ को पहिचानता है, वही शरीर छोड़ने पर विदेह-मोक्ष, ब्रह्म-पद को पाता है। यज्ञ, अध्ययन, दान, सदाचार, दम, अहिंसा आदि सब उत्तम गुणों, कर्मों, भावों, पुण्यों, व्यवस्थाओं का परम मूल आत्म-दर्शन ही है।"

"सब को, आभ्युदयिक सुख, दुनियावी खुशी, धर्म से अर्जित रक्षित अर्थ से परिष्कृत परिमार्जित काम का सुख भी, और उसके बाद, नैश्रेयसिक सुख भी, जिस से बढ कर कोई श्रेयस नहीं है, 'मै ही मै सब मे हू, सब मुझ मे हैं, मेरे सिवा कोई दूसरा है ही नहीं"—इन दोनो सुखों को पाने का निश्चित उपाय जो दिखावे वही 'दर्शन' है, यही 'दर्शन' का 'प्रयोजन' है"।

यद् आभ्युदयिक चैव नैःश्रेयसिकम् एव च,
सुख साधयितुं मार्ग दर्शयेत् तद्धि दर्शनम्।

॥ ॐ ॥

हिंदीभाषा का इतिहास

लेखक
धीरेंद्र वर्मा
एम्० ए० (इलाहाबाद), डी० लिट्० (पेरिस)
रीडर तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय

हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

१९४०

हिंदी भाषा का इतिहास

लेखक

धीरेंद्र वर्मा

एम्० ए० (इलाहाबाद), डी० लिट्० (पेरिस)

रीडर तथा अध्यक्ष, हिंदी विभाग

प्रयाग विश्वविद्यालय

हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग

१९४०

वक्तव्य

भाषाविज्ञान के सर्वसम्मत सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का तुलात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन कुछ यूरोपीय विद्वानों ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारंभ किया था। इस विषय पर प्रथम महत्वपूर्ण पुस्तक जान बीम्स कृत 'भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' (*कंपैरेटिव ग्रैमर आव दि माडर्न एरियन लैंग्वेजेज़ आव इंडिया*) है। इस का 'ध्वनि' शीर्षक प्रथम भाग १८७२ ई० में, 'संज्ञा तथा सर्वनाम' शीर्षक दूसरा भाग १८७५ ई० में तथा 'क्रिया' शीर्षक तीसरा भाग १८७९ ई० में प्रकाशित हुआ था। प्रथम भाग में लगभग सवा सौ पृष्ठ की भूमिका भी है। इस वृहत् ग्रंथ में बीम्स ने हिंदी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, उड़िया तथा बंगाली भाषाओं के व्याकरणों पर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है और व्याकरण के प्रत्येक अंग के संबंध में बहुत सी उपयोगी सामग्री एकत्रित की है। बीम्स का 'ध्वनि' विषय पर प्रथम भाग उदाहरणों के कारण विशेष रोचक है। आज तक न तो बीम्स के ग्रंथ का दूसरा संस्करण हो सका और न कोई अन्य अधिक पूर्ण ग्रंथ इस विषय पर निकल सका। अतः त्रुटिपूर्ण तथा अत्यंत पुराना होने पर भी बीम्स का ग्रंथ आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विद्यार्थी के लिए अब भी महत्व रखता है।

१८७६ ई० में ईसाई मिशनरी केलाग का 'हिंदीभाषा का व्याकरण' (*ग्रैमर आव दि हिंदी लैंग्वेज*) प्रकाशित हुआ था। इस हिंदी व्याकरण की विशेषता यह है कि इस में साहित्यिक खड़ीबोली हिंदी के व्याकरण के साथ साथ तुलना के लिए ब्रजभाषा, अवधी आदि हिंदी की मुख्य-मुख्य

पूज्य गुरु

महामहोपाध्याय

पंडित गंगानाथ झा

एम० ए०, डी० लिट्०, एलेल्० डी०

वि द्या सा ग र

की सेवा में

सादर समर्पित

प्रकाशक
हिंदुस्तानी एकेडेमी
प्रयाग

प्रथम संस्करण १९३३
द्वितीय सस्करण १९४०

मूल्य { सजिल्द ४)
{ विना जिल्द ३॥)

मुद्रक
एम० एन० पाण्डेय, इलाहाबाद लॉ जर्नल प्रेस
इलाहाबाद

पूज्य गुरु

महामहोपाध्याय

पंडित गंगानाथ झा

एम० ए०, डी० लिट्०, एलेल्० डी०

वि द्या सा ग र

की सेवा में

सादर समर्पित

प्राक्कथन

हिंदी भाषा के इस इतिहास को लिखने का भार हिंदुस्तानी एकेडेमी ने मुझे १९२९ ई० में सौंपा था। तीन चार वर्ष के परिश्रम स्वरूप यह ग्रंथ १९३३ ई० में प्रकाशित हो सका था। हिंदी भाषा के विद्यार्थियों तथा विद्वानों ने इस का स्वागत किया, फलतः पाँच छः वर्षों में ही इस का प्रथम संस्करण समाप्त होगया।

ग्रंथ के इस द्वितीय संस्करण में यद्यपि अधिक परिवर्तन नहीं किए गए हैं किंतु तो भी कुछ स्थल संशोधित रूप में मिलेंगे। प्रमुख नवीनताएं निम्न-लिखित हैं:—

१. वक्तव्य में दिए हुए हिंदी-भाषा संबंधी कार्य के इतिहास में नवीनतम सामग्री का समावेश;

२. हिंदी भाषा के क्षेत्र का द्योतक नवीन मानचित्र;

३. देवनागरी लिपि तथा अंक संबंधी चित्रों का समावेश;

४. अंतर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि-चिह्न संबंधी एक नए कोष्ठक की वृद्धि।

लिपि तथा अंक संबंधी चित्र रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा की प्रसिद्ध पुस्तक प्राचीन भारतीय लिपिमाला से लिए गए हैं। इस संबंध में अनुमति देनेके लिए लेखक ओझा जी का आभारी है। अनुक्रमणिका के अंकों का पैराग्राफ़ के आधार पर परिवर्त्तन मेरे शिष्य श्री ब्रजेश्वर वर्मा के परिश्रम का फल है।

प्रयाग,
जनवरी १९४०

धीरेंद्र वर्मा

वक्तव्य

भाषाविज्ञान के सर्वसम्मत सिद्धांतों को दृष्टि में रखते हुए आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का तुलात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन कुछ यूरोपीय विद्वानों ने उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारंभ किया था। इस विषय पर प्रथम महत्वपूर्ण पुस्तक जान बीम्स कृत 'भारतीय आर्यभाषाओं का तुलनात्मक व्याकरण' (*कंपैरेटिव ग्रैमर आव दि माडर्न एरियन लैंग्वेजेज़ आव इंडिया*) है। इस का 'ध्वनि' शीर्षक प्रथम भाग १८७२ ई० में, 'संज्ञा तथा सर्वनाम' शीर्षक दूसरा भाग १८७५ ई० में तथा 'क्रिया' शीर्षक तीसरा भाग १८७९ ई० में प्रकाशित हुआ था। प्रथम भाग में लगभग सवा सौ पृष्ठ की भूमिका भी है। इस वृहत् ग्रंथ में बीम्स ने हिंदी, पंजाबी, सिंधी, गुजराती, मराठी, उडिया तथा बंगाली भाषाओं के व्याकरणों पर तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया है और व्याकरण के प्रत्येक अंग के संबंध में बहुत सी उपयोगी सामग्री एकत्रित की है। बीम्स का 'ध्वनि' विषय पर प्रथम भाग उदाहरणों के कारण विशेष रोचक है। आज तक न तो बीम्स के ग्रंथ का दूसरा संस्करण हो सका और न कोई अन्य अधिक पूर्ण ग्रंथ इस विषय पर निकल सका। अतः त्रुटिपूर्ण तथा अत्यंत पुराना होने पर भी बीम्स का ग्रंथ आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के विद्यार्थी के लिए अब भी महत्व रखता है।

१८७६ ई० में ईसाई मिशनरी केलाग का 'हिंदीभाषा का व्याकरण' (*ग्रैमर आव दि हिंदी लैंग्वेज*) प्रकाशित हुआ था। इस हिंदी व्याकरण की विशेषता यह है कि इस में साहित्यिक खड़ीबोली हिंदी के व्याकरण के साथ साथ तुलना के लिए ब्रजभाषा, अवधी आदि हिंदी की मुख्य-मुख्य

बोलियों तथा राजस्थानी, बिहारी और मध्यपहाड़ी भाषाओं की भी सामग्री जगह-जगह पर दी गई है। साथ ही प्रत्येक अध्याय के अंत में व्याकरण के मुख्य-मुख्य रूपों का इतिहास भी संक्षेप में दिया गया है। केलाग के हिंदी व्याकरण का परिवर्द्धित तथा संशोधित संस्करण निकल चुका है। यह हिंदी व्याकरण अपने ढंग का अकेला ही है।

१८७७ ई० में रामकृष्ण गोपाल भंडारकर ने भारतीय आर्यभाषाओं पर सात व्याख्यान (*'विलसन फ़िलालोजिकल लेक्चर्स'*) दिए थे जो १९१४ में पुस्तकाकार छपे थे। इन में प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं का विवेचन अधिक विस्तार से किया गया है। कुछ व्याख्यान आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं पर भी हैं जिन में इन भाषाओं से संबंध रखने वाली अनेक समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। एक भारतीय विद्वान का अपने देश की भाषाओं के संबंध में आधुनिक दृष्टिकोण से अध्ययन करने का यह प्रथम प्रयास है। बीसवीं सदी के दृष्टिकोण से देखने पर इन व्याख्यानों के बहुत से अंश पुराने मालूम पडते हैं।

बीम्स के समकालीन विद्वान रूडल्फ हार्नली का 'पूर्वी हिंदी व्याकरण' (*ग्रैमर आव दि ईस्टर्न हिंदी*) १८८० ई० में प्रकाशित हुआ था। पूर्वी हिंदी से हार्नली का तात्पर्य आधुनिक बिहारी तथा अवधी से है। वास्तव में भोजपुरी का विस्तृत वर्णनात्मक व्याकरण देने के साथ-साथ हार्नली ने प्रत्येक अध्याय में आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से संबंध रखने वाली प्रचुर ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक सामग्री दी है जिस में कुछ तो बिल्कुल नई है। हार्नली का ग्रंथ निबंध के रूप में नहीं लिखा गया है इसी कारण लगभग ४०० पृष्ठ के इस छोटे से ग्रंथ में बीम्स के तीन भागों से भी अधिक सामग्री संगृहीत है। यद्यपि हार्नली के ग्रंथ का भी दूसरा संशोधित संस्करण नही निकल सका किंतु तो भी हार्नली का ग्रंथ आजतक इस विषय पर कोप का सा काम देता है। इस तरह १८७० से १८८० ई० के बीच में आधुनिक

भारतीय आर्यभाषाओं से संबंध रखने वाले कई उपयोगी ग्रंथ निकले जो पुराने हो जाने पर भी आजतक इस विषय के विद्यार्थियों को काम दे रहे हैं।

जार्ज अब्रहम ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का अध्ययन उन्नीसवीं सदी के अंत में ही प्रारंभ कर दिया था। उन के 'बिहारी भाषाओं के सात व्याकरण' (*सेविन ग्रामर्स आव बिहारी लैंग्वेजेज़*) १८८३ ई० से १८८७ ई० तक निकल चुके थे किंतु उन की सब से बडी कृति 'भारतीय भाषाओं की सर्वे' (*लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया*) १८९४ ई० में प्रारंभ हुई थी और १९२७ ई० में समाप्त हुई। यह वृहत् ग्रंथ ग्यारह बड़ी बड़ी जिल्दों में है जिस में से अनेक जिल्दों में तीन चार तक पृथक् भाग हैं। ग्रियर्सन की भाषासर्वे में उत्तर भारत की समस्त आधुनिक भाषाओं, उपभाषाओं तथा बोलियों के उदाहरण संगृहीत हैं और इन उदाहरणों के आधार पर समस्त मुख्य बोलियों के संक्षिप्त व्याकरण भी दिए गए हैं। जिल्द ९, भाग १ में पश्चिमी हिंदी की तथा जिल्द ६ में पूर्वी हिंदी की सामग्री है। हिंदी की भिन्न-भिन्न आधुनिक बोलियों की सीमाओं तथा उन के ठीक रूप का वैज्ञानिक वर्णन पहले-पहल इन्हीं जिल्दों में मिलता है। जिल्द १ भाग १ में संपूर्ण ग्रंथ की भूमिका है। भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहास का सब से अधिक प्रामाणिक तथा क्रमबद्ध वर्णन इस भूमिका में सुगमता से मिल सकता है। प्रत्येक जिल्द में नक्शों के होने से इस वृहत् ग्रंथ की उपादेयता और भी बढ़ गई है।

उत्तर भारत की समस्त भाषाओं की सर्वे के अतिरिक्त बीसवीं सदी में आकर कुछ आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं पर शास्त्रीय ढंग से विस्तृत काम भी हुआ है जिस में हिंदी भाषा के पूर्व इतिहास से संबंध रखने वाली थोड़ी बहुत सामग्री बिखरी पडी है। इन ग्रंथों में फ़्रांसीसी विद्वान जूल ब्लाक की फ़्रांसीसी में लिखी हुई 'मराठी भाषा' पर पुस्तक (*ला फर्मेसिओ द ला लांग मराथे*, १९१९) तथा सुनीति कुमार चैटर्जी का 'बंगाली भाषा की

उत्पत्ति तथा विकास' पर वृहत् ग्रंथ (*ओरिजिन ऐंड डेवेलपमेंट आव दि बेंगाली लैंग्वेज*, १९२६) विशेष उल्लेखनीय हैं। किसी एक आधुनिक भारतीय आर्यभाषा पर वैज्ञानिक दृष्टि से काम करनेवाले के लिए ब्लाक का मराठी भाषा पर ग्रंथ आदर्श स्वरूप है। चैटर्जी के ग्रंथ में प्रायः प्रत्येक आधुनिक भारतीय आर्यभाषा से संबंध रखनेवाली कुछ न कुछ उपयोगी सामग्री मौजूद है। बंगाली से संबंध रखने पर भी यह ग्रंथ आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहास का विश्वकोष कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। पहली जिल्द में लगभग ढाई सौ पृष्ठ की भूमिका है जिस में भाषा सर्वे की भूमिका के ढंग की बहुत सी वर्णनात्मक सामग्री दी हुई है। पहली जिल्द के शेष भाग में बंगाली ध्वनियों का इतिहास है तथा दूसरे भाग में व्याकरण के रूपों का इतिहास दिया गया है।

पूर्वी हिंदी की छत्तीसगढी बोली का कुछ विस्तार के साथ वर्णन हीरालाल काव्योपाध्याय ने हिंदी में लिखा था। ग्रियर्सन ने इस का अंग्रेज़ी अनुवाद करके १९२१ ई० में छपवाया था। विस्तार तथा वैज्ञानिक विवेचन की दृष्टि से यह अध्ययन बहुत आदर्श ग्रंथ नहीं है। ब्लाक की 'मराठी भाषा' के ढंग का हिंदी भाषा से संबंध रखने वाला अध्ययन प्रयाग विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यापक बाबूराम सकसेना ने पहले-पहल किया। अनेक वर्षों के अध्ययन के बाद १९३१ ई० में सकसेना ने प्रयाग विश्वविद्यालय की डी० लिट्० डिगरी के लिए 'अवधी के विकास' (*एवोल्यूशन आव अवधी*) पर निबंध दिया जो १९३८ ई० में प्रकाशित हो सका। अवधी बोली के इस अध्ययन में कई विशेषतायें हैं। इस ग्रंथ में पहले-पहल एक आधुनिक भारतीय आर्यभाषा की ध्वनियों का प्रयोगात्मक-ध्वनिशास्त्र की दृष्टि से विश्लेषण तथा वर्णन किया गया है। प्रत्येक विषय तीन भागों में विभक्त है। पहले मे आधुनिक अवधी की परिस्थिति का विस्तृत तथा वैज्ञानिक वर्णन है, दूसरे में प्रधानतया 'रामचरितमानस' और 'पद्मावत' के आधार पर पुरानी अवधी

का वर्णन है और तीसरे अंश में संक्षेप में अवधी की ध्वनियों अथवा व्याकरण के रूपों का इतिहास दिया गया है। इस ग्रंथ में हिंदी की एक मुख्य बोली का प्रथम वैज्ञानिक तथा विस्तृत वर्णन मिलता है। केवल अवधी से संबंध रखने के कारण आधुनिक साहित्यिक खड़ी-बोली हिंदी अथवा प्राचीन मुख्य साहित्यिक बोली व्रजभाषा की बहुत सी समस्याओं पर यह ग्रंथ भले ही विशेष प्रकाश न डाल सके किंतु तो भी हिंदी भाषा तथा उस की बोलियों पर काम करने के लिए यह ग्रंथ आदर्श पथप्रदर्शक के समान रहेगा। १९३५ ई० में लेखक का 'व्रजभाषा' संबंधी ग्रंथ फ्रांसीसी भाषा में *ला लॉग व्रज* नाम से प्रकाशित हुआ। प्राचीन तथा आधुनिक व्रजभाषा का प्रथम वैज्ञानिक अध्ययन होने के अतिरिक्त ग्रंथ में दी हुई तुलनात्मक सामग्री आधुनिक भारतीय भाषाओं में व्रजभाषा के स्थान पर विशेष प्रकाश डालती है। हिंदी की अन्य प्रमुख बोलियों, विशेषतया खड़ीबोली पर कार्य होना अभी भी बाकी है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के शब्दसमूह का पहला तुलनात्मक तथा ऐतिहासिक अध्ययन टर्नर के नेपाली भाषा के कोष (*नेपाली डिक्शनरी,* १९३१) में मिलता है। इस नेपाली-अंग्रेज़ी कोष में यथासंभव समस्त भारतीय आर्यभाषाओं के रूप देने का यत्न किया गया है। अंत में प्रत्येक भाषा की दृष्टि से शब्द-सूचियां दी हुई हैं जिन से प्रत्येक भाषा के उपलब्ध शब्द तथा उन के रूपांतर आसानी से मिल सकते हैं। अपने ढंग का पहला प्रयास होने के कारण यह कोष बहुत पूर्ण नहीं है किन्तु तो भी लेखक का परिश्रम तथा खोज अत्यंत सराहनीय है। भारतीय आर्यभाषाओं से संबंध रखने वाला वास्तव में यह प्रथम वैज्ञानिक नैरुक्तिक कोष है। भारतीय आर्यभाषाओं का प्रथम संक्षिप्त किंतु आद्योपांत तथा वैज्ञानिक वर्णन ब्लाक की फ्रांसीसी पुस्तक *ल एंदो एरियन* (१९३४) में मिलता है। इस विषय के संबंध में आज तक की खोज का सार इस में एक स्थान पर मिल जाता है।

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के इतिहास तथा तुलनात्मक अध्ययन से संबंध रखने वाले ऐसे मुख्य-मुख्य ग्रंथों का उल्लेख ऊपर किया गया है जो हिंदी भाषा के इतिहास के अध्ययन में किसी न किसी रूप से सहायक हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त विशेषतया अंग्रेज़ी, फ़ासीसी तथा जर्मन पत्रिकाओं में इस विषय पर अनेक उपयोगी लेख निकले हैं जिन में बहुत सी नई खोज मौजूद है। उदाहरण के लिए ग्रियर्सन का 'आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में बलात्मक स्वराघात' (ज० रा० ए० सो०, १८९५, पृ० १३९) शीर्षक लेख तथा टर्नर का 'गुजराती ध्वनिसमूह' (ज० रा० ए० सो०, १९२१, पृ० ३२९, ५०५) शीर्षक लेख अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। इस तरह की सामग्री से परिचय प्राप्त किए बिना इस विषय के विद्यार्थी का अध्ययन पूर्ण नहीं हो सकता। यहां इस सामग्री का विस्तृत विवेचन संभव नहीं है।

यद्यपि यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों ने अंग्रेज़ी के माध्यम से इतना काम कर डाला है तथा आगे भी कर रहे हैं, किंतु अत्यंत खेद के साथ कहना पडता है कि हिंदी में आज तक प्रस्तुत विषय पर विशेष उल्लेखनीय कार्य नहीं हो सका है। भारतेंदु हरिश्चंद्र का *हिंदी भाषा* शीर्षक विवेचन (१८९०), बालमुकुंद गुप्त की *हिंदी भाषा* (१९०८ ई०), महावीर प्रसाद द्विवेदी की *हिंदी भाषा की उत्पत्ति* (१९०७ ई०) और बद्रीनाथ भट्ट की *हिंदी* (१९२४ ई०) पुस्तकाकार वर्णनात्मक निबंध मात्र हैं जिनमें से कुछ में तो हिंदी साहित्य और भाषा दोनों का ही विवेचन मिश्रित है। महावीर प्रसाद द्विवेदी की *हिंदी भाषा की उत्पत्ति* के साथ हिंदी साहित्य-सम्मेलन द्वारा प्रकाशित *नागरी अक और अक्षर* शीर्षक निबंध-संग्रह बहुत दिनों तक हिन्दी विद्यार्थियों के पथ प्रदर्शक रहे हैं। इन विषयों पर हिंदी ग्रंथ समूह की अवस्था का बोध इसी से हो सकता है। हिंदी के सिर को ऊँचा करने वाला गौरीशंकर हीराचंद ओझा का *प्राचीन भारतीय लिपि माला* (प्रथम संस्करण १८९४ ई०, द्वितीय संस्करण १८९८ ई०) शीर्षक ग्रंथ

असाधारण है किंतु इस में देवनागरी लिपि और अंकों का इतिहास है, हिंदी भाषा से इसका संबंध नहीं है। कामताप्रसाद गुरु का *हिंदी व्याकरण* (सं० १९७७) साहित्यिक खड़ीबोली के वर्णनात्मक व्याकरण की दृष्टि से अत्यंत सराहनीय है किंतु इस में व्याकरण के रूपों का इतिहास संकेत रूप में कहीं कहीं नाम मात्र को ही दिया गया है। इस व्याकरण का यह उद्देश भी नहीं है। लेखक का *व्रजभाषा व्याकरण* (१९३७ ई०) हिंदी में साहित्यिक व्रजभाषा का प्रथम विस्तृत विवेचन है किंतु इस का उद्देश्य भी ऐतिहासिक तथा तुलनात्मक सामग्री देने का नहीं है।

दुनीचंद का लिखा हुआ *पंजाबी और हिंदी का भाषा विज्ञान* (१९२५ ई०) शीर्षक ग्रंथ तुलनात्मक क्षेत्र में प्रवेश कराता है किंतु मौलिक होते हुए भी यह कृति बहुत पूर्ण नहीं है। १९२५ में श्यामसुंदर दास ने *भाषा विज्ञान* नामक ग्रंथ लिखा था जिस के *हिंदी भाषा का विकास* शीर्षक अंतिम अध्याय में पहले-पहल आधुनिक सामग्री के आधार पर भारतीय आर्यभाषाओं का संक्षिप्त परिचय तथा हिंदी भाषा के मुख्य-मुख्य रूपों का संक्षिप्त इतिहास देने का प्रयास किया गया था। यह अध्याय इसी शीर्षक से अलग पुस्तकाकार भी छपा है तथा कुछ संशोधित रूप में *हिंदीभाषा और साहित्य* ग्रंथ के पूर्वार्द्ध में भी मिलता है। हिंदी भाषा का यह विवेचन हिंदी में अपने ढंग का पहला है किंतु इस में बड़ी भारी त्रुटि यह है कि वर्णनात्मक अंश तथा ऐतिहासिक व्याकरण संबंधी अंश एक दूसरे से मिल गए हैं तथा ऐतिहासिक व्याकरण संबंधी सामग्री अत्यंत संक्षिप्त है। यह कृति हिंदी भाषा के विकास पर पुस्तकाकार विस्तृत निबंध मात्र है। यहां पर श्यामसुंदर दास तथा पद्म नारायण आचार्य के *भाषारहस्य* भाग १ (१९३५ ई०) का उल्लेख कर देना भी उचित होगा। ग्रंथ के इस प्रथम भाग में केवल ध्वनि का विषय विस्तार के साथ दिया गया है। प्राचीन भारतीय आचार्यों के मतों का यत्र तत्र समावेश इस ग्रंथ की विशेषता है। लेखक के हिंदीभाषा के इतिहास के प्रथम संस्करण

(१९३३ ई०) के उपरांत प्रकाशित होने के कारण यह ग्रंथ लेखक-द्वय को उपयोगी सिद्ध हुआ है।

प्रस्तुत *हिंदीभाषा का इतिहास* इस विषय पर हिंदी में एक विस्तृत तथा पूर्ण ग्रंथ की आवश्यकता की पूर्ति के प्रयास-स्वरूप है। हिंदी भाषा के इस इतिहास की सामग्री का मुख्य आधार गत साठ सत्तर वर्ष के अंदर यूरोपीय तथा भारतीय विद्वानों द्वारा किया गया आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से संबंध रखने वाला वह कार्य है जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पुस्तक में यथास्थान भिन्न-भिन्न विद्वानों के मतों का उल्लेख स्थल-निर्देश सहित बराबर किया गया है। बीम्स, हार्नली तथा चैटर्जी के ऐतिहासिक अंशों से विशेष सहायता ली गई है, साथ ही पत्रिकाओं में लेखों के रूप में फैली हुई सामग्री का भी यथासंभव उपयोग किया गया है। पुस्तक का विषय-विभाग तथा विषय-विवेचन का क्रम चैटर्जी की पुस्तक के ढंग पर रक्खा गया है। हिंदी ध्वनियों का वर्णन सकसेना के अवधी ध्वनियों के वर्णन की शैली पर है। आधुनिक साहित्यिक खड़ीबोली हिंदी के व्याकरण के ढाँचे को हिंदी की बोलियों में प्रतिनिधि स्वरूप मान कर प्रस्तुत ग्रंथ में उसी के रूपों का विस्तृत इतिहास देने का प्रयत्न किया गया है। ब्रज तथा अवधी बोलियों से संबंध रखने वाली विशेष ऐतिहासिक सामग्री संक्षेप में दी गई है। अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं से संबंध रखने वाली तुलनात्मक सामग्री प्रस्तुत पुस्तक के क्षेत्र के बाहर पडती है अतः यह बिल्कुल भी नहीं दी गई है। आरंभ मे एक विस्तृत भूमिका का देना आवश्यक प्रतीत हुआ। इस में हिंदी भाषा तथा उस की समकालीन तथा पूर्वकालीन भारतीय आर्यभाषाओं का वर्णनात्मक परिचय है। भूमिका का मुख्य आधार ग्रियर्सन की भाषासर्वे की भूमिका में पाई जाने वाली सामग्री है जिस का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। भूमिका तथा मूल ग्रंथ में कुछ अंश ऐसे भी हैं जो साधारणतया हिंदी भाषा के इतिहास से संबंध रखने वाले ग्रंथ में नहीं होने चाहिए थे, जैसे भूमिका में

'संसार की भाषाओं का वर्गीकरण' अथवा मूल ग्रंथ में 'हिंदी ध्वनिसमूह' शीर्षक पहला ही अध्याय। किंतु हिंदी में इस प्रकार की सामग्री के अभाव के कारण तथा हिंदी भाषा के इतिहास को समझने के लिए इन विषयों की जानकारी की आवश्यकता को समझकर इन अपेक्षित रूप से असंबद्ध विषयों का भी समावेश कर लेना आवश्यक समझा गया।

ग्रंथ लिखते समय अनेक कठिनाइयां उपस्थित हुईं। सब से पहली कठिनाई पारिभाषिक शब्दों के संबंध में थी। हिंदी में भाषाशास्त्र से संबंध रखने वाले पारिभाषिक शब्द एक तो पर्याप्त नहीं हैं। दूसरे जो हैं वे सर्व-सम्मति से अभी स्वीकृत नहीं हो पाए हैं। इस कारण बहुत से नए पारिभाषिक शब्द बनाने पड़े तथा अनेक पुराने पारिभाषिक शब्दों को जॉच कर उन में से उपयुक्त शब्दों को चुनना पडा। भविष्य में इस विषय पर काम करने वालों को सुविधा के लिए पारिभाषिक शब्दों की हिंदी-अंग्रेज़ी तथा अंग्रेज़ी-हिन्दी सूचियां पुस्तक के अंत में परिशिष्ट-स्वरूप दे दी गई हैं। ध्वनिशास्त्र संबंधी पारिभाषिक शब्दों को निश्चित करने में ग्रेहम बेली की सूची (*बुलेटिन आव दि स्कूल आव ओरियंटल स्टडीज़* भाग ३, पृ० २८६) का भी उपयोग किया गया है। दूसरी कठिनाई हिंदी तथा विदेशी नई ध्वनियों के लिये देवनागरी में नए लिपिचिह्न बनाने के संबंध में हुई। इस विषय में भी बहुत विचार करने के बाद एक निश्चित मार्ग का अवलंबन करना पड़ा। नए लिपि-चिह्नों के ढलवाने में हिंदुस्तानी एकेडेमी को विशेष व्यय करना पड़ा किंतु इनके समावेश से पुस्तक बहुत अधिक पूर्ण हो सकी है तथा इस संबंध में एक नया मार्ग खुल सका है। एक पृथक् कोष्ठक में देवनागरी लिपि के साथ अंतर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपि-चिह्न (International Phonetic System) भी दे दिए गए हैं। सामग्री के एकत्रित करने में तथा एक-एक रूप की तुलना करने में जो परिश्रम करना पड़ा वह पुस्तक पर एक दृष्टि डालने से ही विदित हो सकेगा। यह सब होने पर भी पुस्तक की त्रुटियाँ

को लेखक से अधिक और कोई नहीं समझ सकता। हिंदी भाषा का सर्वांगपूर्ण इतिहास तभी लिखा जा सकता है जब हिंदी की प्रत्येक बोली पर वैज्ञानिक ढंग से काम हो चुके। अभी तो इस तरह का कार्य प्रारंभ ही हुआ है। ऐसी अवस्था में हिंदी भाषा का पूर्ण इतिहास लिखने के लिए दस बीस वर्ष प्रतीक्षा करनी पडती। इतनी प्रतीक्षा करना व्यवहारिक न समझ कर लेखक ने हिंदी भाषा के इतिहास के इस पूर्वरूप को हिंदी भाषा के विद्यार्थियों तथा विद्वानों के सामने रख देना आवश्यक समझा। अब तक की खोज के एक जगह एकत्रित हो जाने से आगे बढ़ने में सुभीता ही होगा। आशा है कि भविष्य में हिंदी भाषा के पूर्ण इतिहास के लिखने तथा इस विषय पर नए मार्गों में खोज करने के लिए यह ग्रंथ पथ-प्रदर्शक का काम दे सकेगा।

अपने अनन्य मित्र श्री बाबूराम सकसेना के प्रति कृतज्ञता प्रकट किए बिना यह वक्तव्य अधूरा ही रह जायगा। संपूर्ण ग्रंथ को आद्योपांत पढ कर आपने अनेक बहुमूल्य परामर्श दिए। इस के अतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों तथा नए लिपि-चिह्नों के निर्णय करने में भी आप की सम्मति सदा हितकर सिद्ध हुई। आप के विस्तृत अनुभव तथा सत्परामर्श से लेखक ने जो लाभ उठाया है उस के लिए लेखक आप का आभारी है। अनेक नए लिपि-चिह्नों आदि के प्रयोग के कारण इस पुस्तक की छपाई में असाधारण कठिनाइयों का सामना करना पडा। प्रयाग के आदर्श यंत्रालय लॉ जर्नल प्रेस के पूर्ण सहयोग तथा उत्साह के बिना पुस्तक का इस रूप में मुद्रित होना असंभव था। इस के लिए इस प्रेस के संचालक हार्दिक धन्यवाद तथा बधाई के पात्र हैं। अंत में लेखक हिंदुस्तानी ऐकेडेमी के संचालकों का विशेष आभारी है जिन की दूरदर्शिता के कारण ही ऐसे जटिल और नीरस किंतु आवश्यक विषय पर ग्रंथ प्रकाशन संभव हो सका।

संक्षिप्त-रूप

अं०	अंगरेज़ी
अ०	अरबी
अ० तत्स०	अर्द्ध तत्सम
अ० माग०	अर्द्ध मागधी
अप०	अपभ्रंश
अव०	अवधी
आ० भा० आ०	आधुनिक भारतीय आर्यभाषा
इ०	इत्यादि
इ० ब्रि०	इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका
ई०	ईसवी
उदा०	उदाहरण
एक०	एकवचन
ओझा, भा० प्रा० लि०	ओझा—गौरीशंकर हीराचंद, भारतीय प्राचीन लिपिमाला (१९१८)
कादरी, हि० फो०	कादरी, हिंदुस्तानी फ़ोनेटिक्स
कृ०	कृदंत
के०, हि० ग्रै०	केलाग, हिंदी ग्रैमर (१८७६ ई०)
ख० बो०	खड़ी बोली
गु०, हि० व्या०	गुरु—कामता प्रसाद, हिंदी व्याकरण (विचारार्थ संस्करण)

चै०, बे० लै०	चैटर्जी—सुनीति कुमार, बेंगाली लैंग्वेज—आरिजिन ऐन्ड डेवेलपमेंट (१९२६ ई०)
ज० रा० ए० सो०	जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसायटी
त०	तद्धित
तत्स०	तत्सम
तद्भ०	तद्भव
दे०	देखिए
ना० प्र० प०	नागरी-प्रचारिणी पत्रिका
पं०	पंजाबी
पा०	पाली
पु०	पुल्लिंग
पू० ई०	पूर्व ईसा
पृ०	पृष्ठ
प्रा०	प्राकृत
प्रा० भा० आ०	प्राचीन भारतीय आर्यभाषा
फा०	फ़ारसी
बं०	बंगाली
बहु०	बहुवचन
बिहा०	बिहारी
बी०, क० ग्रै०	बीम्स, कंपैरेटिव ग्रैमर आव दि माडर्न एरियन लैंग्वेजेज़ आव इंडिया (भाग १, १८७२ ई०; भाग २, १८७५ ई०; भाग ३, १८७९ ई०)
बो०	बोली
ब्र०	ब्रजभाषा

भा०	भाग
भा० आ०	भारतीय आर्यभाषा
भा० ई०	भारत-ईरानी
भा० यू०	भारत-यूरोपीय
म० भा० आ०	मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा
महा०	महाराष्ट्री
राज०	राजस्थानी
लि० स०	लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया
वा०, फो० इं०	वार्ड, फोनेटिक्स आव इंगलिश (१६२६ ई०)
शौर०	शौरसेनी
सं०	संस्कृत
सक०, ए० अ०	सकसेना—बाबूराम, एवोल्यूशन आव अवधी (१६३८)
हा०, ई० हि० ग्रै०	हार्नली, ईस्टर्न हिंदी ग्रैमर (१८८० ई०)
हिं०	हिंदी
हिंदु०	हिंदुस्तानी

नए लिपि-चिह्न

अ ꜟ विवृत अग्र ह्रस्व अ। यह पुरानी फारसी–पहलवी–में मिलता है जैसे *मर्सलह्*। पहलवी में दीर्घ *आ* अग्र विवृत न होकर पश्च विवृत होता है।

आ ॊ विवृत अग्र दीर्घ *आ*, यह आठ प्रधान स्वरों में चौथा स्वर है।

अ॑ ꜟ अर्द्धविवृत मध्य ह्रस्वार्द्ध अथवा 'उदासीन स्वर'। यह स्वर पंजाबी तथा हिंदी की कुछ बोलियों में पाया जाता है, जैसे अव० *सोर्हीं*, पंजाबी *नौकर्*।

ॲ ˘ अर्द्धविवृत पश्च ह्रस्वस्वर। यह प्रधान स्वर ऑ से अधिक नीचा है [अंग्रेजी स्वर नं० ६, जैसे अं० नॅट्‌ (not) बॅक्स् (box)]।

ऑ ॉ अर्द्धविवृत पश्च दीर्घ स्वर। यह प्रधान स्वर *आ* से नीचा है। अंग्रेज़ी स्वर नं० ७ ऑ के लिए इस चिह्न का प्रयोग हिंदी में प्रचलित हो गया है, जैसे अं० ऑल् (all) सॉ (saw)। अंग्रेज़ी विदेशी शब्दों में ॲ के स्थान पर भी इस का प्रयोग होता है।

इ॑ अर्द्धस्वर य् का शुद्ध वैदिक रूप।

इ॰ फुसफुसाहट वाली इ जो अवधी आदि बोलियों में पाई जाती है, दे० § २४।

उ॑ अर्द्धस्वर व्‌ का शुद्ध वैदिक रूप।

उ॰ फुसफुसाहट वाला उ जो अवधी आदि बोलियों में पाया जाता है, दे० § २०।

ए̤	ˆ	अर्द्धसंवृत् अग्र ह्रस्वस्वर अर्थात् ह्रस्व ए, दे० § २६ ।
ए̥		फुसफुसाहट वाला ए̥ जो अवधी आदि कुछ बोलियों में पाया जाता है, दे० § २७ ।
ऍ	ˆ	अर्द्धविवृत् मध्य दीर्घस्वर । अंग्रेज़ी स्वर नं० ११, जैसे अं० बॅ़ड् (bird) लॅन् (learn) ।
ऍ̤	ˆ	अर्द्धविवृत् अग्र ह्रस्वस्वर । अंग्रेजी स्वर नं० ३, जैसे अं० कॉलॅ़ज् (college), बॅंचू (bench) ।
ऐ̆	ˆ	अर्द्धविवृत अग्र दीर्घस्वर । प्रधान स्वर नं० ३, दे० § २८ ।
ऐ̃	ˆ	अर्द्धविवृत् अग्र ह्रस्वस्वर, किंतु प्रधान स्वर नं० ३ से काफ़ी नीचा । अंग्रेज़ी स्वर नं० ४, जैसे अं० मॅन् (man) गॅस् (gas) ।
ओ	ो	अर्द्धसंवृत् पश्च ह्रस्वस्वर अर्थात् ह्रस्व ओ, दे० § १७ ।
ऑ	ॉ	अर्द्धविवृत् पश्च ह्रस्वस्वर, दे० § १५ ।
ऑ̆	ॉ	अर्द्धविवृत् पश्च दीर्घस्वर, दे० § १६ । प्रधान स्वर नं० ६ । अंग्रेज़ी स्वर नं० ७ जो वास्तव में ऑ के अधिक निकट है ।
ʔ		स्वरयंत्रमुखी अघोष स्पर्श व्यंजन अर्थात् अरबी 'हम्ज़ा' ।
ʕ		उपालिजिह्व घोष संघर्षी ध्वनि, अर्थात् अरबी ع ।
क़्		अलिजिह्व अघोष स्पर्श, जो अरबी में पाया जाता है । यह फारसी में जिह्वामूलीय क़् हो जाता है ।
ख़्		अलिजिह्व अघोप संघर्षी । यह अरबी में पाया जाता है । फारसी में यह जिह्वामूलीय ख़् हो जाता है ।
ग़्		अलिजिह्व घोष संघर्षी । यह अरबी में पाया जाता है । फारसी में यह जिह्वामूलीय ग़् हो जाता है ।
चू्		स्पर्श-संघर्षी तालव्य-वर्त्स्य अघोष जो अंग्रेज़ी तथा पहलवी में है, जैसे अं० चॅ़अ (Chair) ।

ज़्̥	स्पर्श-संघर्षी तालव्य-वर्त्स्य घोष, जैसे अं० ज़्ज़्̥ (Judge)
ज्̣	कंठस्थान युक्त वर्त्स्य घोष संघर्षी, अरबी ظ ।
ज़्	उर्दू ض की देवनागरी अनुलिपि ।
झ़्	तालव्य-वर्त्स्य घोष संघर्षी अर्थात् श् का घोष रूप । यह अरबी, फारसी, अंग्रेज़ी आदि में है ।
झ़्	कंठस्थान युक्त वर्त्स्य घोष पार्श्विक । यह ध्वनि अरबी में है ।
ट्̥	वर्त्स्य अघोष स्पर्श । यह ध्वनि अंग्रेज़ी में पाई जाती है । हिंदी ट् मूर्द्धन्य है, वर्त्स्य नहीं ।
ड्̥	वर्त्स्य घोष स्पर्श अर्थात् ट्̥ का घोष रूप ।
ळ्	मूर्द्धन्य पार्श्विक घोष अल्पप्राण । यह ध्वनि वैदिक भाषा में थी ।
ळ्ह्	मूर्द्धन्य पार्श्विक घोष महाप्राण । यह ध्वनि भी वैदिक भाषा में थी ।
त्	कंठस्थानयुक्त वर्त्स्य अघोष स्पर्श, जैसे अरबी ط ।
थ़्	दंत अघोष संघर्षी । यह ध्वनि अरबी तथा अंग्रेज़ी में मिलती है, जैसे अं० *थिन्* (thin) हिंदी थ् संघर्षी न होकर स्पर्श ध्वनि है ।
द्	कंठस्थानयुक्त वर्त्स्य घोष स्पर्श, अरबी ض ।
द़्	दंत्य घोष संघर्षी थ़् का घोष रूप । यह ध्वनि अरबी तथा अंग्रेज़ी में मिलती है ।
य्	वैदिक मूल अर्द्धस्वर इ॑ का रूपांतर ।
ल्	कंठस्थानयुक्त वर्त्स्य घोष पार्श्विक । यह ध्वनि अरबी तथा अंग्रेज़ी में है । अंग्रेज़ी में यह अस्पष्ट ल् (dark *l*) कहलाता है ।
व	कंठ्योष्ठ्य अर्द्धस्वर । हिंदी में शब्द के मध्य में आने वाले

हलंत व् का उच्चारण व़् के समान होता है, दे० § ८०। अंग्रेज़ी, अरबी, फारसी आदि में भी यह ध्वनि पाई जाती है।

स्̤ — कंठस्थानयुक्त वर्त्स्य अघोष संघर्षी, जैसे अरबी ص।

स़् — उर्दू ث की अनुलिपि।

ह़् — स्वरयंत्रमुखी अघोष संघर्षी अर्थात् विसर्ग या अघोष ह्।

ह्̱ — उपालिजिह्व अघोप संघर्षी, जैसे अरबी خ जो غ का घोष रूप है।

ᳵ — वैदिक भाषा में यह उपध्मानीय तथा जिह्वामूलीय दोनों का लिपिचिह्न है। उपध्मानीय द्व्योष्ठ्य संघर्षी अघोष ध्वनि थी जो देवनागरी लिपि में फ् या इसी प्रकार के किसी अन्य लिपि-चिह्न से प्रकट की जा सकती है। जिह्वामूलीय जिह्वामूलस्थानीय संघर्षी अघोष ध्वनि थी जो ख़् के समान रही होगी।

विशेष-चिह्न

> — यह चिह्न पूर्वरूप से पररूप के परिवर्तन को बताता है, जैसे सं० *अग्नि* > प्रा० *अग्गि* > हि० *आग*।

< — यह चिह्न पररूप से पूर्वरूप के परिवर्तन को बताता है, जैसे हि० *आग* < प्रा० *अग्गि* < सं० *अग्नि*।

* — यह चिह्न शब्दों के उन रूपों पर लगाया गया है जो वास्तव में प्राचीन भाषाओं में व्यवहृत नहीं हुए हैं, बल्कि संभावित रूप मात्र हैं, जैसे संस्कृत पक्वे का संभावित प्राकृत रूप पक्खे*।

√ — यह धातु का चिह्न है, जैसे सं √ धृ।

देवनागरी लिपि

तथा

अन्तर्राष्ट्रीय ध्वन्यात्मक लिपिचिह्न

अ ʌ	आ ɑ:	इ ɪ	ई ɪ:	उ u	ऊ u:
ए e:	ऐ ʌe	ओ o:	औ ʌo		
क् k	ख् kh	ग् g	घ् gɦ	ङ् ŋ	
च् c	छ् ch	ज् ɟ	झ् ɟɦ	ञ् ɲ	
ट् ʈ	ठ् ʈh	ड् ɖ	ढ् ɖɦ	ण् ɳ	
त् t	थ् th	द् d	ध् dɦ	न् n	
प् p	फ् ph	ब् b	भ् bɦ	म् m	
य् j	र् r	ल् l	व् v		
श् ʃ	ष् ʂ	स् s	ह् ɦ		
ड़् ɽ	ढ़् ɽɦ	— m̩	: h		

विषय-सूची

मानचित्र

इतिहास

पृष्ठ

भूमिका

अ. संसार की भाषाएं और हिंदी

क. संसार की भाषाओं का वर्गीकरण[1]

वशक्रम के अनुसार भापातत्वविज्ञ ससार की भापाओ को कुलो, उपकुलो, शाखाओ, उपशाखाओ तथा समुदायो मे विभक्त करते है।[2] हिंदी भापा का ससार मे कहा स्थान है यह समझने के लिए इन विभागो का सक्षिप्त वर्णन देना आवश्यक है। उन समस्त भापाओ की गणना एक कुल में की जाती है जिन के सवध मे यह प्रमाणित हो चुका है कि ये सव किसी एक मूलभापा से उत्पन्न हुई है। नए प्रमाण मिलने पर इस वर्गीकरण में परिवर्तन सभव है। अव तक की खोज के आधार पर ससार की भापाए निम्नलिखित मुख्य कुलो में विभक्त की गई है—

१. भारत-यूरोपीय कुल—हमारे दृष्टिकोण से इस का स्थान सव से प्रथम है। कुछ विद्वान इस कुल को आर्य, भारत-जर्मनिक अथवा जफेटिक[3] नामो से भी पुकारते है। इस कुल की भापाए उत्तर भारत, अफगानिस्तान, ईरान तथा प्राय सपूर्ण यूरोप में बोली

---

[1] इ० ब्रि० (११वा सस्करण), 'फिलॉलोजी' शीर्षक लेख, भाग २१, पृ० ४२६ इ०

[2] भाषा क्या है, उस की उत्पत्ति कैसे हुई, आदि में मनुष्यमात्र की क्या कोई एक मूलभापा थी, इत्यादि प्रश्न भाषाविज्ञान के विषय से सवध रखते है अत. प्रस्तुत विषय के क्षेत्र से ये पूर्ण-रूप से बाहर है।

[3] जफेटिक नाम बाइविल के अनुसार मनुष्य-जाति के वर्गीकरण के आधार पर दिया गया था। जफेटिक के अतिरिक्त मनुष्य-जाति के दो अन्य विभाग सेमिटिक तथा हैमिटिक के नाम से बाइविल में किए गए है। इन में से भी प्रत्येक के नाम पर एक-एक भाषाकुल का नाम पड़ा है। मनुष्य-जाति के इस वर्गीकरण के शास्त्रीय होने में सदेह होने पर जफेटिक नाम छोड़ दिया गया, यद्यपि शेष दो नाम अव भी प्रचलित है। भारत-जर्मनिक से तात्पर्य उन भाषाओ से लिया जाता था जो पूर्व में भारत से लेकर पश्चिम में जर्मनी तक बोली जाती है। बाद को जब यह मालूम हुआ कि जर्मनी के और भी पश्चिम में आयलैंड की केल्टिक भाषा भी इसी कुल की है, तव यह नाम भी अनुपयुक्त समझा गया। आरंभ

जाती हैं। सस्कृत, पाली, ज़ेद, पुरानी फारसी, ग्रीक, लैटिन इत्यादि प्राचीन भाषाए इसी कुल की थी। आजकल इस कुल में अग्रेजी, फ्रासीसी, जर्मन, नई फारसी, पश्तो, हिंदी, मराठी, बगाली तथा गुजराती आदि भापाए हैं।

२. सेमिटिक कुल—प्राचीन काल की कुछ प्रसिद्ध सभ्यताओ के केंद्रो में—जैसे फोनेशिया, आरमीय तथा असीरिया में—लोगो की भापाए इसी कुल की थी। इन प्राचीन भाषाओ के नमूने अब केवल शिलालेखो इत्यादि में मिलते हैं। यहूदियो की प्राचीन हिब्रू भाषा जिस मे मूल वाइबिल लिखी गई थी और प्राचीन अरवी भापा जिस में कुरान है, इसी कुल की है। आजकल इस कुल की उत्तराधिकारिणी वर्तमान अरवी तथा हवशी भाषाए है।

३. हैमिटिक कुल—इस कुल की भाषाए उत्तर अफ़्रीका में वोली जाती हैं जिन मे मिश्र देश की प्राचीन भाषा काप्टिक मुख्य है। प्राचीन काप्टिक के नमूने चित्र-लिपि में खुदे हुए मिलते हैं। उत्तर अफ्रीका के समुद्रतट के कुछ भाग में प्रचलित लीवियन या वर्बर, पूर्व भाग के कुछ अश में वोली जानेवाली एथिओपियन तथा सहारा मरुभूमि की हौसा भापा इसी कुल में है। अरव के मुसलमानो के प्रभाव के कारण मिश्र देश की वर्तमान भापा अव अरबी हो गई है। कुछ समय पूर्व मूल मिस्री भापा काप्टिक के नाम से जीवित थी। मिस्र देश के मूल-निवासी, जो काप्टिक नाम से ही प्रसिद्ध है, अपनी भाषा के उद्धार का प्रयत्न कर रहे है।

४. तिव्वती-चीनी कुल—इस कुल को वौद्ध-कुल नाम देना अनुपयुक्त न होगा,

---

में भाषाशास्त्र में जर्मन विद्वानो ने अधिक कार्य किया था और यह नाम भी उन्हीं का दिया हुआ था। जर्मनी में अव भी इस कुल का यही नाम प्रचलित है। आर्य-कुल नाम सरल तथा उपयुक्त था, किंतु एक तो इस से यह भ्रम होता था कि आर्य-कुल की भाषाए बोलने वाले सव लोग आर्य-जाति के होगे, जो सत्य नहीं है, इस के अतिरिक्त ईरानी तथा भारतीय उपशाखाओं का सयुक्त नाम आर्य-उपकुल पड चुका था, अत यह सरल नाम छोड देना पडा। भारत-यूरोपीय नाम भी वहुत उपयुक्त नहीं है। इस नाम के अनुसार भारत और यूरोप में वोली जाने वाली सभी भाषाओ की गणना इस कुल में होनी चाहिए। किंतु भारत में ही द्राविड इत्यादि दूसरे कुलो की भाषाए भी वोली जाती है। इस नाम में दूसरी त्रुटि यह है कि भारत और यूरोप के बाहर बोली जानेवाली ईरानी भाषा की उपशाखा का उल्लेख इस में नहीं हो पाता। इन त्रुटियों के रहते हुए भी इस कुल का यही नाम प्रचलित हो गया है। अग्रेजी तथा फ़्रासीसी विद्वान इस कुल को भारत-यूरोपीय नाम से ही पुकारते हैं।

क्योकि जापान को छोड़ कर शेष समस्त बौद्ध धर्मावलंबी देश, जैसे चीन, तिब्वत, बर्मा, स्याम तथा हिमालय के अंदर के प्रदेश, इसी कुल की भाषाए बोलने वालो से बसे हैं। सपूर्ण दक्षिण-पूर्व एशिया में इस कुल की भाषाए प्रचलित हैं। इन सब मे चीनी भाषा मुख्य है। ईसा से दो सहस्र वर्ष पूर्व तक चीनी भाषा के अस्तित्व के प्रमाण मिलते हैं।

५. यूरल-अलटाइक कुल—इस को तूरानी या सीदियन कुल भी कहते हैं। इस कुल की भाषाए चीन के उत्तर में मगोलिया, मचूरिया तथा साइबेरिया में बोली जाती हैं। तुर्की या तातारी भाषा इसी कुल की हैं। यूरोप में भी इस की एक शाखा गई है, जिस की भिन्न-भिन्न बोलिया रूस के कुछ पूर्वी भागो में बोली जाती हैं। कुछ विद्वान जापान तथा कोरिया की भाषाओ की गणना भी इसी कुल में करते है। दूसरे इन्हें तिब्बती-चीनी कुल में रखते है।

६. द्राविड़ कुल—इस कुल की भाषाए दक्षिण-भारत में बोली जाती हैं, जिन में मुख्य तामिल, तेलगू, मलयालम तथा कनारी हैं। यह ध्यान रखना चाहिए कि ये उत्तर-भारत की आर्य-भाषाओ से बिल्कुल भिन्न हैं।

७. मैले-पालीनेशियन कुल—मलाका प्रायद्वीप, प्रशात महासागर के सुमात्रा, जावा, बोर्नियो इत्यादि द्वीपो तथा अफ्रीका के निकटवर्ती मडागास्कर द्वीप मे इस कुल की भाषाए बोली जाती है। न्यूज़ीलैंड की भाषा भी इसी कुल की है। भारत में सथालो इत्यादि की कोल-भाषाए इसी कुल में गिनी जाती हैं। मलय-साहित्य तेरहवीं शताब्दी तक का पाया जाता है। जावा में भी तो ईसवी सन् की प्रारंभिक शताब्दियो तक के लेख इसी कुल की भाषाओ मे मिले हैं। इन देशों की सभ्यता पर भारत के हिंदूकाल का बहुत प्रभाव पड़ा था।

८ बंटू कुल—इस कुल की भाषाए दक्षिण अफ्रीका के आदिम-निवासी बोलते है। जंजीबार की स्वाहिली भाषा इसी कुल मे है। यह व्यापारियो के बहुत काम की हैं।

९ मध्य-अफ्रीका कुल—उत्तर के हैमिटिक तथा दक्षिण के बंटू कुलों के बीच मे शेष मध्य-अफ्रीका मे एक तीसरे कुल की बोलिया बोली जाती है। इन की गिनती मध्य-अफ्रीका कुल मे की गई है। ब्रिटिश सूदान की भाषाए इसी कुल में है।

१०. अमेरिका की भाषाओ का कुल—उत्तर तथा दक्षिण अमेरिका के मूल-निवासियो की बोलियो को एक पृथक् कुल मे स्थान दिया गया है। मध्य-अफ्रीका की बोलियो की तरह इन की संख्या भी बहुत है, तथा इन में आपस में भेद भी बहुत है। थोड़ी-थोड़ी दूर पर बोली में अंतर हो जाता है।

११. आस्ट्रेलिया तथा प्रशात महासागर की भाषाओं के कुल—आस्ट्रेलिया महा-

द्वीप तथा टस्मेनिया के मूल-निवासियो की भापाए एक कुल के अतर्गत रखी जाती हैं। प्रशात महासागर के छोटे-छोटे द्वीपो में दो अन्य भिन्न कुलो की भापाए बोली जाती हैं।

१२. शेष भाषाए—कुछ भापाओ का वर्गीकरण अभी तक ठीक-ठीक नही हो पाया है। उदाहरणार्थ काकेशिया प्रदेश की भापाओ को किसी कुल में सम्मिलित नही किया जा सका है। इन में जार्जियन का प्रचार सब से अधिक है। यूरोप की बास्क तथा यूट्रस्कन नाम की भापाए भी बिल्कुल निराली हैं। ससार के किसी भापा-कुल में इन की गणना नही की जा सकी है। यूरोप के भारत-यूरोपीय कुल की भापाओ से इन का कुछ भी सबध नही है।

ख. भारत-यूरोपीय कुल[1]

ससार की भाषाओ के इन बारह मुख्य कुलो में भारत-यूरोपीय कुल से हमारा विशेष सबध है। जैसा बतलाया जा चुका है, इस कुल की भापाए प्राय सपूर्ण यूरोप, ईरान, अफगानिस्तान तथा उत्तर-भारत मे फैली हुई हैं। इन्हें प्राय दो समूहो में विभक्त किया जाता है जो 'केटम्' और 'शतम्' समूह कहलाते हैं।[2] प्रत्येक समूह में चार-चार उपकुल हैं। इन आठो उपकुलो का सक्षित वर्णन नीचे दिया जाता है—

१. आर्य या भारत-ईरानी—इस उपकुल मे तीन मुख्य शाखाए हैं। प्रथम में भारतीय आर्य-भापाए है तथा दूसरे में ईरानी भापाए। एक तीसरी शाखा दरद या पैशाची भाषाओ की भी मानी जाने लगी है। इन का विशेप उल्लेख आगे किया जायगा।

---

[1] इ० ब्रि० (१४वा सस्करण), देखिए 'इडो-यूरोपियन' शीर्षक लेख में भाषा-सबधी विवेचन।

[2] भारत-यूरोपीय कुल की भाषाओ को दो समूहो में विभक्त करने का आधार कुछ कठ-देशीय मूल-वर्णों (क, ख, ग, घ) का इन समूहो की भाषाओ में भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करना है। एक समूह में ये स्पर्श व्यजन ही रहते हैं, किंतु दूसरे में ये ऊष्म (सिबिलैंट्स) हो जाते हैं। यह भेद इन भाषाओ में पाए जानेवाले "सौ" शब्द के दो भिन्न रूपो से भली प्रकार प्रकट होता है। लैटिन में, जो प्रथम समूह की भापाओ में से एक है, 'सौ' के लिए 'कॅटम्' शब्द आता है, किंतु सस्कृत में, जो दूसरे समूह की है, 'शतम्' रूप मिलता है। पहला समूह बिल्कुल यूरोपीय है, और 'कॅटम् समूह' के नाम से पुकारा जाता है। दूसरे समूह में पूर्व यूरोप, ईरान तथा भारत की आर्यभापाए सम्मिलित हैं। यह 'शतम् समूह' कहलाता है।

२. आरमेनियन—आर्य उपकुल के पश्चिम मे आरमेनियन है। इस में ईरानी शब्द अधिक मात्रा मे पाए जाते है। आरमेनियन भाषा यूरोप और एशिया की भाषाओ के बीच मे हे।

३. बाल्टो-स्लैवोनिक—इस उपकुल की भाषाए काले समुद्र के उत्तर मे प्राय सपूर्ण रूस में फैली हुई है। आर्य उपकुल की तरह इस की भी शाखाए है। बाल्टिक शाखा मे लियूएनियन, लेटिश, और प्राचीन प्रशियन बोलियां हैं। स्लैवोनिक शाखा मे बलगेरिया की प्राचीन भाषा, रूस की भाषाए, सर्वियन, स्लोवेन, पोलैंड की भाषा, जेक अथवा बोहेमियन और सर्व ये मुख्य भेद है।

४. अलवेनियन—'शतम् समूह' की अतिम भाषा अलवेनियन है। आरमेनियन की तरह इस पर भी निकटवर्ती भाषाओ का प्रभाव अधिक है। इस भाषा में प्राचीन साहित्य नही पाया जाता।

५. ग्रीक—'कॅटम् समूह' की भाषाओ में यह उपकुल सब से प्राचीन है। प्रसिद्ध कवि होमर ने 'ईलियड' तथा 'ओडेसी' नामक म्हाकाव्य प्राचीन ग्रीक भाषा में ही लिखे थे। सुक़रात तथा अरस्तू के मूलग्रथ भी इसी मे है। आजकल भी यूनान देश में इसी प्राचीन भाषा की बोलियो मे से एक का नवीन रूप बोला जाता है।

६. इटैलिक या लैटिन—प्राचीन रोमन साम्राज्य की लैटिन भाषा के कारण यह उपकुल विशेष आदरणीय हो गया है। यूरोप की सपूर्ण वर्तमान भाषाओ पर लैटिन और ग्रीक भाषाओ का बहुत प्रभाव पडा है। आधुनिक यूरोपीय भाषाओं मे भी विज्ञान से शब्दो का निर्माण इन्ही प्राचीन भाषाओ के सहारे होता हैं। इटली, फ्रास, स्पेन, रूमानिया तथा पुर्तगाल की वर्तमान भाषाए लैटिन ही की पुत्रिया है।

७. केल्टिक—इस उपकुल की भाषाओ मे दो मुख्य भेद है। एक का वर्तमान रूप आयर्लैंड में मिलता, तथा दूसरे का ग्रेट ब्रिटेन के स्काटलैड, वेल्स तथा कार्नवाल प्रदेशो में पाया जाता है। इस उपकुल की पुरानी गाल भाषा अब जीवित नही है।

८. जर्मनिक या ट्यूटानिक—इस का प्राचीन रूप गाथिक और नार्स भाषाओ में मिलता है। प्राचीन नार्स भाषा से निकट ऐतिहासिक काल मे स्वीडेन, नार्वे, डेन्मार्क तथा आइसलेंड की भाषाए निकली है। जर्मन, डच, फ्लेमिश तथा अग्रेज़ी भाषाए इसी कुल में है।

ग. आर्य अथवा भारत-ईरानी उपकुल

भारत-यूरोपीय कुल के इन आठ उपकुलो मे आर्य अथवा भारत-ईरानी उपकुल का कुछ विशेष उल्लेख करना आवश्यक है। जैसा कहा जा चुका है इस की तीन मुख्य शाखाएं है—१ ईरानी, २ पैशाची, या दरद, तथा ३ भारतीय आर्यभाषा।

१. ईरानी[1]—ऐतिहासिक क्रम के अनुसार ईरान की भाषाओं के तीन भेद मिलते हैं—(क) पुरानी फारसी के सब से प्राचीन नमूने पारसियो के धर्मग्रंथ अवस्ता में मिलते हैं। अवस्ता के सब से पुराने भाग ईसा से लगभग चौदह शताब्दी पूर्व के माने जाते हैं। अवस्ता की भाषा ऋग्वेद की भाषा से बहुत मिलती-जुलती है। इस में आश्चर्य भी नहीं, क्योकि ईरान के प्राचीन लोग अपने को आर्य-वर्ग का मानते थे। इस का उल्लेख इन के ग्रंथो में बहुत स्थलो पर आया है। अवस्ता के बाद पुरानी फारसी भाषा के नमूने कीलाक्षर लिपि में लिखे हुए शिला-खडो और ईंटो पर पाए गए हैं। इन में सब से प्रसिद्ध हखामनीय वश के महाराज दारा (५२२–४८६ ई० पू०) के शिलालेख है। इन लेखो में दारा अपने आर्य होने का उल्लेख गर्व के साथ करता है। (ख) पुरानी फारसी के बाद माध्यमिक फ़ारसी का काल आता है। इस का मुख्य-रूप पहलवी है। ईसवी तीसरी से सातवी शताब्दी तक ईरान में सासन-वशी राजाओ ने राज्य किया था। उन के सरक्षण में पहलवी साहित्य ने बहुत उन्नति की थी। (ग) नई-फारसी का सब से प्राचीन रूप फिरदौसी के शाहनामे मे मिलता है। फिरदौसी ने सेमिटिक कुल की भाषाओ के शब्दो को अपनी भाषा मे अधिक नही मिलने दिया था, परतु आजकल साहित्यिक फारसी मे अरबी शब्दो की भरमार हो गई है। रूसी तुर्किस्तान की ताज़ीकी, अफगानिस्तान की पश्तो, तथा बलूचिस्तान की बलूची भाषाए नई फारसी की ही प्रशाखाए हैं।

२. पैशाची[2]—यह माना जाता है कि मध्य-एशिया की ओर से आर्य लोग भारत में कदाचित् दो मुख्य मार्गों से आए थे। एक तो हिंदूकुश पर्वत के पश्चिम से होकर काबुल के मार्ग से, और दूसरे वक्षु (आक्सस) नदी के उद्गम-स्थान से सीधे दक्षिण की ओर दुर्गम पर्वतो को पार करके। इस दूसरे मार्ग से आने वाले समस्त आर्य उत्तर-भारत के मैदानो में पहुँच गए होगे इस मे सदेह है। कम से कम कुछ आर्य हिमालय के पहाडी प्रदेश मे अवश्य रह गए होगे। इन लोगो की भाषा पर सस्कृत का प्रभाव न पडना स्वाभाविक है, क्योकि सस्कृत का विशेष रूप भारत में आने के बाद हुआ था। आजकल इन भाषाओ के बोलनेवाले काश्मीर तथा उस के उत्तर में हिमालय के दुर्गम प्रदेशो में पाए जाते है। यह भाषाए भारतीय-असस्कृत आर्य-भाषाए कहला सकती है। इन का दूसरा नाम पिशाच या दरद भाषाए भी है। काश्मीरी भाषा इन्ही में से एक है। इस पर सस्कृत का इतना अधिक प्रभाव पडा था कि कुछ दिनो पूर्व तक यह भारत की शेष आर्य-भाषाओ में गिनी जाती थी। काश्मीरी

---

[1] इ० ब्रि०, १४वा सस्करण, 'ईरानियन लैंग्वेजेज़ ऐंड पर्शियन'। लि० स०, भूमिका, भा० १, अ० ६, 'ईरानियन ब्राच'।

[2] लि० स०, भूमिका, भा० १, अ० १०

भाषा प्राय शारदा लिपि में लिखी जाती है। मुसलमान लोग फारसी लिपि का व्यवहार करते हैं।

३. भारतीय-आर्य अथवा आर्यावर्ती—यह शाखा भी तीन कालो में विभक्त की जाती हैं—प्राचीन काल, मध्यकाल, तथा आधुनिक काल। (क्ष) प्राचीन काल की भाषा का अनुमान ऋग्वेद के प्राचीन अशो से हो सकता है। इस काल की भाषा का और कोई चिह्न नही रहा है। (त्र) मध्यकाल की भाषा के बहुत उदाहरण मिलते हैं। पाली, अशोक की धर्मलिपियो की भाषा, साहित्यिक प्राकृत तथा अपभ्रश भाषाए इसी काल मे गिनी जाती हैं। (ज्ञ) आधुनिक काल मे भारत की वर्तमान आर्यभाषाए हैं। इन के भिन्न-भिन्न रूप आजकल समस्त उत्तर-भारत मे बोले जाते है। साहित्यिक दृष्टि से इन मे हिंदी, बगाली, मराठी तथा गुजराती मुख्य है। इस शाखा की भाषाओ का विस्तृत विवेचन आगे किया गया है।

ससार की भाषाओ मे हिंदी का स्थान क्या है, यह अब स्पष्ट हो गया होगा। ऊपर दिए हुए पारिभाषिक नामो के सहारे सक्षेप मे हम कह सकते हैं कि ससार के भाषासमूहो मे भारत-यूरोपीय कुल के भारत-ईरानी उपकुल में भारतीय-आर्य शाखा की आधुनिक भाषाओ मे से एक मुख्य भाषा हिंदी है।

आ. आर्यावर्ती अथवा भारतीय आर्यभाषाओं का इतिहास

क. आर्यों का मूल-स्थान तथा भारत-प्रवेश[1]

यह स्पष्ट है कि भारत की अन्य आधुनिक आर्यभाषाओ के समान हिंदी भाषा का जन्म भी आर्यों की प्राचीन भाषा से हुआ है। भारतीय आर्यो की तत्कालीन भाषा धीरे-धीरे हिंदी भाषा के रूप में कैसे परिवर्तित हो गई, यहा इसी पर विचार करना है। किंतु सब से पहले इन भारतीय आर्यों के मूल-स्थान के सबध में कुछ जान लेना अनुचित न होगा।[2]

---

[1] लि० स०, भूमिका, भा० १, अ० ८

[2] प्राचीन भारतीय ग्रंथो में आर्यों के भारत-आगमन के संबध में कोई उल्लेख नहीं है। पुराने ढंग के भारतीय विद्वानो का मत था कि आर्य लोगो का मूल-स्थान तिब्बत में किसी जगह पर था। वहीं मनुष्य-सृष्टि हुई थी, और उसी स्थान से संसार में लोग फैले। भारत में भी आर्य लोग वही से आए थे।

ऋग्वेद के कुछ मंत्रों के आधार पर लोकमान्य पडित बाल-गंगाधर तिलक ने उत्तरी ध्रुव के निकटवर्ती प्रदेश में आर्यों का मूल-स्थान होना प्रतिपादित किया था। इस

हमारे पूर्वज आर्यों का मूल निवासस्थान कहा था, इस सबध में बहुत मतभेद है। भाषा-विज्ञान के आधार पर यूरोपीय विद्वानो का अनुमान है कि वे मध्य-एशिया अथवा दक्षिण-पूर्व यूरोप में कही रहते थे। यह अनुमान इस प्रकार लगाया गया है कि भारत-यूरोपीय कुल की यूरोपीय, ईरानी, तथा भारतीय प्रशाखाए जहा पर मिली है, उसी के आस-पास कहीं इन भाषाओ के बोलने वालो का मूल-स्थान होना चाहिए, क्योंकि उसी जगह से ये लोग तीन भागो में विभक्त हुए होंगे। सब से पहले यूरोपीय शाखा अलग हो गई थी, क्योंकि उस की भाषाओ और शेष आर्यों की भारत-ईरानी भाषाओ में बहुत भेद है। ये शेष आर्य कदाचित् बहुत समय तक साथ रहते रहे। बाद को एक शाखा ईरान में जा बसी और दूसरी भारत मे चली आई। इन दोनो शाखाओ के लोगो के प्राचीनतम ग्रथ अवस्ता और ऋग्वेद है, जिन की भाषा एक-दूसरे से बहुत कुछ मिलती है। उच्चारण के कुछ साधारण नियमो के अनुसार परिवर्तन करने पर दोनो भाषाओ का रूप एक हो जाता है।

भारत मे आनेवाले आर्य एक ही समय मे नही आए होगे, किंतु सभावना ऐसी है कि यह कई बार में आए होंगे। वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओ से पता चलता है कि आर्य लोग

कल्पना का खंडन करते हुए बगाल के एक नवयुवक विद्वान ने अपनी पुस्तक 'ऋग्वेदिक इडिया' में यह सिद्ध करने का यत्न किया कि आर्यों का मूल-स्थान भारत में ही सरस्वती नदी के तट पर अथवा उसी के उद्‌गम के निकट हिमालय के अदर के हिस्से में कहीं पर था। उन के मतानुसार प्राचीन ग्रथो में ब्रह्मावर्त्त देश की पवित्रता का कारण कदाचित् यही था। यहीं से जाकर आर्य लोग ईरान में बसे। भारतीय आर्यों के पश्चिम की ओर बसनेवाली कुछ अनार्य जातिया, जिन की भाषा पर आर्यभाषा का, प्रभाव पडना स्वाभाविक था, बाद को भगाई जाने पर यूरोप के मूलनिवासियो को विजय करके वहा जा बसी थीं। यूरोपीय भाषाओ में इसी लिए आर्यभाषा के चिह्न बहुत कम पाए जाते हैं। वास्तव में वे आर्यभाषाए है ही नही।

जो कुछ हो, आर्यों के मूल-स्थान के विषय में निश्चय-पूर्वक अभी तक कुछ नहीं कहा जा सकता। संसार के विद्वानो का, जिन में यूरोप के विद्वानो का आधिक्य है, आजकल यही मत है कि आर्यों का आदिम स्थान पूर्व-यूरोप में बाल्टिक समुद्र के निकट कहीं पर था। इस स्थान से ईरान तथा भारत की ओर आने के मार्ग के सबध में दो मत है। पुराने मत के अनुसार यह मार्ग कैस्पियन समुद्र के उत्तर से मध्य-एशिया में हो कर माना जाता था। थोडे दिन हुए पश्चिम ईरान तथा टर्की में कुछ प्राचीन आर्य-देवताओ के नाम (मित्र, वरुण, इद्र, नासत्य) एक लेख पर मिले है। यह लेख लगभग २५०० ई० पू० काल का माना जाता है। इस कारण एक नवीन मत यह हो गया है कि भारत-ईरानी बोलने वालो

भारत मे दो वार मे अवश्य आए थे[1]। ऋग्वेद तथा बाद के सस्कृत साहित्य में भी इस के कुछ प्रमाण मिलते हैं[2]। यदि वे एक-दूसरे से वहुत समय के अनतर आए होगे, तो इन की भाषा में भी कुछ भेद हो गया होगा। पहली वार में आने वाले आर्य कदाचित् कावुल की घाटी के मार्ग से आए थे, किंतु दूसरी बार मे आने वाले आर्य किस मार्ग से आए थे, इस सवध मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। सभावना ऐसी है कि ये लोग कावुल की घाटी के मार्ग से नही आए, वल्कि गिलगित और चितराल होते हुए सीधे दक्षिण की ओर उतरे थे।

पजाव मे उतरने पर इन नवागत आर्यों को अपने पुराने भाइयो से सामना करना पडा होगा, जो इतने दिनो तक इन से अलग रहने के कारण कुछ भिन्न-भाषा-भाषी हो गए होगे। ये नवागत आर्य कदाचित् पूर्व, पजाव में सरस्वती नदी के निकट बस गए। इन के चारो ओर पूर्वागत आर्य वसे हुए थे। धीरे-धीरे ये नवागत आर्य फैले होगे। सस्कृत

का एक समूह काले समुद्र के पश्चिम से होकर आया हो तो कोई आश्चर्य नही। इसी समूह में से कुछ लोग ईरान में वसते हुए आगे मध्य-एशिया तथा भारत की ओर बढ सकते है। मध्य-एशिया की प्रशाखा के लोग हिंदूकुश की घाटियो में हो कर वाद को दरदिस्तान तथा काश्मीर में कदाचित् जा बसे हो। ये ही वर्तमान पैशाची या दरद भाषा के बोलने वालो के पूर्वज रहे होंगे।

[1]भाषा-शास्त्र के नियमो के अनुसार भाषाओं के सूक्ष्म भेदो पर विचार करने के अनतर हार्नली साहव भी (हा० ई० हि० ग्रै०, भूमिका, पृ० ३२) इसी मत पर पहुँचे थे। उन के मत में प्राचीन उत्तर भारत में दो भाषा-समुदाय थे—एक शौरसेनी भाषा-समुदाय तथा दूसरा मागधी भाषा-समुदाय। मागधी भाषा का प्रभाव भारत के पश्चिमोत्तर कोने तक था। शौरसेनी के दबाव के कारण पश्चिम में इस का प्रभाव धीरे-धीरे कम हो गया। ग्रियर्सन महोदय भी कुछ-कुछ इसी मत की पुष्टि करते है। (लि० स० भूमिका, भा० १, पृ० ११६)।

[2]ऋग्वेद की कुछ ऋचाओ से अरकोसिया का राजा दिवोदास तत्कालीन जान पड़ता है। अन्य ऋचाओ में दिवोदास के पौत्र पजाब के राजा सुदास का वर्णन समकालीन की भाँति है। राजा सुदास की विजयो का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उन्हो ने पुरु नाम की एक अन्य आर्य-जाति को, जो पूर्व यमुना के किनारे रहती थी, विजय किया था। पुरु लोगो को 'मृध्रवाच' अर्थात् अशुद्ध भाषा बोलने वाले कह कर सवोधन किया है। उत्तर-भारत के आर्यों में इस भेद के होने के चिह्न वाद को भी बरावर मिलते है। ऋग्वेद में ही पश्चिम के ब्राह्मण वसिष्ठ और पूरब के क्षत्रिय विश्वामित्र की अनवन का वहुत कुछ

साहित्य में एक 'मध्यदेश'[1] शब्द आता है। इस का व्यवहार आरभ में केवल कुरु-पचाल और उस के उत्तर के हिमालय प्रदेश के लिए हुआ है। वाद को इस शब्द से अभिप्रेत भूमि-भाग की सीमा मे विकास हुआ है। सस्कृत ग्रथो ही के आधार पर हिमालय और विंध्य के वीच म तथा सरस्वती नदी के लुप्त होने के स्थान से प्रयाग तक का भूमि-भाग 'मध्यदेश' कहलाने लगा था। इस भूमिभाग में वसने वाले लोग उत्तम माने गए हैं और उन की भाषा भी प्रामाणिक मानी गई है। कदाचित् यह नवागत आर्यों की ही वस्ती थी, जो अपने को पूर्वागत आर्यो से श्रेष्ठ समझती थी। वर्तमान आर्यभाषाओ में भी यह भेद स्पष्ट है। प्राचीन मध्यदेश की वर्तमान भाषा हिंदी चारो ओर की शेष आर्य-भाषाओ से अपनी विशेषताओ के कारण पृथक् है। इसी भूमिभाग की शौरसेनी प्राकृत अन्य प्राकृतो की अपेक्षा सस्कृत के अधिक निकट है। कुछ विद्वान् साहित्यिक सस्कृत का उत्पत्ति-स्थान भी शूरसेन (मथुरा) प्रदेश ही मानते हैं।

ख. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा-काल[2]

(१५०० ई० पू०—५०० ई० पू०)

भारतीय आर्यों की तत्कालीन भाषा का थोडा-वहुत रूप अव केवल ऋग्वेद में देखने को मिलता है। ऋग्वेद की ऋचाओ की रचना भिन्न-भिन्न देश-कालो में हुई थी, किंतु उन का सपादन कदाचित् एक ही हाथ से एक ही काल मे होने के कारण उस में भाषा का भेद अब अधिक नही पाया जाता। ऋग्वेद का सपादन पश्चिम 'मध्यदेश' अर्थात्

उल्लेख है। विश्वामित्र ने रुष्ट हो कर वसिष्ठ को 'यातुधान' अर्थात् राक्षस कहा था। यह वसिष्ठ को वहुत बुरा लगा। महाभारत का कुरु और पाचालो का युद्ध भी इस भेद की ओर सकेत करता है। लैसन साहव ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि पंचाल लोग कुरुओ की अपेक्षा पहले से भारत में वसे हुए थे। रामायण से भी इस भेद-भाव के कल्पना की पुष्टि होती है। महाराज दशरथ मध्यदेश के पूर्व में कोशल जनपद के राजा थे, किंतु उन्हो ने विवाह मध्यदेश के पश्चिम केकय जनपद में किया था। इक्ष्वाकु लोगो का मूल-स्थान सतलज के निकट इक्षुमती नदी के तट पर था। ये सव अनुमान तथा कल्पनाए पश्चिमी विद्वानो की खोज के फलस्वरूप हैं।

[1] इस शब्द के विस्तृत विवेचन के लिए ना० प्र० प० भा०, ३, अ० १ में लेखक का 'मध्यदेश का विकास' शीर्षक लेख देखिए।

[2] लि० स०, भूमिका, भा० १, अ० ११, १२

पूर्वी भाग और गगा के उत्तरी भाग मे हुआ था, अत' यह इस भूमिभाग के आर्यों की भापा का वहुत कुछ पता देता है। यह ध्यान रखना चाहिए कि ऋग्वेद की भापा साहित्यिक है। आर्यों की अपनी बोलचाल की भापा और साहित्यिक भापा में अतर अवश्य रहा होगा। उस समय के आर्यों की वोली का ठेठ रूप अव हमें कही नही मिल सकता। उस की जो थोडी वहुत वानगी साहित्यिक भाषा मे आ गई हो, उसी की खोज की जा सकती है। ऋग्वेद के अतिरिक्त उस समय की भाषा का अन्य कोई भी आधार नही है। ऋग्वेद का रचना-काल ईसा से एक सहस्र वर्ष से भी अधिक पहले का माना जाता है। इन आर्यों की ठेठ बोली प्राचीन-भारतीय-आर्यभाषा कहला सकती है। इस काल की वोलचाल की भापा से मिश्रित साहित्यिक रूप ऋग्वेद मे मिलता है। आर्यों की इस साहित्यिक भाषा मे परिवर्तन होता रहा। इस के नमूने ब्राह्मण-ग्रथो और सूत्र-ग्रथो में मिलते हैं। सूत्र-काल के साहित्यिक रूप को वैयाकरणो ने वाँधना आरभ किया। पाणिनि ने (३०० ई० पू०) उस को ऐसा जकडा कि उस मे परिवर्तन होना विल्कुल रुक गया। आर्यों की भाषा का यह साहित्यिक रूप सस्कृत नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस का प्रयोग उस समय से अव तक सपूर्ण भारत मे विद्वान् लोग धर्म और साहित्य में करते आए है। साहित्यिक भाषा के अतिरिक्त आर्यों की वोलचाल की भापा में भी परिवर्तन होता रहा। ऋग्वेद की ऋचाओ से मिलती-जुलती आर्योंकी मूल बोली भी धीरे-धीरे वदली होगी। जिस समय 'मध्यदेश' में सस्कृत साहित्यिक भापा का स्थान ले रही थी, उस समय की वहा के जन-समुदाय की बोली[1] के नमूने अव हमे प्राप्त नही है।

किंतु पूर्व मे मगध अथवा कोसल की वोली का तत्कालीन परिवर्तित रूप (यह ध्यान रखना चाहिए कि वैदिक काल में मगध आदि पूर्वी प्रातो की भी बोली भिन्न रही होगी) उस वोली में बुद्ध भगवान के धर्म-प्रचार करने के कारण सर्व-मान्य हो गया। इस मध्यकालीन भारतीय आर्यभापा-काल की मगध अथवा कोसल की बोली का कुछ नमूना हमे पाली मे मिलता है। वास्तव मे पाली में लोगो की बोली और साहित्यिक रूप का मिश्रण है। उत्तर-भारत के आर्यों की वोली में फिर भी परिवर्तन होता रहा। आजकल के इस के भिन्न-भिन्न रूप उत्तर-भारत की वर्तमान वोलियो और उन के साहित्यिक रूपो मे मिलते है। इस अतिम काल को आधुनिक भारतीय आर्यभापा-काल नाम देना उचित होगा। खडीवोली हिंदी इसी तृतीय काल की मध्यदेश की वर्तमान साहित्यिक भापा है।

---

[1] साहित्यिक भाषा से भिन्न लोगो की कुछ बोलियां भी अवश्य थीं, इस के प्रमाण हमें तत्कालीन सस्कृत साहित्य में मिलते हैं। पतंजलि के समय में व्याकरण-शास्त्र जानने-वाले केवल विद्वान ब्राह्मण शुद्ध सस्कृत वोल सकते थे। अन्य ब्राह्मण अशुद्ध संस्कृत बोलते थे, तथा साधारण लोग 'प्राकृत भाषा' (स्वाभाविक वोली) बोलते थे।

इन तीनो कालो के बीच में बिल्कुल अलग-अलग लकीरें नही खीची जा सकती। ऋग्वेद में जो एक-आध रूप मिलते हैं, उन को यदि छोड दिया जाय, तो मध्यकाल के उदाहरण अधिक मात्रा मे पहले-पहल अशोक की धर्म-लिपियो मे (२५० ई० पू०) पाए जाते हैं। यहा यह प्राकृत प्रारंभिक अवस्था मे नही है किंतु पूर्ण विकसित रूप में है। मध्यकाल की भाषा से आधुनिक काल की भाषा मे परिवर्तन इतने सूक्ष्म ढग से हुआ है कि दोनो के मध्य की भाषा को निश्चित रूप से किसी एक में रखना कठिन है। इन कठिनाइयो के होते हुए भी इन तीनो कालो में भाषाओ की अपनी-अपनी विशेषताए स्पष्ट है। प्रथम काल में भाषा सयोगात्मक है, तथा सयुक्त व्यजनो का प्रयोग स्वतन्त्रता-पूर्वक किया गया है। द्वितीय काल में भी भाषा सयोगात्मक ही रही, किंतु सयुक्त स्वरो और सयुक्त व्यजनो का प्रयोग बचाया गया है। इस काल के अंतिम साहित्यिक रूप महाराष्ट्री प्राकृत के शब्दो में तो प्राय केवल स्वर ही स्वर रह गए, जो एक-आध व्यजन के सहारे जुडे हुए हैं। यह अवस्था बहुत दिनो तक नही रह सकती थी। तृतीय काल में भाषा वियोगात्मक हो गई और स्वरो के बीच मे फिर सयुक्त वर्ण डाले जाने लगे। वर्तमान बाह्य समुदाय की कुछ भाषाए तो आजकल फिर सयोगात्मक होने की ओर झुक रही हैं। इस प्रकार वे प्रथम काल की भाषा का रूप धारण कर रही हैं। मालूम होता है कि परिवर्तन का यह चक्र पूर्ण हुए बिना न रहेगा।

ग. मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा-काल

(५०० ई० पू०—१००० ई०)

इस का उल्लेख किया जा चुका है कि प्रथम काल में बोलियो का भेद वर्तमान था। उस समय कम से कम दो भेद अवश्य थे—एक पूर्व-प्रदेश में पूर्वागत आर्यों की बोली, और दूसरे पश्चिम भाग अर्थात् 'मध्यदेश' मे नवागत आर्यों की बोली, जिस का साहित्यिक रूप ऋग्वेद में मिलता है। पश्चिमोत्तर भाग की भी कोई पृथक् बोली थी या नही, इस का कोई प्रमाण नही मिलता।

१ पाली तथा अशोक की धर्म-लिपिया (५०० ई० पू०—१ ई० पू०)—द्वितीय प्राकृत काल में भी बोलियो का यह भेद पाया जाता है। इस सबध में महाराज अशोक की धर्म-लिपियो से पूर्व का हमें कोई निश्चयात्मक प्रमाण नही मिलता। इन धर्म-लिपियो की भाषा देखने से विदित होता है कि उस समय उत्तर-भारत की भाषा मे कम से कम तीन भिन्न-भिन्न रूप—पूर्वी, पश्चिमी तथा पश्चिमोत्तरी—अवश्य थे। कोई दक्षिणी रूप भी था या नही, इस सबध में निश्चय-पूर्वक कुछ नही कहा जा सकता। इस काल की साहित्यिक भाषा पाली कदाचित् अर्द्धमागधी क्षेत्र की प्राचीन बोली के आधार पर बनी थी।

२. साहित्यिक प्राकृत भाषाएं (१—५००ई०)—लोगो की वोली में वरावर परिवर्तन होता रहा और अशोक की धर्म-लिपियो की भाषाए ही वाद को 'प्राकृत' के नाम से प्रसिद्ध हुई। मध्यकाल मे सस्कृत के साथ-साथ साहित्य मे इन प्राकृतो का भी व्यवहार होने लगा। इन मे काव्यग्रथ तथा धर्मपुस्तकें लिखी जाने लगी। सस्कृत नाटको में भी इन्हें स्वतत्रता-पूर्वक वरावर की पदवी मिलने लगी। समकालीन अथवा कुछ समय के अनतर होनेवाले विद्वानो ने इन प्राकृत भाषाओ के व्याकरण रच डाले। साहित्य और व्याकरण के प्रभाव के कारण इन के मूल रूप मे वहुत अतर हो गया। इन प्राकृतो के साहित्यिक रूपो के ही नमूने आजकल हमे प्राकृत-ग्रथो में देखने को मिलते हैं। उस समय की वोलियो के शुद्ध रूप के सवध में हम लोगो को अधिक ज्ञान नही है। तो भी अशोक की धर्मलिपियों की भाषा की तरह उस समय भी पूर्वी और पश्चिमी दो भेद तो स्पष्ट ही थे। पश्चिमी भाषा का मुख्य रूप शौरसेनी प्राकृत था और पूर्वी का मागधी प्राकृत, अर्थात् मगध या दक्षिण विहार की भाषा। इन दोनो के बीच में कुछ भाग की भाषा का रूप मिश्रित था, यह अर्द्धमागधी कहलाती थी। इस अतिम रूप से अधिक मिलती-जुलती महाराष्ट्री प्राकृत थी जो आजकल के वरार प्रात और उस के निकटवर्ती प्रदेश में वोली जाती थी। इन के अतिरिक्त पश्चिमोत्तर प्रदेश में एक भिन्न भाषा वोली जाती थी, जो प्रथम प्राकृत-काल में सिंधु नदी के तट पर वोली जानेवाली भाषा से निकली होगी। इस भाषा की स्थिति का प्रमाण द्वितीय प्राकृत-काल की भाषाओ के अतिम रूप अपभ्रशो से मिलता है।

३. अपभ्रश भाषाए (५००—१००० ई०)—साहित्य में प्रयुक्त होने पर वैयाकरणो ने 'प्राकृत' भाषाओ को कठिन अस्वाभाविक नियमो से वाँध दिया, किंतु जिन वोलियो के आधार पर उन की रचना हुई थी, वे वाँधी नही जा सकती थी। लोगो की ये वोलिया विकास को प्राप्त होती गईं। व्याकरण के नियमो के अनुकूल मँजी और वँधी हुई साहित्यिक प्राकृतो के सन्मुख वैयाकरणो ने लोगो की इन नवीन वोलियो को 'अपभ्रश' अर्थात् विगड़ी हुई भाषा नाम दिया। भाषा-तत्त्ववेत्ताओ की दृष्टि मे इस का वास्तविक अर्थ 'विकास को प्राप्त हुई' भाषाए होगा।

जव साहित्यिक प्राकृतें मृत भाषाए हो गईं, उस समय इन अपभ्रशो का भी भाग्य जगा और इन को भी साहित्य के क्षेत्र में स्थान मिलने लगा। साहित्यिक अपभ्रशो के लेखक अपभ्रशो का आधार प्राकृतो को मानते थे। उन के मत मे यह 'प्राकृतोऽपभ्रश' थी। ये लेखक तत्कालीन वोली के आधार पर आवश्यक परिवर्तन करके साहित्यिक प्राकृतो को ही अपभ्रश वना लेते थे, शुद्ध अपभ्रश अर्थात् लोगो की असली वोली में नही लिखते थे। अतएव साहित्यिक प्राकृतो के समान साहित्यिक अपभ्रशो से भी लोगो

की तत्कालीन असली बोली का ठीक पता नही चल सकता। तो भी यदि ध्यान-पूर्वक अध्ययन किया जाय, तो उस समय की बोली पर बहुत कुछ प्रकाश अवश्य पड सकता है।

प्रत्येक प्राकृत का एक अपभ्रंश रूप होगा, जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश, महाराष्ट्री प्राकृत का महाराष्ट्री अपभ्रंश इत्यादि। वैयाकरणो ने अपभ्रंशो को इस प्रकार विभक्त नही किया था। वे केवल तीन अपभ्रंशो के साहित्यिक रूप मानते थे। इन के नाम नागर, व्राचड और उपनागर थे। इन में नागर अपभ्रंश मुख्य थी। यह गुजरात के उस भाग में बोली जाती थी, जहा आजकल नागर ब्राह्मण वसते हैं। नागर ब्राह्मण विद्यानुराग के लिए प्रसिद्ध रहे हैं। इन्ही के नाम से कदाचित् नागरी अक्षरो का नाम पडा। नागर अपभ्रंश के व्याकरण के लेखक हेमचद्र (बारहवी शताब्दी) गुजराती ही थे। हेमचद्र के मतानुसार नागर अपभ्रंश का आधार शौरसेनी प्राकृत था। व्राचड अपभ्रंश सिंध में बोली जाती थी। उपनागर अपभ्रंश व्राचड तथा नागर के मेल से बनी थी अत यह पश्चिमी राजस्थान और दक्षिणी पजाब की बोली होगी। अपभ्रंशो के सबध में हमारे ज्ञान के मुख्य आधार हेमचद्र हैं, किंतु इन्हो ने केवल नागर (शौरसेनी) अपभ्रंश का ही वर्णन किया है। मार्कंडेय के व्याकरण से भी इन अपभ्रंशो के सबध में अधिक सहायता नही मिलती है। इन अपभ्रंश भाषाओ का काल छठी शताब्दी से दसवी शताब्दी ईसवी तक माना जा सकता है। अपभ्रंश भाषाए द्वितीय काल की अंतिम अवस्था की द्योतक हैं।

घ. आधुनिक भारतीय आर्यभाषा-काल

(१००० ई० से वर्तमान समय तक)

इन मे भारत की वर्तमान आर्य-भाषाओ की गणना है। इन की उत्पत्ति प्राकृत भाषाओ से नही हुई थी, बल्कि अपभ्रंशो से हुई थी। शौरसेनी अपभ्रंश से हिंदी, राजस्थानी, पजाबी, गुजराती और पहाडी भाषाओ का सबध है। इन में से गुजराती और राजस्थानी का सपर्क विशेषतया शौरसेनी के नागर अपभ्रंश के रूप से है। बिहारी, बगाली, आसामी और उडिया का सबध मागध अपभ्रंश से है। पूर्वी हिंदी का अर्धमागधी अपभ्रंश से तथा मराठी का महाराष्ट्री अपभ्रंश से सबध है। वर्तमान पश्चिमोत्तरी भाषाओ का समूह शेष रह गया। भारत के इस विभाग के लिए प्राकृतो का कोई साहित्यिक रूप नही मिलता। सिंधी के लिए वैयाकरणो को व्राचड अपभ्रंश का सहारा अवश्य है। लहदा के लिए एक केकय अपभ्रंश की कल्पना की जा सकती है। यह व्राचड अपभ्रंश से मिलती-जुलती रही होगी। पजाबी का सबध भी केकय अपभ्रंश से होना चाहिए, किंतु बाद को इस पर शौरसेनी अपभ्रंश

का प्रभाव बहुत पडा है। पहाडी भाषाओ के लिए खस अपभ्रश की कल्पना की गई है, किंतु बाद को ये राजस्थानी से बहुत प्रभावित हो गई थी।[1]

वर्तमान भारतीय आर्य-भाषाओ का साहित्य मे प्रयोग कम से कम तेरहवी शताब्दी ईसवी के आदि से अवश्य प्रारभ हो गया था तथा अपभ्रश का व्यवहार ग्यारहवी शताब्दी तक साहित्य में होता रहा था। किसी भाषा के साहित्य में व्यवहृत होने के योग्य बनने में कुछ समय लगता है। इस बात को ध्यान मे रखते हुए यह कहना अनुचित न होगा

---

[1] अपभ्रशो या प्राकृत और आधुनिक आर्यभाषाओं का इस तरह का सबध बहुत सतोषजनक नहीं मालूम पड़ता। उदाहरण के लिए बिहारी, बंगाली, उडिया तथा आसामी भाषाओ का सबंध मागधी अपभ्रश से माना जाता है। यदि इस का केवल इतना तात्पर्य हो कि मागधी अपभ्रश के रूपो में थोडे से ऐसे प्रयोग पाए जाते है जो आजकल इन समस्त पूर्वीय आर्यभाषाओ में भी मिलते है तब तो ठीक है। किंतु यदि इस का यह तात्पर्य हो कि ५०० ई० से १००० ई० के बीच में बिहार, बगाल, आसाम तथा उडीसा में केवल एक बोली थी जिस का साहित्यिक रूप मागधी अपभ्रश है, तब यह बात सभव नहीं मालूम होती। एक बोली बोलने वाली जनता भी यदि इतने विस्तृत भूमि-खड में फैल कर अधिक दिन रहेगी तो उस की बोली के अनेक रूपातर हो जाना स्वाभाविक है। इसी प्रकार मागधी प्राकृत समस्त पूर्वी प्रदेशो की साहित्यिक भाषा तो भले ही रही हो किंतु १ ईसवी से ५०० ईसवी के बीच में इस प्राकृत से संबध रखनेवाली एक ही बोली समस्त पूर्वी प्रदेशो में बोली जाती हो यह सभव नहीं प्रतीत होता। मेरी धारणा तो यह है कि मागधी प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाएं मगध प्रदेश की बोली के आधार पर बनी हुई साहित्यिक भाषाए रही होगी। मगध के राजनीतिक प्रभाव के कारण यहा की बोली के आधार पर बनी हुई ये साहित्यिक भाषाए समस्त पूर्वी प्रदेशो में मान्य हो गई होगी। इन प्राकृत तथा अपभ्रश कालो में भी बंगाल, आसाम, उडीसा, मिथिला तथा काशी प्रदेशो की बोलियां भिन्न-भिन्न रही होगी। साहित्य में प्रयोग न होने के कारण अपभ्रश तथा प्राकृत काल के इन प्रदेशो की भाषा के नमूने हमें उपलब्ध नही हो सके। मेरे अनुमान से बोलियो का यह भेद ६०० ई० पू० के लगभग भी कदाचित् मौजूद था। इस भेद का मूलाधार आर्यों के प्राचीन जनपदों से सबध रखता है। मेरी धारणा है कि १००० ई० पू० के लगभग काशी, मगध, विदेह, अग, वग आदि जनपदो के आर्यो की बोलिया आज के इन प्रदेशो की बोलियो की अपेक्षा अधिक साम्य रखते हुए भी एक-दूसरे से कुछ भिन्न अवश्य रही होगी। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक जनपद की प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में कुछ विशेषताए रही होगी जो विकास को प्राप्त हो कर आजकल की भिन्न-भिन्न भाषाए तथा बोलिएं हो गई

कि मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओ के अंतिम रूप अपभ्रंशो से तृतीय काल की आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ का आविर्भाव दसवी शताब्दी ईसवी के लगभग हुआ होगा। भारत की राजनीतिक उथल-पुथल में इसी समय एक स्मरणीय घटना हुई थी,

---

है। अतः आधुनिक भाषाओ और बोलियो का मूलभेद कदाचित् १००० ई० पू० तक पहुँच सकता है।

शौरसेनी आदि अन्य अपभ्रंशो तथा प्राकृतो के संबंध में भी मेरी यही कल्पना है। शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश से आधुनिक पंजाबी राजस्थानी, गुजराती तथा पश्चिमी हिंदी निकली हो यह समझ में नही आता। शौरसेनी प्राकृत तथा अपभ्रंश सूरसेन प्रदेश अर्थात् आजकल के व्रज प्रदेश की उस समय की बोलियो के आधार पर बनी हुई साहित्यिक भाषाए रही होगी। साथ ही उस काल में अन्य प्रदेशो में भी आजकल की भाषाओ तथा बोलियो के पूर्व रूप प्रचलित रहे होगे, जिन का प्रयोग साहित्य में न होने के कारण उन के अवशेष अब हमें नही मिल सकते। आजकल भी ठीक ऐसी ही परिस्थिति है।

आज बीसवीं सदी ईसवी में भागलपुर तक समस्त गगा की घाटी में केवल एक साहित्यिक भाषा हिंदी है, जिस का मूलाधार मेरठ-बिजनौर प्रदेश की खड़ीबोली है। किंतु साथ ही मारवाडी, व्रजभाषा, अवधी, भोजपुरी, बुंदेली आदि अनेक बोलियां अपने-अपने प्रदेशो में जीवित अवस्था में मौजूद है। साहित्य में प्रयोग न होने के कारण बीसवीं सदी की इन अनेक बोलियो के नमूने भविष्य में नही मिल सकेंगे। केवल खडीबोली हिंदी के नमूने जीवित रह सकेंगे। किंतु इस कारण पाँच सौ वर्ष बाद यह कहना कहा तक उपयुक्त होगा कि पचीसवीं शताब्दी में गगा की घाटी में पाई जाने वाली समस्त बोलिया खडीबोली हिंदी से निकली है। उस समय के उत्तर भारत की समस्त भाषाओ में खडीबोली हिंदी गगा की घाटी की बोलियो के निकटतम अवश्य होगी किंतु यह तो दूसरी बात हुई।

प्रत्येक आधुनिक भाषा तथा बोली के प्राचीन तथा मध्यकालीन आर्यभाषा काल के क्रमबद्ध उदाहरण मिलना सम्भव नहीं है। अत. इस विषय पर शास्त्रीय ढग से विवेचन हो सकना असभव है। तो भी अपने देश तथा अन्य देशो की आधुनिक परिस्थिति को देख कर इस तरह का अनुमान लगाना बिल्कुल स्वाभाविक होगा। कुछ प्रदेशो के संबध में थोडा बहुत क्रमबद्ध अध्ययन भी सभव है। हिंदुस्तान की आधुनिक बोलियों के प्रदेशो के प्राचीन जनपदों से साम्य के संबंध में ना० प्र० प०, भा० ३, अ० ४ में विस्तार के साथ विचार प्रकट किए गए है।

१००० ईसवी के लगभग ही महमूद गजनवी ने भारत पर प्रथम आक्रमण किया था। इन आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओ में हमारी हिंदी भाषा भी सम्मिलित है, अत उस का जन्मकाल भी दसवी शताब्दी ईसवी के लगभग मानना होगा।

इ. आधुनिक आर्यावर्त्ती अथवा भारतीय आर्यभाषाएं

क. वर्गीकरण

भाषातत्व के आधार पर ग्रियर्सन महोदय[1] आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ को तीन उपशाखाओ मे विभक्त करते हैं, जिन के अदर छ भाषा-समुदाय मानते है। यह वर्गीकरण निम्न-लिखित कोष्ठक मे दिखलाया गया है —

	बोलनेवालो की सख्या १९२१ की जन-सख्या के आधार पर
क्ष वाहरी उपशाखा	
पश्चिमोत्तरी समुदाय	करोड—लाख
१ लहृदा	० —५७
२ सिंधी	० —३४
दक्षिणी समुदाय	
३. मराठी .	१ —८८
पूर्वी समुदाय	
४ उड़िया .	१ — ०
५ वगाली	४ —९३
६ आसामी .	० —१७
७. विहारी	३ —४३
ञ बीच की उपशाखा	
बीच का समुदाय	
८. पूर्वी हिंदी . ..	२ —२६

[1] लि० स०, भूमिका, अ० ११, पृ० १२०

ज्ञ भीतरी उपशाखा

अदर का समुदाय

९	पश्चिमी हिंदी	४ —१२
१०	पजावी	१ —६२
११	गुजराती	० —९६
१२	भीली .	० —१९
१३	खानदेशी	० — २
१४	राजस्थानी	१ —२७

पहाडी समुदाय

१५	पूर्वी पहाडी या नैपाली	० — ३
१६	वीच की पहाडी[१]	० — ०
१७	पश्चिमी पहाडी	० —१७

ग्रियर्सन महोदय के मतानुसार वाहरी उपशाखा की भिन्न-भिन्न भापाओ में उच्चारण तथा व्याकरण-सवधी कुछ ऐसे साम्य पाए जाते है जो उन्हें भीतरी उपशाखा की भापाओ से पृथक् कर देते है।[२] उदाहरणार्थ भीतरी उपशाखा की भापाओ के स का उच्चारण वाहरी उपशाखा की वगाली आदि पूर्वी समुदाय की भाषाओ में श हो जाता है तथा पश्चिमोत्तरी समुदाय की कुछ भाषाओ में ह हो जाता है। सज्ञा के रूपातरो में भी यह भेद पाया जाता है। भीतरी उपशाखा की भापाए अभी तक वियोगावस्था में हैं, किंतु वाहरी उपशाखा की भापाए इस अवस्था से निकल कर प्राचीन आर्यभापाओ के समान सयोगावस्था को प्राप्त कर चली है। उदाहरणार्थ हिंदी में सवध-कारक का, के, की लगा कर वनाया जाता है। इन चिह्नो का सज्ञा से पृथक् अस्तित्व है। यही कारक वगाली में, जो वाहरी उपशाखा की भापा है, सज्ञा में -एर लगा कर वनता है और यह चिह्न सज्ञा का एक भाग हो जाता है। क्रिया के रूपातरो में भी इस तरह के भेद पाए जाते है, जैसे हिंदी में तीनो पुरुपो के सर्वनामो के साथ केवल एक मार कृदत रूप का व्यवहार होता है, किंतु वगाली तथा वाहरी समुदाय की अन्य भापाओ मे अधिक रूपो का प्रयोग करना पडता है।

---

[१] १९२१ की जन-सख्या में वीच की पहाडी बोलने वालो की भाषा प्राय· हिंदी लिखी गई है, अत· इन की सख्या केवल ३८५३ दिखलाई गई है।

[२] लि० स०, भूमिका, अ० ११

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ को दो या तीन उपशाखाओ में विभक्त करने के सिद्धात से चैटर्जी महोदय सहमत नही है, और इस सबध में उन्हो ने पर्याप्त प्रमाण[1] भी दिए है। चैटर्जी महोदय के वर्गीकरण को आधार मान कर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ का स्वाभाविक वर्गीकरण निम्नलिखित रीति से किया जा सकता है।[2] ग्रियर्सन साहब के समुदायो के विभाग से यह वर्गीकरण कुछ साम्य रखता है —

क उदीच्य (उत्तरी)
 १ सिंधी
 २. लहदा
 ३ पंजाबी

ख प्रतीच्य (पश्चिमी)
 ४ गुजराती

ग मध्यदेशीय (बीच का)
 ५ राजस्थानी
 ६ पश्चिमी हिंदी
 ७ पूर्वी हिंदी
 ८. बिहारी

घ प्राच्य (पूर्वी)
 ९ उडिया
 १० बंगाली
 ११. आसामी

ङ दाक्षिणात्य (दक्षिणी)
 १२. मराठी

पहाडी भाषाओ का मूलाधार चैटर्जी महोदय पैशाची, दरद, या खस को मानते है। बाद को मध्यकाल मे ये राजस्थान की प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओ से बहुत अधिक प्रभावित हो गई थी।

---

[1] चै०, बे० लैं०, § २९-३१, § ७६-७९

[2] चै०, बे० लैं०, पृ० ६ मानचित्र।

ख. संक्षिप्त वर्णन

भापा सर्वे[1] के आधार पर प्रत्येक आधुनिक भापा का सक्षित परिचय नीचे दिया जाता है।

१. सिंधी—सिंध देश में सिंधु नदी के दोनो किनारो पर सिंधी भाषा वोली जाती है। इस भापा के वोलनेवाले प्राय मुसलमान हैं, इस लिए इस में फारसी शब्दो का प्रयोग वडी स्वतत्रता से होता है। सिंधी भापा फारसी लिपि के एक विकृत रूप में लिखी जाती है, यद्यपि निज के हिसाव-किताव में देवनागरी लिपि का एक विगडा हुआ रूप व्यवहृत होता है। यह कभी-कभी गुरुमुखी में भी लिखी जाती है। सिंधी भापा की पाँच मुख्य वोलिया हैं, जिन में से मध्य-भाग की 'विचोली' वोली साहित्य की भापा का स्थान लिए हुए है। सिंध प्रदेश में ही पूर्वकाल में व्राचड देश था, जहा की प्राकृत और अपभ्रश इस देश के अनुसार व्राचडी नाम से प्रसिद्ध थी। सिंध के दक्षिण में कच्छ-द्वीप में कच्छी वोली जाती है। यह सिंधी और गुजराती का मिश्रित रूप है। सिंधी भापा में साहित्य वहुत कम है।

२. लहदा—यह पश्चिम पजाव की भाषा है। इस की और पजावी की सीमाए ऐसी मिली हुई हैं कि दोनो में भेद करना दु साध्य है। लहदा पर दरद या पिशाच भापाओ का प्रभाव वहुत अधिक है। इसी प्रदेश में प्राचीन केकय देश पडता है जहा पैशाची प्राकृत तथा केकय अपभ्रश वोली जाती थी। लहदा के अन्य नाम पश्चिमी पजावी, जटकी, उच्ची, तथा हिंदकी आदि हैं। पजावी में 'लहदे की वोली' का अर्थ 'पश्चिम की वोली' है। 'लहदा' शब्द का अर्थ सूर्यास्त की दिशा अर्थात् पश्चिम है। लहदा में न तो विशेप साहित्य है और न यह कोई साहित्यिक भापा ही है। एक प्रकार से यह कई मिलती-जुलती वोलियो का समूह मात्र है। लहदा का व्याकरण और शब्दसमूह दोनो पजावी से वहुत-कुछ भिन्न हैं। यद्यपि इस की अपनी भिन्न लिपि 'लडा' है, किंतु आजकल यह प्राय फ़ारसी लिपि में ही लिखी जाती है।

३. पंजावी—पजावी भापा का भूमि-भाग हिंदी के ठीक पश्चिमोत्तर में है। यह मध्य-पजाव में वोली जाती है। पजाव के पश्चिमी भाग में लहदा और पूर्वी भाग में हिंदी का क्षेत्र है। पजावी पर दरद अथवा पिशाच भापाओ का कुछ प्रभाव शेप है। पजावी भापा लहदा से ऐसी मिली हुई है कि दोनो का अलग करना कठिन है, किंतु पश्चिमी हिंदी से इस का भेद स्पष्ट है। पजावी की अपनी लिपि लडा ही है। यह राजपूताने की महाजनी और काश्मीर की शारदा लिपि से मिलती-जुलती है। यह लिपि वहुत अपूर्ण है और इस के पढ़ने में वहुत कठिनता होती है। सिक्खो के गुरु अगद (१५३८–५२

---

[1] लि० स०, भूमिका, पृ० १३-१५

ई०) ने देवनागरी की सहायता से इस लिपि में सुधार किया था। लडा का यह नया रूप 'गुरुमुखी' कहलाया। आजकल पजावी भापा की पुस्तकें इसी लिपि मे छपती हैं। मुसलमानों के अधिक सख्या में होने के कारण पजाव में उर्दू भापा का प्रचार वहुत है और यही भाषा वास्तव मे पजाव के शिक्षित समुदाय का माध्यम है। उर्दू भापा फारसी लिपि मे लिखी जाती है। पजावी भाषा का शुद्ध रूप अमृतसर के निकट बोला जाता है। इस भापा में साहित्य अधिक नही है। सिक्खो के ग्रथ साहव की भापा प्राय. मध्यकालीन हिंदी (व्रज) है, यद्यपि वह गुरुमुखी अक्षरो में लिखा गया है। पजावी भापा में वोलियो का भेद अधिक नही है। उल्लेख-योग्य केवल एक वोली 'डोगरी' है। यह जम्मू राज्य में बोली जाती है। 'टक्करी' या 'टाकरी' नाम की इस की लिपि भी भिन्न है।

४. गुजराती—गुजराती भापा गुजरात, वडोदा और निकटवर्ती अन्य देशी राज्यो मे वोली जाती है। गुजराती में वोलियो का स्पष्ट भेद अधिक नही है। पारसियो द्वारा अपनाई जाने के कारण गुजराती पश्चिम-भारत में व्यवसाय की भापा हो गई है। भीली और खानदेशी वोलियो का गुजराती से वहुत संपर्क है। गुजराती का साहित्य वहुत विस्तीर्ण तो नही है, किंतु तो भी उत्तम अवस्था में है। गुजराती के आदिकवि नरसिंह मेहता का (जन्म १४१३ ई०) गुजरात में अव भी बहुत आदर है। प्रसिद्ध प्राकृत वैयाकरण हेमचद्र भी गुजराती ही थे। यह वारहवी शताब्दी ई० में हुए थे। इन्हो ने अपने व्याकरण में गुजरात की नागर अपभ्रश का वर्णन किया है। प्राचीन काल से अव तक की भापा के क्रम-पूर्व उदाहरण केवल गुजरात में ही मिलते है। अन्य स्थानो की आर्यभापाओ मे यह क्रम किसी न किसी काल में टूट गया है। गुजराती पहले देवनागरी लिपि में लिखी जाती थी, किंतु अव गुजरात में कैथी से मिलते-जुलते देवनागरी के विगड़े हुए रूप का प्रचार हो गया है जो गुजराती लिपि कहलाती है।

५. राजस्थानी—पजावी के ठीक दक्षिण मे राजस्थानी अथवा राजस्थान की भापा है। एक प्रकार से यह मध्यदेश की प्राचीन भापा का ही दक्षिण-पश्चिमी विकसित रूप है। इस विकास की अतिम सीढी गुजराती है किंतु उस मे भेदो की मात्रा अधिक हो गई है। राजस्थानी में मुख्य चार वोलिया है—

(१) मेवाती-अहीरवाटी—यह अलवर राज्य में तथा देहली के दक्षिण में गुड़गांव के आस-पास वोली जाती है।

(२) मालवी—इस का केंद्र मालवा प्रदेश का वर्तमान इदौर राज्य है।

(३) जयपुरी-हाडौती—यह जयपुर, कोटा और वूंदी मे वोली जाती है।

(४) मारवाडी-मेवाड़ी—यह जोधपुर, बीकानेर, जैसलमीर तथा उदयपुर राज्यो में वोली जाती है।

राजस्थानी भाषा बोलने वाले भूमिभाग में हिंदी भाषा ही साहित्यिक भाषा है। यह स्थान अभी तक राजस्थान की बोलियो में से किसी को नही मिल सका है। राजस्थानी का प्राचीन साहित्य प्रधानतया मारवाडी में है। पुरानी मारवाडी और गुजराती में बहुत कम भेद है। निज के व्यवहार में राजस्थानी महाजनी लिपि में लिखी जाती है। मारवाडियो के साथ महाजनी लिपि समस्त उत्तर भारत में फैल गई है। छपाई में देवनागरी लिपि का ही व्यवहार होता है।

६. **पश्चिमी हिंदी**—यह मनुस्मृति के 'मध्यदेश' की वर्तमान भाषा कही जा सकती है। मेरठ तथा बिजनौर के निकट बोली जानेवाली पश्चिमी हिंदी के ही एक रूप खडीबोली से वर्तमान साहित्यिक हिंदी तथा उर्दू की उत्पत्ति हुई है। इस की एक दूसरी बोली व्रजभाषा, पूर्वी हिंदी की बोली अवधी के साथ कुछ काल पूर्व तक साहित्य के क्षेत्र मे वर्तमान खडीबोली हिंदी का स्थान लिए हुए थी। इन दो बोलियो के अतिरिक्त पश्चिमी हिंदी में और भी कई बोलिया सम्मिलित है किंतु साहित्य की दृष्टि से ये विशेष ध्यान देने योग्य नही है। उत्तर-मध्य-भारत का वर्तमान साहित्य खड़ीबोली हिंदी में ही लिखा जा रहा है। पढे-लिखे मुसलमानो में उर्दू का प्रचार है।

७. **पूर्वी हिंदी**—जैसा कि नाम से स्पष्ट है, पूर्वी हिंदी का क्षेत्र पश्चिमी हिंदी के पूर्व में पडता है। यह कुछ बातो में पश्चिमी हिंदी से मिलती है और कुछ मे बिहारी भाषा से। व्याकरण के अधिकाश रूपो मे इस का सबध पश्चिमी हिंदी से है, किंतु कुछ विशेष लक्षण पूर्वी समुदाय की भाषाओ के भी मिलते है। पूर्वी हिंदी भाषा में तीन मुख्य बोलिया है—अवधी, बघेली और छत्तीसगढी। अवधी बोली का दूसरा नाम कोसली भी है। कोसल अवध का प्राचीन नाम था। तुलसीदास जी के समय से श्री रामचद्र जी के यशोगान मे प्राय अवधी का ही प्रयोग होता रहा है। जैन-धर्म के प्रवर्तक महावीर जी ने अपने धर्म का प्रचार करने में यहा की ही प्राचीन बोली अर्द्ध-मागधी का प्रयोग किया था। बहुत सा जैन-साहित्य अर्द्ध-मागधी प्राकृत में है। अवधी और बघेली भाषा मे साहित्य बहुत है। पूर्वी हिंदी प्राय देवनागरी लिपि में लिखी जाती है और छपाई मे तो सदा इसी का प्रयोग होता है। लिखने में कभी-कभी कैथी लिपि भी काम मे आती है। अपने प्राचीन रूप अर्द्ध-मागधी प्राकृत के समान पूर्वी हिंदी अब भी बीच की भाषा है। इस के पश्चिम मे शौरसेनी प्राकृत का नया रूप पश्चिमी हिंदी है और पूर्व में मागधी प्राकृत की स्थानापन्न बिहारी भाषा है।

८. **बिहारी**—यद्यपि राजनीतिक, धार्मिक तथा सामाजिक दृष्टि से बिहार का सबध सयुक्त प्रात से ही रहा है, किंतु उत्पत्ति की दृष्टि से यहा की भाषा बगाली की बहिन है। बगाली, उडिया और आसामी के साथ इस की उत्पत्ति भी मागध अपभ्रश से हुई है। हिंदी भाषा बिहारी की चचेरी बहिन कही जा सकती है। मागध अपभ्रश के बोले जाने

वाले भूमिभाग मे ही ग्राजकल विहारी बोली जाती है। विहारी भापा में तीन मुख्य वोलियां हैं—

(१) मैथिली, जो गगा के उत्तर में दरभंगा के ग्रास-पास वोली जाती है।

(२) मगही, जिस का केंद्र पटना ग्रौर गया समझना चाहिए।

(३) भोजपुरी, जो मुख्यतया सयुक्त-प्रात की गोरखपुर ग्रौर बनारस कमिश्नरियो मे तथा विहार प्रांत के शाहावाद, चपारन ग्रौर सारन ज़िलो मे बोली जाती है।

इन मे मैथिली ग्रौर मगही एक-दूसरे के अधिक निकट हैं, किंतु भोजपुरी इन दोनो से भिन्न है। चैटर्जी महोदय भोजपुरी को मैथिली-मगही से इतना भिन्न मानते है कि ग्रियर्सन साहव की तरह वे इन तीनो को एक साथ रख कर विहारी भापा नाम देने को सहसा उद्यत नही है।[1] विहारी तीन लिपियो में लिखी जाती है। छपाई में देवनागरी अक्षर व्यवहार में ग्राते है तथा लिखने मे साधारणतया कैथी लिपि का प्रयोग होता है। मैथिली ब्राह्मणो की एक अपनी लिपि ग्रलग है, जो मैथिली कहलाती है ग्रौर बँगला अक्षरो से बहुत मिलती हुई है। विहारी वोले जानेवाले प्रदेश में हिंदी ही साहित्यिक भाषा है। विहार प्रात में शिक्षा का माध्यम भी हिंदी ही है।

६. उड़िया—प्राचीन उत्कल देश अथवा वर्तमान उडिया प्रात मे यह भापा वोली जाती है। इस को उत्कली ग्रथवा ग्रोड्री भी कहते है। उडिया शब्द का शुद्ध रूप ग्रोडिया है। सब से प्रथम कुछ उडिया शब्द तेरहवी शताब्दी के एक शिलालेख मे ग्राए है। प्राय. एक शताब्दी के वाद का एक ग्रन्य शिलालेख मिलता है जिस में कुछ वाक्य उडिया भापा में लिखे पाए गए है। इन शिलालेखो से विदित होता है कि उस समय तक उडिया भाषा बहुत कुछ विकसित हो चुकी थी। उडिया लिपि बहुत कठिन है। इस का व्याकरण बगाली से बहुत मिलता-जुलता है, इस लिए बगाली के कुछ पडित इसे बगाली भाषा की एक बोली समझते थे, किंतु यह भ्रम था। बगाली के साथ ही उडिया भी मागधी ग्रपभ्रश से निकली है। बगाली ग्रौर उड़िया ग्रापस में वहिनें है। इन का सबंध मा-वेटी का नही है। उड़िया लोग बहुत काल तक विजित रहे है। ग्राठ शताब्दी तक उडीसा मे तैलगो का राज्य रहा। ग्रभी कुछ ही काल पूर्व तक नागपुर के भोंसले राजाग्रो ने उडीसा पर राज्य किया है। इन कारणो से उडिया भापा में तेलगू ग्रौर मराठी शब्द बहुतायत से पाए जाते है। मुसलमानो ग्रौर ग्रग्रेज़ो के कारण फारसी ग्रौर ग्रग्रेज़ी शब्द तो है ही। उडिया साहित्य विशेपतया कृष्ण-संबधी है।

---

[1] चै०, बे० लै०, § ५२

१०. बंगाली—बगाली भाषा गगा के मुहाने और उस के उत्तर और पश्चिम के मैदानो में बोली जाती है। गाँव तथा नगर के बगालियो की बोली में बहुत अतर है। साहित्य की भाषा में सस्कृत तत्सम शब्दो का प्रचार कदाचित् बगाली में सब से अधिक है। उत्तरी, पूर्वी तथा पश्चिमी बगाली में भेद है। पूर्वी बगाली का केंद्र ढाका है। हुगली के निकट बोली जानेवाली पश्चिमी बगाली का ही एक रूप वर्तमान साहित्यिक भाषा हो गया है। बगाली उच्चारण की विशेषता 'अ' का 'ओ' तथा 'स' का 'श' कर देना प्रसिद्ध ही है। इस भाषा का साहित्य उत्तम अवस्था में है। बगाली लिपि देवनागरी का ही एक रूपातर है।

११ आसामी—जैसा इस के नाम से प्रकट है यह आसाम प्रदेश में बोली जाती है। वहा के लोग इसे असमिया कहते है। उडिया की तरह आसामी भी बगाली की बहिन है, बेटी नही। यद्यपि आसामी व्याकरण बगाली व्याकरण से बहुत भिन्न नही है, किंतु इन दोनो की साहित्यिक प्रगति पर ध्यान देने से इन का भेद स्पष्ट हो जाता है। आसामी भाषा के प्राचीन साहित्य की यह विशेषता है कि उस में ऐतिहासिक ग्रथो की कमी नही है। अन्य भारतीय आर्यभाषाओ में यह अभाव बहुत खटकता है। आसामी भाषा प्राय बगाली लिपि में लिखी जाती है, यद्यपि इस में कुछ सुधार अवश्य कर लिए गए है।

१२ मराठी—दक्षिण में महाराष्ट्री अपभ्रश की पुत्री मराठी भाषा है। यह बबई प्रात में पूना के चारो ओर, तथा बरार प्रात और मध्य-प्रात के दक्षिण के नागपुर आदि चार ज़िलो में बोली जाती है। इस के दक्षिण मे द्राविड भाषाए हैं। इस की तीन मुख्य बोलिया हैं, जिन में से पूना के निकट बोली जानेवाली देशी मराठी साहित्यिक भाषा है। मराठी प्राय देवनागरी लिपि में लिखी और छापी जाती है। नित्य के व्यवहार में 'मोडी' लिपि का व्यवहार होता है। इस का आविष्कार महाराज शिवाजी (१६२७–८० ई०) के सुप्रसिद्ध मत्री बालाजी अवाजी ने किया था। मराठी का साहित्य विस्तीर्ण, लोकप्रिय तथा प्राचीन है।

१३ पहाडी भाषाए—हिमालय के दक्षिण पार्श्व मे नैपाल में पूर्वी पहाडी बोली जाती है। इस को नेपाली, पर्वतिया, गोरखाली और खसकुरा भी कहते हैं। पूर्वी पहाडी भाषा का विशुद्ध रूप काठमडू की घाटी में बोला जाता है। इस में कुछ नवीन साहित्य भी है। नेपाल राज्य की अधिकाश प्रजा की भाषाए तिब्बती-चीनी वर्ग की है, जिन में नेवार जाति के लोगो की भाषा 'नेवारी' मुख्य है। नेपाल के राज-दरबार में हिंदी भाषा का विशेष आदर है। नेपाली का अध्ययन जर्मन और रूसी विद्वानो ने विशेष किया है। यह देवनागरी लिपि में ही लिखी जाती है।

माध्यमिक पहाडी के दो मुख्य भेद हैं—(१) कुमाउँनी, जो अल्मोडा नैनीताल के प्रदेश की बोली है, और (२) गढवाली, जो गढवाल राज्य तथा मसूरी के निकट पहाड़ी

प्रदेश में बोली जाती है। इन दोनो बोलियो मे साहित्य विशेष नही है। यहा के लोगो ने साहित्यिक व्यवहार के लिए हिंदी भापा को ही अपना लिया है। ये दोनो बोलिया देवनागरी लिपि मे ही लिखी जाती हैं।

पश्चिमी पहाडी भापा की भिन्न-भिन्न बोलियां सरहिंद के उत्तर शिमला के निकटवर्ती प्रदेश में बोली जाती हैं। इन बोलियो का कोई सर्वमान्य मुख्य रूप नही है, न इन मे साहित्य ही पाया जाता है। इस प्रदेश में तीस से अधिक बोलियो का पता चला है, जिन मे सयुक्त-प्रात के जौनसार-बावर प्रदेश की बोली जौनसारी, शिमला पहाड की बोली क्योथली, कुलू प्रदेश की कुलूई और चवा राज्य की चवाली मुख्य है। चवाली बोली की लिपि भिन्न है। शेप टाकरी या टक्करी लिपि में लिखी जाती है।

वर्तमान पहाड़ी भापाए राजस्थानी से बहुत मिलती हैं। विशेषतया माध्यमिक पहाडी का सबध जयपुरी से और पश्चिमी पहाडी का सबध मारवाडी से अधिक मालूम होता हैं। पश्चिमी तथा मध्य-पहाडी प्रदेश का प्राचीन नाम सपादलक्ष था। पूर्व-काल में सपादलक्ष में गूजर आकर बस गए थे। बाद को ये लोग पूर्व राजस्थान की ओर चले गए थे। मुसलमान-काल में बहुत से राजपूत फिर सपादलक्ष में आ बसे थे। जिस समय सपादलक्ष की खस जाति ने नेपाल को जीता था, उस समय खस विजेताओ के साथ यहा के राजपूत और गूजर भी शामिल थे। इस सपर्क के कारण ही राजस्थानी और पहाडी भापाओ मे कुछ समानता पाई जाती है।

ई. हिंदी भाषा तथा बोलियां

क. हिंदी के आधुनिक साहित्यिक रूप

१. हिंदी—सस्कृत की स ध्वनि फारसी में ह के रूप मे पाई जाती है, अत सस्कृत के 'सिंधु' और 'सिंधी' शब्दो के फारसी रूप 'हिंद' और 'हिंदी' हो जाते है। प्रयोग तथा रूप की दृष्टि से 'हिंदवी' या 'हिंदी' शब्द फारसी भापा का ही है। सस्कृत, प्राकृत, अथवा आधुनिक भारतीय आर्यभापाओ के किसी भी प्राचीन ग्रथ में इस का व्यवहार नहीं किया गया है। फारसी में 'हिंदी' का शब्दार्थ 'हिंद से सबध रखने वाला' है, किंतु इस का प्रयोग 'हिंद के रहनेवाले' अथवा 'हिंद की भापा' के अर्थ में होता रहा है। 'हिंदी' शब्द के अतिरिक्त फारसी से ही 'हिंदू' शब्द भी आया है। हिंदू शब्द का व्यवहार फारसी में 'इस्लाम धर्म के न माननेवाले हिंदवासी' के अर्थ में प्राय मिलता है। इसी अर्थ के साथ यह शब्द अपने देश में प्रचलित हो गया है।

शब्दार्थ की दृष्टि से 'हिंदी' शब्द का प्रयोग हिंद या भारत में बोली जानेवाली किसी भी आर्य, द्राविड अथवा अन्य कुल की भाषा के लिए हो सकता है, किंतु आजकल वास्तव में इस का व्यवहार उत्तर-भारत के मध्यदेश के हिंदुओ की वर्तमान साहित्यिक भाषा के अर्थ में मुख्यतया, तथा इसी भूमि-भाग की बोलियो और उन से संबंध रखने वाले प्राचीन साहित्यिक रूपो के अर्थ में साधारणतया होता है। इस भूमि-भाग की सीमाए पश्चिम में जैसलमीर, उत्तर-पश्चिम में अंबाला, उत्तर में शिमला से लेकर नेपाल के पूर्वी छोर तक के पहाडी प्रदेश का दक्षिणी भाग, पूर्व में भागलपुर, दक्षिण-पूर्व में रायपुर तथा दक्षिण-पश्चिम में खँडवा तक पहुँचती हैं। इस भूमि-भाग में हिंदुओ के आधुनिक साहित्य, पत्र-पत्रिकाओ, शिष्ट बोलचाल तथा स्कूली शिक्षा की भाषा एकमात्र खडी बोली हिंदी ही है। साधारणतया 'हिंदी' शब्द का प्रयोग जनता में इसी भाषा के अर्थ में किया जाता है, किंतु साथ ही इस भूमि-भाग की ग्रामीण बोलियो—जैसे मारवाडी, ब्रज, छत्तीसगढी, मैथिली आदि को तथा प्राचीन ब्रज, अवधी आदि साहित्यिक भाषाओ को भी हिंदी भाषा के ही अंतर्गत माना जाता है। इस समस्त भूमिभाग की जन-संख्या लगभग ११ करोड है।

भाषा-शास्त्र की दृष्टि से ऊपर दिए हुए भूमिभाग में तीन-चार भाषाए मानी जाती हैं। राजस्थान की बोलियो के समुदाय को 'राजस्थानी' के नाम से पृथक् भाषा माना गया है। बिहार की मिथिला और पटना-गया की बोलियो तथा संयुक्त-प्रांत की बनारस-गोरखपुर कमिश्नरी की बोलियो के समूह को एक भिन्न 'बिहारी' भाषा माना जाता है। उत्तर के पहाडी प्रदेशो की बोलिया भी 'पहाडी भाषाओ' के नाम से पृथक् मानी जाती हैं। इस तरह से भाषा-शास्त्र के सूक्ष्म भेदो की दृष्टि से 'हिंदी भाषा की सीमाए' निम्नलिखित रह जाती हैं—उत्तर में तराई, पश्चिम में पंजाब के अंबाला और हिसार के ज़िले तथा पूर्व में फैज़ाबाद, प्रतापगढ और इलाहाबाद के ज़िले। दक्षिण की सीमा में कोई परिवर्तन नही होता और रायपुर तथा खँडवा पर ही यह जाकर ठहरती है। इस भूमिभाग में हिंदी के दो उप-रूप माने जाते हैं, जो पश्चिमी और पूर्वी हिंदी के नाम से पुकारे जाते हैं। हिंदी की इस पश्चिमी और पूर्वी बोलियो के बोलनेवालो की संख्या लगभग ६$\frac{1}{2}$ करोड है। भाषा-शास्त्र से संबंध रखने वाले ग्रंथो मे 'हिंदी भाषा' शब्द का प्रयोग इसी भूमिभाग की बोलियो तथा उन की आधारभूत साहित्यिक भाषाओ के अर्थ में होता है।

हिंदी शब्द के शब्दार्थ, साधारण प्रचलित अर्थ, तथा शास्त्रीय अर्थ के भेद को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

२. उर्दू—आधुनिक साहित्यिक हिंदी के उस दूसरे साहित्यिक रूप का नाम उर्दू है जिस का व्यवहार उत्तर-भारत के समस्त पढे-लिखे मुसलमानो तथा उन से अधिक संपर्क में आने वाले कुछ हिंदुओ, जैसे पंजाबी, देसी काश्मीरी तथा पुराने कायस्थो आदि में पाया जाता है। व्याकरण के रूपो की दृष्टि से इन दोनो साहित्यिक भाषाओ में विशेष

अतर नही है, वास्तव मे दोनो का मूलाधार एक ही है, किंतु साहित्यिक वातावरण, शब्द-समूह, तथा लिपि में दोनो मे आकाश-पाताल का भेद है। हिंदी इन सब बातो के लिए भारत की प्राचीन सस्कृति तथा उस के वर्तमान रूप की ओर देखती है, उर्दू भारत के वातावरण मे उत्पन्न होने और बढने पर भी ईरान और अरब की सभ्यता और साहित्य से जीवन-श्वास ग्रहण करती है।

ऐतिहासिक दृष्टि से साहित्यिक खडी-बोली हिंदी की अपेक्षा खडी-बोली उर्दू का व्यवहार पहले होने लगा था। भारतवर्ष मे आने पर बहुत दिनो तक मुसलमानो का केंद्र दिल्ली रहा, अत फारसी, तुर्की, और अरबी बोलनेवाले मुसलमानो ने जनता से बात-चीत और व्यवहार करने के लिए धीरे-धीरे दिल्ली के अडोस-पडोस की बोली सीखी। इस बोली मे अपने विदेशी शब्द-समूह को स्वतत्रता-पूर्वक मिला लेना इन के लिए स्वाभाविक था। इस प्रकार की बोली का व्यवहार सब से प्रथम 'उर्दू-ए-मुअल्ला' अर्थात् दिल्ली के महलो के बाहर 'शाही फौजी बाजारो' मे होता था, अत इसी से दिल्ली के पडोस की बोली के इस विदेशी शब्दो से मिश्रित रूप का नाम 'उर्दू' पडा। तुर्की भाषा में 'उर्दू' शब्द का अर्थ बाज़ार है। वास्तव मे आरभ में उर्दू बाज़ारू भाषा थी। शाही दरबार से सपर्क मे आनेवाले हिंदुओ का इसे अपनाना स्वाभाविक था क्योंकि फारसी-अरबी शब्दो से मिश्रित किंतु अपने देश की एक बोली मे इन भिन्न भाषा-भाषी विदेशियो से बातचीत करने में इन्हें सुविधा रहती होगी। जैसे ईसाई धर्म ग्रहण कर लेने पर भारतीय भाषाए बोलनेवाले भारतीय अग्रेज़ी से अधिक प्रभावित होने लगते है, उसी तरह मुसलमान धर्म ग्रहण कर लेने वाले हिंदुओ में भी फारसी के बाद उर्दू का विशेष आदर होना स्वाभाविक था। धीरे-धीरे यह उत्तर-भारत की शिष्ट मुसलमान जनता की अपनी भाषा हो गई। शासको द्वारा अपनाए जाने के कारण यह उत्तर-भारत के समस्त शिष्ट-समुदाय की भाषा मानी जाने लगी। जिस तरह आजकल पढे-लिखे हिंदुस्तानी के मुँह से 'मुझे चास (Chance) नही मिला' निकलता है उसी तरह, उस समय 'मुझे मौका नही मिला' निकलता होगा। जनता इसी को 'मुझे अवसर या औसर नही मिला' कहती होगी, और अब भी कहती है। उर्दू का जन्म तथा प्रचार इसी प्रकार हुआ।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि उर्दू का मूलाधार दिल्ली के निकट की खडीबोली है। यही बोली आधुनिक साहित्यिक हिंदी की भी मूलाधार है। अत जन्म से उर्दू और आधुनिक साहित्यिक हिंदी सगी बहनें है। विकसित होने पर इन दोनो मे जो अतर हुआ उसे रूपक में यो कह सकते है कि एक तो हिंदुआनी बनी रही और दूसरी ने मुसलमान धर्म ग्रहण कर लिया।

एक अग्रेज़ विद्वान् ग्रैहम बेली महोदय ने उर्दू की उत्पत्ति के सबध मे एक नया विचार

रक्खा है। उन की समझ मे उर्दू की उत्पत्ति दिल्ली में खडीबोली के आधार पर नही हुई, बल्कि इस के पहले ही पजाबी के आधार पर यह लाहौर के आस-पास बन चुकी थी और दिल्ली में आने पर मुसलमान शासक इसे अपने साथ ही लाए थे। खडीबोली के प्रभाव से इस में बाद को कुछ परिवर्तन अवश्य हुए किंतु इस का मूलाधार पजाबी को मानना चाहिए खडीबोली को नही। इस सबध में बेली महोदय का सब से बडा तर्क यह है कि दिल्ली को शासन-केंद्र बनाने के पूर्व १००० से १२०० ई० तक लगभग दो सौ वर्ष मुसलमान पजाब में रहे। उस समय वहा की जनता से सपर्क में आने के लिए उन्हो ने कोई न कोई भाषा अवश्य सीखी होगी, और यह भाषा तत्कालीन पजाबी ही हो सकती है। यह स्वाभाविक है कि भारत में आगे बढने पर वे इसी भाषा का प्रयोग करते रहे हो। बिना पूर्ण खोज के उर्दू की उत्पत्ति के सबध में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। इस समय सर्वसम्मत मत यही है कि उर्दू तथा आधुनिक साहित्यिक हिंदी दोनो की मूलाधार दिल्ली-मेरठ की खडीबोली ही है।

उर्दू का साहित्य में प्रयोग दक्षिण के मुसलमानी दरबारो से आरभ हुआ। उस समय तक दिल्ली-आगरा के दरबार में साहित्यिक भाषा का स्थान फारसी को मिला हुआ था। साधारण जन-समुदाय की भाषा होने के कारण अपने घर पर उर्दू हेय समझी जाती थी। हैदराबाद रियासत की जनता की भाषाए भिन्न द्राविड वश की थी, अत उन के बीच में यह मुसलमानी आर्यभाषा, शासको की भाषा होने के कारण, विशेष गौरव की दृष्टि से देखी जाने लगी, इसी लिए उस का साहित्य में प्रयोग करना बुरा नही समझा गया। औरगाबादी वली उर्दू साहित्य के जन्मदाता माने जाते हैं। वली के कदमो पर ही मुगल-काल के उत्तरार्द्ध में दिल्ली और उस के बाद लखनऊ के मुसलमानी दरबारो में भी उर्दू भाषा में कविता करनेवाले कवियो का एक समुदाय बन गया, जिस ने इस बाज़ारू बोली को साहित्यिक भाषाओ के सिंहासन पर बैठा दिया। फारसी शब्दो के अधिक मिश्रण के कारण कविता में प्रयुक्त उर्दू को 'रेख़्ता' (शब्दार्थ मिश्रित) कहते हैं। स्त्रियो की भाषा 'रेख़्ती' कहलाती है। दक्षिणी मुसलमानो की भाषा 'दक्खिनी' उर्दू कहलाती है। इस में फ़ारसी शब्द कम इस्तेमाल होते हैं, और उत्तर-भारत की उर्दू की अपेक्षा यह कम परिमार्जित है। ये सब उर्दू के रूप-रूपातर है। हिंदी भाषा के गद्य के समान उर्दू भाषा का गद्य-साहित्य में व्यवहार अग्रेज़ी शासनकाल मे आरभ हुआ। मुद्रणकला के साथ इस का प्रचार अधिक बढा। उर्दू भाषा अरबी-फारसी अक्षरो में लिखी जाती है। पजाब, सयुक्तप्रात, तथा राजस्थान के कुछ राज्यो मे कचहरी, तहसील और गाँव मे अब भी उर्दू में ही सरकारी कागज लिखे जाते हैं, अत नौकरीपेशा हिंदुओ को भी इस की जानकारी प्राप्त करना अनिवार्य है। आगरा-दिल्ली की ओर हिंदुओ मे इस का अधिक प्रचार होना स्वाभाविक है। पजाबी भाषा में साहित्य न होने के कारण पजाबी लोगो ने तो इसे

साहित्यिक भाषा की तरह अपना रक्खा है। अब हिंदी-भाषी प्रदेश मे हिंदुओ के बीच मे उर्दू का प्रभाव प्रतिदिन कम हो रहा है।

३. हिंदुस्तानी—'हिंदुस्तानी' नाम यूरोपीय लोगो का दिया हुआ है। उर्दू का बोलचाल वाला रूप हिंदुस्तानी कहलाता है। केवल बोलचाल मे प्रयुक्त होने के कारण इस में फारसी शब्दो की भरमार नही रहती, यद्यपि इस का झुकाव फारसी की तरफ अवश्य रहता है। उत्पत्ति की दृष्टि से आधुनिक साहित्यिक हिंदी तथा उर्दू के समान ही इस का आधार भी खडीबोली है। एक तरह से यह हिंदी-उर्दू की अपेक्षा खड़ीबोली के अधिक निकट है, क्योकि यह फारसी-सस्कृत के अस्वाभाविक प्रभाव से बहुत कुछ मुक्त है। दक्षिण के ठेठ द्राविड प्रदेशो को छोड कर शेप समस्त भारत मे उर्दू का यह व्यवहारिक रूप हर जगह समझ लिया जाता है। कलकत्ता, हैदराबाद, बबई, कराची, जोधपुर, पेशावर, नागपुर, काश्मीर, लाहौर, दिल्ली, लखनऊ, बनारस, पटना आदि सब जगह हिंदुस्तानी बोली से काम निकल सकता है। अतिम चार-पाँच स्थान तो इस के घर ही है।

साधारण श्रेणी के लोगो के लिए लिखे गए साहित्य में हिंदुस्तानी का प्रयोग पाया जाता है। ये किस्से, गजलो और भजनो आदि की बाजारू किताबे फारसी और देवनागरी दोनो लिपियो में छापी जाती है। हिंदुस्तानी के समान ठेठ हिंदी में कुछ साहित्यिक पुरुषो ने लिखने का प्रयास किया है। इशा की 'रानी केतकी की कहानी' तथा पडित अयोध्या-सिंह उपाध्याय का 'ठेठ हिंदी का ठाठ' तथा 'बोलचाल' ठेठ हिंदी को साहित्यिक बनाने के प्रयोग है, जिस मे ये सज्जन सफल नही हो सके।

इस पुस्तक मे खडीबोली शब्द का प्रयोग दिल्ली-मेरठ के आस-पास बोली जाने-वाली गाँव की भाषा के अर्थ में किया गया है। भाषा-सर्वे में ग्रियर्सन महोदय ने इस बोली को 'वर्नाक्यूलर हिंदुस्तानी' नाम दिया है। किंतु इस के लिए खडीबोली अथवा सिरहिंदी नाम अधिक उपयुक्त है। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है हिंदी, उर्दू तथा हिंदुस्तानी या ठेठ हिंदी इन समस्त रूपो का मूलाधार यह खडीबोली ही है। कभी-कभी ब्रजभाषा तथा अवधी आदि प्राचीन साहित्यिक भाषाओ से भेद दिखलाने को आधुनिक साहित्यिक हिंदी को भी खडीबोली नाम से पुकारा जाता है[1]। ब्रजभाषा और इस 'साहित्यिक खडी-

---

[1] इस अर्थ में खड़ीबोली का सब से प्रथम प्रयोग लल्लूजी लाल ने प्रेमसागर की भूमिका में किया है। लल्लूजी लाल के ये वाक्य खडीबोली शब्द के व्यवहार पर बहुत कुछ प्रकाश डालते है, अत. ज्यों के त्यो नीचे उद्धृत किए जाते हैं। आधुनिक साहित्यिक हिंदी के आदि रूप का भी यह उद्धरण अच्छा नमूना है। लल्लूजी लाल लिखते हैं:—"एक समैं व्यास-देव कृत श्रीमत भागवत के दशमस्कध की कथा को चतुर्भुज मिश्र ने दोहे चौपाई में ब्र

बोली हिंदी' का झगडा बहुत पुराना हो चुका है। साहित्यिक अर्थ में प्रयुक्त खडीबोली शब्द तथा भाषाशास्त्र की दृष्टि से प्रयुक्त खडीबोली शब्द के भेद को स्पष्ट-रूप से समझ लेना चाहिए। ब्रजभाषा की अपेक्षा यह बोली वास्तव में खडी सी लगती है, कदाचित् इसी कारण इस का नाम खडीबोली पडा। हिंदी-उर्दू भाषाए साहित्यिक खडीबोली मात्र हैं। 'हिंदुस्तानी' शिष्ट लोगो के बोलचाल की कुछ परिमार्जित खडीबोली है।

ऊपर के विस्तृत विवेचन से हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी या ठेठ हिंदी तथा खडीबोली शब्दो के मूल अर्थ तथा शास्त्रीय अर्थ का भेद स्पष्ट हो गया होगा। हिंदी भाषा से संबंध रखनेवाले ग्रंथो में इन शब्दो का शास्त्रीय अर्थ में ही प्रयोग होता है।

ख. हिंदी की ग्रामीण बोलियां

ऊपर बतलाया जा चुका है कि 'मध्यदेश' की आठ मुख्य बोलियो के समुदाय को भाषाशास्त्र की दृष्टि से हिंदी नाम से पुकारा जाता है। इन में से खडीबोली, बांगरू, ब्रज, कनौजी तथा बुंदेली, इन पांच को भाषा-सर्वे में 'पश्चिमी हिंदी' नाम दिया गया है तथा अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढी, इन शेष तीन को 'पूर्वी हिंदी' नाम से पुकारा गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी हिंदी का संबंध शौरसेनी प्राकृत तथा पूर्वी हिंदी का संबंध अर्द्धमागधी प्राकृत से जोडा जाता है। भाषा-सर्वे के आधार पर इन आठ बोलियो का संक्षिप्त वर्णन नीचे दिया जाता है। बिहार की ठेठ बोलियो से बहुत-कुछ भिन्न होने तथा हिंदी से विशेष घनिष्ट संबंध होने के कारण बनारस-गोरखपुर की भोजपुरी बोली का वर्णन भी हिंदी की इन आठ बोलियो के साथ ही दे दिया गया है।

में बोली जाती है—रामपुर रियासत, मुरादाबाद, बिजनौर, मेरठ, मुज़फ्फरनगर, सहारनपुर, देहरादून के मैदानी भाग, अंबाला तथा कलसिया और पटियाला रियासत के पूर्वी भाग। इस बोली के बोलने वालो की सख्या ५३ लाख के लगभग है। इस सबध में निम्नलिखित यूरोपीय देशो की जन-सख्या के अक रोचक प्रतीत होगे —ग्रीस ५४ लाख, बलगेरिया ४६ लाख, तथा तीन भाषाए बोलनेवाला स्विटज़रलैंड ३६ लाख।

२. बाँगरू—बाँगरू बोली जाटू या हरियानी नाम से भी प्रसिद्ध है। यह दिल्ली, करनाल, रोहतक, हिसार ज़िलो और पडोस के पटियाला, नाभा, और झींद रियासतो के गाँवो में बोली जाती है। एक प्रकार से यह पजाबी और राजस्थानी मिश्रित खडीबोली है। बाँगरू बोलनेवालो की सख्या लगभग २२ लाख है। बाँगरू बोली की पश्चिमी सीमा पर सरस्वती नदी बहती है। हिंदी-भाषी प्रदेश के प्रसिद्ध युद्रक्षेत्र पानीपत तथा कुरुक्षेत्र इसी बोली की सीमा के अन्तर्गत पड़ते हैं, अत. इसे हिंदी की सरहदी बोली मानना अनुचित न होगा। वास्तव में यह खडीबोली का ही एक उपरूप है, और इस को हिंदी की स्वतत्र बोली मानना चित्य है।

३. ब्रजभाषा—प्राचीन हिंदी साहित्य की दृष्टि से ब्रज की बोली की गिनती साहित्यिक भाषाओ में होने लगी इस लिए आदरार्थ यह ब्रजभाषा कह कर पुकारी जाने लगी। विशुद्ध रूप में यह बोली अब भी मथुरा, आगरा, अलीगढ तथा धौलपुर में बोली जाती है। गुडगाँव, भरतपुर, करौली तथा ग्वालियर के पश्चिमोत्तर भाग में इस में राजस्थानी और बुदेली की कुछ-कुछ झलक आने लगती है। बुलदशहर, बदायू और नैनीताल की तराई में खडीबोली का प्रभाव शुरू हो जाता है, तथा एटा, मैनपुरी और बरेली ज़िलो में कुछ कनौजीपन आने लगता है। वास्तव मे पीलीभीत तथा इटावा की बोली भी कनौजी की अपेक्षा ब्रजभाषा के अधिक निकट है। ब्रजभाषा बोलनेवालो की सख्या लगभग ७६ लाख है। तुलना के लिए नीचे लिखे जन-सख्या के अक रोचक प्रतीत होगे — टर्की ८० लाख; बेलजियम ७७ लाख, हगरी ७८ लाख, हालैंड ६८ लाख, आस्ट्रिया ६१ लाख तथा पुर्तगाल ६० लाख।

जब से गोकुल वल्लभ-सप्रदाय का केंद्र हुआ तब से ब्रजभाषा मे कृष्ण-साहित्य लिखा जाने लगा। धीरे-धीरे यह बोली समस्त हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई। १९वी शताब्दी मे साहित्य के क्षेत्र मे खड़ीबोली ब्रजभाषा की स्थानापन्न हुई।

४. कनौजी—कनौजी बोली का क्षेत्र ब्रजभाषा और अवधी के बीच में है। कनौजी को पुराने कनौज राज्य की बोली समझना चाहिए। वास्तव में यह ब्रजभाषा का ही एक उपरूप है। कनौजी का केंद्र फर्रुखाबाद है, किंतु उत्तर मे यह हरदोई, शाहजहांपुर तथा पीलीभीत तक और दक्षिण में इटावा तथा कानपुर के पश्चिमी भाग में बोली जाती है। कनौजी बोलने वालो की सख्या ४५ लाख है। ब्रजभाषा के पड़ोस में होने के

कारण साहित्य के क्षेत्र में कनौजी कभी भी आगे नहीं आ सकी। इस भूमिभाग में प्रसिद्ध कविगण तो कई हुए, किंतु इन सब ने व्रजभाषा मे ही अपनी रचनाए की। वास्तव में कनौजी कोई स्वतत्र वोली नहीं है, वल्कि व्रजभाषा का ही एक उपरूप है।

५. वुदेली—वुदेली वुदेलखड की वोली है। शुद्ध रूप मे यह झांसी, जालौन, हमीरपुर, ग्वालियर, भूपाल, ओडछा, सागर, नृसिहपुर, सेओनी, तथा हुशगावाद में वोली जाती है। इस के कई मिश्रित रूप दतिया, पन्ना, चरखारी, दमोह, वालाघाट तथा छिंदवाडा के कुछ भागो में पाए जाते है। वुदेली वोलने वालो की सख्या ६९ लाख के लगभग है। मध्य-काल में वुदेलखड साहित्य का प्रसिद्ध केंद्र रहा है, किंतु यहा होनेवाले कवियो ने भी व्रजभाषा में ही कविता की है, यद्यपि इन की भाषा पर अपनी वुदेली वोली का प्रभाव अधिक पाया जाता है। वुदेली वोली और व्रजभाषा में वहुत साम्य है। सच तो यह है कि व्रज, कनौजी, तथा वुदेली एक ही वोली के तीन प्रादेशिक रूप मात्र हैं।

६. अवधी—हरदोई ज़िले को छोड कर शेष अवध की वोली अवधी है। यह लखनऊ, उन्नाव, रायवरेली, सीतापुर, खीरी, फ़ैज़ाबाद, गोंडा, वहराइच, सुल्तानपुर, प्रतापगढ, वारावकी में तो वोली ही जाती है, किंतु इन ज़िलो के अतिरिक्त दक्षिण में गगापार, इलाहावाद, फतेहपुर, कानपुर और मिर्ज़ापुर मे तथा जौनपुर के कुछ हिस्सो में भी वोली जाती है। विहार के मुसलमान भी अवधी वोलते है। इस मिश्रित अवधी का विस्तार मुज़फ्फरपुर तक है। अवधी वोलनेवालो की सख्या लगभग १ करोड ४२ लाख है। व्रजभाषा के साथ अवधी में भी कुछ साहित्य लिखा गया था, यद्यपि वाद को व्रजभाषा की प्रतिद्वद्विता में यह ठहर न सकी। 'पद्मावत' और 'रामचरितमानस' अवधी के दो सुप्रसिद्ध ग्रथरत्न है।

७. बघेली—अवधी के दक्षिण में वघेली का क्षेत्र है। इस का केंद्र रीवा राज्य है किंतु यह मध्यप्रात के दमोह, जवलपुर, मांडला तथा वालाघाट के ज़िलो तक फैली हुई है। बघेली वोलने वालो की सख्या लगभग ४६ लाख है। जिस तरह वुदेलखड के कवियो ने व्रजभाषा को अपना रक्खा था उसी तरह रीवा के दरवार में वघेली कविगण साहित्यिक भाषा के रूप में अवधी का आदर करते थे। नई खोज के अनुसार वघेली कोई स्वतत्र वोली नही है वल्कि अवधी का ही दक्षिण रूप है।

८ छत्तीसगढ़ी—छत्तीसगढी को लरिया या खल्ताही भी कहते है। यह मध्यप्रात में रायपुर और विलासपुर के ज़िलो तथा कांकेर, नदगांव, खैरगढ, रायगढ, कोरिया, सरगुजा, उदयपुर, तथा जशपुर आदि राज्यो में भिन्न-भिन्न रूपो में बोली जाती है। छत्तीसगढी वोलने वालो की सख्या लगभग ३३ लाख है जो डेनमार्क की जनसख्या के विल्कुल वरावर है। मिश्रित रूपो को मिला कर बोलने वालो की सख्या ३८ लाख के लगभग हो जाती है, जो स्विटज़रलैंड की जनसख्या से टक्कर लेने लगती है।

छत्तीसगढी में पुराना साहित्य बिल्कुल नही है। कुछ नई बाजारू किताबें अवश्य छपी है।

९. भोजपुरी—बिहार के शाहाबाद जिले मे भोजपुर एक छोटा-सा कस्बा और परगना है। इस बोली का नाम इसी स्थान से पडा है, यद्यपि यह दूर-दूर तक बोली जाती है। भोजपुरी बोली बनारस, मिर्जापुर, जौनपुर, गाजीपुर, बलिया ; गोरखपुर, बस्ती, आजमगढ, शाहाबाद, चंपारन, सारन तथा छोटा नागपुर तक फैली पडी है। बोलने वालो की सख्या पूरे २ करोड के लगभग है। भोजपुरी में साहित्य कुछ भी नही है। सस्कृत का केंद्र होने के अतिरिक्त काशी हिंदी साहित्य का भी प्राचीन केद्र रहा है, किंतु भोजपुरी बोली से घिरे रहने पर भी इस बोली का प्रयोग साहित्य मे कभी नही किया गया। काशी में रहते हुए भी कविगण प्राचीन काल मे ब्रज तथा अवधी में और आधुनिक काल मे साहित्यिक खडीबोली हिंदी में लिखते रहे है। भापा-सबधी कुछ साम्यो को छोड कर शेप सब बातो मे भोजपुरी प्रदेश बिहार की अपेक्षा हिंदी प्रदेश के अधिक निकट रहा है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि सयुक्तप्रात में चार मुख्य बोलिया बोली जाती हैं—अर्थात् मेरठ-बिजनौर की खडीबोली, मथुरा-आगरा की व्रजभापा, लखनऊ-फैजाबाद की अवधी, तथा बनारस-गोरखपुर की भोजपुरी। कनौजी ब्रजभाषा और अवधी के बीच की एक बोली है। दिल्ली कमिश्नरी की बाँगरू बोली हिंदी की सरहदी बोली है। सयुक्तप्रात की झाँसी कमिश्नरी, मध्यभारत तथा हिंदुस्तानी मध्यप्रात मे बुदेली, बघेली तथा छत्तीसगढी के क्षेत्र है, जिन के केंद्र क्रम से झाँसी, रीवा तथा रायपुर है। इस सबध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी-क्षेत्र का विस्तार पश्चिम में राजस्थान तथा पूर्व में बिहार तक है, अत राजस्थानी तथा बिहारी भापाओं को हिंदी की उपभाषा कहा जा सकता है, और इन भाषाओ की बोलियो को भी एक प्रकार से हिंदी के अतर्गत माना जा सकता है। राजस्थानी तथा बिहारी बोलियो का सक्षिप्त विवेचन ऊपर दिया जा चुका है।

उ. हिंदी शब्दसमूह[1]

शब्दसमूह की दृष्टि से प्रत्येक भाषा एक प्रकार से खिचडी होती है। किसी भी भापा के सबध में यह नहीं कहा जा सकता कि वह अपने आदि विशुद्ध रूप मे आज तक

[1] चै०, बे० लै०, § १११-१२३। लि० स०, भूमिका, पृ० १२७ इ०

चली जाती है। भाषा के माध्यम की सहायता से दो व्यक्ति अथवा समुदाय अपने विचार एक-दूसरे पर प्रकट करते है अत भाषा का मिश्रित होना उस का स्वभाव ही समझना चाहिए। भापा के सबध में 'विशुद्ध' शब्द से केवल इतना ही तात्पर्य हो सकता है कि किसी विशेष काल अथवा देश में उस का वह विशेष रूप प्रचलित था या है। उन्ही अवस्थाओ में वह भापा विशुद्ध कहला सकती है। दूसरे देश अथवा उसी देश मे दूसरे काल में उसी भापा का रूप वदल जायगा, और तव इस परिवर्तित रूप को ही 'विशुद्ध' की उपाधि मिल सकेगी। यदि भरतपुर के गाँव में आजकल 'का खन उतरे है ह्या' कहना विशुद्ध भापा का प्रयोग करना है, तो मेरठ ज़िले में इसी पर लोगो को हँसी आ सकती है। मेरठ में 'कब उत्रे थे ह्या' ऐसा कहना ही शुद्ध भाषा का प्रयोग करना हो सकता है। भरतपुर के उसी गाँव में पाँच सौ वर्ष बाद यही बात किसी दूसरे 'विशुद्ध' रूप में कही जावेगी और पाँच सौ वर्ष पहले कदाचित् भिन्न 'विशुद्ध' रूप में कही जाती रही होगी। अत- अन्य समस्त भापाओ के समान ही हिंदी शब्दसमूह में भी अनेक जीवित तथा मृत भाषाओ का सग्रह मौजूद है।

साधारणतया हिंदी शब्दसमूह तीन श्रेणियो में विभक्त किया जा सकता है—

क भारतीय आर्यभाषाओ का शब्दसमूह।

ख भारतीय अनार्यभाषाओ से आए हुए शब्द।

ग विदेशी भापाओ के शब्द।

क. भारतीय आर्यभाषाओं का शब्दसमूह

१ तद्भव—हिंदी शब्दसमूह में सब से अधिक सख्या उन शब्दो की है जो प्राचीन आर्यभाषाओ से मध्यकालीन भापाओ में होते हुए चले आ रहे हैं। वैयाकरणो की परिभापा में ऐसे शब्दो को 'तद्भव' कहते हैं, क्योकि ये सस्कृत से उत्पन्न माने जाते थे। इन में से अधिकाश का सबध सस्कृत शब्दो से अवश्य जोडा जा सकता है, किंतु जिन शब्दो का सबध सस्कृत से नही जुडता उन में ऐसे शब्द भी हो सकते हैं जिन का उद्गम प्राचीन भारतीय आर्यभापा के ऐसे शब्दो से हुआ हो जिन का व्यवहार इस के साहित्यिक रूप सस्कृत में न होता हो। अत तद्भव शब्द का सस्कृत शब्द से सबध निकल आना अनिवार्य नही है। इस श्रेणी के शब्द प्राय मध्यकालीन भारतीय आर्यभापाओ में हो कर हिंदी तक पहुँचे हैं, अत इन में से अधिकाश के रूपो में बहुत परिवर्तन हो जाना स्वाभाविक है। जनता की बोलियो में तद्भव शब्द बहुत बडी सख्या में पाए जाते हैं। साहित्यिक हिंदी में इन की सख्या कम होती जाती है, क्योकि ये गवाँरू समझे जाते हैं। वास्तव में ये असली हिंदी

शब्द हैं और इन के प्रति विशेष ममता होनी चाहिए। कृष्ण की अपेक्षा कान्हा या कन्हैया हिंदी का अधिक सच्चा शब्द है।

२. तत्सम—साहित्यिक हिंदी में तत्सम अर्थात् प्राचीन भारतीय आर्यभाषा के साहित्यिक रूप अर्थात् संस्कृत के विशुद्ध शब्दो की संख्या सदा से अधिक रही है। आधुनिक साहित्यिक भाषा में तो यह संख्या और भी अधिक बढती जा रही है। इस का कारण कुछ तो भाषा की नवीन आवश्यकताए है किंतु अधिकतर विद्वत्ता प्रकट करने की आकाक्षा इस के मूल में रहती है। अधिकाश तत्सम शब्द आधुनिक काल मे हिंदी में आए है। कुछ तत्सम शब्द ऐसे भी है जो ऐतिहासिक दृष्टि से तद्भव शब्दो के बराबर ही प्राचीन हैं, किंतु ध्वनियो की दृष्टि से सरल होने के कारण इन में परिवर्तन करने की कभी आवश्यकता नही पडी। जो संस्कृत शब्द आधुनिक काल में विकृत हुए है वे 'अर्द्धतत्सम' कहलाते है, जैसे कान्ह तद्भव रूप है किंतु किशन अर्द्धतत्सम रूप है, क्योकि संस्कृत कृष्ण को लेकर यह आधुनिक समय में ही विगाड़ कर बनाया गया है।

बगाली, मराठी, पजाबी आदि आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ से आए हुए शब्द हिंदी में बहुत कम है, क्योकि हिंदी-भाषी लोगो ने संपर्क में आने पर भी इन भाषाओ को बोलने का कभी उद्योग नही किया। इन अन्य भाषाओ के शब्दसमूह पर हिंदी की छाप अधिक गहरी है।

ख. भारतीय अनार्यभाषाओं से आए हुए शब्द

हिंदी के तत्सम और तद्भव शब्दसमूह में बहुत से शब्द ऐसे हैं जो प्राचीन काल मे अनार्यभाषाओ से तत्कालीन आर्यभाषाओ में ले लिए गए थे। हिंदी के लिए ये वास्तव में आर्यभाषा के ही शब्दो के समान है। प्राकृत वैयाकरण जिन प्राकृत शब्दो को संस्कृत शब्दसमूह में नही पाते थे उन्हें 'देशी' अर्थात् अनार्य भाषाओ मे आए हुए शब्द मान लेते थे। इन वैयाकरणो ने बहुत से विगडे हुए तद्भव शब्दो को भी देशी समझ रक्खा था। तामिल, तेलगू आदि द्राविड या मुडा कोल आदि अन्य अनार्यभाषाओ से आधुनिक काल में आए हुए शब्द हिंदी मे बहुत कम हैं।

द्राविड भाषाओ से आए हुए शब्दो का प्रयोग हिंदी में प्राय बुरे अर्थों में होता है। द्राविड 'पिल्लै' शब्द का अर्थ पुत्र होता है, वही शब्द हिंदी में 'पिल्ला' हो कर कुत्ते के बच्चे के अर्थ में प्रयुक्त होता है। मूर्द्धन्य वर्णों से युक्त शब्द यदि सीधे द्राविड भाषाओ से नही आए है तो कम से कम उन पर द्राविड भाषाओ का प्रभाव तो बहुत ही पडा है। मूर्द्धन्य वर्ण द्राविड भाषाओ की विशेषता है। कोल भाषाओ का हिंदी पर प्रभाव उतना अस्पष्ट नही है। हिंदी में बीस-बीस कर के गिनने की प्रणाली कदाचित् कोल भाषाओ से आई

है। कोडी शब्द स्वय कोल भाषाओ से आया मालूम पडता है। इस तरह के कुछ शब्द और भी है।[1]

ग. विदेशी भाषाओं के शब्द

सैकडो वर्षों से विदेशी शासन मे रहने के कारण हिंदी पर कुछ विदेशी भाषाओ का प्रभाव भारतीय भापाओ की अपेक्षा भी अधिक पडा है। यह प्रभाव दो श्रेणियो में विभक्त किया जा सकता है (१) मुसलमानी प्रभाव, (२) यूरोपीय प्रभाव। किंतु दोनो प्रकार के प्रभावो मे सिद्धात के रूप से वहुत कुछ समानता है। मुसलमानो तथा अग्रेजो दोनो के शासक होने के कारण एक ही ढग का शब्दसमूह इन की भापाओ से हिंदी में आया है। विदेशी शब्दो को हम दो मुख्य श्रेणियो में रख सकते है—

(क) विदेशी सस्थाओ में जैसे कचहरी, फौज, स्कूल, धर्म आदि से सवध रखने वाले शब्द।

(ख) विदेशी प्रभाव के कारण आई हुई नई वस्तुओ के नाम, जैसे नए पहनावे, खाने, यत्र तथा खेल आदि की वस्तुओ के नाम।

१. फारसी, अरबी, तुर्की तथा पश्तो शब्द—१००० ई० के लगभग फारसी वोलनेवाले तुर्कों ने पजाव पर कब्ज़ा कर लिया था अतः इन के प्रभाव से तत्कालीन हिंदी प्रभावित होने लगी थी। रासो तक में फ़ारसी शब्दो की सख्या कम नही है। १२०० ई० के वाद लगभग ६०० वर्ष तक हिंदी-भाषी जनता पर तुर्क, अफग़ान, तथा मुगलो का शासन रहा अत इस समय सैकडो विदेशी शब्द गाँव की वोली तक में घुस आए। तुलसी और सूर जैसे वैष्णव महाकवियो की विशुद्ध हिंदी भी विदेशी शब्दो के प्रभाव से मुक्त नही रह सकी। हिंदी में प्रचलित विदेशी शब्दो में सव से अधिक सख्या फ़ारसी शब्दो की है, क्योकि समस्त मुसलमान शासको ने, चाहे वे किसी भी नसल के क्यो न हो, फारसी को ही दरवारी तथा साहित्यिक भापा की तरह अपना रक्खा था। अरवी तथा तुर्की[2] आदि के जो शब्द हिंदी मे मिलते है वे फ़ारसी से होकर ही हिंदी में आए हैं।

---

[1] वगाली में प्रयुक्त टवर्ग से युक्त देशी शब्दो के लिए देखिए चै०, बे० लैं०, § २६८-२७२

[2] हिंदुस्तान के ग़ज़नी, ग़ोर और ग़ुलाम आदि आरभ के वशो के मुसलमानी बादशाहों तथा भारतीय मुग़ल साम्राज्य के सस्थापक वावर की मातृभाषा मध्य-एशिया की तुर्की भाषा थी। टर्की की तुर्की इसी तुर्की की एक शाखा मात्र है। इस्लाम धर्म तथा ईरानी सभ्यता के प्रभाव के कारण इन तुर्की वोलने वाले वादशाहो के समय में भी उत्तर-भारत

२. यूरोपीय भाषाओ के शब्द—लगभग १५०० ई० से यूरोप के लोगो का भारत में आना-जाना प्रारभ हो गया था, किंतु करीब तीन सौ वर्ष तक हिंदी-भाषी इन के संपर्क मे अधिक नही आए, क्योकि यूरोपीय लोग समुद्र के रास्ते से भारत मे आए थे, अत इन का कार्यक्षेत्र प्रारभ में समुद्र-तटवर्ती प्रदेशो में ही विशेष रहा। इसी कारण प्राचीन हिंदी साहित्य में यूरोपीय भाषाओ के शब्द नही के बराबर हैं। १८०० ई० के लगभग हिंदी-भाषी प्रदेश मुगलो के हाथ से निकल कर अग्रेज़ी शासन में चला गया। गत सवा-सौ वर्षों मे हिंदी शब्द-समूह पर अग्रेज़ी भाषा का पर्याप्त प्रभाव पडा है।[1]

सपर्क में आने पर भी आवश्यक विदेशी शब्दो को अछूत-सा मान कर न अपनाना अस्वाभाविक है। यत्न करने पर भी यह कभी सभव नही हो सका है। अनावश्यक विदेशी

में इस्लामी साहित्य की भाषा फारसी और इस्लामी धर्म की भाषा अरबी रही, तो भी भारतीय फारसी पर तथा उस के द्वारा आधुनिक आर्यभाषाओ पर तुर्की शब्दसमूह का कुछ प्रभाव अवश्य पडा। हिंदी में प्रचलित तुर्की शब्दो की एक सूची नीचे दी जा रही है:—

आका (मालिक), उजबक (मूर्ख), उर्दू, कलगी, कैंची, काबू, कुली, कोर्मा, ख़ातून (स्त्री), ख़ा, ख़ानुम (स्त्री), गलीचा, चकमच (पत्थर), चाकू, चिक, तमगा, तगार, तुरुक, तोप, दरोग़ा, बख़्शी, बावर्ची, बहादुर, बीबी, बेगम, बकचा, मुचलका, लाश, सौगात, सुराकची, (जैसे मशालची, ख़जाची, इत्यादि)।

पठान और रोहिला (रोह=पहाड़) शब्द पश्तो के हैं।

[1] हिंदी के विदेशी शब्द-समूह में फारसी के बाद अग्रेज़ी शब्दो की सख्या सब से अधिक है। अब भी नए अग्रेज़ी शब्द आ रहे हैं। अतः इन की पूर्ण सूची बन सकना अभी संभव नहीं है। तो भी अग्रेज़ी विदेशी शब्दो की एक विस्तृत सूची नीचे दी जा रही है। इन शब्दो में से कुछ तो गाँवो तक में पहुँच गए हैं। इस सूची में बहुत से शब्द ऐसे भी है जो अग्रेज़ी संस्थाओ या अग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगो से सपर्क में आने के कारण केवल शहरो के रहनेवाले बेपढे लोगो के मुँह से ही सुन पड़ते हैं। कुछ शब्द कई रूपो में व्यवहृत होते हैं, किंतु उन का अधिक प्रचलित रूप ही दिया गया है।

अंजन, अक्तूबर, अगिन (?) बोट, अगस्त, अर्टेलियन, अपर-प्रैमरी, अपील, अप्रैल, अफसर, अमरीका, अर्दली, अलबम, अस्पताल, अस्तबल, असवली।

आइलैंण्ड, आपरेशन, आर्डर, आफिस।

इसपेक्टर, इंच, इजीनियर, इंटर, इट्रैंस, इटली, इनकमटैक्स, इस्टेचर, इस्प्रेस,

शब्दो का प्रयोग करना दूसरी अति है। मध्यम मार्ग यही है कि अपनी भाषा के ध्वनि-समूह के आधार पर विदेशी शब्दो के रूपो में परिवर्तन करके उन्हें आवश्यकतानुसार सदा

इस्काउट, इस्काटलैंड, इस्कूल, इस्पिरिट, इस्पेन, इस्पेशल, इस्टूल, इस्टीमर, इस्क्रू, इस्प्रिंग, इस्टाम, इस्पीच, इस्पेलिंग, एजंट, एजंसी, एरन, ए० फे०, ए० मे०, एडवर्ड, ऐक्ट, ऐक्टर, ऐक्टिंग, ऐल-क्लाथ, ओवरकोट, ओवरसियर, औंट।

कलट्टर, कमिश्नर, कमीशन, कंपनी, कलंडर, कंपौंडर, कफ, कट-पीस, कर्नैल, कमेटी, कटूर्नामिंट, कस्टरऐल, कपू, कान्फ्रेंस, कापी, कालर, काँजी (?) हौज, काग, कारड, कार्निस, कांग्रेस, कामा, कालिज, कानिस्टबल, क्वाटर, किलब, किरकिट, किलास, किलर्क, किलिप, कुल्तार, कुइला, कूपन, कुनैन, केक, केतली, कैंच, (-ओट), कोट, कोरम, कोरट, कोको-जम (कोको—पुर्तगाली), कोको, कोचवान, कौंसिल।

गजट, गर्डर, गाटर, गार्ड, गिरमिट, गिलास, गिलट, गिन्नी, गोपाल, (वार्निश) गेट, गेटिस, गैस, गौन।

घासलेटी।

चाक, चाकलेट, चिमनी, चिक, चुरट, (तामिल—शुरुट्ट) चेर, चेरमैन, चैन।

जंटलमैन, जंट, जंपर, जमनास्टिक, जज, जर्मनी, जर्नैल, जनवरी, जर्नलमर्चंट, जाकट, जार्ज, जुलाई, जून, जेल, जेलर।

टन, टब, ट्रक, ट्राली, ट्राइस्किल, ट्रावे, टिकट, टिकस, टिमाटर, टिंपरेचर, टिफिन, टीम, टीन, टुइल, टयूब, टेम, टेनिस, टेबिल, टेसन, टेलीफून, ट्रेन, टैर, टैंप, टैमटेबिल, टोल, टौनहाल।

ठेठर।

डबल, डबलमार्च, डंबल, डाक्टर, ड्रामा, डायरी, डिक्शनरी, डिप्टी, डिस्टिकबोर्ड, डिगरी, डिरेंवर, डिमारिज, डिकस, डिपलोमा, डिउटी, ड्रिल, डीपो, डेरी, डैमनकाट, डौन।

तारकोल।

थर्ड, थर्मामिटर।

दर्जन, दलेल, (ड्रिल) दराज, दिसंबर।

नर्स, नकटाई, नववर, नंबर, नाविल, निकर, निव, निकलस, नोट, नोटिस, नोटवुक।

पसिंजर, पल्टन, परेड, पलस्तर, पतलून, पचर, पप, पाकट, पारक, पालिस, पार्टी, पापा, पाट, पार्सल, पास, प्राइमरी, पिलाट, पिलीडर, पिंसन, पिंसिल, पियानो,

मिलाते रहना चाहिए। इस प्रकार शुद्धि करने के उपरात लिए गए विदेशी शब्द जीवित भापाओ के शब्द, भडार को वढ़ाने मे सहायक ही होते है।

पिलेट, पिलेट फारम, पिट्रोल, पिन, पिपरमेंट, पिलेग, पुल्टिस, पुरफेसर, पुलिस, पुर्तगाल, पुटीन, पेटीकोट, प्रेस, प्रेसीडेंट, पैसा, पैप, पैंट, पैटमैन, पोलो, पोसकाट, पौंड, पौंडर।

फर्मा, फर्स्ट, फलालैन, फरवरी, फरलांग, फारम, फिरास, फिनैल, फिटन, फिराक, फीस, फुटवाल, फुलबूट, फुट, फेल, फ्रेम, फैर, फैसन, फैसनेबिल, फोटो, फोटोगिराफी, फोनोग्राफ।

बंक, बस, वटेलियन, वराडी, वटन, वकस, बग्घी, बंबूकाट, वनयाइन, वाडिस, वारिक, बालिस्टर, वास्कट, बिल्टी, बिलाटिंग, बिगुल, बिरजिस, बिरटिस, बिरग, बिलूबिलैक, बिच, बी० ए०, बुक्सेलर, बुलडाग, बुरुस, बूट, वेड, वैरग, बैस्कोप, वैस्किल, बैट, वैरा, वोट, वोरड, वोडिंग।

मसीन, मजिस्ट्रेट, मनीवेग, मनीआर्डर, मई, मन, मफलर, मलेरिया, मसीनगन, मनेजर, मटन, माचिस, मास्टर, मार्च, मानीटर, मारकीन, मिस, मिनीसुपिल्टी, मिनट, मिस्मरेजम, मिल, मिसनरी, मिक्सचर, मीटिंग, मेजर, मेंवर, मेट, मेम, मोटर।

रगरूट, रवड, रसीद, रपट, रन, रजीमिंट, रासन, रिजिस्ट्री, रिजिस्टर, रिजिस्ट्रार, रिजल्ट, रिटाइर, रिवालवर, रिकार्ड, रिविट, रीडर, रूल, रेजीडेन्सी, रेस, रेल, रैकेट, रैफिल, रोट।

लंकलाट, लंप, लफटट, लमलेट, लबर, लवंडर, लच, लाटरी, लाट, लाइब्रेरी, लालटैन, लान, लेट, लेटरवक्स, लेक्चर, लेबिल, लैडो, लैन, लैनकिलियर, लैसस, लैस, लैमजूस, लैमुनेड, लोट (नोट), लोकल, (गाड़ी) लोअर-प्रैमरी।

वारनिश, वास्कट, वाइल, वारट, वायलिन, वालटियर, वाइसराय, विक्टोरिया, वी० पी०, वेटिंरूम, वोट, वैसलीन।

सम्मन, सर्जन, सरज, संटर, जेल सतरी, सरकस, सब- (जज), सरविस, सार्टीफिकट, साइंस, सिगरट, सिलिंग, सिल्क, सिमिंट, सितंबर, सिकत्तर, सिंगल, सिलीपर, सिलेट, सिट, (वटन), सिविल सर्जन, सुइटर, सुपरडट, सूट, सूटकेस, सेशन, सेफटीपिन, सेकिंड, सैंपुल, सोप, सोडावाटर।

हरीकेन (लालटैन), हाईकोर्ट, हाई इस्कूल, हारमुनियम, हाकी, हाल, हाल्ट, हाप साइड, हिट, हिस्टीरिया, ह्विस्की, हिब्रू, हुड, हुक, हुर्रे, हेडमास्टर, हैट, होलडर, होटस्ल, होस्टल, होमोपैथी।

कुछ पुर्तगाली[1], डच, तथा फ्रांसीसी[2] शब्द भी हिंदी ने ऐसे अपना लिए है कि वे सहसा विदेशी नही मालूम होते।

ऊ. हिंदी भाषा का विकास

यह ऊपर वतलाया जा चुका है कि १००० ईसवी के वाद मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा के अतिम रूप अपभ्रश भाषाओ ने धीरे-धीरे वदल कर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओ का रूप ग्रहण कर लिया और गगा की घाटी में प्रयाग या काशी तक बोली जानेवाली शौरसेनी और अर्द्धमागधी अपभ्रशो ने हिंदी भाषा के समस्त प्रधान रूपो को जन्म दिया। गत एक सहस्र वर्ष में हिंदी भाषा किस तरह विकसित होती गई तथा उस के अध्ययन के लिए क्या सामग्री उपलब्ध है, इसी का यहा सक्षेप में वर्णन करना है।

---

[1] हिंदी में कुछ पुर्तगाली शब्द भी आगए है, किंतु इन की सख्या बहुत अधिक नहीं है। पुर्तगाली शब्दो का इतनी सख्या में भी हिंदी में पाया जाना आश्चर्यजनक है। हिंदी में प्रचलित पुर्तगाली शब्दो की सूची नीचे दी जा रही है :—

अनन्नास, अल्मारी, अचार, आलपीन, आया, इस्पात, इस्त्री, कमीज, कप्तान, कनिस्तर, कमरा, काज, काफी, काजू, काकातुआ, क्रिस्तान, किरच, गमला, गारद, गिर्जा, गोभी, गोदाम, चाबी, तवाकू, तौलिया, तौला, नीलाम, परात, परेक, पाउ (-रोटी), पादरी, पिस्तौल, पीपा, फर्मा, फीता, फ़ासीसी, वर्गा, वपतिस्मा, वालटी, विसकुट, वुताम, वोतल, मस्तूल, मिस्त्री, मेज़, यशू, लवादा, संतरा, साया, सागू।

वगाली भाषा में आने पर पुर्तगाली शब्दो के ध्वनि-परिवर्तन-सवधी विस्तृत विवेचन के लिए देखिए चै०, वे० लैं०, अ० ७

[2] पुर्तगाल के लोगो की अपेक्षा फ़ासीसियो से हिंदुस्तानियो का कुछ अधिक सपर्क रहा था किंतु फ्रासीसी शब्द हिंदी में दो चार से अधिक नहीं है। यही अवस्था डच भाषा के शब्दो की है। इन के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते है।

फ्रासीसी :—कार्तूस, कूपन, अग्रेज़।

डच :—तुरुप, वम (गाड़ी का)।

जर्मन आदि अन्य यूरोपियन भाषाओ के शब्द हिंदी में कदाचित् विल्कुल नहीं है। कम से कम अभी तक पहचाने नहीं जा सके है। 'अलमका' शब्द यदि अग्रेज़ी से नहीं आया है तो स्पैनिश हो सकता है।

हिंदी भाषा के विकास का इतिहास साधारणतया तीन मुख्य कालो मे विभक्त किया जा सकता है —

(क) प्राचीन काल (११००-१५०० ई०), जब अपभ्रंश तथा प्राकृतो का प्रभाव हिंदीभाषा पर मौजूद था तथा साथ ही हिंदी की बोलियो के निश्चित स्पष्ट रूप विकसित नही हो पाए थे।

(ख) मध्यकाल (१५००-१८०० ई०), जब हिंदी से अपभ्रंशो का प्रभाव बिल्कुल हट गया था और हिंदी की बोलिया, विशेषतया व्रज और अवधी, अपने पैरो पर स्वतन्त्रतापूर्वक खडी हो गई थी।

(ग) आधुनिक काल (१८०० ई०—), जब से हिंदी की बोलियो के मध्यकाल के रूपो मे परिवर्तन आरभ हो गया है, तथा साहित्यिक प्रयोग की दृष्टि से खडीबोली ने हिंदी की अन्य बोलियों को दबा दिया है।

इन तीनो कालो को क्रम से लेकर तत्कालीन परिस्थिति, भाषा-सामग्री तथा भाषा के रूप पर सक्षेप में नीचे विचार किया गया है।

क. प्राचीन काल[1]

(११००–१५०० ई०)

हिंदी भाषा का इतिहास जिस समय प्रारभ होता है उस समय हिंदी प्रदेश तीन राज्यो मे विभक्त था, और इन्ही तीन केंद्रो से हम हिंदी भाषा सबधी सामग्री पाने की आशा कर सकते हैं। पश्चिम मे चौहान-वश की राजधानी दिल्ली थी। पृथ्वीराज के समय में अजमेर का राज्य भी इस में सम्मिलित हो गया था। दिल्ली राज्य की सीमाए पश्चिम मे पजाब के मुसलमानी राज्य से मिली हुई थी। दक्षिण-पश्चिम मे राजस्थान के राजपूत राज्यो से इस की घनिष्टता थी, किंतु पूरब की सीमा पर सदा घरेलू युद्ध होते रहते थे। नरपति नाल्ह तथा चद कवि का सबध क्रम से अजमेर और दिल्ली से था। चौहान राज्य के पूर्व मे राठौर वश की राजधानी कन्नौज थी और इस राज्य की सीमाए अयोध्या तथा काशी तक चली गई थी। कन्नौज के अतिम सम्राट् जयचद का दरबार साहित्य-चर्चा का मुख्य केंद्र था किंतु यहा 'भाषा' की अपेक्षा 'सस्कृत' तथा 'प्राकृत' का कदाचित् विशेष आदर

---

[1] ११०० ईसवी से पहिले की हिंदीभाषा की प्रामाणिक सामग्री अभी उपलब्ध नहीं है। 'मिश्रबंधुविनोद' में दिए हुए ११०० ईसवी के पहले के कवियो के नाम वास्तव में नाम मात्र है। जब तक भाषा के कुछ प्रामाणिक नमूने न मिलें तब तक इन नामो का उल्लेख करना व्यर्थ है। १००० ई० के पहले तो हिंदीभाषा का अस्तित्व भी सदिग्ध है।

था। सस्कृत के अतिम महाकाव्य नैपध के लेखक श्रीहर्ष जयचद के दरवार मे ही राजकवि थे। कन्नौज के दरवार में भापा-साहित्य की चर्चा भी रही होगी किंतु प्राचीन कन्नौज नगर के पूर्ण-रूप से नष्ट हो जाने के कारण इस केंद्र की सामग्री अव विल्कुल भी उपलव्ध नही है। इन दो राज्यो के दक्षिण में महोवा का प्रसिद्ध राज्य था। महोवा के राजकवि जगनायक या जगनिक का नाम तो आज तक प्रसिद्ध है, किंतु इस महाकवि की मूल कृति का अव पता नही चलता।

११९१ ई० तक मध्यदेश के ये तीनो अतिम हिंदू राज्य मौजूद थे, किंतु इस के वाद दस-वारह वर्ष के अदर ही ये तीनो राज्य नष्ट हो गए। ११९१ में मुहम्मद गोरी ने पानी-पत के निकट पृथ्वीराज को हरा कर दिल्ली पर अधिकार कर लिया। अगले वर्ष इटावा के निकट जयचद की हार हुई और कन्नौज से लेकर काशी तक का प्रदेश विदेशियो के हाथो में चला गया। शीघ्र ही महोवा पर भी मुसलमानो ने कव्जा कर लिया। इस तरह समस्त हिंदी प्रदेश पर विदेशी शासको का आधिपत्य हो गया। विकसित होती हुई नवीन भाषा के लिए यह वडा भारी धक्का था जिस के प्रभाव से हिंदी अव तक भी मुक्त नही हो सकी है। हिंदी भाषा के इतिहास के सपूर्ण प्राचीन काल में मध्यदेश पर तथा उस के वाहर शेष उत्तर-भारत पर भी तुर्की मुसलमानो का साम्राज्य कायम रहा (१२०६-१५२६ ई०) इन सम्राटो की मातृभाषा तुर्की थी तथा दरवार की भाषा फारसी थी। इन विदेशी शासको की रुचि जनता की भाषा तथा सस्कृत के अध्ययन करने की ओर विल्कुल भी न थी अत तीन सौ वर्ष से अधिक इस साम्राज्य के कायम रहने पर भी दिल्ली के राजनीतिक केंद्र से हिंदी भाषा की उन्नति में विल्कुल भी सहायता नही मिल सकी। इस काल में दिल्ली में केवल अमीर खुसरो ने मनोरजन के लिए भापा से कुछ प्रेम दिखलाया था। इस काल के अतिम दिनो में पूर्वी हिंदुस्तान में धार्मिक आदोलनो के कारण भापा मे कुछ काम हुआ, किंतु इस का सवध तत्कालीन राज्य से विल्कुल भी न था। राज्य-की ओर से सहायता की अपेक्षा कदाचित् वाधा ही विशेष मिली। इस प्रकार के आदोलन में गोरखनाथ, रामा-नद तथा उन के प्रमुख शिष्य कवीर के सप्रदाय उल्लेखनीय है।

हिंदी भाषा के इस प्राचीन काल की सामग्री नीचे लिखे भागो मे विभक्त की जा सकती है —

१ शिलालेख, ताम्रपत्र, तथा प्राचीन पत्र आदि;

२ अपभ्रश काव्य,

३ चारण-काव्य, जिन का आरभ गगा की घाटी में हुआ था, किंतु राजनीतिक उथल-पुथल के कारण वाद को जो प्राय राजस्थान में लिखे गए, तथा

४ धार्मिक ग्रथ व अन्य काव्य-ग्रथ।

विदेशी शासन होने के कारण इस काल मे हिंदी भापा में लिखे शिलालेखो तथा

ताम्रपत्रो आदि के अधिक सख्या में पाए जाने की सभावना बहुत कम है। इस सबंध में विशेष खोज भी नही की गई है, नही तो कुछ सामग्री अवश्य ही उपलब्ध होती[1]। हिंदी के सब से प्राचीन नमूने पृथ्वीराज तथा समरसिंह के दरबारो से सबध रखनेवाले पत्रो के रूप में समझे जाते थे, जिन को नागरी-प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया था, किंतु ये अप्रामाणिक सिद्ध हुए।

पडित चद्रधर शर्मा गुलेरी ने 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग २, अक ४ में 'पुरानी हिंदी' शीर्षक लेख में जो नमूने दिए है वे प्राय गगा की घाटी के बाहर के प्रदेशो में बने ग्रथो के हैं, अत इन में हिंदी के प्राचीन रूपो का कम पाया जाना स्वाभाविक है। अधिकाश उदाहरणो मे प्राचीन राजस्थानी के नमूने मिलते हैं। इस के अतिरिक्त इन उदाहरणो की भाषा मे अपभ्रश का प्रभाव इतना अधिक है कि इन ग्रथो को इस काल के अपभ्रश साहित्य[2] के अतर्गत रखना अधिक उचित मालूम होता है। पडित रामचद्र शुक्ल ने अपने 'हिंदी साहित्य के इतिहास' मे ऐसा किया भी है। तो भी इन नमूनो से अपनी भाषा की पुरानी परिस्थिति पर बहुत कुछ प्रकाश पडता है।

इस काल की भाषा के नमूनो का तीसरा समूह चारण, धार्मिक तथा लौकिक काव्य-ग्रथो मे मिलता है।[3] भाषाशास्त्र की दृष्टि से इन ग्रथो की भाषा के नमूने अत्यत

---

[1] मध्यप्रांत के हिंदी शिलालेखो के संबंध में देखिए श्री हीरालाल का 'हिंदी के शिलालेख और ताम्रलेख' शीर्षक लेख (ना० प्र० प०, भा० ६, सं० ४)।

[2] इस प्रकार के प्रामाणिक ग्रंथो में हेमचद्र-रचित 'कुमारपालचरित' तथा 'सिद्ध हेमव्याकरण' सब से प्राचीन है। हेमचंद्र की मृत्यु ११७२ ई० में हुई थी, अतः इन ग्रथों का रचनाकाल इस के पूर्व ठहरेगा। सोम-प्रभाचार्य का 'कुमारपाल-प्रतिबोध' ११८४ ई० में लिखा गया था। इस में कुछ सोमप्रभाचार्य के स्वरचित उदाहरण तथा कुछ प्राचीन उदाहरण मिलते है। जैन आचार्य मेरुतुग ने 'प्रबध-चिंतामणि' नाम का सस्कृत ग्रथ १३०४ ई० में बनाया था। इस में कुछ प्राचीन पद्य उद्धृत मिलते है, जो अपभ्रंश और हिंदी की बीच की अवस्था के द्योतक हैं। 'शार्ङ्गधर-पद्धति' शार्ङ्गधर कवि द्वारा सगृहीत सुभाषित ग्रथ है, जिस में शाबर-मंत्र और चित्रकाव्य में कुछ भाषा के शब्द आए हैं। शार्ङ्गधर रणथभोर के महाराज हम्मीरदेव (मृत्यु १३०० ई०) के मुख्य सभासद राघवदेव का पोता था, अतः यह चौदहवी सदी ईसवी के मध्य में हुआ होगा।

[3] इस प्रकार के मुख्य-मुख्य लेखको तथा उन के प्रकाशित ग्रथो की सूची निम्न-लिखित है :—

१ नरपति नाल्ह : 'वीसलदेवरासो' (११५५ ई०)—जिन हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर यह ग्रथ छापा गया है वे १६१२ और १६०२ ईसवी की लिखी हैं।

सदिग्ध है। इन में से किसी भी ग्रथ की इस काल की लिखी प्रामाणिक हस्तलिखित प्रति उपलब्ध नही है। बहुत दिनो मौखिक रूप में रहने के बाद लिखे जाने पर भाषा में परिवर्तन का हो जाना स्वाभाविक है, अत हिंदी भाषा के इतिहास की दृष्टि से इन ग्रथो के नमूने बहुत मान्य नही हो सकते। इस काल की भाषा के अध्ययन के लिए या तो पुराने

मूलग्रंथ के अजमेर में लिखे जाने के कारण इस की भाषा का राजस्थानी होना स्वाभाविक है। कहीं-कहीं कुछ खडीबोली के रूप भी पाए जाते है।

२ चद . 'पृथ्वीराजरासो'—चद का कविता-काल ११६८ से ११९२ ई० तक माना जाता है। वर्तमान 'पृथ्वीराजरासो' में कितना अश चद का रचा है, इस विषय में विद्वानो को बहुत सदेह है। वर्तमान रासो में अपभ्रश, खड़ीबोली तथा राजस्थानी का मिश्रण दिखलाई पडता है।

३ खुसरो: फुटकर काव्य—'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग २, अक ३ में 'खुसरो की हिंदी कविता' शीर्षक से बाबू ब्रजरत्नदास ने खुसरो की जीवनी तथा हिंदी काव्य-सग्रह दिया है। खुसरो का समय १२५५-१३२५ ईसवी है। इनके सब प्रसिद्ध ग्रथ फारसी में है। इन की हिंदी कविता के नमूने का आधार एक मात्र जनश्रुति है। आधुनिक काल में लेखबद्ध किए जाने के कारण खुसरो की हिंदी आधुनिक खडीबोली हो गई है। 'खालिकबारी' नाम के अरबी-फारसी-हिंदी कोष में कुछ अश हिंदी में हैं, किंतु यह ग्रथ भी अपूर्ण है।

४ गोरख-पथ के सस्थापक गोरखनाथ के समय के सबध में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वानो के अनुसार ये १३५० ई० के लगभग हुए थे। इन के कई ग्रथ खोज में मिले है, किंतु प्रकाशित अभी तक कदाचित् एक ही गथ हुआ है। इन का लिखा एक ब्रजभाषा गद्य का ग्रथ भी माना जाता है, इसी लिए ये ब्रजभाषा गद्य के प्रथम लेखक समझे जाते है, किंतु जब तक यह ग्रथ तथा अन्य ग्रंथ सप्रमाण प्रकाशित न हो तब तक निश्चित रूप से इन की भाषा के सबध में कुछ भी कहना सभव नहीं है।

५. विद्यापति (जन्म १३६२ ई०) का भाषा-पदसमूह अभी कुछ ही समय पूर्व सग्रह किया गया है। इन पदों में मिथिला में सगृहीत पदो की भाषा मैथिली है तथा बगाल में सगृहीत पदसमूह की भाषा बंगाली है। इन के किसी भी वर्तमान सग्रह की भाषा पन्द्रहवीं शताब्दी के आरभ की नहीं मानी जा सकती। विद्यापति के 'कीर्तिलता' नाम के ग्रथ की भाषा अपभ्रश है। इन के अन्य ग्रथ प्राय. सस्कृत में है।

६. कबीरदास (१४२३ ई०) तथा उन के गुरुभाई सतो की भाषा के संबध में भी निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। साधारणतया सतो की वाणी मौखिक रूप में परपरा से चली आई है, अत उन की भाषा में नवीनता का प्रवेश होता रहना स्वा-

लेखो से सहायता लेना उपयुक्त होगा या ऐसी हस्तलिखित प्रतियो से जो १५०० ईसवी से पहले की लिखी हो।

ख. मध्यकाल

(१५००-१८०० ई०)

१५०० ई० के वाद देश की परिस्थिति में एक वार फिर भारी परिवर्तन हुए। १५२६ ई० के लगभग शासन की वागडोर तुर्की सम्राटो के हाथ से निकल कर मुगल शासको के हाथ में चली गई। बीच में कुछ दिनो तक सूरवश के राजाओ ने भी राज्य किया। इस परिवर्तन-काल में राजपूत राजाओ ने गगा की घाटी पर अधिकार जमाना चाहा, किंतु वे इस में सफल न हो सके। मुगल तथा सूरवश के सम्राटो की सहानुभूति जनता की सभ्यता को समझने की ओर तुर्कों की अपेक्षा कुछ अधिक थी। देश मे शाति रहने तथा राज्य की ओर से कम उपेक्षा होने के कारण इस काल मे साहित्यचर्चा भी विशेष हुई। वास्तव मे यह काल हिंदी साहित्य का स्वर्णयुग कहा जा सकता है।

प्राचीन हिंदी के अवधी और व्रजभाषा के दो मुख्य साहित्यिक रूपो का विकास सोहलवी सदी में ही प्रारभ हुआ। इन दोनो में व्रजभाषा तो समस्त हिंदी प्रदेश की साहित्यिक भाषा हो गई, किंतु अवधी में लिखे गए 'रामचरितमानस' का हिंदी जनता मे सब से अधिक प्रचार होने पर भी साहित्य के क्षेत्र में अवधी भाषा का प्रचार नही हो सका। अवधी मे लिखे गए ग्रथो में दो मुख्य हैं—जायसी-कृत 'पद्मावत' (१५४० ई०) जो शेरशाह सूर के शासन-काल में लिखा गया था, और तुलसी-कृत 'रामचरितमानस' (१५७५ ई०) जो अकवर के शासन-काल में लिखा गया था। इन दोनो ग्रथो की वहुत-सी प्राचीन हस्तलिखित प्रतिया मिली हैं। यद्यपि इन दोनो ग्रथो का शास्त्रीय रीति से सपादन अभी तक नही हो पाया है, किंतु तो भी नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित सस्करण वहुत अंश में मान्य है। सोलहवी सदी के वाद अवधी में कोई भी प्रसिद्ध ग्रथ नही लिखा गया।

वल्लभाचार्य के प्रोत्साहन से सोलहवी सदी के पूर्वार्द्ध मे व्रजभाषा में साहित्य-रचना प्रारभ हुई। हिंदी साहित्य की इस शाखा का केंद्र पश्चिम मध्यदेश मे था अत

भाविक है। सभा की ओर से कवीर के ग्रथो का जो संग्रह छपा है उस की प्रतिलिपि यद्यपि १५०४ ई० की लिखी हस्तलिखित प्रति के आधार पर तैयार की गई है, किंतु उस में पंजावीपन इतना अधिक है कि उस के काशी में रहनेवाले कवीरदास की मूलवाणी होने में वहुत सदेह मालूम होता है।

व्रजभापा साहित्य को धर्म के साथ-साथ विदेशी तथा देशी राज्यो की सरक्षता भी मिल सकी। सूरदास के ग्रथ कदाचित् १५५० ई० तक रचे जा चुके थे किंतु 'सूरसागर' की १७४१ ई० से पहले की लिखी कोई हस्तलिखित प्रति अभी देखने में नही आई है। अत भाषा की दृष्टि से वर्तमान 'सूरसागर' मे कहा तक सोलहवी सदी की व्रजभाषा है यह निश्चयपूर्वक नही कहा जा सकता। तुलसीदास ने भी 'विनयपत्रिका' तथा 'गीतावली' आदि कुछ काव्यो में व्रजभाषा का प्रयोग किया है। अष्टछाप-समुदाय के दूसरे महाकवि नददास के ग्रथ भी साहित्यिक व्रजभापा में है, किंतु इन का भी शुद्ध प्रामाणिक सस्करण अभी अप्राप्य है। सत्रहवी तथा अठारहवी शताब्दी में प्राय समस्त हिंदी साहित्य व्रज-भाषा में लिखा गया है। व्रजभाषा का रूप दिन-दिन साहित्यिक, परिष्कृत तथा सस्कृत होता चला गया है। विहारी और सूरदास की व्रजभापा में वहुत-भेद है। बुदेलखड तथा राजस्थान के देशी राज्यो से सपर्क में आने के कारण इस काल के वहुत से कवियो की भापा में जहा-तहा वुदेली तथा राजस्थानी बोलियो का प्रभाव आ गया है। उदाहरण के लिए केशवदास (१६०० ई०) की व्रजभाषा में वुदेली प्रयोग वहुत मिलते है। यह खेद के साथ कहना पड़ता है कि विहारी की 'सतसई' तथा एक दो अन्य ग्रथो को छोड कर किसी भी प्राचीन ग्रथ का सपादन पूर्ण परिश्रम के साथ अभी तक नही हो पाया है। अत भाषा की दृष्टि से प्राय समस्त व्रजभापा ग्रथ-समूह सदिग्धावस्था मे है। भाषा का अध्ययन विना मान्य सस्करणो के नहीं हो सकता।

मध्यकाल तथा प्राचीनकाल के ग्रथो में जहा-तहा खडीवोली के रूप भी विखर पडे है। रासो, कवीर, भूपण आदि में वरावर खडीवोली के प्रयोग वर्तमान है। इस से यह तो स्पप्ट ही है कि खडीवोली का अस्तित्व प्रारभ ही से था, यद्यपि इस वोली का प्रयोग हिंदू कवि और लेखक साहित्य मे विशेप नही करते थे। यह मुसलमानी वोली समझी जाती थी क्योकि दिल्ली-आगरे की तरफ मुसलमान जनता में तथा कुछ-कुछ मुसलमान लेखको द्वारा लिखे गए साहित्य में इस का प्रयोग प्रचलित था। मुसलमानो द्वारा इस का साहित्य में प्रयोग अठारहवीं सदी के प्रारभ से विशेप हुआ। इस से पहले मुसलमान कवि भी यदि भाषा मे कविता करते थे तो अवधी या व्रजभापा का व्यवहार करते थे। जायसी, रहीम आदि इस के स्पष्ट उदाहरण है। खडीवोली उर्दू के प्रथम प्रसिद्ध कवि हैदरावाद (दक्खिन) के वली माने जाते है। इन का कविता-काल अठारहवी सदी के पूर्वार्द्ध में पडता है। अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में वहुत से मुसलमान कवियो ने काव्य-रचना करके खड़ीवोली उर्दू को परिमार्जित साहित्यिक रूप दिया। उन कवियो मे मीर, सौदा, इशा, ग़ालिव, ज़ौक और दाग़ उल्लेखनीय है।

ग. आधुनिक काल

(१८०० ई०—)

अठारहवी सदी के अंत से ही परिवर्तन के लक्षण प्रारभ हो गए थे। मुगल साम्राज्य के निर्बल हो जाने के कारण अठारहवी सदी के उत्तरार्द्ध मे तीन बाहर की शक्तियो में हिंदी-प्रदेश पर अधिकार करने की प्रतिद्वद्विता हुई—ये थे मराठा, अफगान और अग्रेज़। १७६१ ई० में मध्यदेश की पश्चिमी सरहद पर पानीपत के तीसरे युद्ध में अफगानो के हाथ से मराठो को ऐसा भारी धक्का पहुँचा कि वे फिर शक्तिसचय नही कर सके। किंतु अफगानो ने भी इस विजय से लाभ नही उठाया। तीन वर्ष बाद १७६४ ई० में हिंदी-प्रदेश की पूर्वी सीमा पर बक्सर के निकट अगेज़ो तथा अवध और दिल्ली के मुसलमान शासको के बीच युद्ध हुआ जिस के फल-स्वरूप अग्रेज़ो के लिए गगा की घाटी का पश्चिमी भाग खुल गया। १८०२ ई० के लगभग आगरा उपप्रातं अग्रेज़ो के हाथ मे चला गया तथा १८५६ ई० में अवध पर भी अग्रेज़ो का पूर्ण अधिकार हो गया।

इन राजनीतिक परिवर्तनो के कारण १९वी सदी के आरभ से ही मध्यदेश की भाषा हिंदी पर भारी प्रभाव पडना स्वाभाविक था। अठारहवी सदी में व्रजभाषा की शक्ति क्षीण हो चुकी थी, साथ ही मुसलमानो के बीच खडीबोली उर्दू ज़ोर पकड चुकी थी। उन्नीसवी सदी के प्रारभ में अग्रेज़ो ने हिंदुओ के लिए खडीबोली गद्य के सबध में कुछ प्रयोग करवाए जिन के फलस्वरूप फोर्ट विलियम कालेज में लल्लूलाल ने 'प्रेमसागर' तथा सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' की रचना की। प्रारभ के इन खड़ीबोली के ग्रथो पर व्रजभाषा का प्रभाव रहना स्वाभाविक है। 'प्रेमसागर' में तो व्रजभाषा के प्रयोग बहुत अधिक पाए जाते है। खड़ीबोली हिंदी का गद्य-साहित्य में प्रचार उन्नीसवी सदी के उत्तरार्द्ध में हुआ, और इस का श्रेय साहित्य के क्षेत्र में भारतेंदु हरिश्चद्र तथा धर्म के क्षेत्र में स्वामी दयानद को है। मुद्रण-कला के साथ-साथ खडीबोली हिंदी का प्रचार बहुत तेज़ी से बढ़ा। उन्नीसवी सदी तक पद्य में प्राय व्रजभाषा का प्रयोग होता रहा, किंतु बीसवी सदी में आते-आते खड़ीबोली हिंदी सपूर्ण मध्यदेश की, गद्य और पद्य दोनो ही की एकमात्र साहित्यिक भाषा हो गई है। व्रजभाषा में कविता करने की शैली अभी तक पूर्ण रूप से लुप्त नही हुई है, किंतु इस के दिन इने-गिने हैं। यहा यह स्मरण दिलाना अनुपयुक्त न होगा कि बीसवी सदी की साहित्यिक व्रजभाषा का आधार मध्यकाल के उत्तरार्द्ध की साहित्यिक व्रजभाषा ह, न कि आजकल की व्रज-प्रदेश की वास्तविक बोली। खड़ीबोली-पद्य के प्रारभ के कवियो की भाषा में भी लल्लूलाल आदि प्रथम गद्य-लेखको के समान व्रजभाषा की झलक पर्याप्त है। श्रीधर पाठक की खडीबोली कविता की मिठास का कारण बहुत कुछ व्रजभाषा के रूपो का व्यवहार है, यह परिवर्तन-काल शीघ्र ही दूर हो गया और अब

तो खडीवोली कविता की भापा से भी व्रजभापा की छाप लगभग विल्कुल हट गई है। गत डेढ-दो सौ वर्पों से साहित्यिक खडीवोली—आधुनिक हिंदी और उर्दू—मेरठ-विजनौर की जनता की खडीवोली से स्वतन्त्र होकर अपने-अपने ढग से विकास को प्राप्त कर रही है। स्वाभाविक बोली के प्रभाव से पृथक् हो जाने के कारण इस के व्याकरण का ढाँचा तथा शब्दसमूह निराला होता जाता है। तो भी अभी तक आधुनिक हिंदी-उर्दू के व्याकरण का स्वरूप मेरठ-विजनौर की खडीवोली से वहुत अधिक भिन्न नही हो पाया है। भेद की अपेक्षा साम्य की मात्रा विशेप है।

साहित्य के क्षेत्र में खडीवोली हिंदी के व्यापक प्रभाव के रहते हुए भी हिंदी की अन्य प्रादेशिक वोलिया अपने-अपने प्रदेशो में आज भी पूर्ण-रूप से जीवितावस्था में है। मध्य-देश के गाँवो की समस्त जनता अव भी खडीवोली के अतिरिक्त व्रज, अवधी, वुदेली, छत्तीसगढी आदि वोलियो के आधुनिक रूपो का व्यवहार कर रही है। गाँव के अपढ लोग वोलचाल की आधुनिक साहित्यिक हिंदी को समझ वरावर लेते है, किंतु ठीक-ठीक वोल नही पाते। गाँव की वोलियो में भी धीरे-धीरे परिवर्तन हो रहा है। जायसी की अवधी तथा आजकल की अवधी में पर्याप्त भेद हो गया है। इसी तरह सूरदास की व्रज-भाषा से आजकल की व्रजवोली कुछ भिन्न हो गई है। इन परिवर्तनो को प्रारभ हुए सौ-सवा सौ वर्प अवश्य वीत चुके है, इसी लिए लगभग १८०० ई० से हिंदी भाषा के इति-हास के तीसरे काल का प्रारभ माना जा सकता है। यद्यपि अभी भेदो की मात्रा अधिक नही हो पाई है, किंतु सभावना यही है कि ये भेद वढते ही जावेंगे, और सौ दो सौ वर्ष के अदर ही ऐसी परिस्थिति आ सकती है जव तुलसी सूर आदि की भाषा को स्वाभाविक ढग से समझ लेना अवध और व्रज के लोगो के लिए कठिन हो जावेगा। इस प्रगति का प्रारभ हो गया है।

ए. देवनागरी लिपि और अंक

यद्यपि हिंदी प्रदेश में उर्दू, रोमन, कैथी, मुडिया, मैथिली आदि अनेक लिपियो का थोडा-वहुत व्यवहार है किंतु देवनागरी लिपि का स्थान इन में सर्वोपरि है। लिखने के अतिरिक्त छपाई में तो प्राय एकमात्र इसी का व्यवहार होता है। यदि देवनागरी लिपि की प्रतिद्वद्विता किसी से है तो उर्दू लिपि से है। भारतवर्ष के अधिकाश पढे-लिखे मुसलमानो तथा पजाव और आगरा-दिल्ली की तरफ के हिंदुओ में उर्दू लिपि का व्यवहार पाया जाता है किंतु देवनागरी लिपि की लोकप्रियता उर्दू लिपि को भी नही प्राप्त है। देवनागरी लिपि का प्रचार समस्त हिंदी प्रदेश मे तथा उस के वाहर महाराष्ट्र में है। ऐतिहासिक दृष्टि से देवनागरी का अतिम सवध भारत की प्राचीनतम राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से है। ब्राह्मी

हिंदी अंकों का विकास

देवनागरी लिपि का विकास

और देवनागरी का संबंध समझने के लिए भारतीय लिपियो के संबंध मे विशेषज्ञो[1] ने जो खोज की है उस का सार नीचे दिया जाता है।

प्राचीन वैदिक तथा बौद्ध साहित्य के बाह्य-रूप तथा उस में पाए जानेवाले उल्लेखो से यह स्पष्ट है कि भारत मे लेखन-कला का प्रचार छठी शताब्दी पूर्व ईसा से बहुत पहले मौजूद था। ऐसी अवस्था मे कुछ यूरोपीय विद्वानो का यह मत बहुत सारयुक्त नही मालूम होता, कि भारतीय लोगो ने चौथी, आठवी या दसवी शताब्दी पूर्व ईसा मे किन्ही विदेशियो से लिखने की कला सीखी। जो हो भारतवर्ष में लिखने के प्रचार की प्राचीनता तथा उस का उद्‌गम हमारे प्रस्तुत विषय से विशेष संबंध नही रखता, अत इस का विस्तृत विवेचन यहा अनावश्यक है।

प्राचीन काल मे भारत में ब्राह्मी (पाली बभी) और खरोष्ठी नाम की दो लिपिया प्रचलित थी। इन मे से ब्राह्मी एक प्रकार से राष्ट्रीय लिपि थी, क्योकि इस का प्रचार पश्चिमोत्तर प्रदेश को छोड कर शेष समस्त भारत में था। देवनागरी आदि आधुनिक भारतीय लिपियो की तरह यह भी बाईं ओर से दाहिनी ओर को लिखी जाती थी। पश्चिमोत्तर प्रदेश में खरोष्ठी[2] लिपि का प्रचार था और यह आधुनिक विदेशी उर्दू लिपि की तरह दाहिनी ओर से बाईं ओर को लिखी जाती थी। यह निश्चित है कि खरोष्ठी लिपि आर्य-लिपि नही है बल्कि इस का संबंध विदेशी सेमिटिक अरमइक् लिपि से है। खरोष्ठी लिपि की उत्पत्ति के संबंध मे ओझा[3] लिखते है कि "जैसे मुसलमानो के राज्य-समय में ईरान की फारसी लिपि का हिंदुस्तान में प्रवेश हुआ और उस मे कुछ अक्षर और मिलाने से हिंदी भाषा के मामूली पढे-लिखे लोगो के लिए कामचलाऊ उर्दू लिपि बनी वैसे ही जब ईरानियो का अधिकार पंजाब के कुछ अंश पर हुआ तब उन की राजकीय लिपि अरमइक् का वहा प्रवेश हुआ, परंतु उस मे केवल २२ अक्षर, जो आर्यभाषाओ के केवल १८ उच्चारणो को व्यक्त कर सकते थे, होने तथा स्वरो मे ह्रस्व-दीर्घ भेद का और स्वरो की मात्राओ के न होने के कारण यहा के विद्वानो में से खरोष्ठी या किसी और ने नए अक्षरो तथा ह्रस्व स्वरो की मात्राओ की योजना कर मामूली पढे हुए लोगो के लिए, जिन को शुद्धाशुद्ध की विशेष आवश्यकता नही रहती थी, कामचलाऊ लिपि बना दी।"

---

[1] ओझा, भा० प्रा० लि०, प्रथम संस्करण १६१८; बूहलर, 'आन दि ओरिजिन आव दी इंडियन ब्राह्म अलफाबेट', प्रथम संस्करण, १८६५; द्वितीय संस्करण, १८६८

[2] खरोष्ठी का शब्दार्थ 'गधे के होठ वाली' है।

[3] ओझा, भा० प्रा० लि०, पृ० १७

इस लिपि का प्रचार भारत के पश्चिमोत्तरी प्रदेश में लगभग तीसरी शताब्दी पूर्व-ईसा से तीसरी शताब्दी ईसवी तक रहा।

तीसरी शताब्दी ईसवी के बाद इस प्रदेश में भी ब्राह्मी के भिन्न-भिन्न रूप व्यवहृत होने लगे। उर्दू लिपि का विकास खरोष्ठी से नहीं हुआ है। उर्दू और खरोष्ठी का मूल तो एक ही है, किंतु ऐतिहासिक दृष्टि से उर्दू लिपि मुसलमानों के भारत में आने पर उन की फ़ारसी-अरबी लिपि के आधार पर कुछ अक्षरों को जोड़ कर बनाई गई थी।

मध्य तथा आधुनिक काल की समस्त भारतीय लिपियों का उद्गम प्राचीन राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से हुआ है, इस संबंध में कोई भी मतभेद नहीं है, किंतु स्वयं ब्राह्मी लिपि की उत्पत्ति के संबंध में दो मुख्य मत हैं। बूह्लर तथा वेबर आदि विद्वानों का एक समूह ब्राह्मी का संबंध पश्चिमी एशिया की किसी न किसी विदेशी लिपि से जोड़ता है। इन विद्वानों में इस विषय के विशेषज्ञ बूह्लर ने यह सिद्ध करने का यत्न किया है कि ब्राह्मी लिपि के २२ अक्षर उत्तरी सेमिटिक लिपियों से लिए गए हैं और बाकी उन्हीं अक्षरों के आधार पर बनाए गए हैं। कनिंघम तथा ओझा आदि विद्वानों का दूसरा समूह ब्राह्मी की उत्पत्ति विदेशी लिपियों से नहीं मानता। ब्राह्मी की उत्पत्ति के संबंध में ओझा[1] का कहना है कि "यह भारतवर्ष के आर्यों का अपनी खोज से उत्पन्न किया हुआ मौलिक आविष्कार है। इस की प्राचीनता और सर्वांग-सुंदरता से चाहे इस का कर्ता ब्रह्मा देवता माना जाकर इस का नाम ब्राह्मी पड़ा, चाहे साक्षर समाज ब्राह्मणों की लिपि होने से यह ब्राह्मी कहलाई हो, पर इस में संदेह नहीं कि इस का फिनीशियन से कुछ भी संबंध नहीं।" ब्राह्मी लिपि का उद्गम चाहे जो हो किंतु इतना निश्चित है कि मौर्यकाल में इस का प्रचार समस्त भारत में था। ब्राह्मी लिपि में लिखे गए सब से प्राचीन लेख पाँचवीं शताब्दी पूर्व ईसवी काल तक के पाए गए हैं। अशोक के प्रसिद्ध शिलालेखों तथा अन्य प्राचीन लेखों की लिपि ब्राह्मी ही है।

ब्राह्मी लिपि का प्रचार भारत में लगभग ३५० ईसवी तक रहा। इस समय तक उत्तर और दक्षिण की ब्राह्मी लिपि में पर्याप्त अंतर हो गया था, तामिल, तेलगू, ग्रंथ आदि दक्षिण भारत की समस्त आधुनिक तथा मध्यकालीन लिपियों का संबंध ब्राह्मी की दक्षिण शैली से है। चौथी शताब्दी के लगभग उत्तर की प्रचलित शैली का कल्पित नाम गुप्तलिपि रक्खा गया है। गुप्त साम्राज्य के प्रभाव के कारण इस का प्रचार चौथी और पाँचवीं शताब्दी में समस्त उत्तर-भारत में था। इस के उदाहरण गुप्तकालीन शिलालेखों तथा ताम्रपत्रादि में मिलते हैं। "गुप्तों के समय में कई अक्षरों की आकृतियाँ नागरी

---

[1] ओझा, भा० प्रा० लि०, पृ० २८

से कुछ-कुछ मिलती हुई होने लगी। सिरो के चिह्न जो पहले बहुत छोटे थे बढ़ कर कुछ लबे बनने लगे और स्वरो की मात्राओ के प्राचीन चिह्न लुप्त होकर नए रूपो मे परिणत हो गए।[1]"

गुप्तलिपि के विकसित रूप का कल्पित नाम 'कुटिल लिपि' रक्खा गया है। इस का प्रचार छठी से नवी शताब्दी ईसवी तक उत्तर-भारत मे रहा। 'कुटिलाक्षर' नाम का प्रयोग प्राचीन है। अक्षरो तथा स्वरो की कुटिल आकृतियो के कारण ही यह लिपि कुटिल कहलाई जाने लगी। इस काल के शिलालेख तथा दानपत्र आदि इसी लिपि में लिखे पाए जाते है। कुटिल लिपि से ही नागरी तथा काश्मीर की प्राचीन लिपि शारदा विकसित हुई। शारदा से वर्तमान काश्मीरी, टाकरी तथा गुरुमुखी लिपिया निकली है। प्राचीन नागरी की पूर्वी शाखा से दसवी शताब्दी ईसवी के लगभग प्राचीन बँगला लिपि निकली जिस के आधुनिक परिवर्तित रूप बँगला, मैथिली, उडिया तथा नेपाली लिपियो के रूप मे प्रचलित है। प्राचीन नागरी से ही गुजराती, कैथी तथा महाजनी आदि उत्तर भारत की अन्य लिपिया भी सबद्ध है।

नागरी[2] लिपि का प्रयोग उत्तर-भारत में दसवी शताब्दी के प्रारभ से मिलता है, किंतु दक्षिण-भारत में कुछ लेख आठवी शताब्दी तक के पाए जाते है। दक्षिण की नागरी लिपि 'नदि नागरी' नाम से प्रसिद्ध है और अब तक दक्षिण में सस्कृत पुस्तको के लिखने में उस का प्रचार है। राजस्थान, संयुक्तप्रात, बिहार, मध्यभारत, तथा मध्यप्रात मे इस काल के लिखे प्राय· समस्त शिलालेख, ताम्रपत्र , आदि मे नागरी लिपि ही पाई जाती है। "ई० स० की १० वीं शताब्दी की उत्तरी भारतवर्ष की नागरी लिपि में कुटिल लिपि की नाईं, अ, आ, घ, प, म, य, ष और स के सिर दो अशो में विभक्त मिलते है, परतु ११वी शताब्दी से ये दोनो अश मिल कर सिर की एक लकीर बन जाती है और प्रत्येक अक्षर का सिर उतना

---

[1]ओझा, भा० प्रा० लि०, पृ० ६०

[2]'नागरी' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में बहुत मतभेद है। कुछ विद्वान इस का सबंध 'नागर' ब्राह्मणो से लगाते है अर्थात् नागर ब्राह्मणो में प्रचलित लिपि नागरी कहलाई, कुछ 'नगर' शब्द से संबंध जोड कर इस का अर्थ नागरो अर्थात् नगरो में प्रचलित लिपि लगाते है। एक मत यह भी है कि तान्त्रिक यन्त्रो में कुछ चिह्न बनते थे जो 'देवनगर' कहलाते थे, इन अक्षरो से मिलते-जुलते होने के कारण यही नाम इस लिपि के साथ संबद्ध हो गया। तान्त्रिक समय में 'नागर लिपि' नाम प्रचलित था (ओझा, 'प्राचीन लिपिमाला' पृ० १८)। इस लिपि के लिए देवनागरी या नागरी नाम पड़ने का कारण वास्तव में अनिश्चित है।

लवा रहता है जितनी की अक्षर की चौडाई होती है। ११वी शताब्दी की नागरी लिपि वर्तमान नागरी से मिलती-जुलती है और १२ वी शताब्दी से वर्तमान नागरी बन गई है।

ई० स० की १२वी शताब्दी से लगा कर अब तक नागरी लिपि बहुधा एक ही रूप में चली आती है।"[१] इस तरह आधुनिक देवनागरी लिपि दसवी शताब्दी ईसवी की प्राचीन नागरी लिपि का ही विकसित रूप है।

जिस प्रकार वर्तमान देवनागरी लिपि ब्राह्मी लिपि का परिवर्तित रुप है उसी प्रकार वर्तमान नागरी अक भी प्राचीन ब्राह्मी अको के परिवर्तन से बने हैं। "लिपियो की तरह प्राचीन और अर्वाचीन अको में भी अतर है। यह अतर केवल उन की आकृति में ही नही किंतु अको के लिखने की रीति में भी है। वर्तमान समय में जैसे १ से ९ तक अक और शून्य इन १० चिह्नो से अकविद्या का सपूर्ण व्यवहार चलता है, वैसे प्राचीन काल में नही था। उस समय शून्य का व्यवहार ही न था और दहाइयो, सैकडे, हज़ार आदि के लिए भी अलग चिह्न थे।"[२] अको के सबध में इन दो शैलियो को 'प्राचीन शैली' 'और 'नवीन शैली' कहते हैं।

भारतवर्ष में अको की यह प्राचीन शैली कब से प्रचलित हुई इस का ठीक पता नही चलता। अशोक के लेखो में पहले-पहल कुछ अको के चिह्न मिलते है। प्राचीन शैली के अको की उत्पत्ति के सबध में भिन्न-भिन्न विद्वानो ने अनेक कल्पनाए की हैं। इस सबध में ओझा ने बूहलर का नीचे लिखा मत उद्धृत किया है जो ध्यान देने योग्य है—"प्रिन्सेप का यह पुराना कथन कि अक उन के सूचक शब्दो के प्रथम अक्षर हैं, छोड देना चाहिए। परतु अब तक इस प्रश्न का सतोषदायक समाधान नही हुआ। पडित भगवानलाल ने आर्यभट्ट और मत्र-शास्त्र की अक्षरो द्वारा अक सूचित करने की रीति को भी जाँचा परतु उस में सफलता न हुई अर्थात् अक्षरो के क्रम की कोई कुजी न मिली, और न मैं इस रहस्य की कोई कुजी प्राप्त करने का दावा करता हू। मै केवल यही बतलाऊँगा कि इन अको मे अनुनासिक, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय का होना प्रकट करता है कि उन (अको) को ब्राह्मणो ने निर्माण किया था न कि वाणिआओ (महाजनो) ने और न बौद्धो ने जो प्राकृत को काम में लाते थे।"[३] कुछ विद्वानो के इस मत को कि भारतीय मूल अक विदेशी अको से प्रभावित हैं ओझा आदि विद्वानो का समूह नही मानता। ओझा के अनुसार "प्राचीन शैली के भारतीय अक भारतीय आर्यों के स्वतत्र निर्माण किए हुए हैं।"[४]

---

[१]ओझा, भा० प्रा० लि०, पृ० ६९-७०
[२]वही, पृ० १०३
[३]वही, पृ० ११०
[४]वही, पृ० ११४

नवीन शैली के अकक्रम का प्रचार पांचवी शताब्दी के लगभग से सर्वसाधारण में था, यद्यपि शिलालेख आदि में प्रचीन शैली का ही प्राय उपयोग किया जाता था। नवीन शैली की उत्पत्ति के सबध में ओझा का मत है कि "शून्य की योजना कर नव अको से गणित-शास्त्र को सरल करने वाले नवीन शैली के अको का प्रचार पहले-पहल किस विद्वान ने किया इस का कुछ भी पता नही चलता। केवल यही पाया जाता है कि नवीन शैली के अको की सृष्टि भारतवर्ष में हुई, फिर यहा से अरबो ने यह क्रम सीखा और अरबो से उस का प्रवेश यूरोप मे हुआ।"[1]

भाषा और लिपि दो भिन्न वस्तुए होते हुए भी व्यवहार मे ये अभिन्न रहती हैं। इसी कारण सक्षेप में हिंदी भाषा की देवनागरी लिपि और हिंदी अको के विकास का दिग्दर्शन यहा कर देना उचित समझा गया। लिपि तथा अक के चिह्नो के इतिहास के सबध में विस्तृत सामग्री ओझा-लिखित 'प्राचीन लिपिमाला' मे सकलित है।

---

[1]ओझा, भा० प्रा० लि०, पृ० ११७

इतिहास

अध्याय १

हिंदी ध्वनिसमूह

अ. हिंदी वर्णमाला का इतिहास

क. वैदिक तथा संस्कृत ध्वनिसमूह

१. हिंदी ध्वनिसमूह पर विचार करने के पूर्व हिंदी की पूर्ववर्ती आर्य-भाषाओं के ध्वनिसमूह की अवस्था पर एक दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा। हिंदी ध्वनिसमूह के मूलाधार वास्तव में ये प्राचीन ध्वनिसमूह ही हैं।

भारतीय आर्य-भाषाओं के ध्वनिसमूह का प्राचीनतम रूप वैदिक ध्वनियों के रूप में मिलता है। वैदिक भाषा में ५२ मूल ध्वनियां हैं[१]। इन में १३ स्वर तथा ३९ व्यंजन हैं। देवनागरी लिपि में ये ध्वनियां नीचे लिखे ढंग से प्रकट की जा सकती हैं :—

(१) ग्यारह मूलस्वर[२] : अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ए ओ

(२) दो संयुक्त स्वर : अइ (ऐ) अउ (औ)

---

[१] मैकडानेल, वेदिक ग्रैमर, § ४

[२] आधुनिक शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार स्वर वे ध्वनिया कहलाती है जिन के उच्चारण में मुखद्वार कम-ज्याद तो किया जाता है किंतु न तो कभी बिल्कुल बद किया जाता है और न इतना अधिक बद कि नि श्वास रगड खा कर निकले। ऐसा न होने से ध्वनि व्यजन कहलाती है।

(३) सत्ताईस स्पर्श[1] व्यंजन, जो स्थान-भेद के अनुसार प्रायः पाँच वर्गों में रक्खे जाते हैं :

कंठ्य : क् ख् ग् घ् ङ्
तालव्य : च् छ् ज् झ् ञ्
मूर्द्धन्य : ट् ठ् ड् ड़् ढ् ढ़् ण्
दंत्य : त् थ् द् ध् न्
ओष्ठ्य : प् फ् ब् भ् म्

(४) चार अंतस्थ[2] : इ॑ (य्) र् ल् उ॑ (व्)

(५) तीन अघोष[3] संघर्षी[4] : श् ष् स्

---

(६) एक घोष ऊष्म[1] : ह्

(७) एक शुद्ध अनुनासिक या अनुस्वार :

(८) तीन अघोष ऊष्म :

(विसर्जनीय या विसर्ग) :
(जिह्वामूलीय) ×
(उपध्मानीय) ×

२. वैदिक ध्वनियों का जो उच्चारण आजकल प्रचलित है ठीक वैसा ही उच्चारण वैदिक काल में भी रहा हो यह आवश्यक नहीं है। संभावना तो यह है कि उच्चारण में बहुत कुछ परिवर्तन हुआ होगा। प्राचीन शिक्षाग्रंथ, प्रातिशाख्य तथा अन्य ऐतिहासिक प्रमाणों और ध्वनिशास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर मूलवैदिक ध्वनियों की उच्चारण-संबंधी विशेषताओं का निर्द्धारण किया गया है। संक्षेप में ये विशेषताएं निम्नलिखित हैं।

ऋक्प्रातिशाख्य में ऋ का उच्चारण वर्त्स्य माना गया है, साथ ही इसे मूर्द्धन्य स्वर भी कहा गया है। बाद को ऋ का उच्चारण कदाचित् जीभ को दो बार वर्त्स में छुआ कर होने लगा था। कुछ कुछ ऐसा ही उच्चारण अब भी कहीं-कहीं प्रचलित है। वास्तव में ऋ के मूल उच्चारण के संबंध में बहुत मतभेद है। ऋ का दीर्घरूप ॠ है।

ऌ का प्रयोग बहुत ही कम मिलता है वैदिक धातुओं में केवल क्लृप् में यह स्वर पाया जाता है। चैटर्जी के मतानुसार[2] ऌ का उच्चारण

दिया जाता है कि निःश्वास रगड़ खा कर निकलती है। संघर्षी ध्वनियें ही पहले ऊष्म कहलाती थीं।

[1] ऊष्म यहां उन ध्वनियों की संज्ञा है जिन में मुखविवर के खुले रहने पर भी निःश्वास इतनी ज़ोर से फेंकी जाय कि जिस से वायु का संघर्षण हो।

[2] चै०, बें० लै०, § १३०

अंग्रेज़ी के *लिट्ल्* (*little*) शब्द के दूसरे ल्‌ से मिलता-जुलता रहा होगा।

भारतीय आर्यभाषा-काल के पूर्व ए ओ संधिस्वर (अ+इ; अ+उ) थे। वैदिक तथा संस्कृत काल में ही इन का उच्चारण दीर्घमूल स्वरों के समान हो गया था, यद्यपि व्याकरण की दृष्टि से ये संधिस्वर ही माने जाते थे।

वैदिक काल में आते-आते ही *आइ आउ* का पूर्व स्वर ह्रस्व हो गया था। इन संयुक्त स्वरों का यह रूप, *अइ अउ*, संस्कृत में अब तक मौजूद है। देवनागरी लिपि में ये साधारणतया ऐ औ लिखे जाते हैं।

ळ्‌ ळ्ह्‌ ध्वनियें कदाचित्‌ उस बोली में वर्तमान थीं जिस के आधार पर ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा बनी थी। दो स्वरों के बीच में आनेवाले ड्‌ ढ्‌ से इन की उत्पत्ति मानी जा सकती है।

वैदिक काल में चवर्गीय ध्वनियें आजकल की तरह स्पर्श संघर्षी न होकर केवलमात्र स्पर्श थीं।

टवर्गीय ध्वनियों का स्थान आजकल की अपेक्षा कुछ ऊपर था।

प्रातिशाख्यों के अनुसार तवर्ग का स्थान दंत न होकर वर्त्स था।

इ॑ उ॑ शुद्ध अर्द्धस्वर थे।

अनुस्वार वास्तव मे स्वर के बाद आने वाली शुद्ध नासिक्य ध्वनि थी किंतु कुछ प्रातिशाख्यों से पता चलता है कि अनुस्वार तभी अनुनासिक स्वर मे परिवर्तित होने लगा था। अनुस्वार केवल य्‌ र्‌ ल्‌ व्‌ श्‌ ष्‌ स्‌ ह्‌ के पहले आता था। स्पर्श व्यंजनों के पहले यह वर्गीय अनुनासिक व्यंजन में परिवर्तित हो जाता था।

क्‌ के पहले आने वाले विसर्ग का रूपांतर जिह्वामूलीय (ᳵ) कहलाता था। *ततः किं* में विसर्ग की ध्वनि कुछ कुछ ख़्‌ के समान सुनाई पडती है।

इसे जिह्वामूलीय कहते थे। इसी प्रकार प् के पहले आने वाले विसर्ग का रूपांतर उपध्मानीय (ᳶ) कहलाता था। पुनः पुनः में प्रथम विसर्ग में कुछ-कुछ ऐसी आवाज़ निकाली जा सकती है जैसी धीरे से चिराग़ बुझाते समय होठों से निकलती है। इसे उपध्मानीय कहते हैं।

शेष वैदिक ध्वनियों के उच्चारण इन के आधुनिक हिंदी उच्चारणों से विशेष भिन्न नहीं थे।

३. आधुनिक ध्वनिशास्त्र के दृष्टिकोण से ५२ वैदिक ध्वनियों का वर्गीकरण[1] निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है :—

स्वर[2]

	अग्र		पश्च
संवृत्	इ ई		उ ऊ
अर्द्धसंवृत्	ए		ओ
विवृत्			अ आ
संयुक्त स्वर		अइ अउ	
विशेष स्वर		ऋ ॠ ऌ	
शुद्ध अनुस्वार		ं	

[1] चै०, वे० लै०, § १२८

[2] स्वरो के वर्गीकरण के सिद्धात के लिए देखिए § १०

व्यंजन

	द्व्योष्ठ्य	वर्त्स्य	मूर्द्धन्य	तालव्य	कंठ्य	स्वरयंत्रमुखी
स्पर्श अल्पप्राण	प् ब्	त् द्	ट् ड्	च् ज्	क् ग्	
स्पर्श महाप्राण	फ् भ्	थ् ध्	ठ् ढ्	छ् झ्	ख् घ्	
अनुनासिक	म्	न्	ण्	ञ्	ङ्	
पार्श्विक[1] अल्पप्राण		ल्	ळ्			
पार्श्विक महाप्राण			ळ्ह्			
उत्क्षिप्त[2]		र्				
संघर्षी	ᳵ(उप०)	स्	ष्	श्	ᳵ(जिह्वा०)	: ह्
अर्द्धस्वर	उॅ (.व्)			इॅ (य्)		

४. ळ्, ळ्ह्, जिह्वामूलीय, तथा उपध्मानीय को छोड़ कर शेष समस्त वैदिक ध्वनियों का प्रयोग संस्कृत में होता रहा। कुछ ध्वनियों के उच्चारण में परिवर्तन हो गए थे। ऋ, ॠ, ऌ का मूलस्वरों के सदृश उच्चारण संदिग्ध हो गया था। ए ओ का उच्चारण संस्कृत में मूलस्वरों के सदृश था। आइ आउ निश्चित रूप से अइ अउ हो गए थे। पाणिनि के समय में ही उँ

---

[1] पार्श्विक उन ध्वनियो को कहते है जिन के उच्चारण में मुखविवर को सामने से तो जीभ वद कर दे किंतु दोनो पार्श्वों से नि श्वास निकलती रहे।

[2] उत्क्षिप्त उन ध्वनियो को कहते है जिन में जीभ तालु के किसी भाग को वेग से मार कर हट आवे।

दंत्योष्ठ्य व् तथा द्व्योष्ठ्य .व् में परिवर्तित हो चुका था तथा ईं ने बाद को .य् तथा य् का रूप धारण कर लिया था। अनुस्वार पिछले स्वर से मिल कर अनुनासिक स्वर की तरह उच्चरित होने लगा था।

ख. पाली तथा प्राकृत ध्वनिसमूह

५. पाली में दस स्वर—अ आ इ ई उ ऊ ए़ ए ओ़ ओ—पाए जाते हैं। ऋ ॠ लृ ऐ औ का प्रयोग पाली भाषा में नहीं होता। ऋ ध्वनि अ इ उ आदि किसी अन्य स्वर में परिवर्तित हो जाती है। ॠ लृ का प्रयोग संस्कृत में ही नहीं के बराबर हो गया था। ऐ औ के स्थान में ए ओ क्रम से हो जाते हैं। पाली में दो नए स्वर ए़ ओ़—ह्रस्व ए ओ—पहले-पहल मिलते हैं।

व्यंजनों में पाली में श् ष् नहीं पाए जाते। श् ष् के स्थान पर भी स् का ही व्यवहार मिलता है।

पाली में विसर्ग का प्रयोग भी नहीं पाया जाता। पद के अंत में आने वाले विसर्ग का या तो लोप हो जाता है या वह पूर्ववर्ती अ से मिल कर ओ में परिवर्तित हो जाता है।

शेष ध्वनियां पाली में संस्कृत के ही समान हैं।

६. प्राकृत भाषाओं और पाली के ध्वनिसमूह में विशेष भेद नहीं है। मागधी को छोड कर अन्य प्राकृतों में य् और श् का व्यवहार प्रचलित नहीं है। मागधी में स् के स्थान पर भी श् ही मिलता है। ष् और विसर्ग का प्रयोग प्राकृतों में नहीं लौट सका।

ग. हिंदी ध्वनिसमूह

७. आधुनिक साहित्यिक हिंदी में अधिकांश ध्वनियें तो परंपरागत भारतीय आर्यभाषा के ध्वनिसमूह से आई हैं, कुछ ध्वनियें आधुनिक काल में विकसित हुई हैं, तथा कुछ ध्वनियें फारसी-अरबी और अंग्रेज़ी के संपर्क से

भी आ गई हैं। इस दृष्टि से साहित्यिक हिंदी में प्रचलित मूल ध्वनियें नीचे दी जाती हैं :–

(१) प्राचीन ध्वनियें :

अ आ इ ई उ ऊ ए ओ

क् ख् ग् घ् ङ्

च् छ् ज् झ्

ट् ठ् ड् ढ् ण्

त् थ् द् ध् न्

प् फ् ब् भ् म्

य् र् ल् व्

श् स् ह्

(२) नई विकसित ध्वनियें :

अए (ऐ) अओ (औ), ड़् ढ़् व़् न्ह् म्ह्

(३) फारसी-अरबी के तत्सम शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियें :

क़् ख़् ग़् ज़् फ़्

(४) अंग्रेज़ी तत्सम शब्दों में प्रयुक्त ध्वनियें :

ऑ

८. ऋ ष् ञ् संस्कृत तत्सम शब्दों में लिखे तो जाते हैं किंतु हिंदी-भाषाभाषी इन के मूल रूप का उच्चारण नहीं करते। सं० ऋ तत्सम शब्दों में भी उच्चारण में *रि* हो गई है, जैसे *ऋण*, *कृपा*, *प्रकृति* आदि शब्दों का वास्तविक उच्चारण हिंदी में *रिण*, *क्रिपा* तथा *प्रक्रिति* है। ष् का उच्चारण हिंदी में श् के समान होता है। उच्चारण की दृष्टि से पोषक, कष्ट, कृषक आदि *पोशक*, *कश्ट*, *कृशक* हो गए हैं। ञ् संस्कृत शब्दों में भी स्वतंत्र रूप से नही आता है। शब्द के मध्य में आने वाले ञ् का उच्चारण साहित्यिक हिंदी में न् के समान होता है, जैसे *चञ्चल*, *मञ्जन*, *काञ्चन* वास्तव में

चन्चल, मन्जन, कान्चन बोले जाते हैं। इसी लिए इन तीन ध्वनियों का उल्लेख ऊपर की सूची में नहीं किया गया है। हलंत ण् का उच्चारण भी हिंदी में न् के समान होता है जैसे *पण्डित, ठण्डा, ताण्डव* उच्चारण में *पन्डित, ठन्डा, तान्डव* हो जाते हैं। किंतु तत्सम शब्दों में प्रयुक्त पूर्ण ण् का प्रयोग हिंदी में होता है, जैसे *गणना, गणेश, कण* इत्यादि किंतु यह वास्तव में ड़ के समान बोला जाता है।

हिंदी की बोलियों में कुछ विशेष ध्वनियें पाई जाती हैं जिन का व्यवहार आधुनिक साहित्यिक हिंदी में नहीं होता। ये ध्वनियें निम्नलिखित हैं:—

अ़ ए़ ओ ऍ ऑ ऍ़ ऑ; इ़ उ़ ए़; ञ्; र्ह्, ल्ह्

९. आधुनिक साहित्यिक हिंदी तथा बोलियों में व्यवहृत समस्त ध्वनियां आधुनिक शास्त्रीय वर्गीकरण के अनुसार नीचे दी जा रही हैं। केवल बोलियों में व्यवहृत ध्वनियें कोष्ठक में दी गई हैं:—

(१) मूलस्वरः अ आ ऑ [ऑ] [ऑ] [ओ] ओ उ [उ़]
ऊ ई इ [इ़] ए [ए़] [ए़] [ऍ] [ऍ़]
[अ़]

मूलस्वरों के अनुनासिक तथा संयुक्त रूप भी पाए जाते हैं। इन का विवेचन आगे विस्तार से किया गया है।

(२) स्पर्श : क़् क् ख् ग् घ्
ट् ठ् ड् ढ्
त् थ् द् ध्
प् फ् ब् भ्

(३) स्पर्शसंघर्षीः च् छ् ज् झ्

(४) अनुनासिकः ङ् [ञ्] ण् न् न्ह् म् म्ह्

(५) पार्श्विक : ल् [ल्ह्]

(६) लुठित[1] : र् [र्‌ह्]
(७) उत्क्षिप्त : ड़् ढ़्
(८) संघर्षी : ः ह् ख़् ग़् श् स् ज़् फ़् व्
(९) अर्द्धस्वर : य् व़्

ऊपर दिए हुए क्रम के अनुसार प्रत्येक हिंदी ध्वनि[2] का विस्तृत वर्णन उदाहरण सहित आगे दिया गया है।

आ. हिंदी ध्वनियों का वर्णन

क. मूलस्वर

१०. जीभ के अगले या पिछले हिस्से की ऊपर उठने की दृष्टि से स्वरों के दो मुख्य भेद माने जाते हैं जिन्हें अगले या अग्रस्वर और पिछले या

---

[1] लुठित उन ध्वनियो को कहते है जिन के उच्चारण में जीभ बेलन की तरह लपेट खाकर तालु को छुए। चैटर्जी (बे लै, § १४०) तथा कादरी (हि फो, पृ० ६४) आधुनिक र् को उत्क्षिप्त मानते है किंतु सकसेना ने (ए अ, § १) इसे लुठित माना है।

[2] यहा पर भाषा-ध्वनि (speech-sound) तथा ध्वनि-श्रेणी (phoneme) का भेद समझ लेना आवश्यक है। प्रत्येक भापा-ध्वनि का उच्चारण एक ही पुरुष भिन्न-भिन्न स्थलो पर कुछ थोडे से परिवर्तन के साथ करता है, साथ ही भिन्न-भिन्न पुरुष प्रत्येक ध्वनि का उच्चारण कुछ पृथक् ढग से करते है। उदाहरण के लिए अ का उच्चारण भिन्न-भिन्न स्थलो तथा भिन्न-भिन्न पुरुपो द्वारा वहुत प्रकार का हो सकता है। यह अवश्य है कि अ के ऐसे भिन्न-भिन्न रूपो में वहुत ही कम अतर होता है। साधारणतया कान इस अतर को नही पकडता। शास्त्रीय दृष्टि से अ के ये सव भिन्न रूप पृथक्-पृथक् भापा ध्वनियें है और सूक्ष्मदृष्टि से एक-दूसरे से उसी रूप में भिन्न हैं जिस रूप में, अ और ए भिन्न हैं। किंतु व्यावहारिक दृष्टि से अ की इन सव मिलती-जुलती ध्वनियो को एक ही श्रेणी में रख लिया जाता है अत अ के ये सव मिलते-जुलते रूप अ ध्वनि-श्रेणी के अतर्गत माने जाते हैं और व्यवहार में इन सव के लिए एक ही लिपि-चिह्न प्रयुक्त होता है।

हिंदी ध्वनियो का जो वर्णन इस पुस्तक में दिया गया है वह वास्तव में ध्वनि-श्रेणियों का है। प्रत्येक ध्वनि-श्रेणी के अतर्गत भापा ध्वनियो के सूक्ष्म भेदो के अनुसार

पश्चस्वर कहते हैं। कुछ स्वर ऐसे भी हैं जिन के उच्चारण में जीभ का मध्य भाग ऊपर उठता है। ऐसे स्वर बिचले या मध्यस्वर कहलाते हैं। प्रत्येक स्वर के उच्चारण में जीभ का अगला, विचला या पिछला भाग भिन्न-भिन्न मात्रा में ऊपर उठता है। इस कारण मुख-द्वार के अधिक या कम खुलने की दृष्टि से स्वरों के चार भेद किए जाते हैं, (१) विवृत् या खुले हुए, (२) अर्द्धविवृत् या अधखुले, (३) अर्द्धसंवृत् या अधसकरे और (४) सवृत् या सकरे। इन दोनों प्रकार के भेदों को दृष्टि में रखते हुए आठ प्रधान स्वर माने गए हैं जो भिन्न-भिन्न भाषाओं के स्वरों के अध्ययन के लिए बाटों का काम देते हैं। इन आठ प्रधान स्वरों के स्थान नीचे दिए हुए चित्र में दिखलाए गए हैं—
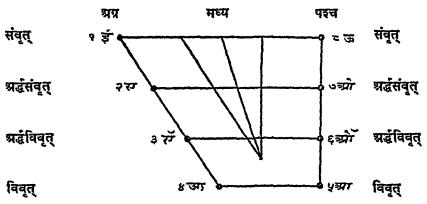
११. इन आठ प्रधान स्वरों के स्थानों को ध्यान में रखते हुए हिंदी के मूल स्वरों के स्थानों को नीचे के चित्र[1] की सहायता से समझा जा सकता है। केवल बोलियों में पाए जाने वाले स्वर कोष्ठक में दिए गए हैं:—

33,3

अनेक रूप पाए जाते हैं। इन का वर्णन ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से हिंदी ध्वनिसमूह के विस्तृत विवेचन के अंतर्गत ही आ सकता है। हिंदी ध्वनियो का इस तरह का विवेचन प्रस्तुत पुस्तक के मुख्य विषय से सबंध नही रखता।
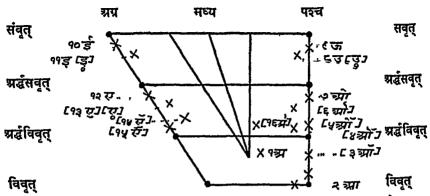
[1] कादरी, हि फो., पृ० ४८, सक., ए. अ, § ९; सुनीतिकुमार चैटर्जी, 'ए स्केच आव बेंगाली फोनेटिक्स' (१९२१)

१२. *अ* : यह अर्द्धविवृत् मध्यस्वर है अर्थात् इस के उच्चारण में जीभ का मध्य भाग कुछ ऊपर उठता है और होठ कुछ खुल जाते हैं। *अ* का व्यवहार बहुत शब्दों में पाया जाता है। *अब, कमल, सरल,* शब्दों मे *अ क म स र* में *अ* का उच्चारण होता है।

शब्दांश के मध्य या अंत में आने से *अ* की दो मुख्य भाषाध्वनियें पाई जाती हैं। शब्दांश के अंत में आने वाला *अ* कुछ दीर्घ होता है तथा कुछ अधिक खुला तथा पीछे की ओर हटा होता है। ये दो प्रकार के *अ* खुला *अ* तथा बंद *अ* कहला सकते हैं। ऊपर के उदाहरणों में *अ, म, र* के *अ* बंद *अ* हैं तथा *क* और *स* के *अ* खुले *अ* हैं।

हिंदी में शब्द या शब्दांश के अंत में आने वाले *अ* का उच्चारण नहीं होता है किंतु इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं[1]। ऊपर के उदाहरणों में *ब ल ल* में उच्चारण की दृष्टि से *अ* नहीं है। वास्तव में इन शब्दों में ये तीनों व्यंजन हलंत हैं अतः उच्चारण की दृष्टि से इन शब्दों का शुद्ध लिखित रूप *अब् कमल् सरल्* होगा।

१३. *आ* : उच्चारण में एक या अर्द्धमात्रा काल अधिक होने के अतिरिक्त *आ* और *अ* में स्थानभेद भी है। *आ* विवृत् पश्चस्वर है और प्रधान

---

[1] गु, हि व्या, § ३८

स्वर *आ* से बहुत मिलता-जुलता है। इस के उच्चारण में जीभ के नीचे रहने पर भी उस का पिछला भाग कुछ अंदर की तरफ ऊपर उठ जाता है। होठ बिलकुल गोल नहीं किए जाते, अ की अपेक्षा कुछ खुल अधिक अवश्य जाते हैं। यह स्वर ह्रस्व रूप में व्यवहृत नहीं होता।

उदा० *आदमी, काला, बादाम*।

१४. ऑ : अंग्रेज़ी के कुछ तत्सम शब्दों के लिखने में ऑ चिह्न का व्यवहार हिंदी में होने लगा है। अंग्रेज़ी ऑ का स्थान *आ* से काफ़ी ऊँचा है। प्रधान स्वर ऑ से ऑ का स्थान कुछ ही नीचा रह जाता है। अंग्रेज़ी में ऑ के अतिरिक्त उस का ह्रस्व रूप ॲ भी व्यवहृत होता है। हिंदी में दोनों के लिए दीर्घ रूप का ही व्यवहार लिखने और बोलने में साधारणतया किया जाता है।

उदा० *कॉङ्ग्रेस, कॉन्फ़्रेन्स, लॉर्ड*।

१५. *ऑ* : यह अर्द्धविवृत् ह्रस्व पश्चस्वर है। इस के उच्चारण में जीभ का पिछला भाग अर्द्धविवृत पश्च प्रधान स्वर के स्थान की अपेक्षा कुछ ऊपर की तरफ तथा अंदर की ओर दबा हुआ रहता है और होठ खुले गोल रहते हैं। इस का व्यवहार ब्रजभाषा में पाया जाता है।

उदा० अवलोकि *हौं सोच विमोचन* को (कवितावली, बाल०, १), *बरु मारिए मोहिं बिना पग धोए हौं नाथ न नाव चढ़ाइहौं* जू। (कवितावली, अयोध्या०, ६)।

१६. *ऑ* : यह अर्द्धविवृत दीर्घ पश्चस्वर है और इस के उच्चारण में होठ कुछ अधिक खुले गोल रहते हैं। प्रधान स्वर ऑ से इस का स्थान कुछ ऊँचा है। इस का व्यवहार भी ब्रजभाषा में मिलता है। देवनागरी लिपि में इस ध्वनि के लिए पृथक् चिह्न न होने के कारण ओ के स्थान पर ओ या औ लिख दिया जाता है किंतु वास्तव में यह ध्वनि इन दोनों से भिन्न है। ब्रज-वासियों के मुख से यह ध्वनि

स्पष्ट रूप में सुनाई पड़ती है। ब्रजभाषा के *वाकों*, *ऐसों*, *गायों*, *खायों* आदि शब्दों में वास्तव में ऑ ध्वनि है।

तेज़ी से बोलने में हिंदी संयुक्त स्वर औ (*अओ*) का उच्चारण मूल स्वर ऑ के समान हो जाता है। उदाहरण के लिए औरत, *मौन*, *सौ* आदि शब्दों के शीघ्र बोलने में औ ध्वनि ऑ के सदृश सुनाई पड़ने लगती है।

१७. *ओ* : यह अर्द्धसंवृत् ह्रस्व पश्चस्वर है। इस के उच्चारण में होठ काफ़ी अधिक गोल किए जाते हैं। प्रधान स्वर ओ की अपेक्षा इस का उच्चारण स्थान अधिक नीचा तथा मध्य की ओर झुका है। इस का व्यवहार हिंदी की कुछ बोलियों में होता है। प्राचीन ब्रजभाषा काव्य में इस ध्वनि का व्यवहार स्वतंत्रता-पूर्वक पाया जाता है।

उदा० *पुनि लेत सोई जेहि लागि अरै* (कवितावली, बाल०,४), ओहि केर *बिटिया* (अवधी बोली)।

१८. ओ : यह अर्द्धविवृत् दीर्घ पश्चस्वर है। इस के उच्चारण में होठ स्पष्ट रूप से गोल हो जाते हैं। प्रधान स्वर *ओ* से इस का उच्चारण स्थान कुछ ही नीचा है। हिंदी में यह मूल स्वर है, संयुक्त स्वर नहीं। संस्कृत की मूल ध्वनि के प्रभाव के कारण इसे संयुक्त स्वर मानने का भ्रम हिंदी में अब तक चला जा रहा है।

उदा० *ओस*, *बोतल*, *चाटो*।

१९. उ : यह संवृत् ह्रस्व पश्चस्वर है। इस के उच्चारण में जीभ का पिछला भाग काफी ऊपर उठता है किंतु ऊ के स्थान की अपेक्षा नीचे तथा मध्य की ओर झुका रहता है। साथ ही होठ बंद गोल किए जाते हैं।

उदा० *उस*, *मधुर*, *ऋतु*।

२०. उ़ : हिंदी की कुछ बोलियों में फुसफुसाहट वाला उ भी पाया जाता है।

फुसफुसाहट वाले स्वर[1] तथा पूर्ण स्वर का स्थान एक ही होता है किंतु दोनों में अंतर है। पूर्ण स्वर के उच्चारण में दोनों स्वरतंत्रियां पूर्ण-रूप से तनी हुई बंद हो जाती हैं जिस से फेफड़ों से निकलती हुई हवा रगड़ खा कर निकलती है और घोष ध्वनियों का कारण होती है। फुसफुसाहट वाले स्वरों के उच्चारण में स्वरतंत्रियों के दो तिहाई होठ बिल्कुल बंद रहते हैं किंतु तने नहीं रहते तथा एक तिहाई होठ खुले रहते हैं जिन से थोड़ी मात्रा में हवा धीरे-धीरे निकल सकती है। यह स्मरण रखना चाहिए कि साधारण साँस लेने में स्वरतंत्रियों का मुँह बिल्कुल खुला रहता है तथा खाँसने के पहले या हम्ज़ा के उच्चारण में यह द्वार बिल्कुल बंद होकर सहसा खुलता है। कानाफूसी में जो बात-चीत होती है वह फुसफुसाहट वाली ध्वनियों की सहायता से ही होती है।

व्रज तथा अवधी[2] में शब्दों के अंत में फुसफुसाहट वाला अर्थात् अघोष उ॒ आता है।

उदा० व्र० *जात्उ॒*, व्र० *आवत्उ॒*; अव० *ऊँट्उ॒*, अव० *भोरउ॒*[2]।

२१. ऊ : यह संवृत दीर्घ पश्च स्वर है। इस के उच्चारण में जीभ का पिछला भाग इतने ऊपर उठ जाता है कि कोमल तालु के बहुत निकट पहुँच जाता है। ऊ का उच्चारण-स्थान प्रधान स्वर ऊ से कुछ ही नीचा है। उ की अपेक्षा ऊ के उच्चारण में होठ अधिक ज़ोर के साथ बंद गोल हो जाते हैं।

उदा० *ऊपर, मसूर, बालू*।

२२. ई : यह संवृत् दीर्घ अग्र स्वर है। इस के उच्चारण में जीभ का अगला भाग इतना ऊपर उठ जाता है कि कठोरतालु के बहुत निकट पहुँच जाता है। प्रधान स्वर ई की अपेक्षा हिंदी ई का उच्चारण-स्थान कुछ नीचा है। ई के उच्चारण में होठ फैले खुले रहते हैं।

---

[1] वा., फो. इ, § ५५
[2] सक, ए. अ, § ११७

उदा० *ईख, अमीर, आती।*

२३. इ : यह संवृत् ह्रस्व अग्र स्वर है। इस का उच्चारण स्थान ई की अपेक्षा कुछ अधिक नीचा तथा अंदर की ओर है। इस के उच्चारण में फैले हुए होठ ढीले रहते हैं।

उदा० *इस, मिलाप, आदि।*

२४. इ̥ : घोष इ का यह फुसफुसाहट वाला रूप है। उच्चारण स्थान की दृष्टि से इन दोनों में कोई भेद नहीं है किंतु इ̥ के उच्चारण में स्वरतंत्रियां घोष ध्वनि नहीं उत्पन्न करतीं बल्कि फुसफुसाहट वाली ध्वनि उत्पन्न करती हैं। यह स्वर ब्रज तथा अवधी[1] आदि बोलियों में कुछ शब्दों के अंत में पाया जाता है।

उदा० *आवत्इ̥, अव० गील्इ̥।*

२५. ए . यह अर्द्धसंवृत् दीर्घ अग्र स्वर है। इस का उच्चारण स्थान प्रधान स्वर ए से कुछ नीचा है। ए के उच्चारण में होठ ई की अपेक्षा कुछ अधिक खुलते हैं।

उदा० *एक, अनेक, चले।*

२६. ए̆ : यह अर्द्धसंवृत् ह्रस्व अग्रस्वर है। इस के उच्चारण में जीभ का अग्रभाग ए की अपेक्षा कुछ अधिक नीचा तथा बीच की ओर झुका हुआ रहता है। इस का व्यवहार साहित्यिक हिंदी में तो नहीं है किंतु हिंदी की बोलियों में इस का व्यवहार बराबर मिलता है।

उदा० *अवधेस के द्वारे सकारे गई* (कवितावली, बाल०, १), अव० *ओहि केर बेटवा।*

२७. ए̥ : घोष ए का यह फुसफुसाहट वाला रूप है। इस का उच्चारण स्थान ए̆ के समान ही है, भेद केवल घोष ध्वनि और फुस-

[1] सक, ए. अ, § ११६

फुसाहट वाली ध्वनि का है। यह ध्वनि अवधी[1] शब्दों में मिलती है जैसे, कहँसूए। ब्रजभाषा में कदाचित् यह ध्वनि नहीं है। साहित्यिक हिंदी में भी इस का प्रयोग नहीं पाया जाता।

२८. ऍ : यह अर्द्धविवृत् दीर्घ अग्र स्वर है इस का उच्चारण-स्थान प्रधान स्वर ऍ से कुछ ऊँचा है। यह स्वर ब्रज की बोली की विशेषताओं में से एक है। ब्रज में संयुक्त स्वर ऐ (अए) के स्थान पर यह मूल स्वर ही बोला जाता है।

उदा० ऍसो, कॅसो।

कादरी[2] हिंदुस्तानी संयुक्त स्वर ऐ को संयुक्त स्वर नहीं मानते हैं। उदाहरणार्थ उन्हों ने ऐब, क़ैद, जै में यही मूल स्वर माना है। चैटर्जी[3] ने बँगला ऐ को भी मूल स्वर ही माना है। वास्तव में हिंदी ऐ साधारणतया संयुक्त स्वर है किंतु जल्दी बोलने में कभी कभी मूल ह्रस्व स्वर ऍ के समान इस का उच्चारण हो जाता है। बेली[4] ने पंजाबी भाषा में ऐ को मूल ह्रस्व स्वर माना है जैसे, पं० पैर, पैले (हि० पहले), शैर (हि० शहर)।

२९. ऍ : यह अर्द्धविवृत ह्रस्व अग्र स्वर है। इस के उच्चारण में जीभ का अग्रभाग ऍ की अपेक्षा कुछ नीचा तथा अंदर की ओर झुका रहता है। इस का व्यवहार ब्रजभाषा काव्य में बराबर मिलता है जैसे, सुत गोद कॅ भूपति लै निकसे (कविता०, बाल०, १)। जैसा ऊपर बताया गया है, हिंदी संयुक्त स्वर ऐ शीघ्रता से बोलने में मूल ह्रस्वस्वर ऍ हो जाता है।

---

[1] सक., ए अ, § ११८

[2] कादरी, हि फो, § पृ० ५१

[3] चै., बे. लै., § १४०

[4] बेली, पजाबी फोनेटिक रीडर, पृ० XIV.

३०. अं : यह अर्द्धविवृत् मध्य ह्रस्वार्द्ध स्वर है और हिंदी अ से मिलता-जुलता है। इस के उच्चारण में जीभ के मध्य का भाग अ की अपेक्षा कुछ अधिक ऊपर उठ जाता है। अंग्रेज़ी में इसे 'उदासीन स्वर (neutral vowel) कहते हैं और ə से चिह्नित करते हैं। यह ध्वनि अवधी[1] बोली में पाई जाती है, जैसे *सोरंहीं*, *रामकं*। पंजाबी भाषा में[2] यह ध्वनि बहुत शब्दों में सुनाई पडती है जैसे, पं० रंईस्, *वंचारा* (हि० विचारा), *नौंकर्* (हि० नौकर्)।

ख. अनुनासिक स्वर

३१. साहित्यिक हिंदी के प्रत्येक स्वर का अनुनासिक रूप भी पाया जाता है। फुसफुसाहट वाले स्वरों और उदासीन स्वर (अं) को छोड़ कर हिंदी बोलियों में आने वाले अन्य विशेष स्वरों के भी प्रायः अनुनासिक रूप होते हैं। मूलस्वरों के समान समस्त अनुनासिक स्वरों का व्यवहार शब्दों में प्रत्येक स्थान पर नहीं मिलता है।

वास्तव में अनुनासिक स्वर को निरनुनासिक स्वर से बिल्कुल भिन्न मानना चाहिए क्योंकि इस भेद के कारण शब्दभेद या अर्थभेद या दोनों ही भेद हो सकते हैं। अनुनासिक स्वरों के उच्चारण में स्थान वही रहता है किंतु साथ ही कोमल तालु और कौवा कुछ नीचे झुक आता है जिस से मुख द्वारा निकलने के अतिरिक्त हवा का कुछ भाग नासिका-विवर में गूँज कर निकलता है। इसी से स्वर में अनुनासिकता आ जाती है।[3]

---

[1] सक, ए अ, § ९६

[2] बेली, पंजाबी फोनेटिक रीडर, पृ० XIV.

[3] देवनागरी लिपि में अनुनासिक स्वर को प्रकट करने के लिए स्वर के ऊपर कहीं बिंदी और कहीं अर्द्धचंद्र लगाया जाता है। इस पुस्तक में उदाहरणों में अनुनासिक स्वर के ऊपर बराबर बिंदी का ही प्रयोग किया गया है।

हिंदी की बोलियों में बुंदेली में अनुनासिक स्वरों का प्रयोग अधिक होता है।

३२. नीचे अनुनासिक स्वर उदाहरण सहित दिए गए हैं :—

साहित्यिक हिंदी में प्रयुक्त अनुनासिक स्वर

अं : अंगरखा, हंसी, गंवार।

आं : आंसू, बांस, सांचा।

ओं : सोंठ, जानवरों, कोसों।

उं : घुंघची, बुंदेली।

ऊं : ऊंघना, सूंघता, गेहूं।

ईं : ईंगुर, सींचना, आईं।

इं : बिंदिया, सिंघाड़ा, घनिंया।

एं : गेंद, बातें, में।

केवल बोलियों में प्रयुक्त अनुनासिक स्वर

ऑं : ब्र० लौं, सौं (कविता०, उत्तर०, ३५)।

ऑं : ब्र० भौं, हौं (कविता०, उत्तर०, ४१, ५६)।

ओं : अव० गोंठिबा[1] (हि० गांठ में बांधूंगा)।

एुं : अव०[2]एुंड़ुआ, (हि० सर पर मटकी या घड़े के नीचे रखने की रस्सी का गोल घेरा) घेंटुआ (हि० गला)

ऐं : ब्र० तैं, तैं (कविता०, उत्तर०, ४४, १२६)।

ऐुं : ब्र० तैं, मैं (कविता०, उत्तर०, ६१, १२८)।

---

[1] सक., ए. अ., § १२१

[2] सक., ए. अ., § १२१

ग. संयुक्त स्वर

३३. हिंदी में केवल दो संयुक्त स्वरों को लिखने के लिए देवनागरी लिपि में पृथक् चिह्न हैं। ये ऐ (अए) और औ (अओ) हैं। इन्हीं चिह्नों का प्रयोग ब्रजभाषा मूलस्वर ऍ और ऑ के लिए तथा संस्कृत, हिंदी की कुछ बोलियों और कुछ साहित्यिक हिंदी के रूपों में पाए जाने वाले अइ और अउ संयुक्त स्वरों के लिए भी किया जाता है। इस पुस्तक में ऐ औ का प्रयोग क्रम से केवल अए अओ संयुक्त स्वरों के लिए किया गया है।

सिद्धांत की दृष्टि से संयुक्त स्वर[1] के उच्चारण में मुख अवयव एक स्वर के उच्चारण-स्थान से दूसरे स्वर के उच्चारण-स्थान की ओर सीधे मार्ग से तेज़ी से बदलते हैं जिस से साँस के एक ही झोंक में, अवयवों में परिवर्तन होती हुई अवस्था में, ध्वनि का उच्चारण होता है। अतः संयुक्त स्वर को दो भिन्न स्वरों का संयुक्त रूप मानना ठीक नही है। संयुक्त स्वर एक अक्षर हो जाता है किंतु निकट आने वाले दो भिन्न स्वर वास्तव में दो अक्षर हैं। यदि ठीक उच्चारण किया जाय तो ऐ (अए) और अ—ए में प्रथम संयुक्त स्वर है और दूसरा दो स्वरों का समूह मात्र है।

सच्चे संयुक्त स्वर तथा निकट में आने-वाले दो या अधिक स्वतंत्र मूल स्वरों में सिद्धांत की दृष्टि से भेद चाहे किया जा सके किंतु व्यवहारिक दृष्टि से दोनों मे भेद करना कठिन है। निकट आने वाले स्वर प्रचलित उच्चारण में संयुक्त स्वर हो जाते हैं। इसी लिए यहां संयुक्त स्वर और स्वरसमूह में भेद नहीं किया गया है—दोनों ही के लिए संयुक्त स्वर शब्द का प्रयोग किया गया है। प्रचलित लिपि चिह्न ऐ औ के अतिरिक्त अन्य संयुक्त स्वरों के लिए मूल स्वरों का व्यवहार किया गया है।

---

[1] वा., फो. इ., § १६९

यदि दो ह्रस्व स्वरों के समूह को सच्चा संयुक्त स्वर माना जाय तो साहित्यिक हिंदी में ऐ (अए), औ (अओ) ही संयुक्त स्वर माने जा सकेंगे।

३४. वास्तव में हिंदी तथा हिंदी की बोलियों में प्रयुक्त दो स्वरों के संयुक्त रूपों की संख्या बहुत अधिक है। नीचे हिंदी तथा हिंदी की बोलियों में व्यवहृत संयुक्त स्वर उदाहरण सहित दिए जा रहे हैं।

साहित्यिक हिंदी में प्रयुक्त दो स्वरों का संयोग[1]

औ (अओ)	:	औरत, चौनी, सौ।
अई	:	कई, गई, नई।
ऐ (अए)	:	ऐसा, कैसा, बैर।
अए	:	गए, नए, घए (चूल्हे में रोटी सेकने की जगह)
आओ	:	आओ, खाओ, लाओ।
आऊ	:	घराऊ, खाऊ, नाऊ।
आई	:	आई, काई, नाई।
आए	:	राए, गाए, जाए।
ओई	:	खोई, लोई, कोई।
ओए	:	बोए, खोए, रोए।
ओआ	:	सोआ, खोआ, चोआ।
उआ	:	बुआ, चुआ, जुआ।

[1] यहा पर यह स्मरण दिला देना अनुचित न होगा कि सयुक्त स्वरो के एक अश मे इ, ई, ए या ए होने पर तालव्य अर्द्ध स्वर य् तथा उ, ऊ, ओ या ओ होने पर कठ्योष्ठ्य अर्द्ध स्वर व् लिखने की प्रथा रही है, जैसे आयी, आये, लिया, वियोग, बुवा, आवो, खोवा, केवडा आदि। उच्चारण की दृष्टि से य् या व् का आना सदिग्ध है, इसी लिए इस तरह के समस्त स्वरसमूहो को सयुक्त स्वर माना गया है।

उई	:	सुई, चुई, रुई।
उए	:	चुए, कुए, जुए।
इआ	:	लिआ, दिआ, दुनिआ।
इओ	:	विओग, निओग।
इए	:	दिए, लिए, पिए।
एआ	:	खेआ, सेआ, टेआ।
एई	:	खेई, लेई, सेई।

ऊपर के संयुक्त स्वरों के अतिरिक्त कुछ दो स्वरों के संयुक्त रूप विशेष रूप से हिंदी बोलियों में ही पाए जाते हैं। ये उदाहरण सहित[1] नीचे दिए जाते हैं।

अओ	:	ब्र० गओ (हि० गया), ब्र० लओ (हि० लिया)।
अउ	:	अव० तउ (हि० तब), अव० सउ (हि० सौ)।
अऊ	:	ब्र० तऊ (हि० तो भी), ब्र० गऊ (हि० गाय)।
अइ	:	ब्र० अइसी (हि० ऐसी), ब्र० जइसी (हि० जैसी)।
आउ	:	ब्र० आउ (हि० आओ), ब्र० मुटाउ (हि० मुटाव)।
आओ	:	ब्र० नाओ (हि० नाव)।
आइ	:	ब्र० आइ (हि० आ), ब्र० जाइ (हि० जावे)।
ओउ	:	अव० धोउना।
ओइ	:	अव० होइहै (हि० होगा), ब्र० सोइ (हि० वह ही)।
ओअ	:	अव० घोअनउ।
ओआ	:	अव० ढोआ।

---

[1] अवधी के समस्त उदाहरण सक., ए. अ., § १२७ से लिए गए हैं।

ओउ : अव० होउ (हि० होवे), ब्र० धोउन ।

ओओ : ब्र० धोओ (हि० धोया) ।

ओइ : अव० होइ (हि० होवे) ।

उअ : ब्र० सुअन (हि० तोतों), ब्र० चुअन (हि० चूने) ।

उइ : अव० दुइ (हि० दो) ।

ऊई : अव० रूई ।

इअ : ब्र० सिंअत (हि० सींता) ।

इउ : अव० घिउ (हि० घी), ब्र० दिउली (हि० चने के दाने) ।

इई : अव० पिई (हि० पी) ।

एऑ : ब्र० नेंऑला, ब्र० कॅऑड़ा, ब्र० वेऑपार (हि० व्यापार) ।

एउ : अव० देउ (हि० दो—देना) ।

एऑ : ब्र० देऑ (हि० दो—देना), ब्र० सेऑ ।

एइ : अव० देइ (हि० दे), ब्र० लेइ (हि० ले) ।

एए : अव० खेए चलउ ।

३५. हिंदी तथा हिंदी की बोलियों में कुछ तीन संयुक्त स्वर भी मिलते हैं । ये उदाहरण सहित नीचे दिए जा रहे हैं ।

साहित्यिक हिंदी में प्रयुक्त तीन संयुक्त स्वर

अइआ : तइआरी, भइआ, मइआ ।

अउआ : कउआ, ब्र० बुलउआ (हि० बुलावा) ।

आइए : आइए, गाइए, लाइए ।

इन के अतिरिक्त कुछ तीन-संयुक्त-स्वर विशेष रूप से बोलियों में पाए जाते हैं । ये उदाहरण सहित नीचे दिए जाते हैं ।

अउएँ : ब्र० *गउएँ।*

अइओ : ब्र० अइओ (हि० आना), ब्र० जइओं (हि० जाना)।

आइउ : अव० आइउ (हि० तुम आईं) ।

आएउ : अव० *खाएउ ।*

आइओं : ब्र० आइओं (हि० आना), ब्र० जाइओं (हि० जाना) ।

ओइआ : अव० लोइआ (हि० लोई—कम्मल) ।

ओएउ : अव० धोएउ (हि० धोया) ।

उइआ : ब्र० घुइआ ।

इअउ : अव० *जिअउ* (हि० जियो) ।

इआई : ब्र० *सिआई* (हि० सिलाई), ब्र० *पिआई* (हि० पिलाई) ।

इआऊ : ब्र० *पिआऊ ।*

इएउ : अव० *पिएउ* (हि० पिया) ।

एएउ : अव० खेएउ (हि० खेया) ।

एइया : अव० नेइआ ।

घ. स्पर्श व्यंजन

३६. क़् : आधुनिक साहित्यिक हिंदी में इस ध्वनि का व्यवहार केवल फ़ारसी-अरबी के तत्सम शब्दों में किया जाता है। वास्तव में यह विदेशी ध्वनि है। प्राचीन साहित्य में तथा हिंदुस्तानी जनता में क़् के स्थान पर क् हो जाता है। क़् का उच्चारण जिह्वामूल को कौवे के निकट कोमल तालु के पिछले भाग से छुआ कर किया जाता है। यह अल्पप्राण, अघोष, जिह्वामूलीय, स्पर्श व्यंजन है और इस का स्थान जीभ तथा तालु दोनों की दृष्टि से सब से पीछे है।

उदा० *क़ाबिल, मुक़ाम, ताक़* ।

३७. क् : क् का उच्चारण जीभ के पिछले भाग को कोमल तालु से छुआ कर किया जाता है । यह अल्पप्राण, अघोष, स्पर्श व्यंजन है । प्रा० भा० आ० काल में कवर्ग का उच्चारण कोमल तालु के स्थान की दृष्टि से आजकल की अपेक्षा कदाचित् कुछ अधिक पीछे से होता था, अतः क् उस समय क़् के कुछ अधिक निकट रहा होगा। इसी लिए कवर्ग का स्थान 'कंठ्य' माना जाता था । आजकल का स्थान कुछ आगे हट आया है ।

उदा० *कमला, चकिया, एक* ।

३८. ख् : ख् और क् के उच्चारण-स्थान में कोई भेद नहीं है किंतु यह महाप्राण, अघोष, स्पर्श व्यंजन है । ब्रजभाषा, अवधी आदि बोलियों में फ़ारसी-अरबी संघर्षी ख़् के स्थान पर बराबर स्पर्श ख् हो जाता है ।

उदा० *खटोला, दुखड़ा, मुख* ।

३९. ग् : ग् का उच्चारण भी जीभ के पिछले भाग को कोमल तालु से छुआ कर होता है किंतु यह अल्पप्राण, घोष, स्पर्श व्यंजन है । हिंदी की बोलियों में फारसी-अरबी ग़् के स्थान पर ग् हो जाता है किंतु साहित्यिक हिंदी में यह भेद कायम रक्खा जाता है ।

उदा० *गमला, जगह, आग* ।

४०. घ् : घ् का स्थान पिछले कवर्गीय व्यंजनों के समान ही है किंतु यह महाप्राण, घोष, स्पर्श व्यंजन है ।

उदा० *घर, बघारना, बाघ* ।

४१. ट् : समस्त टवर्गीय ध्वनियों का उच्चारण जीभ की नोक को उलट कर उस के नीचे के हिस्से से कठोर तालु के मध्य भाग के निकट छुआ कर किया जाता है । प्राचीन परिभाषा के अनुसार ट् आदि मूर्द्धन्य व्यंजन कहलाते हैं । ट् अल्पप्राण, अघोष, स्पर्श व्यंजन है । उच्चारण की कठिनाई के कारण ही बच्चे टवर्गीय व्यंजनों का उच्चारण बहुत देर में कर पाते हैं ।

कुछ विद्वानों के मत में मूर्द्धन्य व्यंजन ध्वनियें भारत-यूरोपीय काल की नहीं हैं बल्कि आर्यों के भारत में आने पर अनार्यों के संपर्क से इन का व्यवहार प्रा० भा० आ० में होने लगा था। जो हो मूर्द्धन्य ध्वनि वाले शब्दों की संख्या वेदों मे अपेक्षित रूप से कम अवश्य है। हिंदी में ट् का व्यवहार काफी होता है।

उदा० *टीला, काटना, सरपट।*

अंगरेज़ी की ट्, ड् ध्वनियें मूर्द्धन्य नहीं है बल्कि वर्त्स्य हैं अर्थात् ऊपर के मसूड़े पर बिना उलटे हुए जीभ की नोक छुआ कर इन का उच्चारण किया जाता है। हिंदी में वर्त्स्य ट् ड् (ट़् ड़्) न होने के कारण हिंदी बोलने वाले इन ध्वनियों को या तो मूर्द्धन्य (ट् ड्) या दंत्य (त् द्) कर देते हैं।

४२. ठ् : स्थान की दृष्टि से ट् और ठ् में भेद नहीं है किंतु ठ् महाप्राण अघोष, मूर्द्धन्य, स्पर्श व्यंजन है।

उदा० *ठठेरा, कठोर, काठ।*

४३. ड् : ड् का उच्चारण भी जीभ की नोक को उलट कर कठोर तालु के मध्य भाग के निकट छुआ कर होता है किंतु यह अल्पप्राण, घोष, मूर्द्धन्य, स्पर्श व्यंजन है।

उदा० *डमरू, गंडेरी, खड।*

४४. ढ् : ढ् महाप्राण, घोष, मूर्द्धन्य, स्पर्श व्यंजन है। इस का प्रयोग हिंदी में शब्दों के आरंभ में ही पाया जाता है।

उदा० *ढकना, ढपली, ढंग।*

४५. त् : त् का उच्चारण जीभ की नोक से दाँतों की ऊपर की पंक्ति को छूकर किया जाता है। यह अल्पप्राण, अघोष, स्पर्श व्यंजन है।

उदा० *ताल, पत्तल, बात।*

४६. थ् : त् और थ् के उच्चारण-स्थान में कोई भेद नहीं है किंतु थ् महाप्राण, अघोष, स्पर्श व्यंजन है।

उदा० *थोड़ा, सुथरा, साथ।*

४७. द् : द् का उच्चारण भी जीभ की नोक से दाँतों की ऊपर की पंक्ति को छूकर किया जाता है किंतु द् अल्पप्राण, घोष, स्पर्श व्यंजन है।

उदा० *दानव, बदन, चाँद।*

४८. ध् : ध् का उच्चारण भी अन्य तवर्गीय ध्वनियों के समान ही होता है किंतु यह महाप्राण, घोष, स्पर्श व्यंजन है।

उदा० *धान, बधाई, साध।*

४९. प् : प् का उच्चारण दोनों होठों को छुआ कर होता है। ओष्ठ्य ध्वनियों के उच्चारण में जीभ से सहायता विलकुल नहीं ली जाती। प् अल्पप्राण, अघोष, स्पर्श व्यंजन है। अंत्य ओष्ठ्य ध्वनियों में स्फोट नहीं होता।

उदा० *पान, काँपना, आप।*

५०. फ् : प् और फ् का उच्चारण-स्थान एक है किंतु यह महाप्राण, अघोष, स्पर्श व्यंजन है।

उदा० *फूल, बफारा।*

५१. ब् : ब् का उच्चारण भी दोनों होठों को छुआ कर होता है किंतु यह अल्पप्राण, घोष, स्पर्श व्यंजन है।

उदा० *बुनना, साबुन, सब।*

५२. भ् : भ् महाप्राण, घोष, ओष्ठ्य, स्पर्श व्यंजन है।

उदा० *भलाई, सभा।*

ड. स्पर्शसंघर्षी[१]

५३. च् : च् का उच्चारण जीभ के अगले हिस्से को ऊपरी मसूड़ों

---

[१] ध्वनि-सवधी प्रयोग करने के वाद कुछ विद्वान् (दे, चैं. वे. फो, § १६, क़ादरी, हि फो, पृ० ८२; सक, ए अ, ३०) इस परिणाम पर पहुंचे

के निकट कठोरतालु से कुछ रगड़ के साथ छूकर किया जाता है। अतः यह स्पर्शसंघर्षी ध्वनि मानी जाती है। तालु के स्थान की दृष्टि से चवर्गीय व्यंजनों का स्थान टवर्गीय व्यंजनों की अपेक्षा आगे की ओर होने लगा है। प्राचीन काल में संभवतः पीछे की ओर होता था। तभी तो चवर्ग को टवर्ग के पहले रक्खा जाता था। च् अल्प प्राण, अघोष, स्पर्शसंघर्षी व्यंजन है।

उदा० *चन्दन, कचौड़ी, सच*।

५४. छ् : च् और छ् का स्थान एक ही है किंतु छ् महाप्राण, अघोष, स्पर्श व्यंजन है।

उदा० *छीलना, कछुआ, कच्छ*।

५५. ज् : ज् का उच्चारण भी जीभ के अगले हिस्से को ऊपरी मसूड़ों के निकट कठोर तालु से कुछ रगड़ के साथ छूकर किया जाता है। किंतु ज् अल्पप्राण, घोष, स्पर्शसंघर्षी व्यंजन है।

उदा० *जगह, गरजना, साज*।

५६. झ् : झ् का स्थान भी अन्य चवर्गीय ध्वनियों के समान ही है किंतु यह महाप्राण, घोष, स्पर्शसंघर्षी व्यंजन है।

उदा० *झकोरा, उलझना, बाझ*।

है कि भारतीय आधुनिक चवर्गीय ध्वनियें शुद्ध स्पर्श न होकर स्पर्शसघर्षी व्यजन है। मेरी समझ में इस सबध मे एक दो से अधिक हिंदी बोलने वालो पर प्रयोग करके देखने की आवश्यकता है, तभी ठीक निर्णय हो सकेगा। अब तक की खोज के आधार पर यहा चवर्गीय ध्वनियो को स्पर्शसघर्षी मान लिया गया है। बेली ने पजाबी च् ज् को स्पर्शसघर्षी न मान कर स्पर्श व्यजन माना है (बेली, पजाबी फोनेटिक रीडर, पृ० XI)। सभव है कि भारतीय चवर्गीय ध्वनियो को स्पर्शसघर्षी समझने मे कुछ प्रभाव अग्रेजी च् ज् ध्वनियो का भी हो। अगरेजी च् ज् अवश्य स्पर्शसघर्षी है।

च. अनुनासिक

५७. ङ् : ङ् का उच्चारण जीभ के पिछले भाग को कोमल तालु से छुआ कर होता है किंतु उस के उच्चारण में कोमल तालु कौवा सहित नीचे को झुक आता है। जिस से कुछ हवा हलक के नाक के छिद्रों में होकर निकलते हुए नासिका-विवर में गूँज पैदा कर देती है। कोमल तालु के नीचे झुक आने के कारण समस्त अनुनासिक व्यंजनों के उच्चारण में जीभ निरनुनासिक व्यंजनों की अपेक्षा तालु के कुछ अधिक पिछले भाग को छूती है। निरनु-नासिक स्पर्श-व्यंजनों के उच्चारण में कौवा सहित कोमलतालु कुछ पीछे को हटा रहता है जिस से हलक के नासिका के छिद्र बंद रहते हैं। ङ् घोष अल्पप्राण, कंठ्य, अनुनासिक ध्वनि है।

स्वर सहित ङ् हिंदी में नहीं पाया जाता। शब्दों के आदि या अंत में भी इस का व्यवहार नहीं होता। शब्दों के बीच में कवर्ग के पहले ही ङ् सुनाई पडता है। देवनागरी लिपि में ङ् तथा समस्त अन्य पंचम अनु-नासिक व्यंजनों के लिए अब प्रायः अनुस्वार लिखा जाता है।

उदा० अंक, कंघा, बंगू।

५८. ञ् : ञ् घोष, अल्पप्राण, तालव्य, अनुनासिक ध्वनि है। ञ् ध्वनि साहित्यिक हिंदी के शब्दों में नहीं पाई जाती। साहित्यिक हिंदी में चवर्गीय ध्वनियों के पहले आने वाले अनुनासिक व्यंजन का उच्चारण न के समान होता है। सं० चञ्चल, कञ्ज आदि का उच्चारण हिंदी में चन्चल, कन्ज की तरह होता है। अवधी[1] में यह ध्वनि बतलायी जाती है किंतु जो उदाहरण दिए गए हैं (*तमचा, पंजा, संझा*) उन में इस ध्वनि का होना संदिग्ध है। ब्रज की बोली में *नाञ्* (हि० नहीं) *साञ् साञ्* (विशेष प्रकार की आवाज़) आदि

---

[1]सक., ए अ, § ६०

शब्दों में ञ् की सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। यह ञ् भी अनुनासिक य् अर्थात् यँ से बहुत मिलता-जुलता है।

५९. ण् : ण् अल्पप्राण, घोष, मूर्द्धन्य, अनुनासिक व्यंजन है। अनुनासिक होने के कारण इस का उच्चारण निरनुनासिक मूर्द्धन्य व्यंजनों की अपेक्षा कठोर तालु पर कुछ अधिक पीछे की ओर उलटी जीभ की नोक छुआ कर होता है। स्वर सहित यह ध्वनि हिंदी में केवल तत्सम संस्कृत शब्दों में मिलती है और उन में भी शब्दों के आदि में नहीं पाई जाती।

उदा० *गुण, परिणाम, चरण।*

हिंदी में व्यवहृत संस्कृत शब्दों में मूर्द्धन्य स्पर्श-व्यंजनों के पूर्व हलंत ण् का उच्चारण न् के समान हो गया है। जैसे सं० *पण्डित, कण्टक* आदि शब्दों का उच्चारण हिंदी में *पन्डित, कन्टक* की तरह होता है। अर्द्धस्वरों के पहले हलंत ण् ध्वनि रहती है, जैसे *कण्व, पुण्य* आदि। हिंदी की बोलियों में ण् ध्वनि का व्यवहार बिल्कुल भी नहीं होता है। ण के स्थान पर बराबर न् हो जाता है जैसे *चरन, गनेस, गुन।* वास्तव में हिंदी ण् का उच्चारण ड़ँ से बहुत मिलता-जुलता होता है।

६०. न् : न् अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक व्यंजन है। इस के उच्चारण में जीभ की नोक दंत्य स्पर्श व्यंजनों के समान दाँतों की पंक्ति को न छूकर ऊपर के मसूड़ों को छूती है। अतः प्राचीन प्रथा के अनुसार न् को दंत्य मानना ठीक नही है। यह वास्तव में वर्त्स्य है।

उदा० *निमक, बन्दर, कान।*

६१. न्ह् : न्ह् महाप्राण, घोष, वर्त्स्य, अनुनासिक व्यंजन है। हिंदी में इसे मूल ध्वनि नहीं माना जाता रहा है किंतु आधुनिक विद्वान्[1] इसे संयुक्त

---

[1]कादरी, हि फो, पृ० ८९
सक, ए म, § ६२

व्यंजन न मान कर घ्, ध्, भ् आदि की तरह मूल महाप्राण व्यंजन मानते हैं।

उदा० *उन्हों ने*, *कन्हैया*, *जिन्हों ने*।

६२. म् : म् का उच्चारण भी ओष्ठ्य स्पर्श व्यंजनों के समान दोनों होठों को छुआ कर होता है किंतु इस के उच्चारण में अन्य अनुनासिक व्यंजनों के समान कुछ हवा हलक के नाक के छिद्रों में होकर नासिका-विवर में गूँज उत्पन्न करती है। म् अल्पप्राण, घोष, ओष्ठ्य, अनुनासिक व्यंजन है।

उदा० *माता*, *कमाना*, *आम*।

६३. म्ह् : म्ह् महाप्राण, घोष, ओष्ठ्य, अनुनासिक व्यंजन है। न्ह् के समान इसे भी आधुनिक विद्वान्[1] संयुक्त व्यंजन न मान कर मूल महाप्राण व्यंजन मानते हैं।

उदा० *तुम्हारा*, *कुम्हार*, अव० *ब्रम्हा* (हि० ब्रह्मा)

ळ. पार्श्विक

६४. ल् : ल् के उच्चारण में जीभ की नोक ऊपर के मसूड़ों को अच्छी तरह छूती है किंतु साथ ही जीभ के दाहिने-बायें जगह छूट जाती है जिस के कारण हवा पार्श्वों से निकलती रहती है। इस लिए ल् ध्वनि देर तक कही जा सकती है। ल् पार्श्विक, अल्पप्राण, घोष, वर्त्स्य ध्वनि है। ल् ध्वनि का उच्चारण र् के स्थान से ही होता है किंतु इस का उच्चारण र् की अपेक्षा सरल है इस लिए आरंभ में बच्चे र् की जगह ल् बोलते हैं।

उदा० *लाभ*, *खलना*, *बाल*।

६५. ल्ह् : यह ल् का महाप्राण रूप है। बोलियों में इस का

---

[1] क़ादरी, हि. फो, पृ० ८७
सक., ए. अ, § ६१

प्रयोग बराबर मिलता है। न्ह्, म्ह् की तरह इसे भी अन्य महाप्राण व्यंजनों के समान माना गया है।[1]

उदा० ब्र० *सल्हा* (हि० सलाह), अव० *पल्हावन्*, ब्र० *काल्हि* (हि० कल)।

ज. लुंठित

६६. र् : र् के उच्चारण में जीभ की नोक दो-तीन बार वर्त्स या ऊपर के मसूड़े को शीघ्रता से छूती है। र् लुंठित, अल्पप्राण, वर्त्स्य, घोष ध्वनि है। बच्चों को इस तरह जीभ रखने में बहुत कठिनाई पड़ती है इसी लिए बच्चे बहुत दिनों तक र् का उच्चारण नहीं कर पाते।

उदा० *राम, चरण, पार*।

६७. र्ह् : यह र् का महाप्राण रूप है। बोलियों में इस का प्रयोग बराबर होता है। यह ध्वनि शब्द के मध्य में ही मिलती है। ल्ह् आदि के समान र्ह् भी मूल ध्वनि[2] मानी जाती है।

उदा० ब्र० *कर्हानो* (हि० कराहना), अव० *अर्ही* (हि० अरहर)।

झ. उत्क्षिप्त

६८. ड़् : ड़् का उच्चारण जीभ की नोक को उलट कर नीचे के हिस्से से कठोर तालु को झटके के साथ कुछ दूर तक छूकर किया जाता है। ड़् न तो ड् की तरह स्पर्श ध्वनि है और न र् की तरह लुंठित ध्वनि है। ड़् अल्पप्राण, घोष, मूर्द्धन्य, उत्क्षिप्त ध्वनि है। हिंदी में यह नवीन ध्वनियों में

---

[1] कादरी, हि फो, पृ० ९०
सक, ए अ, § ७५

[2] क़ादरी, हि फो, पृ० ९२
सक, ए. अ, § ७२

से एक है। .ड् शब्दों के मध्य या अंत में प्रायः दो स्वरों के बीच में ही आता है।

उदा० *पेड़, बड़ा, गड़बड़।*

६९. .ढ् : .ड् और .ढ् का उच्चारण-स्थान एक ही है किंतु .ढ् महाप्राण, घोष, मूर्द्धन्य, उत्क्षिप्त ध्वनि है। .ढ् वास्तव में .ड् का रूपांतर है ढ का नहीं। यह ध्वनि भी हिंदी में नवीन है और शब्दों के मध्य या अंत में प्रायः दो स्वरों के बीच में पाई जाती है।

उदा० *बढ़िया, बूढ़ा, बढ़।*

ज. संघर्षी

७०. .ह् : विसर्ग या अघोष ह्–.ह्–के उच्चारण में जीभ और तालु अथवा होठों की सहायता बिल्कुल नहीं ली जाती। हवा को अंदर से ज़ोर से फेंक कर मुखद्वार के खुले रहते हुए स्वरयंत्र के मुख पर रगड उत्पन्न कर के इस ध्वनि का उच्चारण किया जाता है। विसर्ग या .ह् और अ के उच्चारण में मुख के समस्त अवयव समान रहते हैं, भेद केवल इतना होता है कि अ के उच्चारण में हवा ज़ोर से नहीं फेंकी जाती और विसर्ग के उच्चारण में हवा ज़ोर से फेंकी जाती है। साथ ही विसर्ग अ के समान घोष ध्वनि नहीं है। विसर्ग वास्तव में अघोष ह्–.ह् मात्र है अतः इसे स्वरयंत्रमुखी, अघोष, संघर्षी ध्वनि कह सकते हैं।

हिंदी में विसर्ग का प्रयोग थोडे से संस्कृत तत्सम शब्दों में होता है। हिंदी के शब्दों में *छः* शब्द तथा *छिः* आदि विस्मयादि बोधक शब्दों में भी इस का व्यवहार मिलता है। *दुःख* शब्द में विसर्ग (प्रा० भा० आ० का जिह्वामूलीय) लिखा तो जाता है, लेकिन इस का उच्चारण क् के समान होता है। ख् (क्+.ह्) ठ् (ट्+.ह्), आदि अघोष महाप्राण व्यंजनों में भी विसर्ग या .ह् ही पाया जाता है।

उदा० *पुनः, प्रायः, छः* ।

७१. ह् : ह और विसर्ग या .ह् का उच्चारण-स्थान एक ही है भेद केवल इतना है कि विसर्ग अघोष ध्वनि है और ह् घोष ध्वनि है । शब्द के अंत में आने वाला ह्[1] घोष रहता है, जैसे *यह, वह, आह* । शब्द के आदि में आने वाले ह् के घोष होने में मतभेद है[2] । घ् (ग्+ह्) ढ् (ड्+ह्) आदि घोष महाप्राण व्यंजनों में घोष ह् पाया जाता है । ह् स्वरयंत्रमुखी, घोष, संघर्षी ध्वनि है ।

उदा० *हाथी, कहता, साहूकार* ।

७२. .ख् : .ख् का उच्चारण जिह्वामूल को कौवे के निकट कोमल तालु से लगा कर किया जाता है किंतु इस के उच्चारण में हलक का दरवाज़ा बिल्कुल बंद नहीं किया जाता अतः हवा रगड़ खा कर निकलती रहती है । .क् के समान स्पर्श ध्वनि न हो कर .ख् जिह्वामूलीय, अघोष, संघर्षी ध्वनि है, अतः ख् आदि स्पर्श व्यंजनों के साथ इसे रखना ठीक नहीं है । .ख् ध्वनि हिंदी में फ़ारसी-अरबी तत्सम शब्दों में ही व्यवहृत होती है । यह भारतीय आर्यभाषा की ध्वनि नहीं है । क़ौवे के निकट से बोली जाने वाली प्राचीन ध्वनियें हिंदी में नहीं थीं अतः हिंदी बोलियों मे ख़् के स्थान पर प्रायः ख् का उच्चारण किया जाता है ।

उदा० *ख़राब, बुख़ार, बलख़* ।

७३. .ग् : .ख् और .ग् के उच्चारण-स्थान एक ही हैं । .ग् भी जिह्वा-मूलीय, संघर्षी ध्वनि है किंतु यह अघोष न हो कर घोष है । .ग् भी भारतीय आर्यभाषा की ध्वनि नहीं है और फ़ारसी-अरबी तत्सम शब्दों में ही पाई जाती है । उच्चारण की दृष्टि से .ग् को ग् का रूपांतर समझना भूल है

---

[1] सक, ए अ, § ८६

[2] सक, ए अ, § ८५, कादरी, हि फो, पृ० ६६

यद्यपि हिंदी बोलियों में ग़् के स्थान पर प्रायः ग् का ही प्रयोग किया जाता है।

उदा० *ग़रीब, चोग़ा, दाग़।*

७४. श् : श् का उच्चारण जीभ की नोक को कठोर तालु को रगड के साथ छूकर किया जाता है। श् अघोष, संघर्षी, तालव्य ध्वनि है। यह ध्वनि प्राचीन है और फ़ारसी-अरबी तथा अंग्रेज़ी आदि से आए हुए विदेशी शब्दों में भी मिलती है। हिंदी बोलियों में श् के स्थान पर प्रायः स् का उच्चारण होता है।

उदा० *शब्द, पशु, वश; शायद, पश्मीना; शेयर* (Share)।

७५. स् : स् का उच्चारण जीभ की नोक से वर्त्स स्थान को रगड़ के साथ छूकर किया जाता है। स् वर्त्स्य, संघर्षी, अघोष ध्वनि है।

उदा० *सेना, कसना, पास।*

७६. ज़् : ज़् और स् का उच्चारण-स्थान एक ही है अर्थात् ज़् भी वर्त्स्य, संघर्षी ध्वनि है किंतु यह स् की तरह अघोष न हो कर घोष है। अतः वास्तव में ज़् स्पर्श ज् का रूपांतर न होकर स् का रूपांतर है। ज़् भी विदेशी ध्वनि है और फारसी-अरबी तत्सम शब्दों में ही व्यवहृत होती है। हिंदी बोलियों में ज़् के स्थान पर ज् हो जाता है।

उदा० *ज़ालिम, गुज़र, बाज़।*

७७. फ़् : फ़् का उच्चारण नीचे के होठ को ऊपर की दाँतों की पंक्ति से लगा कर किया जाता है, साथ ही होठों और दाँतों के बीच से रगड़ के साथ हवा निकलती रहती है। फ़् दंत्योष्ठ्य, संघर्षी, अघोष ध्वनि है। ध्वनि-शास्त्र की दृष्टि से फ़् को स्पर्श फ् का रूपांतर मानना उचित नहीं है। फ़् भी हिंदी में विदेशी ध्वनि है और फ़ारसी-अरबी के तत्सम शब्दों में ही व्यवहृत होती है। हिंदी बोलियों में इस का स्थान फ् ले लेता है क्योंकि यह हिंदी की प्राचीन प्रचलित ध्वनियों में फ़् के निकटतम है।

उदा० *फ़ारसी, साफ़, बर्फ़।*

७८. व् : व् का उच्चारण भी नीचे के होठ को ऊपर के दाँतों से लगा कर किया जाता है, साथ ही होठ और दाँतों के बीच से रगड़ खाकर कुछ हवा निकलती रहती है। व् दंत्योष्ठ्य, संघर्षी घोष ध्वनि है[1]। व् की अपेक्षा व् ध्वनि सरल है। हिंदी की बोलियों में व् के स्थान पर प्रायः व् का ही उच्चारण होता है। व् प्राचीन ध्वनि है। हिंदी में व्यवहृत विदेशी शब्दों में भी यह ध्वनि पाई जाती है।

उदा० *वन, चावल, यादव, वलवला।*

ट. अर्द्धस्वर

७९. य् : य् का उच्चारण जीभ के अगले भाग को कठोर तालु की ओर ले जा कर किया जाता है किंतु जीभ न चवर्गीय ध्वनियों के समान तालु को अच्छी तरह छूती ही है और न इ आदि तालव्य स्वरों के समान दूर ही रहती है। अतः य् को अंतस्थ या अर्द्धस्वर अर्थात् व्यंजन और स्वर के बीच की ध्वनि माना जाता है। जीभ को इस तरह तालु के निकट रखना कठिन है, इसी लिए हिंदी बोलियों में प्राय. य् के स्थान पर शब्द के आरंभ में प्रायः ज् हो जाता है। य् तालव्य, घोष, अर्द्धस्वर है। य् का उच्चारण एअ से मिलता-जुलता होता है।

उदा० *यम, नियम, आय।*

८०. व् : व् जब शब्द के मध्य में हलंत व्यंजन के बाद आता है तो इस का उच्चारण दंत्योष्ठ्य न होकर द्वयोष्ठ्य हो जाता है। किंतु

---

[1]तारी ने (हि. फो, पृ० ६४) महाप्राण व् अर्थात् व्ह का उल्लेख भी किया है। व् के बाद यदि स्वर, ह् हो तो तेज बोलने में स्वर के लुप्त हो जाने से व् का उच्चारण व्ह के समान हो जाता है, जैसे वहाँ > व्हाँ, वहीं > व्हीं। हिंदी में अभी महाप्राण व् का उच्चारण स्थायी रूप से नहीं होता है।

में प्रयुक्त शब्दों का निर्देश कर दिया है। इस अध्याय का समस्त विवेचन हिंदी ध्वनिसमूह के दृष्टिकोण से है अतः उदाहरणों[1] में आधुनिक काल से पीछे की ओर जाने का यत्न किया गया है—पहले हिंदी का रूप दिया गया है और उस के सामने संस्कृत का तत्सम रूप दिया गया है। बहुत कम शब्दों के निश्चित प्राकृत रूप मिलने के कारण प्राकृत उदाहरण बिल्कुल ही छोड़ दिए गए हैं। इस कारण ध्वनि-परिवर्तन की मध्य अवस्था सामने नहीं आ पाती, किंतु इस कठिनाई को दूर करने का अभी कोई उपाय नहीं था। स्थानाभाव के कारण ध्वनि-परिवर्तनों पर विस्तार से विचार नहीं किया जा सका है। तुलनात्मक ढंग से केवल संस्कृत और हिंदी रूप देकर ही संतोष करना पड़ा है। हिंदी ध्वनियों के इतिहास में संस्कृत से नियमित अथवा अपवाद-स्वरूप से आने वाली ध्वनियों का भेद नहीं दिखलाया जा सका है। इन सब त्रुटियों के रहते हुए भी विषय का विवेचन मौलिक ढंग से किया गया है, और कदाचित् हिंदी में अपने ढंग का पहला है।

अ. स्वर-परिवर्तन संबंधी कुछ साधारण नियम

८३. संस्कृत शब्दों के प्राकृत रूपों में ध्वनि-संबंधी परिवर्तन बहुत हुए है, किंतु हिंदी तथा अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं में आने पर इस तरह के परिवर्तन अपेक्षाकृत कम पाए जाते हैं। संस्कृत शब्दों के स्वर हिंदी में आने पर प्रायः ज्यों के त्यों रहते हैं, यद्यपि बहुत से उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिन में स्वर-परिवर्तन हो जाता है। वास्तव में हिंदी में आने पर संस्कृत के स्वरों में अनेक प्रकार के परिवर्तन पाए जाते हैं। स्वरों का एक-दूसरे में परिवर्तित हो जाना साधारण बात है। ये परिवर्तन एक ही स्वर के ह्रस्व

---

[1] उदाहरण इकट्ठे करने में बी, के ग्रै, तथा चै, बे. लै. से विशेष सहायता ली गई है।

अध्याय २

हिंदी ध्वनियों का इतिहास

८२. पिछले अध्याय में साहित्यिक हिंदी तथा हिंदी की बोलियों में पाई जाने वाली समस्त ध्वनियों का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। इस अध्याय में आधुनिक साहित्यिक हिंदी में प्रयुक्त ध्वनियों का इतिहास देने का यत्न किया जायगा। बोलियों में प्रयुक्त विशेष ध्वनियों के संबंध में ऐतिहासिक सामग्री की कमी के कारण बोली वाली ध्वनियों का इतिहास नहीं दिया जा सका है। फारसी-अरबी तथा अंग्रेज़ी से आई हुई विशेष ध्वनियों का उल्लेख भी नहीं किया गया है, क्योंकि इन का इतिहास स्पष्ट ही है। हिंदी में आने पर विदेशी शब्दों तथा उन में होने वाले ध्वनि-परिवर्तनों की विस्तृत समीक्षा अगले अध्याय में की गई है। इस अध्याय में प्राचीन भारतीय आर्य-ध्वनियों के उद्गम से आई हुई ध्वनियों पर ही विचार किया गया है।

ध्वनि-संबंधी परिवर्तनों को दिखलाने के लिए तत्सम शब्दों से बिल्कुल भी सहायता नहीं मिलती है। आधुनिक साहित्यिक हिंदी में तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत बढ़ गया है। क्योंकि ध्वनियों के इतिहास का अध्ययन केवल तद्भव शब्दों में ही हो सकता है, अतः इस अध्याय के उदाहरण के अंशों में प्रायः ऐसे शब्द दिखलाई पड़ेंगे जिन का प्रयोग साहित्यिक हिंदी की अपेक्षा हिंदी की बोलियों में विशेष रूप से होता है। केवल मात्र बोलियों

में प्रयुक्त शब्दों का निर्देश कर दिया है। इस अध्याय का समस्त विवेचन हिंदी ध्वनिसमूह के दृष्टिकोण से है अतः उदाहरणों[1] में आधुनिक काल से पीछे की ओर जाने का यत्न किया गया है—पहले हिंदी का रूप दिया गया है और उस के सामने संस्कृत का तत्सम रूप दिया गया है। बहुत कम शब्दों के निश्चित प्राकृत रूप मिलने के कारण प्राकृत उदाहरण बिल्कुल ही छोड़ दिए गए हैं। इस कारण ध्वनि-परिवर्तन की मध्य अवस्था सामने नहीं आ पाती, किंतु इस कठिनाई को दूर करने का अभी कोई उपाय नहीं था। स्थानाभाव के कारण ध्वनि-परिवर्तनों पर विस्तार से विचार नहीं किया जा सका है। तुलनात्मक ढंग से केवल संस्कृत और हिंदी रूप देकर ही संतोष करना पड़ा है। हिंदी ध्वनियों के इतिहास में संस्कृत से नियमित अथवा अपवाद-स्वरूप से आने वाली ध्वनियों का भेद नहीं दिखलाया जा सका है। इन सब त्रुटियों के रहते हुए भी विषय का विवेचन मौलिक ढंग से किया गया है, और कदाचित् हिंदी में अपने ढंग का पहला है।

अ. स्वर-परिवर्तन संबंधी कुछ साधारण नियम

८३. संस्कृत शब्दों के प्राकृत रूपों में ध्वनि-संबंधी परिवर्तन बहुत हुए हैं, किंतु हिंदी तथा अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं में आने पर इस तरह के परिवर्तन अपेक्षाकृत कम पाए जाते हैं। संस्कृत शब्दों के स्वर हिंदी में आने पर प्रायः ज्यों के त्यों रहते हैं, यद्यपि बहुत से उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिन में स्वर-परिवर्तन हो जाता है। वास्तव में हिंदी में आने पर संस्कृत के स्वरों में अनेक प्रकार के परिवर्तन पाए जाते हैं। स्वरों का एक-दूसरे में परिवर्तित हो जाना साधारण बात है। ये परिवर्तन एक ही स्वर के ह्रस्व

---

[1] उदाहरण इकट्ठे करने में वॉ, के ग्रै, तथा पं, वे. लै. से विशेष सहायता ली गई है।

और दीर्घ रूपों में भी पाए जाते हैं तथा भिन्न स्थान वाले स्वरों में भी आपस में पाए जाते हैं। हिंदी के दृष्टि-कोण से इन परिवर्तनों के पर्याप्त उदाहरण आगे दिए गए हैं।

८४. बीम्स[1] आदि विद्वानों ने भारतीय आर्यभाषाओं के स्वर-परिवर्तनों के संबंध में कुछ साधारण नियम दिए हैं किंतु ये व्यापक सिद्ध नियम नहीं समझे जा सकते। इन में से उदाहरण-स्वरूप कुछ मुख्य नियम नीचे दिए जाते हैं:—

(१) संस्कृत शब्दों का अंतिम स्वर म० भा० आ० काल के अंत तक चला था, बल्कि कुछ कुछ तो आधुनिक काल के आरंभ में भी पाया जाता था। म० भा० आ० काल के अंत में दीर्घ स्वर—आ,—ई,—ऊ, धीरे धीरे—अ, —इ, —उ, में परिवर्तित हो गए थे और —ए, —ओ का परिवर्तन —इ —उ में हो गया था। इन दीर्घ तथा संयुक्त से ह्रस्व हुए स्वरों और मूल ह्रस्व स्वरों में कोई भेद नहीं रह सका। आ० भा० आ० में शब्दों के अंत में ये ह्रस्व स्वर कुछ दिनों रहे किंतु धीरे-धीरे इन का भी लोप हो गया। अब हिंदी के तद्भव शब्द उच्चारण की दृष्टि से बहुत सख्या में व्यंजनांत हो गए हैं। लिखने में यह परिवर्तन अभी साधारणतया नहीं किया जाता है। हिंदी की कुछ बोलियों में अंत्य —अ, —इ, आदि का उच्चारण कुछ-कुछ प्रचलित है।[2]

(२) गुणवृद्धि परिवर्तन संस्कृत में पाए जाते हैं। प्राकृत में इन परिवर्तनों का अभाव है अतः आ० भा० आ० में भी ये प्रायः नहीं पाए जाते। किंतु हिंदी में संधि के पूर्व के इ उ ह्रस्व स्वर कभी-कभी दीर्घ

---

[1] बी, क ग्रे, भा० १, अ० २
चै, वे लै, §१४८

[2] ध्वनि-सबधी प्रयोगो के बाद सकसेना (ए अ §११४) इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि अवधी में कुछ अत्य स्वर केवल फुसफुसाहट वाले है।

में न बदल कर कदाचित् ऎ ऒ होकर अंत में गुण (ए ओ) में बदल जाते हैं:—

कोढ़ < कुष्ठ

कोख < कुक्षि

बेल < बिल्व

सेम < शिम्बा

तत्सम शब्दों को छोड़ कर हिंदी में तद्भव शब्दों में वृद्धि-स्वरों (ऐ, औ) का प्रयोग बहुत कम मिलता है। ऐ औ प्रायः ए, ओ में परिवर्तित हो जाते हैं:—

केवट < कैवर्त्त

गेरू < गैरिक

गोरा < गौर

(३) ऋ का उच्चारण कदाचित् संस्कृत में ही शुद्ध मूल स्वर के समान नहीं रह गया था। प्राकृत में तो ऋ मिलती ही नहीं, इस के स्थान में अ इ उ आदि कोई अन्य स्वर हो जाता है। कुछ प्राकृत शब्दों में *रि* या *रु* रूप भी मिलते हैं। हिंदी तत्सम शब्दों में ऋ का उच्चारण *रि* के समान होता है। तद्भव शब्दों में ऋ किसी अन्य स्वर में परिवर्तित हो जाती है। इन परिवर्तनों के उदाहरण आगे दिए गए हैं। नीचे दिए हुए समस्त ध्वनि-परिवर्तन एक तरह से अपवाद-स्वरूप हैं। साधारण नियम यही है कि संस्कृत शब्दों के स्वर हिंदी में प्रायः ज्यों के त्यों रहते हैं।

आ. हिंदी स्वरों का इतिहास

८५. हिंदी के एक-एक स्वर को लेकर नीचे यह दिखलाने का यत्न किया गया है कि यह किन-किन संस्कृत ध्वनियों का परिवर्तित रूप हो सकता है। उदाहरणों में पहले हिंदी का शब्द दिया गया है तथा उस के आगे उस शब्द

का संस्कृत पूर्व-रूप दिया गया है। बहुत से हिंदी शब्द प्राकृत काल के बाद संस्कृत से सीधे लिए गए थे अतः उन के वर्तमान रूप प्राकृत रूपों से विकसित नहीं हुए हैं। ऐसे शब्दों की ध्वनियों के अध्ययन में प्राकृत रूपों से विशेष सहायता नहीं मिल सकती। तो भी ध्वनियों के इतिहास के अध्ययन में प्राकृत रूप कुछ न कुछ साधारण सहायता अवश्य देते हैं। कुछ नहीं तो इतनी बात तो निश्चित हो ही जाती है कि अमुक हिंदी शब्द प्राचीन तद्भव है अर्थात् प्राकृत भाषाओं से होकर आया हुआ है, अथवा आधुनिक तद्भव है अर्थात् प्राकृत काल के बाद का आया हुआ है। क्योंकि प्राकृत साहित्य परिमित है अतः प्रत्येक हिंदी शब्द का प्राकृत रूप मिल सके यह आवश्यक नहीं है। अनुमान के आधार पर प्राकृत रूप गढ़े जा सकते हैं, किंतु ऐसे रूपों से ठीक निर्णय पर पहुँचना संभव नहीं है। इन्हीं कठिनाइयों के कारण, जैसा ऊपर निर्देश किया जा चुका है, इस अध्याय में प्राकृत शब्दों के देने का प्रयास ही नहीं किया गया है। प्रायः एक ही शब्द में अनेक ध्वनि-परिवर्तन हुए हैं अतः एक ही शब्द कभी-कभी कई स्थलों पर उदाहरण-स्वरूप मिलेगा। प्रत्येक स्थल पर उस शब्द में पाए जाने वाले निर्दिष्ट ध्वनि-परिवर्तन पर ही ध्यान देना उचित होगा।

क. मूलस्वर

८६. *हि० अ*[1] *:*

सं० अ :	*पहर*	*प्रहर*
	थन	*स्तन*
	थल	*स्थल*

---

[1] अंत्य अ का उच्चारण साहित्यिक हिंदी में प्राय नही होता किंतु बोलियो में यह कुछ-कुछ अब भी चला जाता है। इन उदाहरणो में अंत्य अ का होना मान लिया गया है।

सं० आ:	अचरज	आश्चर्य
	महंगा	महार्घ
	मंजन	मार्जन
सं० इ :	बादल	वारिद
	भबूत	विभूति
सं० ई :		
	गाभिन	गर्भिणी
	गहरा	गभीर
	पाकड़	पर्कटी
सं० उ :		
	कबरा	कर्बुर
	चोंच	चंचु
	बूंद	बिंदु
सं० ऋ :		
	मरा	मृत
	घर[1]	गृह

८७. हि० आ :

सं० आ :		
	आम	आम्र
	आस	आशा
	थान	स्थान

---

[1]टर्नर (दे, नेपाली डिक्शनरी पृ० १५४) हि० घर की व्युत्पत्ति स० गृह से न मान कर भा० यू० घ्वोरो (अर्थ-अग्नि, गरमी, घर में अग्नि का स्थान) से मानते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि यह सभावित रूप मात्र है।

सं० ऋ :

काम	कर्म
बकरा	बर्कर
महगा	महार्घ

सं० ऋ :

सांकर	शृंखला
कान्ह	कृष्ण
नाच	नृत्य

८८. हि० ओ :

सं० ओ :

घोड़ा	घोटक
कोइल	कोकिल
होठ	ओष्ठ

सं० अ :

चोंच	चंचु
नोन (बो०)	लवण
पोहे (बो०)	पशु

सं० उ :

पोखर	पुष्कर
कोख	कुक्षि
कोढ़	कुष्ठि

सं० औ :

गोरा	गौर
मोती	मौक्तिक
झोली	झौलिक

८९. हि० उ :

सं० उ :

कुंजी	कुंचिका
उजला	उज्वल
खुर	क्षुर

सं० अ :

उंगली	अंगुली
पुआल	पलाली
खुजली	खर्जू

सं० ऊ :

महुआ	मधूक
सुई	सूचिका

सं० ऋ :

मुआ (ब्र०)	मृत
सुरत (ब्र०)	स्मृति

सं० व :

सुर	स्वर
तुरंत	त्वरित

९०. हिं० ऊ :

सं० ऊ :

ऊन	ऊर्णा
रूखा	रूक्षक

सं० अ :

मूछ	श्मश्रु

सं० इ :

बूंद	विंदु
ऊख	इक्षु
बिच्छू	वृश्चिक

सं० उ :

मूसल	मुषल
बालू	बालुका

सं० ऋ :

बूढा	वृद्ध
रूख (ब्र०)	वृक्ष
पूछे	पृच्छति

९१. हिं० ई :

सं० ई :

पानी	पानीय
सीस	शीर्ष
कीड़ा	कीट

सं० अ :

बहंगी	वाहांग
करसी	करीष
तीसी	अतसी

सं० इ :

चीता	चित्रक
जीभ	जिह्वा
हाथी	हस्तिन्

सं० उ :

बाई	वायु
बिंदी	बिंदु

सं० ऋ :

सींग	शृंग
भतीजा	भ्रातृज
जमाई	जामातृ

९२. हि० इ :

सं० इ :

किरन	किरण
बहिरा	बधिर
गाभिन	गर्भिणी

सं० अ :

पिंजड़ा	पंजर

गिनना	गणन
इमली	अम्लिका

सं० ई :

दिया	दीपक
दिवाली	दीपावली

सं० ऋ :

बिच्छू	वृश्चिक
मिट्टी	मृत्तिका
गिद्ध	गृद्ध

९३. हि० ए :

सं० ए :

एक	एक
जेठ	ज्येष्ठ
सेठ	श्रेष्ठिन्

सं० अ :

सेंध	संधि
केकड़ा	कर्कट
छेरी	छगल

सं० इ :

वेल	विल्व
वेंदी	विंदु
सेम	शिंवा

सं० उ :

फेफड़ा	फुप्फुस

सं० ऊ :

नेउर	नूपुर

सं० ऋ :

देखना	√दृश्

सं० ऐ :

गेरू	गैरिक
केवट	कैवर्त
तेल	तैल

सं० औ :

गेहूं	गोधूम

ख. अनुनासिक स्वर

९४. हिंदी में प्रायः प्रत्येक स्वर निरनुनासिक और अनुनासिक दोनों रूपों में व्यवहृत होता है। अनुनासिक स्वर प्रायः उन शब्दों में पाए जाते हैं जिन के तत्सम रूपों में कोई अनुनासिक व्यंजन रहा हो और उस का लोप हो गया हो, जैसे :—

कांटा	कटक
कांपना	कंपन
क्वारा	कुमार
पैंतीस	पञ्चत्रिंशत्
चांद	चंद्र

भौंरा	*भ्रमर*
सांई	*स्वामी*
मुइं (बो०)	*भूमि*

९५. उच्चारण की दृष्टि से अनुनासिक व्यंजनों के निकटवर्ती स्वर अनुनासिक हो जाते हैं यद्यपि साधारणतया लिखने में यह परिवर्तन नहीं दिखलाया जाता,[1] जैसे :—

लिखित रूप	उच्चरित रूप
आम	*आंम*
राम	*रांम*
हनूमान	*हंनूंमांन*
कान	*कांन*
तुम	*तुंम*
महाराज	*महांराज*

९६ हिंदी में अनुनासिक स्वरों के कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जो अकारण ही अनुनासिक हो गए हैं, और जिन के तत्सम रूपों में कोई अनुनासिक ध्वनि नही पाई जाती। सुविधा के लिए इसे अकारण अनुनासिकता[2] कह सकते हैं, जैसे :—

---

[1] अवधी, व्रजभापा आदि के प्राचीन हस्तलिखित ग्रथो में वहुत से स्थलो पर उच्चारण के अनुसार कभी-कभी लिखने में भी इस तरह के परिवर्तन दिखलाए गए हैं। तुलसीकृत 'मानस' की कुछ हस्तलिखित प्रतियो में इस तरह के रूप पाए जाते हैं, जैसे, राम, कान, जामवन्त, अतिवलवाना आदि।

[2] सिद्धेश्वर वर्मा, नैंज़ेलाइज़ेशन इन हिंदी लिटरेरी वर्क्स, (जर्नल आव दि डिपार्टमेंट आव लेटर्स, कलकत्ता, भाग १८), चै, वें लै, § १७८

आंसू	अश्रु
साच (बो०)	सत्य
सांस	श्वास
भौं	भ्रू
जूं	यूक

ग. संयुक्त स्वर

९७. प्राचीन भारतीय आर्यभाषा में केवल ए, ओ, ऐ, औ यह चार संयुक्त स्वर माने जाते थे, और इन के संबंध में धारणा यह है कि इन के मूल रूप निम्न-लिखित स्वरों के संयोग से बने थे :—

ए	:	अ+इ
ओ	:	अ+उ
ऐ	:	आ+इ
औ	:	आ+उ

जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है (दे० § २.) वैदिक तथा संस्कृत काल में ही ए , ओ का उच्चारण मूल दीर्घस्वरों के समान हो गया था, जो आज भी आधुनिक आर्यभाषाओं में प्रचलित है। अतः हिंदी ए, ओ का विवेचन मूल स्वरों के साथ किया गया है। प्राकृतों में ह्रस्व ए, ओ का व्यवहार भी मिलता है। आधुनिक साहित्यिक हिंदी में ये ध्वनियां अधिक शब्दों में नहीं पाई जातीं, यद्यपि हिंदी की कुछ बोलियों में इन का व्यवहार बराबर मिलता है। ए़ ओ़ संधिस्वर नहीं हो सकते। इन का इतिहास भी प्राकृत काल के पूर्व नहीं जा सकता।

वैदिक काल में ऐ औ का पूर्व स्वर दीर्घ था (आ+इ; आ+उ) किंतु भा० आ० भा० के मध्यकाल के पूर्व ही इस दीर्घ आ का उच्चारण ह्रस्व अ के समान होने लगा था। आजकल संस्कृत में ऐ, औ का उच्चारण अइ, अउ

के समान ही होता है। हिंदी की कुछ बोलियों में ऐं, औं का यह उच्चारण अब भी प्रचलित है। आधुनिक साहित्यिक हिंदी में ऐ, औ का उच्चारण अए अओ हो गया है। प्राचीन अइ, अउ उच्चारण बहुत कम शब्दों में पाया जाता है। पाली प्राकृत में ऐ, औ संयुक्त स्वरों का बिल्कुल भी व्यवहार नहीं होता था।

यद्यपि पाली प्राकृत वर्णमालाओं में संयुक्त स्वर एक भी नहीं रह गया था, तो भी व्यंजनों के लोप के कारण उच्चारण की दृष्टि से प्राकृत शब्दों में निकट आने वाले स्वरों की संख्या बहुत अधिक बढ गई थी। उदाहरण के लिए जब सं० *जानाति*, *एति*, *हित*, *प्राकृत*, *लता* तथा *शत* का उच्चारण महाराष्ट्री प्राकृत में क्रम से *जाणइ*, *एइ*, *हिअ*, *पाउअ*, *लआ* तथा *सअ* हो गया था, तो अनेक स्वर-समूहों का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। इस दृष्टि से प्राकृत भाषाओं में स्वर-समूहों का व्यवहार वैदिक तथा संस्कृत भाषाओं की अपेक्षा कहीं अधिक था।

प्राकृत तथा अपभ्रंशों से विकसित होने के कारण हिंदी आदि आधुनिक आर्य-भाषाओं में भी संयुक्त स्वरों का व्यवहार संस्कृत की अपेक्षा अधिक पाया जाता है। साहित्यिक हिंदी तथा हिंदी की बोलियों में व्यवहृत संयुक्त स्वरों की सूची उदाहरण सहित पिछले अध्याय में दी जा चुकी है। हिंदी संयुक्त स्वरों का इतिहास प्रायः अपभ्रंश तथा प्राकृत भाषाओं तक ही जाता है। मूलस्वरों के समान इन का इतिहास साधारणतया प्रा० भा० आ० तक नहीं पहुँचता। अपभ्रंश तथा प्राकृत के संयुक्त स्वरों का पूर्ण विवेचन सुलभ न होने के कारण हिंदी संयुक्त स्वरों का इतिहास[1] भी अभी ठीक-ठीक नहीं दिया जा सकता। ऐसी स्थिति में पिछले अध्याय में समस्त संयुक्त स्वरों तथा स्वर-समूहों की सूची देकर ही संतोष करना पड़ा है।

---

[1] हा, हि ग्रै, §६८–९८
बगाली सयुक्त स्वरो के लिए दे०, चै. बें लै, §२०४–२३१

यदि दो ह्रस्व स्वरों के समूह को सच्चा संयुक्त स्वर माना जाय तो साहित्यिक हिंदी में ऐ (अए) औ (अओ) ही संयुक्त स्वर रह जाते हैं। इन का इतिहास नीचे दिया जाता है।

९८. हि० ऐ (अए) :

सं० ऐ (अइ) :

बैर	वैर
बैराग	वैराग्य
चैत	चैत्र

सं० अ :

पैसठ	पंचषष्ठि
रैन	रजनी

सं० अय :

नैन (बो०)	नयन
समै (बो०)	समय
निहिचै (बो०)	निश्चय

नोट[1]—(१) बैल, मैला, थैली आदि शब्दों में सं० बली, मलीन, स्थली की ई के प्रभाव से अ का ऐ हो गया है।

(२) ऐसा, कैसा आदि शब्दों में प्रा० एरिसो (सं० ईदृश), प्रा० केरिसो (सं० कीदृश) आदि के र् के लोप होने से इ के संयोग से ए का ऐ हो गया है।

९९. हि० औ (अओ)

---

[1] बी, क. ग्रै, § ३५,४२

सं० अव :

लौंग	*लवंग*
व्यौसाय (बो०)	*व्यवसाय*

नोट[१]—(१) शब्द के मध्य में आने वाले प या म के व में परिवर्तित हो जाने से भी कभी-कभी औ की उत्पत्ति हो जाती है, जैसे :—

सौत	*सपत्नी*
कौड़ी	*कपर्द*
बौना	*वामन*
चौंरी	*चामर*

(२) प्राकृत में मध्य त् के लोप हो जाने से अ और उ के संयोग से भी कुछ शब्दों में औ आया है, जैसे—

चौथा	*चतुर्थ*
चौदह	*चतुर्दश*

इ. स्वर-संबंधी विशेष परिवर्तन

१००. ऊपर दिए हुए स्वरों के इतिहास के अतिरिक्त स्वरों के संबंध मे कुछ अन्य विशेष परिवर्तन भी ध्यान देने योग्य हैं। इन में स्वरों का लोप, आगम तथा विपर्यय मुख्य हैं।

क. स्वर-लोप

बहुत से ऐसे हिंदी शब्दों के उदाहरण मिलते हैं, जिन के संस्कृत रूपों में आदि, मध्य या अंत्य स्वर वर्तमान था, किंतु बाद को उस का लोप

---

[१] बी, क ग्रै, §४२,३६

हो गया । इस संबंध में बीम्स[1] ने कुछ रोचक उदाहरण संगृहीत किए हैं जिन में से कुछ नीचे दिए जाते हैं ।

आदिस्वर-लोप

अ :	भीतर	अभ्यंतरे
	भींजना	अभि—√ अञ्ज्
	भी	अपि
	रहटा	अरघट्ट
	तीसी	अतिसी
उ :	बैठना	उपविष्ट्

मध्यस्वर-लोप

मध्यस्वर का पूर्ण लोप बहुत कम पाया जाता है । स्वर-परिवर्तन साधारण बात है, और इस के उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं । शब्दांश के अंत में आने वाले ह्रस्व अ का हिंदी में प्रायः लोप हो जाता है । लिखने में यह परिवर्तन अभी नहीं दिखाया जाता है । जैसे—

लिखित रूप	उच्चरित रूप
इमली	इम्ली
बोलना	बोल्ना
चलना	चल्ना
गरदन	गर्दन
कमरा	कम्रा
तरबूज़	तर्बूज़

[1] बी., क. ग्रै., § ४६

दिखलाया	*दिख्लाया*
समझना	*समझ्ना*
बलहीन	*बल्हीन*

अंत्यस्वर-लोप

अ: ऊपर बतलाया जा चुका है कि आधुनिक साहित्यिक हिंदी मे अंत्य अ का लोप अत्यंत साधारण परिवर्तन है। इस कारण अधिकांश अकारांत शब्द व्यंजनांत हो गए हैं। लिखने में यह परिवर्तन अभी नहीं दिखाया जाता है, जैसे—

लिखित रूप	उच्चरित रूप
चल	चल्
घर	घर्
सब	सब्
परिवर्तन	परिवर्तन्
साधारण	साधारण्
केवल	केवल्
तत्सम	तत्सम्

इस नियम के कई अपवाद[1] भी हैं। अंत्य अ के पहले यदि संयुक्त व्यंजन हो तो अ का उच्चारण होता है, जैसे *कर्तव्य*, *आरंभ*, *दीर्घ*, *आर्य*, *संबंध* आदि। यदि अंत्य अ के पहले इ, ई वा ऊ के आगे आने वाला य हो तो भी अंत्य अ का उच्चारण होता है जैसे *प्रिय*, *सीय*, *राजसूय* इत्यादि।

शब्दांश अथवा शब्द के अंत में आने वाले अ का लोप आधुनिक है।

---

[1] गु, हि व्या, ३८

हिंदी की बोलियों में अभी यह ढंग प्रचलित नहीं हुआ है। पुराने हिंदी काव्य-ग्रंथों में भी अंत्य अ का उच्चारण किया जाता है।

अन्य अंत्य स्वरों के लोप के उदाहरण भी बराबर पाए जाते हैं, जैसे—

आ :

नींद्	निद्रा
दूब्	दूर्वा
बात्	वार्ता
दाख्	द्राक्षा
परख्	परीक्षा
जीभ्	जिह्वा

इ :

पाकड़्	पर्कटि
विपत् (बो०)	विपत्ति
आग्	अग्नि

ई :

गाभिन्	गर्भिणी
बहिन्	भगिनी

उ :

बांह	बाहु

ए : संस्कृत सप्तमी के रूपों से विकसित हिंदी शब्दों में ए के लोप के उदाहरण मिलते हैं, जैसे—

पास	पार्श्वे
निकट	निकटे
संग	संगे

ख. स्वरागम

१०१. हिंदी के कुछ शब्दों में नए स्वरों का आगम हो जाता है चाहे तत्सम रूप में उस जगह पर कोई भी स्वर न हो।

आदि-स्वरागम

तत्सम शब्द में आरंभ में ही संयुक्त व्यंजन होने से उच्चारण की सुविधा के लिए आदि में कोई स्वर बढ़ा लिया जाता है। साहित्यिक हिंदी में इस तरह के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं, किंतु बोलियों में आदि स्वरागम साधारण बात है, जैसे—

इ :	*इस्त्री*	*स्त्री*
अ :	*अस्नान*	*स्नान*
	अस्तुति	*स्तुति*

मध्य-स्वरागम

शब्द के मध्य में भी स्वरागम प्रायः तब पाया जाता है जब उच्चारण की सुविधा के लिए संयुक्त व्यंजनों को तोड़ने की आवश्यकता होती है। यह प्रवृत्ति भी बोलियों में विशेष पाई जाती है, जैसे—

अ :	*किशन्*	*कृष्ण*
	गरब्	*गर्व*
	चंदर्मा	*चद्रमा*
	जनम्	*जन्म*
इ :	*तिरिया*	*स्त्री*
	गिरहन्	*ग्रहण*
	गिलानि	*ग्लानि*
उ :	*सुमरन्*	*स्मरण*

ग. स्वर-विपर्यय

१०२. कभी-कभी ऐसा पाया जाता है कि स्वर का स्थान बदल जाता है, या दो स्वरों में कदाचित् उच्चारण की सुविधा के लिए स्थान परिवर्तन हो जाता है, जैसे—

लूका	*उल्का*
रेंडी	*एरंड*
उंगली	*अंगुली*
इमली	*अम्लिका*
बूंद	*बिंदु*
ऊख	*इक्षु*
मूछ	*श्मश्रु*

कुछ उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं जिन में एक स्वर दूसरे को प्रभावित कर उसे या तो परिवर्तित कर देता है या दोनों मिल कर तीसरा रूप ग्रहण कर लेते हैं—

सेंध	*सन्धि*
पोहे (बो०)	*पशु*

ई. व्यंजन-परिवर्तन-संबंधी कुछ साधारण नियम

१०३. बीम्स[1] के आधार पर व्यंजन-परिवर्तनों के संबंध में कुछ साधारण नियम संक्षेप में नीचे दिए जाते हैं।

---

[1] बी, क ग्रै, भा० १, अ० ३, ४

क. असंयुक्त व्यंजन

आदि-व्यंजन

आदि असंयुक्त व्यंजन में प्रायः कोई भी परिवर्तन नहीं होता। यह प्रवृत्ति प्रायः समस्त भारत-यूरोपीय कुल की भाषाओं में किसी न किसी रूप में पाई जाती है। हिंदी में इस के अनेक उदाहरण मिलते हैं—

कोइल	*कोकिल*
नंगा	*नग्न*
रोना	*रोदन*
हाथ	*हस्त*

शब्द के अंदर होने वाले परिवर्तनों का प्रभाव कभी-कभी आदि-व्यंजन पर आकर पड़ जाता है, ऐसी अवस्था में आदि-व्यंजन में भी परिवर्तन हो जाता है। नीचे के उदाहरणों में ह् या ऊष्म ध्वनियों के प्रभाव के कारण आदि-व्यंजन अल्पप्राण से महाप्राण हो गया है—

भाप	*वाष्प*
घर	*गृह*
घी (बो०)	*दुहितृ*

कुछ उदाहरण ऐसे मिलते हैं जिन में संस्कृत दंत्य व्यंजन हिंदी में मूर्द्धन्य में परिवर्तित हो जाता है—

डसना	√दंश्
डाह	√दह्
डोला	√दुल्

मध्य-व्यंजन

शब्दों के मध्य में आने वाले व्यंजनों में सब से अधिक परिवर्तन होते हैं यद्यपि ऐसे भी अनेक उदाहरण मिलते हैं जिन में या तो व्यंजन में कोई भी

परिवर्तन नहीं होता या उस का लोप हो जाता है। इस संबंध में कुछ प्रवृत्तियां अत्यंत रोचक हैं—

(१) अघोष अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन के अपने वर्ग के घोष अल्पप्राण व्यंजन में परिवर्तित हो जाने के बहुत उदाहरण मिलते हैं—

साग	शाक
कुंजी	कुंचिक
कीड़ा	कीट
सवा	सपादिक

(२) प के संबंध में ऐसे उदाहरण अधिक मिलते हैं जिन में प् केवल व् में परिवर्तित होकर नहीं रुक जाता बल्कि स्पर्श व् अंतस्थ व् में परिवर्तित होकर अंत में उ का रूप धारण कर लेता है। यह मूलस्वर उ अपने गुणरूप ओ अथवा वृद्धिरूप औ में परिवर्तित हो जाता है—

सोना	स्वपनं
बोना	वपनं
कौड़ी	कपर्द
सौत	सपत्नी

इसी ढंग का परिवर्तन म् के संबंध में भी मिलता है—

गौना	गमनं
बौना	वामन
चौरी	चामर

(३) महाप्राण स्पर्श व्यंजनों के संबंध में एक परिवर्तन बहुत साधारण है। ऐसे व्यंजनों में एक अंश वर्गीय-स्पर्श का रहता है तथा दूसरा अंश हकार का। अकसर यह देखा जाता है कि महाप्राण का वर्गीय अंश लुप्त हो जाता है और केवल हकार शेष रह जाता है—

मेह	*मेघ*
कहना	*कथन*
बहरा	*बधिर*
अहीर	*आभीर*

छ् झ्, ठ् ढ् तथा फ् के संबंध में यह परिवर्तन कम मिलता है।

(४) साधारणतया ऊष्म ध्वनियों में कोई परिवर्तन नहीं होता किंतु कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते हैं जिन में संस्कृत ऊष्म भी ह् में परिवर्तित हो जाते हैं। यह प्रवृत्ति हिंदी की अपेक्षा सिंधी और पंजाबी में विशेष पाई जाती है—

बारह	*द्वादश*
केहरी	*केशरी*
इकहत्तर	*एकसप्तति*
पोहे	*पशु*

(५) मध्य म् का एक विशेष परिवर्तन अत्यंत रोचक है। म् ओष्ठ्य अनुनासिक है अतः कभी-कभी यह देखा जाता है कि इस के ये दोनों अंश पृथक् हो जाते हैं। अनुनासिक अंश पिछले स्वर को अनुनासिक कर देता है और ओष्ठ्य अंश का व् हो जाता है—

आंवला	*आमलक*
गांव	*ग्राम*
सांवला	*श्यामल*
कुंवर	*कुमार*

(६) मध्य ण् प्रायः न् में परिवर्तित हो जाता है—

घिन	*घृणा*
गिनना	*गणन*

सुनना	श्रवण
पन्डित	परिडत

(७) मध्य व्यंजन का लोप होना प्राकृत में साधारण नियम था, हिंदी में भी इस के पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं—

कोइल	कोकिल
सुनार	स्वर्णकार
नेवला	नकुल

इन परिवर्तनों के संबंध में बीम्स[1] ने कुछ कारण दिए हैं जो रोचक हैं, किंतु ये निश्चित नियम नहीं माने जा सकते ।

अंत्य-व्यंजन

साधारणतया हिंदी में व्यंजनांत शब्दों की संख्या बहुत कम है । यह बतलाया जा चुका है कि आधुनिक काल में अंत्य अ के उच्चारण में लुप्त हो जाने के कारण हिंदी के बहुत से शब्द व्यंजनांत हो गए हैं । आधुनिक परिवर्तन होने के कारण इस का अंत्य व्यंजन पर अभी विशेष प्रभाव नही पड़ा है ।

कुछ परिवर्तन बोलियों में विशेष रूप से पाए जाते हैं । इन में से मुख्य-मुख्य नीचे दिए जाते हैं—

य् > ज्	जोत	योत्र
	काज	कार्य
	जमुना	यमुना
ल् > र्	केरा	केला
	महिरारू	महिला

---

[1] बी, क ग्रै, § ५४, ५५

			थरिया	*स्थाली*
व्	>	ब्	*सब्ब*	*सर्व*
			बिरियां	*वेला*
श्	>	स्	*बस*	*वश*
			सरीर	*शरीर*
ष्	>	ख्	*भाखा*	*भाषा*
			हरख	*हर्ष*
			मेख (मीनमेख)	*मेष (मीनमेष)*

र्, ह्, और स् में परिवर्तन बहुत कम होते हैं।

ख. संयुक्त व्यंजन

१०४. संस्कृत शब्दों में आदि अथवा मध्य में आने वाले संयुक्त व्यंजनों में हिंदी में प्रायः एक ही व्यंजन रह जाता है। प्राकृत भाषाओं में प्रायः एक व्यंजन दूसरे का रूप ग्रहण कर लेता था। इस संबंध में मुख्य-मुख्य प्रवृत्तियां[1] नीचे दी जाती हैं—

---

[1]बीम्स ने (क ग्रै , भा० १, अ० ४) सयुक्त व्यजनो में ध्वनि-परिवर्तन के इतिहास की दृष्टि से व्यजनो के दो विभाग किए हैं—१ बली व्यजन अर्थात् पचवर्गों के प्रथम चार स्पर्श व्यजन और २ बलहीन व्यजन अर्थात् पाँच स्पर्श अनुनासिक, अतस्थ, और ऊष्म। इस दृष्टि से सयुक्त व्यजनो के तीन भेद हो सकते हैं—१ बली सयुक्त व्यजन, जैसे प्त्, ग्ध्, ब्ज्। २ बलहीन सयुक्त व्यजन जैसे श्र्, र्य्, ल्व्। ३ मिश्र सयुक्त व्यजन जैसे, त्न्, ध्य्, द्य्। इन तीनो प्रकार के सयुक्त व्यजनो के ध्वनि-परिवर्तन सबधी नियम बीम्स ने नीचे लिख दिए हैं और ये साधारणतया ठीक उतरते हैं।

१ बली सयुक्त व्यजन मे हिंदी में पहले व्यजन का प्राय लोप हो जाता है और पूर्व स्वर दीर्घ कर दिया जाता है।

(१) स्पर्श+स्पर्श : ऐसी परिस्थिति में हिंदी में प्रायः पहले व्यंजन का लोप हो जाता है साथ ही संयुक्त व्यंजन का पूर्वस्वर दीर्घ हो जाता है—

मूंग	*मुद्ग*
दूध	*दुग्ध*
सात	*सप्त*

रूप-परिवर्तन के भी कुछ उदाहरण हिंदी में मिल जाते हैं—

सत्तर	*सप्तति*
सत्तरह	*सप्तदश*

(२) स्पर्श+अनुनासिक : ऐसी परिस्थिति में यदि स्पर्श पहले आवे तो अनुनासिक व्यंजन का प्रायः लोप हो जाता है—

आग	*अग्नि*
तीखा	*तीक्ष्ण*

ज्ञ (ज्+ञ्) के संयुक्त रूप में कई प्रकार के परिवर्तन पाए जाते हैं—

आग्या	*आज्ञा*
जनेऊ	*यज्ञोपवीत*
जग्य, जाग (बो०)	*यज्ञ*
रानी	*राज्ञी*

---

२. बलहीन संयुक्त व्यंजनों में प्रायः अधिक निर्बल व्यंजन का लोप हो जाता है, जैसे स्पर्श-अनुनासिक और अंतस्थ में अंतस्थ अधिक निर्बल ठहरता है।

३. मिश्र व्यंजनों में प्रायः बलहीन व्यंजन का लोप हो जाता है।

ऊपर दिए हुए उदाहरणों की, इस दृष्टि से भिन्न-भिन्न वर्गों में विभक्त करके, परीक्षा करना रोचक होगा।

यदि अनुनासिक व्यंजन पहले हो तो उस का लोप तो हो जाता है किंतु पूर्वस्वर अनुनासिक हो जाता है—

जांघ	जङ्घा
चोंच	चञ्चु
कांटा	कण्टक
चांद	चन्द्र
कांपना	कंपन

(२) स्पर्श+अंतस्थ (य्, र्, ल्, व्) : ऐसी परिस्थिति में स्पर्श चाहे पहले हो या बाद को, अंतस्थ का प्रायः लोप हो जाता है—

य् :	जोग (बो०)	योग्य
	चूना	च्यु
र् :	बाघ	व्याघ्र
	पनाली	प्रणाली
	दुबला	दुर्बल
व् :	पका	पक्व
	तुरंत	त्वरित

दंत्य स्पर्श व्यंजनों का संयोग जब किसी अंतस्थ से होता है तो एक असाधारण परिवर्तन मिलता है। अंतस्थ लुप्त होने के साथ स्पर्श व्यंजन को अपने स्थान के स्पर्श व्यंजन में परिवर्तित कर देता है अर्थात् दंत्य स्पर्श य् के संयोग से तालव्य स्पर्श (चवर्ग), र् के संयोग से मूर्द्धन्य स्पर्श (टवर्ग), तथा व् के संयोग से ओष्ठ्य स्पर्श (पवर्ग) में परिवर्तित हो जाता है—

य् :	[illegible]	सत्य
	[illegible]	नृत्य

आज	अद्य
बांझ	वन्ध्या
सांझ (बो०)	सन्ध्या
बटेर	वर्तिक
र् : काटना	कर्तन
कौड़ी	कपर्द
गाड़ी	गंत्री
व् : बुढ़ापा	वृद्धत्व
बारह	द्वादश

(४) स्पर्श+ऊष्म (श्, ष्, स्, ह्) : ऐसी परिस्थिति में, स्पर्श चाहे पहले हो या बाद को, ऊष्म का प्रायः लोप हो जाता है साथ ही यदि स्पर्श व्यंजन अल्पप्राण हो तो महाप्राण हो जाता है—

श् : पछांव (बो०)	पश्चिम
ष् : आंख	अक्षि
खेत	क्षेत्र
काठ	काष्ठ
पीठ	पृष्ठ
स् : थन	स्तन
हाथ	हस्त
ह् : जीभ	जिह्वा
गुझिया	गुह्य

(५) अनुनासिक+अनुनासिक : ऐसी परिस्थिति बहुत कम पाई जाती है। न् और म् का संयोग कभी-कभी मिलता है। किंतु ऐसी हालत में दोनों अनुनासिक रह जाते हैं—

जनम (बो०)	*जन्म*

(६) अनुनासिक+अंतस्थ : ऐसी परिस्थिति में अंतस्थ का प्रायः लोप हो जाता है—

अरना (भैंसा)	*अरण्य*
सूना	*शून्य*
ऊन	*ऊर्ण*
कान	*कर्ण*
काम	*कर्म*

(७) अनुनासिक+ऊष्म : ऐसी परिस्थिति में कई प्रकार के परिवर्तन पाए जाते हैं। कभी अनुनासिक का लोप हो जाता है, कभी ऊष्म का, कभी दोनों किसी न किसी रूप में ठहर जाते हैं, तथा कभी-कभी ऊष्म ह् में परिवर्तित हो जाता है—

रास	*रश्मि*
मसान	*स्मशान*
सनेह, नेह	*स्नेह*
नहान	*स्नान*
कान्ह	*कृष्ण*

(८) अंतस्थ+अंतस्थ : ऐसी परिस्थिति के लिए भी कोई निश्चित नियम नहीं है। कभी एक अंतस्थ का लोप हो जाता है और कभी दोनों अंतस्थ किसी न किसी रूप में रह जाते हैं—

मोल	*मूल्य*
सब	*सर्व*
चोरी	*चौर्य*

सूरज (बो०)	सूर्य
परब (बो०)	पर्व
बरत (बो०)	व्रत

(९) अंतस्थ+ऊष्म : ऐसी परिस्थिति के लिए भी कोई निश्चित नियम नहीं है। कभी अंतस्थ रह जाता है, कभी ऊष्म, और कभी दोनों रह जाते हैं—

सिर	शीर्ष
पास	पार्श्व
साला	श्याला
ससुर	श्वशुर
आसरा	आश्रय
मिसिर (बो०)	मिश्र
मगसिर (बो०)	मार्गशीर्ष

उ. हिंदी व्यंजनों का इतिहास[१]

अब हिंदी के एक-एक व्यंजन को लेकर यह दिखलाने का यत्न किया जायगा कि यह प्रायः किन-किन संस्कृत ध्वनियों का परिवर्तित रूप हो सकता है।

क. स्पर्श व्यंजन

१. कंठ्य [क्, ख्, ग्, घ्]

१०५. हिं० क् :

---

[१] इस अंश के क्रम तथा उदाहरणों में चै, वें लै., §२५०-३०५ से विशेष सहायता ली गई है। गुजराती के संबंध में इस प्रकार के शास्त्रीय विवेचन के लिए दे., टर्नर, गुजराती फोनोलोजी ज रा ए सो, १९२१, पृ० ३२६, ५०५

सं० र्क् :	कपूर	कर्पूर
	काम	कर्म
सं० क्क् :	चिकना	चिक्कण
	कूकुर (बो०)	कुक्कुर
सं० क्य् :	मानिक	माणिक्य
सं० क्र् :	कोस	क्रोश
	चाक	चक्र
सं० क्व् :	पका	पक्व
सं० ङ्क्:	आंक	अंक
सं० र्क् :	शकर	शर्करा
	पाकड	पर्कटी
सं० स्क्:	कंधा	स्कंध

क् ध्वनि कुछ देशी शब्दों[1] में भी मिलती है जैसे झक्की, हाकना आदि।

बैठक, झलक आदि शब्दों में प्रत्यय के रूप में आने वाली क् ध्वनि की व्युत्पत्ति के लिए अध्याय ५ देखिए।

उच्चारण में शब्द के मध्य तथा अंत में आने वाले ख् का उच्चारण कभी-कभी क् के समान हो जाता है, जैसे भूख, झखना, आदि उच्चारण में प्राय: भूक, झकना हो जाते है। इस तरह के परिवर्तनों पर साधारणतया ध्यान नहीं दिया जाता।

विदेशी भाषाओं की क् ध्वनि हिंदी विदेशी शब्दों में बराबर पाई जाती है, जैसे अं० कोट, सिकत्तर, फा० कारगुज़ार, अ० मकान।

---

[1] चं, यं. लं, भा० १, पृ० ४५७

फ़ारसी, अरबी .क् ध्वनि पुरानी हिंदी तथा आधुनिक बोलियों में बराबर क् में परिवर्तित हो जाती है, जैसे कुलफी (फा०), कीमत (अ०), नुकसान (अ०), संदूक (अ०)।

१०६. हि० ख् :

सं० क् :	खरताल (बाजा)	करताल
सं० क्ष् :	खीर	क्षीर
	खत्री	क्षत्रिय
	आंख	अक्षि
	लाख	लक्ष
सं० क्ष्ण् :	तीखा	तीक्ष्ण
सं० ख् :	खाट	खट्वा
	खजूर	खर्जूर
	मूरख (बो०)	मूर्ख
सं० :ख् :	दुख	दु:ख
सं० ख्य् :	बखानना	व्याख्यान
सं० ष्क् :	पोखर	पुष्कर
	सूखा	शुष्क

हिंदी बोलियों में सं० ष् के स्थान पर ख् बोला जाता—

दोख	दोष
बरखा	वर्षा
मीनमेख	मीनमेष

लिखने में ख और र व के रूपों में संदेह होने के कारण पुरानी हस्तलिखित पोथियों में ख के लिए ष लिखने लगे थे, जैसे षबरि, मुष आदि। हिंदी

की दृष्टि से ष् चिह्न मूर्द्धन्य ष् के लिए अनावश्यक समझा गया, क्योंकि इस का शुद्ध उच्चारण लोग भूल गए थे और उच्चारण की दृष्टि से हिंदी-भाषा-भाषी ष् और श् को समान ही समझते थे। इस तरह जब ष् चिह्न ख् तथा ष् दोनों के लिए प्रयुक्त होने लगा तो संस्कृत ष् का उच्चारण भी भ्रमवश ख् के समान किया जाने लगा।

हिंदी बोलियों में फ़ा० अ० ख़् का उच्चारण ख् के समान होता है—

खोजा	फ़ा० ख़्वाजह
चरखा	फा० चर्ख़
वखत	अ० वक़्त

अंतिम उदाहरण में अ० क़् के लिए साहित्यिक हिंदी में भी प्रायः ख् या ख़् हो जाता है।

१०७. हि० ग् :

सं० क् :	गेंद	कंदुक
	ग्यारह	एकादश
	मगर	मकर
	पगार	प्राकार
	भगत (बो०)	भक्त
	साग	शाक
सं० ग् :	गांठ	ग्रन्थि
	गेरू	गैरिक
	गोरा	गौर
सं० ग्न् :	आग	अग्नि
	लगन	लग्न

नंगा	नग्न+क :
सं० ग्य् : जोग (बो०)	योग, योग्य
सं० ग्र् : गांव	ग्राम
आगे	अग्र
अगहन	अग्रहायण
सं० ङ्ग् : लौंग	लवङ्ग
भांग	भङ्ग
सींग	शृङ्ग
सं० ज्ञ् : यग्य, जाग (बो०)	यज्ञ
ग्यान	ज्ञान
सं० द्ग् : मूग	मुद्ग
मुगरी	मुद्गर
सं० ल्ग् : फागुन	फाल्गुन
बाग	वल्गा

विदेशी ग़् ध्वनि हिंदी बोलियों में ग् हो जाती है—

गरीब	ग़रीब
बाग	बाग़

१०८. हि० घ् :

सं० ग् : घुंघची	गुंजा
सं० घ् : घड़ा	घट
घाम	घर्म
सं० घ्र : वाघ	व्याघ्र

२. मूर्द्धन्य[1] [ट्‌ ठ्‌ ड्‌ ढ्‌]

१०९. हिं० ट्‌ :

सं० ट्‌ :	टकसाल	टङ्कशाला
सं० ट्ट :	लंगोट	लिंगपट्ट
	हाट	हट्ट
सं० ण्ट्‌ :	कांटा	कण्टक
	कटहल	कण्टफल
	बांटना	√वण्ट्‌
सं० त्र्‌ :	टूटना	√त्रुट्‌
सं० र्त्‌ :	काटना	कर्तनं
	कटारी	कर्तरिका
	केवट	कैवर्त
सं० ष्ट्‌ :	ईंट	इष्टकः
सं० ष्ट्र :	ऊंट	उष्ट्र
सं० ष्ठ्‌ :	कोट (किला)	कोष्ठ
	छटा	षष्ठकः

---

[1] हिंदी मूर्द्धन्य स्पर्श व्यंजनों का उच्चारण प्रा० भा० आ० की इन ध्वनियों की अपेक्षा बहुत आगे को हट आया है।

मूर्द्धन्य ध्वनियें भारतीय आर्य ध्वनियें है, या किसी अनार्य भाषा के प्रभाव से मूल आर्यभाषा में आ गईं यह प्रश्न हमारे क्षेत्र के बाहर है। भारतीय आर्य-भाषाओं में ये आदि काल से मौजूद रही हैं। इस विषय पर दे, चै, वें लैं §२६६; वी, क ग्रै, §५९

११०. हि० ठ् :

सं० ण्ठ :	सोंठ	शुण्ठि
सं० न्थ् :	गांठ	ग्रन्थि
सं० र्थ् :	अहुठ (३½) (बो०)	अर्द्ध चतुर्थ
सं० ष्ट् :	मीठा	मिष्ट
	मूठ	मुष्टि
	ढीठ	धृष्ट
	डीठि (बो०)	दृष्टि
	लाठी	यष्टि
सं० ष्ठ् :	कोठा	कोष्ठकः
	साठ	षष्ठि
	जेठ	ज्येष्ठ
	निठुर	निष्ठुर
सं० स्थ् :	पठाना (बो०)	प्रस्थापयति

१११. हि० ड् :

सं० ड :	डाइन	डाकिनी
सं० ण्ड् :	भंडार	भाण्डागार
सं० द् :	डोली	दोलिका
	डोरा	दोरक
	डांड	दण्ड
	डीवट	दीपवर्तिका

सं० त्व् : तू	त्वं
तुरंत	त्वरित; त्वरंत
सं० न्त् : दांत	दंत
संताल (जाति)	सामंत पाल
सं० न्त्र् : आंत	अंत्र
सं० प्त् : नाती	नप्तृ
बिनती	विज्ञप्ति
सतरह	सप्तदश
तत्ता (बो०)	तप्त
सं० र्त् : कातिक	कार्तिक
वत्ती	वर्तिका
सं० स्त्र् : तिरिया (बो०)	स्त्री

११४. हि० थ् :

सं० त्थ् : कैथ	कपित्थ
कुलथी (दाल)	कुलत्थ
सं० र्थ् : साथ	सार्थ
चौथा	चतुर्थ
सं० स्त् : माथा	मस्तक
हाथ	हस्त
पाथर (बो०)	प्रस्तर

११५. हि० द् :

सं० द् : दांत	दंत

	दूध	दुग्ध
	दाहिना	दक्षिण
सं० द्र् :	नींद	निद्रा
	भादों	भाद्रपद
	हल्दी	हरिद्रा
सं० द्व् :	दो	द्वौ
	दूना	द्विगुण
	दीप (जै०, जम्बू दीप)	द्वीप
सं० न्दू :	सेंदुर	सिन्दूर
	ननद	ननन्द
सं० न्द्र :	चांद	चन्द्र
सं० र्द् :	चौदह	चतुर्दश

बांधना	√बन्ध्
सं० र्द्ध् : आधा	अर्द्ध
गधा (बो०)	गर्दभ

४. ओष्ठ्य [प्, फ्, ब्, भ्]

११७. हि० प् :

सं० त्प् : उपज	उत्पद्यते
सं० त्म् : अपना	आत्मानं
सं० प् : पान	पर्ण
पौन	पादोन
पीपल	पिप्पल
सं० प्य् : रुपया	रौप्यकः
सं० प्र् : पिया (बो०)	प्रिय
पावस	प्रावृष्
पहर	प्रहर
सं० म्प् : कांपना	√कम्प्
सं० र्प् : कपड़ा	कर्पट
कपास	कार्पास
सांप	सर्प
सं० ष्प् : भाप	बाष्प
सं० स्प् : परस	स्पर्श

११८. हि० फ् :

सं० प् : फांस	पाश

	फलांग	फ्लंग
सं० फ् :	फलारी (मिठाई)	फलाहार
	फूल	फुल्ल
सं० स्फ् :	फोड़ा	स्फोटक
	फटकरी	स्फटकारिका
	फुर्ती	स्फूर्ति

११९. हि० व् :

सं० ड्व् :	छबीस	षड्विंश
सं० द्व् :	बारह	द्वादश
	वाईस	द्वाविंशति
सं० प् :	बैठना	√उपविष्ट
सं० व् :	बांझ	वन्ध्या
	बांह	वाहु
	बकरा	वर्कर
	बाधना	√वन्ध्
सं० ब्र् :	बाम्हन (बो०)	ब्राह्मण
सं० म्ब् :	नीबू	निम्बुक
सं० म्र् :	तांबा	ताम्र
	अंबिया (बो०)	आम्र
सं० र्ब :	दुबला	दुर्बल
सं० र्व् :	चबाना	चर्वण

सब	सर्व
सं० व् : बांका	वक्र
बावल	वातुला
बहू	वधू
बूंद	विंदु
सं० व्य् : बखानना (बो०)	व्याख्यान
बाघ	व्याघ्र

१२०. हि० भ् :

सं० ब् : भूख	बुभुक्षा
भाप	बाष्प
सं० भ् : भात	भक्त
भीख	भिक्षा
सं० भ्य् : भीतर	अभ्यन्तर
भीजना	√अभ्यंज्
सं० भ्र् : भौंरा	भ्रमर
भाई	भ्रातृ
भावज	भ्रातृजाया
सं० म् : भैंस	महिष
सं० र्भ् : गाभिन	गर्भिणी
सं० व् : भेष	वेष
सं० ह्व् : जीभ	जिह्वा

ख. स्पर्श-संघर्षी [च्, छ्, ज्, झ्]

१२१. प्रा० भा० आ० में च्, छ्, ज्, झ् तालव्य स्पर्श व्यंजन[१] थे। उन दिनों च् की ध्वनि कुछ-कुछ *क्य* के सदृश रही होगी। म० भा० आ० के प्रारंभिक काल में ही ये तालव्य स्पर्श ध्वनियें स्पर्शसंघर्षी हो गई थीं। यह परिवर्तन कदाचित् मगध आदि पूर्वी देशों की भाषाओं से आरंभ हुआ था। मध्यदेश और पश्चिमी आर्यावर्त की भाषाओं में कुछ दिनों तक स्पर्श उच्चारण चलता रहा। म० भा० आ० के अंतिम समय तक प्रायः समस्त भारतीय आर्यभाषाओं में इन स्पर्श ध्वनियों का स्पर्श-संघर्षी उच्चारण फैल गया। आ० भा० आ० में अब चवर्गीय ध्वनियां स्पर्श न हो कर स्पर्श-संघर्षी हो गई हैं। आसामी, मराठी, गुजराती आदि कुछ आधुनिक बोलियों में तो इन का झुकाव दंत्य ध्वनियों की ओर हो गया है। हिंदी स्पर्श-संघर्षी ध्वनियों का इतिहास नीचे दिया जाता है।

१२२. हि० च् :

सं० च् :	चांद	चंद्र
	चाक	चक्र
	कांच	काच
सं० ञ्च् :	पांच	पञ्च
	आंचल	अञ्चल
सं० त्य् :	नाच	नृत्य
	मीचु (बो०)	मृत्यु
	सांच (बो०)	सत्य
सं० र्च् :	कूची	कूर्चिका

---

[१] चै, वें. लैं, § १३२, § २५५

१२३. हि० छ् :

सं० क्ष् : छुरा	क्षुरक:
छत्री (बो०)	क्षत्रिय
रीछ	ऋक्ष
छिन (बो०)	क्षण
सं० च्छ् : पूछना	√पृच्छ्
सं० छ् : छाता	छत्र
छेरी (बो०)	छगल
छांह (बो०)	छाया
सं० त्स् : बछड़ा	वत्सक:
सं० श् : छिलका	शल्कल
छकड़ा	शकटक:
सं० श्च् : बीछू	वृश्चिक
सं० ष् : छः	षट्

१२४. हि० ज् :

सं० ज् : जागता	जागर्ति
भावज	भ्रातृजाया
बिजना (बो०)	व्यजन
जनम (बो०)	जन्म
सं० ज्ज् : काजल	कज्जल
लाज	लज्जा
सं० ज्य् : जेठ	ज्येष्ठ

	राज	राज्य
	बनजारा	वाणिज्य+कार
सं० ज्व् :	उजला	उज्वल
सं० ञ्ज् :	मूंज	मुञ्ज
	पिंजड़ा	पञ्जर
सं० द्य् :	अनाज	अन्नाद्य
	जुआ	द्यूत
	आज	अद्य
	बिजली	विद्युत्
सं० य् :	जौ, जावा	यव
	जाना	√या
	जांता	यंत्र
सं० य्य् :	सेज	शय्या
सं० र्ज :	खुजली	खर्जुर
	भोजपत्र	भूर्जपत्र
	मांजना	मार्जन
सं० र्य :	आजी	आर्यिका
	काज (बो०)	कार्य

१२५. हि० झ :

सं० ध्य :	ओझा	उपाध्याय
	समझना	संबुध्यति
	बूझना	बुध्यति

जूझना (बो०)	युध्यति
सं० ध्य : साँझ (बो०)	संध्या
बाँझ	बंध्या

ग. अनुनासिक [ङ्, ञ्, ण्, न्, न्ह्, म्, म्ह्]

१२६. संस्कृत में ङ् ध्वनि कंठ्य व्यंजनों के पहले केवल मात्र शब्द के मध्य में आती थी। हिंदी में भी इस का यही प्रयोग मिलता है किंतु केवल ह्रस्व स्वर के बाद।

हि० ङ् < सं० ङ्

अङ्गुल	अङ्गुलि
कङ्गाल	कङ्काल
जङ्गल	जङ्गल

कुछ देशी शब्दों में भी यह ध्वनि पाई जाती है, जैसे बङ्गू, चङ्गा विदेशी शब्दों में भी ऊपर दी हुई परिस्थिति में ङ् ध्वनि पाई जाती है, जैसे जङ्ग, तङ्ग।

१२७. संस्कृत में ञ् ध्वनि केवल मात्र शब्द के मध्य में तालव्य व्यंजनों के पहले आती थी। तालव्य व्यंजनों के उच्चारण में स्थान-परिवर्तन होने के कारण हिंदी में ऐसे स्थलों पर अब ञ् के स्थान पर न् का उच्चारण होने लगा है। लिखने में अभी यह परिवर्तन नही दिखाया जाता।

लिखित रूप	उच्चरित रूप
चञ्चल	चन्चल
पञ्जा	पन्जा
कञ्ज	कन्ज

आधुनिक साहित्यिक हिंदी में ञ् का प्रयोग बिल्कुल भी नहीं मिलता किंतु हिंदी की कुछ बोलियों में ञ् से मिलती-जुलती एक ध्वनि है किंतु यह वास्तव में यं मात्र है, जैसे व्र० *नाञ्* या *नायं* (नहीं), *जाञ्* या *जायं* (जावें बाञें या बांयें (बांये)

१२८. प्राकृतों में *ण्* का प्रयोग बहुत होता था आजकल पंजाबी में इस का व्यवहार विशेष पाया जाता है। तत्सम शब्दों में हिंदी में भी संस्कृत *ण्* का व्यवहार शब्द के मध्य या अंत में मिलता है, जैसे *गुण*, *गणपति*, *ऋण*, *हरिण* इत्यादि। तद्भव रूपों में हिंदी में *ण्* के स्थान पर बराबर *न्* हो जाता है, जैसे *गुनी*, *हिरन*, *गनेस*। तत्सम शब्दों में भी मध्य हलंत *ण्* के स्थान पर *न्* का ही उच्चारण होता है। यद्यपि लिखा *ण्* जाता है—

लिखित रूप	उच्चरित रूप
पण्डित	*पन्डित*
खण्ड	*खन्ड*
मुण्ड	*मुन्ड*

१२९. हिंदी *न्* वास्तव में दंत्य ध्वनि नहीं रही है बल्कि वर्त्स्य ध्वनि हो गई है। *न्* का प्रयोग हिंदी में आदि, मध्य और अंत सब स्थानों पर स्वतंत्रता-पूर्वक होता है। हिंदी में संस्कृत के पाँच अनुनासिक व्यंजनों के स्थान पर दो—*न्* और *म्*—का ही प्रयोग विशेष होता है। ङ् केवल कुछ शब्दों के मध्य में मिलता है, ण् कुछ तत्सम शब्दों में जब सस्वर हो और ञ् का व्यवहार बिल्कुल भी नहीं होता। *न्* का इतिहास नीचे दिया है—

हि० *न्* :		
सं० *ज्ञ्* :	*बिनती*	*विज्ञप्तिका*
सं० *ञ्* :	*चन्चल*	*चञ्चल*
	पन्जा	*पञ्चक:*
	कन्ज	*कञ्ज*

सं० ण् : कनी — कणिका
कंगन — कंकण
दुगना — द्विगुण
पन्डित — पण्डित
खन्ड — खण्ड
मुन्ड — मुण्ड

सं० ण्य् : पुन्न (बो०) — पुण्य
अरना (बो०) — अरण्य

सं० न् : नींद — निद्रा
निउला — नकुल
थन — स्तन
पानी — पानीय

सं० न्य् : धान — धान्य
सूना — शून्य
मान (आदरणीय संबंधी) — मान्य

सं० र्ण् : पान — पर्ण
कान — कर्ण

१३०. हि० न्ह् :

सं० ष्ण् : कान्ह (बो०) — कृष्ण
सं० स्न् : अन्हाना (बो०) — स्नान

१३१. हि० म् :

सं० म् :	मेह	मेघ
	मूंग	मुद्ग
	माथा	मस्तक
सं० मृ :	मक्खन	मृक्षण
सं० म्ब् :	नीम	निम्ब
	जामुन	जम्बु
	कदम (बो०)	कदम्ब
सं० म्र :	आम	आम्र
सं० श्म् :	मसान (बो०)	श्मशान

१३२. हि० म्ह् :

सं० म्भ् :	कुम्हार	कुम्भकार
सं० ष्म् :	तुम्हें	युष्मे
सं० ह्म् :	ब्रम्हा (बो०)	ब्रह्मा

घ. पार्श्विक [ल्]

१३३. हि० ल् :

सं० ड् :	सोलह	षोडश
सं० त् :	अलसी	अतीसी
सं० द्र् :	भला	भद्र
सं० य् :	लाठी	यष्टिका

सं० र् :	चालीस	चत्वारिंशत्
	हलदी	हरिद्रा
सं० र्य् :	पलंग	पर्यङ्क
सं० ल् :	लाख	लक्ष
	लगन	लग्न
	आंवला	आमलक
	काजल	कज्जल
सं० ल्य् :	कल	कल्य
	मोल	मूल्य
सं० ल्व् :	बेल	बिल्व

कुछ विदेशी शब्दों के न् का उच्चारण हिंदी बोलियों में ल् के समान होता है, जैसे लोट < अं० नोट, लंबर < अं० नम्बर।

ङ. लुंठित[1] [र्]

१३४. हि० र् :

सं० त् :	सत्तर	सप्तति

---

[1] र् और ल् के प्रयोग की दृष्टि से प्रा० तथा म० भा० आ० भाषाओं में तीन विभाग मिलते हैं—१ पश्चिमी, जिन में र् का प्रयोग विशेष है, २. मध्यवर्ती, जिन में र् और ल् दोनो का व्यवहार मिलता है, और ३. पूर्वी जिन मे ल् का व्यवहार विशेष है। यह विशेषता कुछ कुछ आ० आ० भा० में भी पाई जाती है। हिंदी मध्यवर्ती भाषा है अत इस में र् और ल् दोनो का व्यवहार मिलता है। इस सबंध में विस्तृत विवेचन के लिए दे, चै, वें लैं, §२२, §२९१

सं०. द् : बारह	द्वादश
ग्यारह	एकादश
सं० र् : रात	रात्रि
रानी	राज्ञी
और	अपर
गहिरा	गभीर
सं० ल् : पखारना (बो०)	प्रक्षालन
बेर	वेला

च. उत्क्षिप्त [ड़् ढ़्][1]

१३५. वैदिक भाषा में दो स्वरों के बीच में आने वाले ड् ढ् का उच्चारण ळ् ळह् होता था। पाली में भी यह विशेषता पाई जाती है, किंतु संस्कृत में यह परिवर्तन नहीं होता था। म० भा० आ० में किसी समय स्वर के बीच में आने वाला ड् ढ् का उच्चारण कदाचित् ड़् ढ़् के समान होने लगा था। धीरे-धीरे कुछ अन्य मूर्द्धन्य ध्वनियें भी ड़् ढ़् में परिवर्तित हो गईं। ड़् ढ़्, सदा शब्द के मध्य में दो स्वरों के बीच में आते हैं। आज कल अनेक आ० भा० आ० भाषाओं में ये ध्वनियें पाई जाती हैं। हिंदी ड़् ढ़् का इतिहास नीचे दिया जाता है—

१३६. हि० ड़्

सं० ट् : बाड़ी	वाटिका
कड़ाही	कटाह
घोड़ा	घोटक

---

[1] चै, वें लैं, § १३३, § २७०

फोड़ना	स्फोटयति
वड़	वट
रड़िया	राटिका
कनाड़ी	कर्नाटिका
सं० ड्य् : जाड़ा	जाड्य
सं० ण्ड् : रांड़	रण्ड
पांड़े	पण्डित
मांड़	मण्ड
सूंड़	सुण्ड
सांड़	षण्ड
सं० र्द् : कौड़ी	कपर्द

१३७. हि० ढ़् :

सं० ठ् : मढ़ी	मठिका
पीढ़ा	पीठिका
पढ़ना	पठति
सं० द्ध् : बूढ़ा	वृद्ध
सं० ध्य् : कुढ़ना	क्रुध्यति
सं० र्द्ध् : साढ़े	सार्द्ध
बढ़ई	वर्द्धकिन्
सं० र्ध् : बढ़ना	वर्धते

ख. संघर्षी [ह्, ह्, श्, स्, व्]

१३८. विसर्ग अथवा अघोष ह् केवल थोड़े से तत्सम शब्दों में आता है।

हि० : :

सं० : :	*प्राय:*	*प्राय:*
	पुन:	*पुन:*
सं० जिह्वामूलीय :	*अंत:करण*	*अंत:करण*

शब्द के अंत में आने वाले घोष ह् का उच्चारण हिंदी में प्राय: अघोष ह् के समान हो जाता है किंतु लिखने में यह परिवर्तन नहीं दिखाया जाता।

लिखित रूप	उच्चरित रूप
वह	*व: या वह्*
कह	*क: या कह्*
स्नेह	*स्ने: या स्नेह्*
मुह	*मु: या मुह्*

यह भी स्मरण दिला देना अनुचित न होगा कि घोष महाप्राण स्पर्श व्यंजनों में घोष ह् आता है और अघोष महाप्राण स्पर्श व्यंजनों में अघोष ह् आता है किंतु देवनागरी लिपि में यह भेद नहीं दिखलाया जाता।

१३९. घोष ह् शब्द के मध्य या आदि में आता है। अंत्य घोष ह् उच्चारण में अब अघोष हो गया है।

हि० ह् <

सं० ख् :	मुंह	*मुख*
	अहेरी	*आखेटिक*
	नह (चो०)	*नख*

सं० घ् :	रहटा	अरघट्ट
सं० थ् :	कहना	कथनं
सं० ध् :	साहू	साधु
	वहू	वधू
	दही	दधि
सं० भ् :	गहिरा	गभीर
	सुहागा	सौभाग्य
	हो	√भू
सं० श् :	वारह	द्वादश
	सोलह	षोडश
सं० ष् :	पुहुप (वो०)	पुष्प
सं० ह् :	वांह	वाहु
	हाथी	हस्तिन्
	हीरा	हीरक

१५०. हिंदी वोलियों में[1] साधारणतया केवल दंत्य स् का प्रयोग विशेष पाया जाता है और श् के स्थान पर भी स् कर लिया जाता है किंतु साहित्यिक हिंदी में तत्सम शब्दों में तालव्य श् का व्यवहार वरावर होता है। उच्चारण की दृष्टि से सं० मूर्द्धन्य ष् हिंदी में तालव्य श् में परिवर्तित हो गया है किंतु तत्सम शब्दों के लिखने मे श् और ष् का भेद अभी वरावर

[1] वगाली आदि पूर्वी आ० भा० आ० भाषाओ में तथा पहाडी भाषाओ में स् के स्थान पर भी श् का ही व्यवहार विशेष होता है। हिंदी से प्रभावित हो जाने के कारण विहारी में स् का प्राधान्य है। श् और स् का यह भौगोलिक भेद वहुत प्राचीन है।

दिखलाया जाता है। उच्चारण की दृष्टि से हिंदी में मूर्द्धन्य ष् अब नहीं है।

१४१. हि० श् :

सं० श् : पशु — पशु
विश्व — विश्व
सं० ष् : शेश — शेष
कशाय — कषाय

१४२. हि० स् :

सं० श् : संख — शंख
सलाई — शलाका
सास — श्वश्रू
सं० ष् : सिरस — सिरीष
कसेला — कषाय
बरस — वर्ष
असाढ़ — आषाढ़
सं० स् : सूत — सूत्र
सुहाग — सौभाग्य
सोना — स्वर्ण

१४३. व् केवल तत्सम शब्दों में रह गया है। हिंदी बोलियों में व् के स्थान पर बराबर ब् हो जाता है।

हि० व् :

सं० व् : वेला — वेला
वाम — वाम
कवि — कवि

सूचना—अन्य संघर्षी फ़् ज़् ख़् ग़् ध्वनियें केवल विदेशी शब्दों में पाई जाती हैं इन का विवेचन अगले अध्याय में किया गया है।

ज. अर्द्धस्वर (य् व़्)

१४४. प्रा० भा० आ० काल में य् व़् शुद्ध अर्द्धस्वर इॅ उॅ थे। संस्कृत में उॅ दंत्योष्ठ्य संघर्षी व् में परिवर्तित हो गया था। साथ ही ओष्ठ्य व़् रूपांतर भी बहुत प्राचीन समय से मिलता है। इॅ भी म० भा० आ० में ही य् के सदृश हो गई थी। संस्कृत के य् और व् हिंदी में शब्द के आदि में प्रायः ज् और व् हो गए तथा शब्द के मध्य में इन का लोप हो जाता था। बाद को दो स्वरों के बीच में श्रुति के रूप में य् और व़् का फिर विकास हुआ, जैसे सं० *एकादश* > प्रा० *एआरह* > हि० *ग्यारह*।

१४५. हिंदी में य् का उच्चारण बहुत स्पष्ट नहीं होता। उच्चारण की दृष्टि से संयुक्त स्वर इअ या एअ और अर्द्धस्वर य् बहुत मिलते-जुलते हैं। अ तथा इ ई या ए के बीच में आने पर य् ध्वनि बिल्कुल ही अस्पष्ट हो जाती है जैसे *गये*, *गयी* आदि में। किंतु *गया*, *आया* में य् श्रुति स्पष्ट सुनाई पड़ती है। विदेशी शब्दों के अतिरिक्त य् ध्वनि तत्सम शब्दों में विशेष पाई जाती है।

तत्सम	तद्भव
यज्ञ	*जाग*
आर्य	*आरज*
योधा	*जोधा*
वीर्य	*बीज*
कार्य	*काज*
यमुना	*जमुना*

१४६. व़् अर्द्धस्वर शब्द के मध्य में प्रयुक्त होता है। लिखने में व् और व़् में कोई भेद नहीं किया जाता है। व् का व़् के सदृश उच्चारण बहुत प्राचीन है।

व़् :

सं० व् :	स्व़ामी	स्वामी
	ज्व़र	ज्वर
सं० म् :	क्व़ांरा	कुमार
	आव़ला (बो०)	आमलक
	चंव़र (बो०)	चमर

ऊ. व्यंजन-संबंधी कुछ विशेष परिवर्तन

क. अनुरूपता

१४७. हिंदी शब्दों में कुछ उदाहरण मिलते हैं जिन में दो भिन्न-स्थानीय संयुक्त व्यंजनों में से एक दूसरे का रूप धारण कर लेता है, या उसी स्थान के व्यंजन में परिवर्तित हो जाता है—

शक्कर	शर्करा
छत्तीस	षट्त्रिंशत्
वत्ती	वर्तिका

कुछ बोलियों में, विशेषतया कनौजी में, र् या ल् का निकट के व्यंजन में परिवर्तित हो जाना साधारण नियम है—

कनौ०	हि०
उद्द	उर्द
हद्दी	हलदी
मिच्चैं	मिर्चें

बोलने में अनुरूपता के बहुत उदाहरण मिलते हैं, किंतु इन्हें लिखने में नहीं दिखाया जाता है—

लिखित रूप	उच्चरित रूप
डाक घर	डाग्घर
एक गाड़ी	एग्गाड़ी
आध सेर	आस्सेर

ख. व्यंजन-विपर्यय

१४८. व्यंजन-विपर्यय के अनेक उदाहरण प्राचीन तथा आधुनिक शब्दों में बराबर मिलते हैं। विदेशी शब्दों में भी अक्सर व्यंजनों के स्थान में परिवर्तन हो जाता है। नीचे कुछ रोचक उदाहरण दिए जा रहे हैं—

बिलारी	*बिड़ाल*
हलुक (बो०)	*लघु-क*
घर	*गृह*
पहिरना	*√परि+धा*
गडुर (बो०)	*गरुड्*
नखलऊ (बो०)	*लखनऊ*
नुस्कान (बो०)	*नुक़्सान*

अध्याय ३

विदेशी शब्दों में ध्वनिपरिवर्तन

अ. फ़ारसी-अरबी

१४९. विदेशी शब्दों के संबंध में भूमिका में साधारण विवेचन हो चुका है। यहां इन विदेशी शब्दों के हिंदी में आने पर ध्वनि-परिवर्तन के संबंध में विचार किया जायगा। हिंदी में सब से अधिक विदेशी शब्द फ़ारसी-अरबी के हैं। प्रायः यह भुला दिया जाता है कि इन विदेशी भाषाओं में फारसी आर्यभाषा है जिस के प्राचीनतम रूप—अवस्ता की भाषा—का ऋग्वेद की भाषा से बहुत निकट का संबंध है, और अरबी भिन्न कुल की भाषा है जिस का आर्यभाषाओं से अब तक किसी प्रकार का भी संबंध स्थापित नहीं हो सका है। अरबी और फारसी शब्दों में होने वाले ध्वनि-परिवर्तन को समझने के लिए अरबी और फारसी की ध्वनियों के संबंध में ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है, अतः इन भाषाओं की ध्वनियों का संक्षिप्त विवेचन नीचे दिया जाता है।

क. अरबी ध्वनिसमूह

१५०. अरबी ध्वनिसमूह[1] मे ३२ व्यंजन, ६ मूलस्वर तथा ४ संयुक्त स्वर है। आधुनिक शास्त्रीय दृष्टि से ये नीचे वर्गीकृत[2] हैं—

---

[1] गेर्डनर, फोनेटिक्स ग्राव ऐरेबिक।

[2] वे, वॆ., नें, § ३०८

व्यंजन	द्वयोष्ठ्य	दंत्योष्ठ्य	दंतमध्य स्थानीय	वर्त्स्य या दंत्य		तालु तथा वर्त्स्य स्थानीय	तालव्य	कंठ्य	अलिजिह्व	उपालिजिह्व	स्वरयन्त्रमुखी
				साधारण	कंठस्थान युक्त						
स्पर्श	व्			त् द्	त् द्		ज्	क् ग्	क़्		?
अनुनासिक	म्			न्							
पार्श्विक					ल् ऋ्	ल्					
कंपनयुक्त						र्					
संघर्षी		फ़्	थ् द्	स् ज़्	स् ज्	श् झ्			ख् ग्	ह् ʕ	ह्
अर्द्धस्वर	.व्						य्				
स्वर	इन नौ मूल स्वरों के अतिरिक्त अइ, अउ, ऑइ और ऑउ ये चार मुख्य संयुक्त स्वर माने जाते हैं।						ई ए ऍ अ	ऊ ओ अ ऑ आ			

सूचना—अघोष ध्वनियों के नीचे लकीर खिंची है, शेष ध्वनियां घोष हैं।

अरबी ध्वनिसमूह में कुछ ध्वनियां असाधारण हैं। त्, द्, ल्, झ्, स्, ज् कंठस्थान युक्त वर्त्स्य ध्वनियें हैं। इन के उच्चारण में जीभ की नोक वर्त्स स्थान को छूती है और साथ ही जीभ का पिछला भाग कोमल तालु

की ओर उठता है। इस तरह जीभ वीच में नीची और आगे पीछे ऊँची हो जाती है। ल् ध्वनि अरवी में केवल अल्लाह शब्द के उच्चारण में प्रयुक्त होती है। ये समस्त ध्वनिया एक तरह से द्विस्थानीय हैं।

ह् का उच्चारण कौवे के पीछे हलक की नली की पिछली दीवार से जिह्वामूल के नीचे उपालिजिह्वा को छुवा कर किया जाता है। इस के उच्चारण मे एक विशेष प्रकार की ज़ोरदार फुसफुसाहट की आवाज़ होती है। ह् उपालिजिह्व अघोष संघर्षी ध्वनि है, और ؏ अर्थात् ऐन् (अ़) उपालिजिह्व घोष संघर्षी ध्वनि है।

ء अर्थात् हम्ज़ा-अलिफ के उच्चारण में स्वरयंत्र मुख विल्कुल वंद होकर सहसा खुलता है। इस का उच्चारण हलके खाँसने की ध्वनि से मिलता-जुलता समझना चाहिए। ء स्वरयंत्रमुखी अघोष स्पर्श ध्वनि है। ह् स्वरयंत्रमुखी घोष संघर्षी ध्वनि है।

१५१. अरवी लिपि में केवल व्यंजनों के लिए लिपि-चिह्न हैं, स्वरों के लिए पृथक् चिह्न नहीं हैं। दीर्घ स्वरों में से तीन तथा दो संयुक्त स्वरों के लिए व्यंजन चिह्नों मे से ही तीन प्रयुक्त होते हैं—'हम्ज़ा' (ء) के विना 'अलिफ' (ا) आ के लिए, 'इये' (ی) ई, अइ के लिए तथा 'वाओ' (و) ऊ अउ के लिए। शेष स्वरों को लिपि द्वारा प्रकट करने का कोई साधन मूल अरवी में नहीं है। ३२ व्यंजन ध्वनियों को प्रकट करने के लिए भी केवल २८ चिह्न हैं अतः नीचे लिखी सात ध्वनियां केवल तीन चिह्नों से प्रकट की जाती हैं 'ज़ोय' (ظ) झ् ज् के लिए, 'लाम' (ل) ल् ल् के लिए और 'जीम' (ج) झ़् ज् और ग् के लिए प्रयुक्त होती है।

ख. फ़ारसी ध्वनिसमूह

१५२. अरवी से प्रभावित होने के पूर्व छठी सदी ईसवी तक फारसी भाषा पहलवी लिपि मे लिखी जाती थी। नीचे मध्यकालीन फारसी (पहलवी) की २४ व्यंजन ध्वनियों का वर्गीकरण[1] दिया जा रहा है—

---

[1] ग्रे, ग्रं लें, § ३०७

व्यंजन

	द्वयोष्ठ्य	दत्योष्ठ्य	दंत्य	तालव्य-वर्त्स्य	कंठ्य	जिह्वा-मूलीय	स्वरयंत्र मुखी
स्पर्श	प् ब्		त् द्		क् ग्		
स्पर्श संघर्षी				च् ज्			
अनुनासिक	म्		न्				
पार्श्विक				ल्			
कपन-युक्त				र्			
संघर्षी		फ़् व्	स् ज़् द़्	श् झ़्		ख़् ग़्	ह्
अर्द्ध स्वर	व्			य्			

अरबी के समान पहलवी में भी स्वरों के लिए पृथक् चिह्न नहीं थे। उच्चारण की दृष्टि से पहलवी में व्यवहृत स्वरों को नीचे लिखे ढंग से वर्गीकृत किया जा सकता है—

स्वर

	अग्र	पश्च
संवृत्	ई इ	ऊ उ
अर्द्ध संवृत्	ए ए	ओ ओ
विवृत्	अ	आ
संयुक्त स्वर	अइ	अउ

१५३. सातवीं सदी ईसवी में जब अरबों ने ईरान को पराजित कर ईरानी धर्म और सभ्यता के स्थान पर अपने इस्लाम धर्म और अरबी सभ्यता को स्थानापन्न किया तो बहुत बड़ी संख्या में अरबी शब्दसमूह को लेने के साथ-साथ फारसी भाषा अरबी लिपि में लिखी जाने लगी। फारसी के लिए व्यवहृत होने पर अरबी वर्णों के उच्चारण तथा संख्या दोनों में परिवर्तन करना पडा। अरबी वर्णों की संख्या फ़ारसी में ३२ कर दी गई। इस का तात्पर्य यह है कि पहलवी में पाए जाने वाले २४ वर्णों में आठ नए अरबी वर्ण जोड़ दिए गए, यद्यपि फ़ारसी में आने पर इन मूल अरबी वर्णों के उच्चारण भिन्न अवश्य हो गए। अरबी के ये आठ विशेष वर्ण निम्नलिखित हैं—

वर्ण का उर्दू नाम	अरबी उच्चारण	फ़ारसी उच्चारण
से (ث)	थ़्	स्
हे (ح)	ह़्	.ह्
स्वाद् (ص)	स्	स्
ज़्वाद् (ض)	द़्	ज़्
तोय (ط)	त़्	त्
ज़ोय (ظ)	ज़्	ज़्
ऐन् (ع)	ʕ	अ
काफ (ق)	क़्	.क्

अरबी ध्वनियों का उच्चारण फ़ारसी ध्वनियों के सदृश कर लेने के कारण इस नई फारसी-अरबी वर्णमाला में कई-कई वर्णों के उच्चारण में सादृश्य हो गया। ये नीचे दिखलाया जा रहा है—

वर्ण का उर्दू नाम	अरबी उच्चारण	फारसी उच्चारण
सीन (س)	स्	स्
स्वाद् (ص)	स्	
से (ث)	थ़्	

ज़े	(ز)	ज़्	ज़्
ज़ोय	(ظ)	ज़्.	
ज़्वाद	(ض)	द़्.	
हे	(ح)	ह़्	ह्
हे	(ه)	ह्	
ते	(ت)	त्	त्
तोय	(ط)	.त़्	

अलिफ़-हम्ज़ा में हम्ज़ा का उच्चारण फारसी में नहीं होता था।

साथ ही फ़ारसी में चार नई ध्वनियां थीं जो अरबी में मौजूद नहीं थीं। इन के लिए अरबी चिह्नों को कुछ परिवर्तित करके नए चिह्न गढ़े गए। ये चार ध्वनियां और चिह्न निम्नलिखित हैं—

ध्वनियें	नए चिह्न	
प्	پ	(पे)
चु्	چ	(चे)
झ्	ژ	(झे)
ग्	گ	(गाफ्)

इन परिवर्तनों को करने के बाद अरबी वर्णमाला के फ़ारसी रूपांतर में वर्णों की संख्या ३२ (२४+८) हो गई। अरबी के समान ये भी सब व्यंजन ही रहे। यह स्मरण रखना चाहिए कि हिंदुस्तान में फारसी भाषा तथा शब्द-समूह लगभग १००० से १६०० ईसवी के बीच में आया था अतः हिंदुस्तान की फ़ारसी भाषा तथा शब्द-समूह में कुछ पुरानापन है जो फ़ारस की आधुनिक फारसी में नहीं पाया जाता। आधुनिक फारसी और मध्यकालीन फ़ारसी के ध्वनिसमूह में विशेष अंतर नहीं है।

ग. उर्दू वर्णमाला

१५४. १२०० ईसवी के बाद जब मुसलमान विजेताओं के साथ-साथ अरबी और फारसी भाषा तथा अरबी-फारसी लिपि का प्रचार हिंदुस्तान में हुआ तब हिंदुस्तानी भाषाओं के शब्दों को लिखने के लिए अरबी-फ़ारसी लिपि में फिर कुछ परिवर्तन करने पड़े। कुछ विशेष हिंदुस्तानी ध्वनियों को प्रकट करने के लिए तीन नए चिह्न बना कर बढाए गए। ये चिह्न और ध्वनियें नीचे दी हैं—

नई ध्वनियें	नए चिह्न	
ट्	ٹ	(टे)
ड्	ڈ	(डाल्)
ड़्	ڑ	(ड़े)

इस तरह मूल अरबी लिपि के वर्तमान हिंदुस्तानी रूप में, जो साधारणतया उर्दू लिपि के नाम से पुकारी जाती है, वर्णों की संख्या ३५ (३२+३) है।

स्वरों का बोध कराने के लिए व्यंजनों के साथ नीचे लिखे चिह्नों तथा व्यंजनों का व्यवहार किया जाता है—

स्वर	चिह्नों के नाम	चिह्न	उदाहरण
अ	ज़बर्	ـَ	سَت (सत)
इ	ज़ेर्	ـِ	سِت (सित)
उ	पेश्	ـُ	سُت (सुत)
आ	अलिफ	ا	سات (सात)
ई	जेर+इये	ـِي	سِیت (सीत)
ए	इये	ي	سیت (सेत)
ऐ	ज़बर+इये	ـَي	سَیت (सैत)
ऊ	पेश : वाओ	ـُو	سُوت (सूत)

ओ	वाओ	و	سوت (सोत)
औ	ज़बर्-َ वाओ	وَ	سَوت (सौत)

नित्य-प्रति के लिखने में ज़ेर, ज़बर्, पेश् प्रायः नहीं लगाए जाते, अतः तीन ह्रस्व स्वरों का भेद दिखलाया ही नहीं जाता तथा शेष सात दीर्घ स्वरों में आ के लिए 'अलिफ़' (ا), ई, ए, ऐ, के लिए 'इये' (ی) तथा ऊ, ओ, औ के लिए 'वाओ' (و) का व्यवहार किया जाता है। मुडिया के समान उर्दू लिपि के पढ़ने में सब से अधिक कठिनाई इसी कारण पड़ती है। साथ ही इन उर्दू मात्राओं के न लगाने से मुड़िया की तरह उर्दू लिपि भी देवनागरी की अपेक्षा कुछ अधिक तेज़ी से लिखी जा सकती है।[1]

---

[1] अरबी-फ़ारसी लिपि में तीन चिह्न बढा लेने के बाद भी उर्दू लिपि समस्त हिंदी ध्वनियो को प्रकट करने में असमर्थ रही अत सयुक्त चिह्नो से काम लिया जाने लगा। उदाहरण के लिए हिंदी की समस्त महाप्राण ध्वनिया रोमन अनुलिपि के समान अल्पप्राण चिह्न मे ह् (ھ) लगा कर प्रकट की जाती है। ङ्, ञ् और ण् अनुनासिक व्यजनो को प्रकट करने के लिए अब भी कोई चिह्न नही है। स्वरो के लिए भी विशेष चिह्नो का प्रयोग साधारणतया नही किया जाता।

हिंदी वर्णमाला की उर्दू अनुलिपि निम्नलिखित है—

अ	आ	इ	ई	उ	ऊ	ए	ऐ	ओ	औ
َ	ا	ِ	یِ	و	وٗ	ی	یَ	و	وَ

क्	ख्	ग्	घ्	ङ्
ک	کھ	گ	گھ	×
च्	छ्	ज्	झ्	ञ्
چ	چھ	ج	جھ	×
ट्	ठ्	ड्	ढ्	ण्
ٹ	ٹھ	ڈ	ڈھ	×
त्	थ्	द्	ध्	न्
ت	تھ	د	دھ	ن

१५५. नीचे के कोष्ठक में अरबी, फ़ारसी, तथा उर्दू वर्णमालाएं तुलनात्मक ढंग से दी गई हैं। साथ में देवनागरी के आधार पर बनाए गए लिपि-चिह्न तथा उर्दू वर्णमाला की देवनागरी अनुलिपि भी दी गई है—

अरबी लिपि-चिह्न	अरबी ध्वनि देवनागरी में	फ़ारसी लिपि-चिह्न	फ़ारसी ध्वनि देवनागरी में	उर्दू लिपि-चिह्न	उर्दू देवनागरी अनु-लिपि	उर्दू ध्वनि देवनागरी में
ا	ʔ	ا	अ	ا	अ	अ
ب	ब्	ب	ब्	ب	ब्	ब्
×	×	پ	प्*	پ	प्	प्
ت	त्	ت	त्	ت	त्	त्
×	×	×	×	ٹ	ट्	ट्
ث	थ़्	ث	सां	ث	स़्	स्
ج	ज्	ج	ज्	ج	ज्	ज्
×	×	چ	च़्*	چ	च्	च्

प् फ़् व् भ् म्
پ پھ ب بھ م

य् र् ल् व्
ی ر ل و

श् स् ह्
ش س ہ या ح

ड़् ढ़्
ڑ ڑھ

ح	ह्‌	ح	ह्†	ح	ह्	ह्
ح	ख़्	خ	ख़्	خ	ख़्	ख़्
د	द्	د	द्	د	द्	द्
×	×	×	×	ڈ	ड्	ड्
ذ	द़्	د	ज़्(द़्)	د	ज़्	ज़्
ر	र्	ر	र्	ر	र्	र्
×	×	×	×	ڑ	ड़्	ड़्
ر	ज़्	ر	ज्	ر	ज़्	ज़्
×	×	ژ	झ़्	ژ	झ़्	झ़्
س	स्	س	स्	س	स्	स्
ش	श्	ش	श्	ش	श्	श्
ص	स्	ص	स्†	ص	स्	स्
ض	द्	ص	ज्†	ص	ज़्	ज़्
ط	त्	ط	त्†	ط	त्	त्
ظ	ज्	ظ	ज्†	ظ	ज्	ज़्
ع	؏	ع	अ†	ع	अ्	अ
غ	ग़्	غ	ग़्	غ	ग़्	ग़्
ف	फ्	ف	फ़्	ف	फ्	फ़्
ق	क़्	ق	क़्†	ق	क़्	क़्
ک	क्	ک	क्	ک	क्	क़्
×	×	گ	ग्*	گ	ग्	ग्
ل	ल्	ل	ल्	ل	ल्	ल्

م	म्	م	म्	م	म्	म्
ن	न्	ن	न्	ن	न्	न्
و	व्	و	व्	و	व्	व्
ه	ह्	ه	ह्	ه	ह्	ह्
ی	य्	ی	य्	ی	य्	य्
२८		३२		३५		

सूचना—† ये चिह्न उन आठ वर्णों पर लगाए गए हैं जो अरबी के विशेष वर्ण होने के कारण फारसी के मूल २४ पहलवी वर्ण-समूह में जोड़े गए थे जिस से फारसी में व्यवहृत अरबी शब्द सुविधा से लिखे जा सकें। इन को छोड़ कर शेष २४ वर्ण फारसी के अपने हैं। इन नए आठ वर्णों का प्रयोग केवल अरबी शब्दों में मिलता है।

* ये चिह्न फारसी के उन चार विशेष वर्णों पर लगाए गए हैं जिन के लिए अरबी में ध्वनि-चिह्न मौजूद नहीं थे। न ये ध्वनियें ही अरबी में थी। अतः फ़ारसी भाषा लिखने को प्रयुक्त होने पर मूल अरबी लिपि में इन के लिए चार नए चिह्न गढ़े गए थे।

§ ये चिह्न उन तीन वर्णों पर लगाए गए हैं जो हिंदुस्तानी भाषाओं की आवश्यकता के कारण अरबी-फ़ारसी लिपि में बढ़ाए गए थे।

फारसी वर्णमाला के समान ही उर्दू वर्णमाला में भी अरबी के तत्सम शब्दों में अरबी वर्ण लिखे तो जाते हैं किंतु उन का उच्चारण हिंदुस्तानी मुसलमान भी साधारणतया अपनी ध्वनियों की तरह करते हैं। अतः लिखने में भिन्न चिह्नों का प्रयोग करने पर भी उच्चारण की दृष्टि से स़् (ث), स् (ص) स् (س) का उच्चारण स् (س), त् (ط) त् (ت) का उच्चारण त् (ت), ह़् (ح) ह् (ه) का उच्चारण ह् (ه), और ज़् (ذ) ज् (ض) ज़् (ظ) ज़् (ز) का उच्चारण ज़्

(ژ) के समान होता है। ع (ع) का उच्चारण भी अ (ا) से भिन्न साधारणतया नहीं किया जाता।

घ. फ़ारसी शब्दों में ध्वनिपरिवर्तन

१५६. ऊपर के विवेचन से यह कदाचित् स्पष्ट हो गया होगा कि हिंदी में अरबी तथा तुर्की शब्द भी फ़ारसी भाषा के द्वारा आए हैं अतः ऐसे शब्दों के साथ मूल अरबी या तुर्की ध्वनियां नहीं आ सकी हैं। फारसी में आने पर अरवी और तुर्की शब्दों की ध्वनियों में जो परिवर्तन हो चुके थे उन्हीं परिवर्तित रूपों में ये शब्द हिंदी में पहुँचे हैं। व्यवहारिक दृष्टि से हिंदी के लिए ये शब्द अरवी या तुर्की भाषा के न होकर फारसी भाषा के ही हैं।

फारसी और हिंदी की अधिकांश ध्वनियों में समानता है, किंतु फारसी में कुछ ऐसी ध्वनियां हैं जो हिंदी में नहीं हैं। ये ध्वनियां फ़ारसी-अरबी तत्सम शब्दों में सुनाई पड़ती हैं और इन के लिए देवनागरी में निम्नलिखित परिवर्तित लिपि-चिह्नों का प्रयोग होता आया है—क़् ख़् ग़् ज़् फ़्। इन में झ़् भी शामिल किया जा सकता है। श् ध्वनि संस्कृत में पहले ही से मौजूद थी। फारसी श् तथा संस्कृत श् में थोडा ही भेद है। साहित्यिक हिंदी में फारसी-अरवी शब्दों की इन विशेष ध्वनियों का उच्चारण तथा लिखने में वरावर प्रयोग किया जाता है।

फ़ारसी तत्सम शब्दों से पूर्ण उर्दू भाषा के बोले जाने वाले या लिखे जाने वाले रूप से अधिक परिचित होने के कारण पश्चिमी संयुक्त प्रांत तथा दिल्ली प्रांत के रहने वाले हिंदी लेखक इन विदेशी ध्वनियों का व्यवहार बातचीत तथा लिखने दोनों में ही शुद्ध रीति से कर सकते हैं, और वरावर करते हैं। किंतु पूर्वी संयुक्तप्रांत, विहार, मध्यप्रांत, मध्यप्रदेश, राजस्थान तथा कमायूँ-गढवाल के प्रदेशों में रहनेवाले हिंदी बोलने वालों तथा हिंदी लेखकों को दिल्ली, आगरा, तथा लखनऊ के उर्दू केंद्रों से दूर रहने के कारण इन विदेशी

ध्वनियों के व्यवहार में कठिनाई पडती है और ये लोग इन ध्वनियों का व्यवहार प्रायः शुद्ध नहीं कर पाते। इसी कारण कभी-कभी इन विदेशी ध्वनियों तथा उन के लिए प्रयुक्त विशेष लिपि-चिह्नों के व्यवहार को साहित्यिक हिंदी से हटा देने का प्रस्ताव उठा करता है।

हिंदी के केंद्र संयुक्तप्रांत की विशेष परिस्थिति के कारण यहां के शिष्ट लोगों में *ज़रा* को *जरा*, *ग़रीब* को *गरीब*, *ख़राब* को *खराब* बोलना या लिखना ग्राम्य दोष समझा जाता है और कदाचित् भविष्य में भी अभी बहुत दिनों तक समझा जायगा। इस का मुख्य कारण संयुक्तप्रांत में उर्दू भाषा तथा मुसलमानी संस्कृति का प्रभाव ही है। इन दोनों प्रभावों के निकट भविष्य में दूर या क्षीण होने की संभावना नहीं दिखलाई पडती। ऐसी परिस्थिति में इन विशेष ध्वनियों वाले फ़ारसी शब्दों को साहित्यिक हिंदी में निकटतम तत्सम रूपों में ही लिखना तथा बोलना उचित प्रतीत होता है। उपर्युक्त प्रभावों से दूर होने के कारण बंगाली, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं में फ़ारसी शब्दों की विशेष ध्वनियों के संबंध में इस तरह की कठिनाई नहीं उठती। इन भाषाओं के साहित्यिक रूपों में भी, हिंदी की ग्रामीण बोलियों के समान, ऐसी विशेष विदेशी ध्वनियों के स्थान पर भारतीय निकटवर्ती ध्वनियों का व्यवहार पढ़े-लिखे लोगों के बीच में भी पूर्ण स्वतंत्रता से होता आया है। परिस्थिति की विभिन्नता के कारण साहित्यिक हिंदी को इस बात में बंगाली आदि की नकल नहीं करनी चाहिए।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि लिखने में भेद करने पर भी बोलने में साधारणतया फारसी में ही कई-कई ध्वनियों में साम्य हो गया था। उर्दू में भी इन विशेष वर्ण-समूहों में उच्चारण की दृष्टि से भेद नहीं किया जाता, अतः हिंदी में इन भिन्न वर्णों के लिए इकहरे वर्णों अर्थात् स्, ज़्, त्, अ तथा ह् का व्यवहार करना युक्ति-संगत ही है। साहित्यिक हिंदी में शिष्ट भाषा में ध्वनि-संबंधी इन मुख्य परिवर्तनों को करने के बाद फ़ारसी-अरबी शब्दों का

न्यूनाधिक व्यवहार बराबर पाया जाता है।

१५७. फ़ारसी-अरबी शब्दों के हिंदी में प्रयुक्त होने पर मुख्य-मुख्य परिवर्तनों का उल्लेख संक्षेप में नीचे किया जाता है[1]—

स्वर

(१) फ़ारसी इ ई उ ऊ ए ओ ध्वनियें फारसी और हिंदी में समान हैं अतः इन में साधारणतया कोई परिवर्तन नहीं होता—

	हि०	फ़ा०
इ :	इनाम	इनाम्
ई :	ईमान	ईमान्
उ :	,फ़ुरसत	,फ़ुर्सत्
ऊ :	,कानून	,कानून्
ए :	तेज़	तेज़्
ओ :	ज़ोर	ज़ोर्

(२) फारसी अ अग्र विवृत् स्वर था, हिंदी में यह अर्द्धविवृत् मध्य स्वर अ हो जाता है—

हि०	क़दम	फा०	क़ँदँम्
हि०	मसला	फा०	मँसँलँह्

(३) फारसी में ए ओ ध्वनियें हैं अवश्य किंतु उच्चारण में इन का झुकाव बराबर इ उ की तरफ़ रहता है। हिंदी में इन के स्थान पर बराबर इ उ ही मिलता है।

---

[1] चै, बे. लैं., § ३१२-३५३

सकसेना, पर्शियन लोनवर्ड इन दि रामायन आव तुलसीदास, इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज, भाग १, पृ० ६३

(४) फारसी संयुक्त स्वर अ़इ अ़उ हिंदी में क्रम से ऐ (अए) औ (अओ) हो जाते हैं—

फा० अइ : हि० मैदान फा० मइदान्

फा० अउ : हि० मौसम फा० मउसम्

(५) स्वरलोप तथा स्वर-परिवर्तन के उदाहरण भी बराबर पाए जाते हैं—

हि०	फा०
मसला	*मसलह्*
ज़ात्ती	*ज़ियादती*
मामला	*मुआमलह्*
माफ़िक़	*मुवाफ़िक़्*

(६) स्वरागम के उदाहरण भी बराबर मिलते हैं—

हि०	फ़ा०
निरख	*निर्ख़्*
शामियाना	*शामानह्*
हुकुम	*हुक्म्*

व्यंजन

(७) अरबी ह् और ह् फ़ारसी में ह् में परिवर्तित हो गए थे। हिंदी में फारसी ह् के स्थान पर प्रायः ह् हो जाता है—

हि०	फा०
हवा	*हवा*
हुनर	*हुनर्*
मुहर्रम	*मुहर्रम्*

संयुक्त व्यंजनों के आने पर ह् का या तो लोप हो जाता है या बीच में स्वर डाल दिया जाता है—

हि०	फा०
मुहर	मुह्र्
.फेरिस्त	फ़िह्रिस्त्

फ़ारसी शब्दों का 'हा–इ–मुख़्तफ़ी' अर्थात् उच्चरित न होने वाला अंत्य ह् पूर्व अ के साथ मिल कर हिंदी में *आ* में परिवर्तित हो जाता है—

हि०	फा०
किनारा	*किनारह्*
ख़ज़ाना	*ख़ज़ानह्*

(८) अरबी ॰ (६) फ़ारसी में ॰ से मिलती-जुलती ध्वनि में परिवर्तित हो गया था। हिंदी में ॰ का लोप हो जाता है या इस के स्थान पर प्रायः *आ* हो जाता है—

हि०	फा०
जमा	*जम्॰*
ताबीज़	*त॰वीज़्*
अजब	*॰अजब्*
अरब	*॰अरब्*

(६) फ़ारसी क् ग्; च् ज्; त् द्; प् ब्; ङ् न् म्; र् ल्, स्, य् हिंदी ध्वनियों के ही समान होने के कारण इन में साधारणतया परिवर्तन नहीं किए जाते—

हि०	फा०
किताब	*किताब्*
गरम	*गर्म्*
चाकर	*चाकर्*
जमा	*जम्॰*

तख़्ता	तख़्तह्
दाग़	दाग़्
पीर	पीर्
बस्ता	बस्तह्
फ़िरंगी	फ़िरङ्गी
निमाज़	नमाज़्
मीनार	मीनार्
रास	रास्
लाल	लाऽल
सिपाही	सिपाही
याद	याद्

ऊपर के नियम के संबंध में कुछ अपवाद भी बराबर पाए जाते हैं।

(१०) फ़ारसी द् हिंदी में ज़् या द् में परिवर्तित हो जाता है—

हि०	फा०
कागज़, कागद (बो०)	क़ागद्
ख़िदमत, खिजमत (बो०)	ख़िद्मत्

(११) फ़ारसी के अंत्य न् के स्थान पर हिंदी में पिछला स्वर अनुनासिक कर दिया जाता है—

हि०	फ़ा०
ख़ां	ख़ान्
मियां	मियान्

(१२) व्यंजनों के संबंध में कुछ अन्य असाधारण परिवर्तनों के उदाहरण रोचक होंगे—

विपर्यय

हि०	फ़ा०
फ़लीता	फ़तीलह्
लहमा	लम्हा
मुचल्का	मुकल्चह्

लोप

हि०	फ़ा०
मज़दूर	मुज़दूर्
मसीत (बो०)	मस्जिद्
ज़िद	ज़िद्द्

(१३) हिंदी बोलियों में साधारणतया क़् ख़् ग़् ज़् फ़् श् और व् के स्थान पर क्रम से क् ख् ग् ज् फ् स् और ब् हो जाते हैं। उर्दू प्रभाव से दूर रहने वाले हिंदी लेखक या बोलने वाले साहित्यिक हिंदी में भी प्रयोग करते समय फ़ारसी-अरबी शब्दों में इस तरह के परिवर्तन कर देते हैं—

हि०	फ़ा०
कीमत	क़ीमत्
खबर	ख़बर्
गरीब	ग़रीब्
जालिम	ज़ालिम्
रजाई	रज़ाई
फारसी	फ़ारसी
निसान	निशान्
बिकालत	वकालत्

(१४) हिंदी बोलियों में कुछ असाधारण ध्वनि-परिवर्तन भी पाए जाते हैं—

फा० क़् < हि० ग् : हि० *तगादा* फ़ा० *तक़ाज़ह्*
हि० *नगद* फ़ा० *नक़्द्*

आ. अंग्रेज़ी

१५८. लगभग १६०० ईसवी से भारत में यूरोपीय जाति के लोगों का आना-जाना प्रारंभ हुआ था और तभी से कुछ यूरोपीय शब्दों का व्यवहार भारत में होने लगा था। किंतु अंग्रेजी राज्य की स्थापना हिंदी प्रदेश मे लगभग १८०० ईसवी से हुई थी, और तब से अंग्रेज़ी सभ्यता और भाषा तथा ईसाई धर्म की गहरी छाप हिंदी भाषियों पर पड़ना प्रारंभ हुई। दक्षिण भारत तथा समुद्र के किनारे के प्रदेशों की तरह हिंदी प्रदेश फ्रांसीसी, पुर्तगाली आदि जातियों के विशेष संपर्क में कभी नहीं आया। हिंदी में थोड़े से फ्रांसीसी तथा पुर्तगाली आदि भाषाओं के शब्द[1] आ गए हैं, किंतु इन की संख्या अत्यंत परिमित है। हिंदी की अपेक्षा बंगाली[2] आदि में इन की संख्या कहीं अधिक है। यूरोपीय भाषाओं में से अंग्रेज़ी भाषा के शब्द हिंदी में सब से अधिक संख्या में आए हैं, और यह स्वाभाविक ही है।

क. अंग्रेज़ी ध्वनि-समूह

१५९. अंग्रेज़ी में होने वाले ध्वनि-परिवर्तनों को समझने के लिए यह आवश्यक है कि संक्षेप में अंग्रेज़ी ध्वनियों को समझ लिया जाय। अंग्रेज़ी ध्वनियों का वर्गीकरण[3] निम्नलिखित ढंग से किया जा सकता है—

---

[1]दे, भूमिका, 'विदेशी भाषाओं के शब्द'।
[2]बंगाली मे व्यवहृत पुर्तगाली शब्दो के संबध मे दे, चैं, बें. लैं, अ० ७
[3]वा फो, इ, § ९२, § ९६, § २१४

व्यंजन

	ओष्ठ्य		दंत्य		तालव्य			
	द्व्योष्ठ्य	दंत्योष्ठ्य	दंत्य	वर्त्स्य	तालव्य-वर्त्स्य	तालव्य	कंठ्य	स्वरयंत्रमुखी
स्पर्श	प् ब्			ट् ड्			क् ग्	
स्पर्शसंघर्षी					च् ज्			
अनुनासिक	म्			न्			ङ्	
पार्श्विक				ल्			ल़्	
लुंठित				र्				
संघर्षी		.फ़् व्	.थ् .द्	स् ज्	श् .झ्			ह्
अर्द्धस्वर	.व्					य्	(व्)	

मूलस्वर

संयुक्तस्वर

१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	२१
एइ	ओउ	अइ	अउ	ऑइ	इअ	ऍअ	ऑअ	उअ

सूचना—अंग्रेज़ी स्पर्श प् व्, क् ग् के उच्चारण में स्वराघात-युक्त शब्दांश में कुछ हकार की ध्वनि आ जाती है[1] किंतु यह हकार का अंश इतना कम होता है कि लिखने में नहीं दिखाया जाता और इस कारण ये अल्पप्राण स्पर्श व्यंजन हिंदी के महाप्राण स्पर्श व्यंजनों (फ् भ्, ख् घ्) के समान नहीं हो जाते।

वाक्य में ज़ोर देने के लिए तथा कुछ अन्य स्थलों पर भी अंग्रेज़ी के कुछ शब्दों में स्वरयंत्रमुखी स्पर्श[2] (अलिफ हम्ज़ा) की ध्वनि सुनाई पड़ती है किंतु इस की गणना साधारणतया अंग्रेज़ी मूलध्वनियों में नहीं की जाती।

ख. अंग्रेज़ी शब्दों में ध्वनि-परिवर्तन

मूलस्वर

१९०. अंग्रेज़ी और हिंदी की अधिकांश ध्वनियां समान हैं, किंतु अंग्रेज़ी में कुछ नवीन ध्वनियें भी हैं। अंग्रेज़ी शब्दों के उच्चारण में इन नवीन ध्वनियों के संबंध में ही हिंदी-भाषियों को कठिनाई पड़ती है।

अंग्रेज़ी मूलस्वरों में *ई* (*सी* : see), *इ* (*सिट्* : sit), *आ*, (*काम्* : calm), *उ* (*पुट्* put), *ऊ* (*सून्* : soon) तथा *अ* (*बट्* : but) हिंदी मूलस्वरों से विशेष भिन्न नहीं है, अतः इन अंग्रेज़ी स्वरों का उच्चारण हिंदी भाषी शुद्ध कर लेते हैं। शेष छः मूलस्वर हिंदी में नही पाए जाते, अतः इन का स्थान कोई न कोई हिंदी स्वर ले लेता है।

ऍ : यह अर्द्धविवृत् ह्रस्व अग्रस्वर है किंतु इस का उच्चारण प्रधान स्वर ए की अपेक्षा काफ़ी ऊपर की तरफ़ होता है। हिंदी में इस अंग्रेज़ी स्वर के स्थान पर *इ* या *ए* हो जाता है।

---

[1] वा, फो इ, §२१८

[2] वा, फो इ, §२२७ (सी)

हि०	अं०
कालिज, कालेज	कॉलॅज् (college)
विंच, वेंच	बॅन्च् (bench)

ॅ : यह भी अर्द्धविवृत् ह्रस्व अग्रस्वर है, किंतु इस का उच्चारण प्रधान स्वर ऍ से बहुत नीचे की तरफ और प्रधान स्वर अ के निकट होता है। हिंदी में यह प्रायः ऐ (अए) में परिवर्तित हो जाता है—

हि०	अं०
मैन	मॅन (man)
गैस	गॅस् (gas)

ऑ : यह अर्द्धविवृत् ह्रस्व पश्चस्वर है किंतु इस का स्थान प्रधान स्वर आ की अपेक्षा कुछ ही ऊपर की तरफ़ है। हिंदी मे यह प्रायः आ में परिवर्तित हो जाता है—

हि०	अं०
चाक	चॅक् (chalk)
आफिस	ऑफ़िस् (office)

ऑ : यह अर्द्धविवृत् दीर्घ पश्चस्वर है किंतु इस का उच्चारणस्थान प्रधान स्वर ऑ की अपेक्षा नीचे की तरफ़ होता है। हिंदी में इस के स्थान में भी प्रायः *आ* हो जाता है। अब कुछ दिनों से ऑ, तथा *आ* दोनों के लिये ऑ लिखने का रिवाज हो रहा है—

हि०	अं०
ला, लॉ	लॉ (law)
बाट, बॉट	बॉट (bought)

ए : यह अर्द्धविवृत् दीर्घ मध्यस्वर है किंतु इस का स्थान कुछ ऊपर की तरफ़ हटा है। हिंदी में इस के स्थान पर प्रायः अ हो जाता है।

हि०	अं०	
बर्ड	बॅ़ड्	(bird)
लर्न	लॅ़न्	(learn)

अं : यह अर्द्धविवृत ह्रस्व मध्यस्वर है। हिंदी में इस के स्थान पर प्रायः अ हो जाता है—

अलोन	अंलोउन्	(alone)
बटर	बटॅ	(butter)

संयुक्त स्वर

१६१. अंग्रेज़ी के ढंग के संयुक्तस्वरों का व्यवहार हिंदी में नहीं है अतः इन के स्थान पर प्रायः दीर्घ मूल स्वर या हिंदी के संयुक्त स्वर हो जाते हैं। कुछ में असाधारण संयुक्त ध्वनियों का प्रयोग भी करना पड़ता है—

	हि०	अं०
अं० एइ > हि० ए :	मेल	मेइल् (mail)
	जेल	जॆइल् (jail)
अं० ओउ > हि० ओ, अ :	बोट	बोउट् (boat)
	कोट	कोउट् (coat)
	रपट, रिपोट	रिपोउट् (report)

अं० अइ > हि० ऐ (अए) आइ, ए : टैम, टाइम, टेम टॅ़इम् (time)

टाइप, टैप टॅ़इप् (type)

अं० अउ > हि० औ (अओ) आउ : टौन, टाउन टॅ़उन् (town)

कौन्सिल, काउन्सिल, कॅउन्सिल् (council)

अं० ऑइ > हि० वाय, वाइ ऐ (अए) :	व्याय	वॉइ	(boy)
	न्वाइज़	नॉइज़्	(noise)
	ऐन्टमेन्ट	ऑइन्ट्मॅन्ट्	(ointment)
अं० इअ > हि० इआ, इअ, ए :	इन्डिआ	इन्डिअ	(India)
	बिअर	विअ	(beer)
	एरन्	इअ-रिङ्	(earring)
अं० एअ > हि० एअ, ए :	शेअर, शेर	शॅअ	(share)
	चेअर, चेर	चॅअ	
अं० ऑअ > हि० ओ :	मोर	मॉअ	(more)
	बोर्ड	बॉअड्	(board)
अं० उअ > हि० यो :	प्योर	पुअ	(pure)
	योर	युअ	(Your)

१६२. हिंदी में व्यवहृत अंग्रेज़ी शब्दों में स्वरागम के बहुत उदाहरण मिलते हैं। स्वरलोप के उदाहरण बहुत कम पाए जाते हैं। स्वरागम के उदाहरण शब्द के आदि में संयुक्त व्यंजन के पूर्व मे मिलते हैं या संयुक्त व्यंजन के टूटने पर मध्य में मिलते हैं, जैसे *इस्टाम* (stamp), *इस्कूल* (school), *फ़ारम* (form), *बुरुश* (brush), *बिरांडी* (brandy)।

व्यंजन

१६३. अंग्रेज़ी व्यंजनों में से कुछ हिंदी में नहीं पाए जाते अतः ये हिंदी की निकटतम ध्वनियों में परिवर्तित हो जाते है। ऐसी असाधारण ध्वनियों का विवेचन हिंदी में पाए जाने वाले परिवर्तनों सहित नीचे दिया जा रहा है—

ट्॒ ड्॒ : अंग्रेजी ट्॒ ड्॒ न तो हिंदी के ट् ड् के समान मूर्द्धन्य हैं और न त् द् के समान दंत्य हैं। ये वास्तव में वर्त्स्य हैं अर्थात् जीभ की नोक को दाँतों के ऊपर मसूढ़ों पर लगा कर इन का उच्चारण किया जाता है। वर्त्स्य ट्॒ ड्॒ के अभाव के कारण हिंदी में ये ध्वनियें क्रम से ट् या त् और ड् या द् में परिवर्तित हो जाती हैं—

अं० ट्॒ > हि० ट् : रपट (report), बालस्टर (barrister)

अं० ट्॒ > हि० त् : अगस्त (August), सिकत्तर (secretary)

अं० ड्॒ > हि० ड् : डिकस (desk), डबल मार्च (double march)

अं० ड्॒ > हि० द् : दिसंबर (December), अर्दली (orderly)

च्॒ ज्॒ अंग्रेज़ी च्॒ ज्॒ का उच्चारण हिंदी की तालव्य स्पर्श-संघर्षी च् ज् ध्वनियों से भिन्न है। अंग्रेज़ी ध्वनियों का उच्चारण कुछ-कुछ ट्श्॒ ड्झ्॒ की तरह होता है। हिंदी में इन के स्थान पर क्रम से च्॒ ज्॒ हो जाता है—

अं० च्॒ > हि० च् : चेयर (Chair), चेन (chain)

अं० ज्॒ > हि० ज् : जज (judge), जेल (jail)

च्॒ ज्॒ के अतिरिक्त अंग्रेज़ी में कुछ अन्य स्पर्श-संघर्षी ध्वनियें[1] भी पाई जाती हैं, किंतु इन का व्यवहार च्॒ ज्॒ की अपेक्षा कम मिलता है। ये ध्वनियें मूल व्यंजनों की अपेक्षा संयुक्त व्यंजनों के अधिक समान मालूम पड़ती

---

[1] या, फो इ, § २३१

हैं अतः साधारणतया इन्हें अंग्रेज़ी मूल व्यंजन-ध्वनियों में नहीं सम्मिलित किया जाता। ये अन्य स्पर्श-संघर्षी ध्वनियें उदाहरण सहित नीचे दी जाती हैं—

ट्थ्	:	एइट्थ्	(eighth)
ड्थ्	:	विड्थ्	(width)
ट्स्	:	ईट्स्	(eats)
ड्ज्	:	बैंड्ज्	(beds)

ट्र् और ड्र् को भी कभी-कभी इसी श्रेणी में रख लिया जाता है, जैसे ट्री (tree), ड्रॅ (draw)।

अंग्रेज़ी अनुनासिक व्यंजन म्, न्, ङ् का उच्चारण हिंदी के इन अनुनासिक व्यंजनों के समान होता है अतः अंग्रेज़ी विदेशी शब्दों में इन के आने पर हिंदी में साधारणतया किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता।

ल् : स्वर के पहले अंग्रेज़ी ल् का उच्चारण हिंदी ल् के समान ही होता है। इसे 'स्पष्ट ल्' कह सकते हैं। किंतु व्यंजन के पहले या शब्द के अंत में ल् का उच्चारण भिन्न ढंग से होता है जिस में जीभ की नोक से वर्त्स्य स्थान को छूने के साथ-साथ जीभ के पिछले हिस्से को कोमल तालु की ओर ऊपर उठा देते हैं, जिस से जीभ मध्यभाग में कुछ झुक जाती है। इसे 'अस्पष्ट ल्'[1] कहते हैं। देवनागरी में इसे ल् से प्रकट किया गया है। हिंदी में अंग्रेज़ी की इन दोनों ल् ध्वनियों में भेद नहीं किया जाता और ल् का उच्चारण भी ल् के समान ही किया जाता है, जैसे *बोतल* (bottle) *पेट्रोल* (petrol)।

ल् के समान अंग्रेज़ी में र् के भी दो रूप पाए जाते हैं—एक लुंठित और दूसरा संघर्षी। संघर्षी र्[2] को देवनागरी में ,र् से प्रकट

[1] वा., फो इ, § २४०

[2] वा, फो इ, § २४८

कर सकते हैं। संघर्षी र् प्रायः शब्द के आरंभ में पाया जाता है। यह भेद इतना सूक्ष्म है कि इस पर यहा अधिक ध्यान देने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

संघर्षी ध्वनियों में .थ् .द् हिंदी के लिए नई ध्वनियें हैं। .थ् .द् दंत्य संघर्षी हैं। हिंदी में ये साधारणतया थ् द् अर्थात् दंत्य स्पर्श-ध्वनियों में परिवर्तित हो जाते हैं, जैसे *थर्ड* (third), *थर्मामेटर* (thermometre)। कुछ शब्दों में अं० .थ् हि० ट् या ठ् में भी परिवर्तित हो जाता है, जैसे ठेठर (theatre), *लकलाट* (longcloth)।

अंग्रेज़ी संघर्षी ध्वनियों में से .फ् व् .ज् और श् से हिंदीभाषा-भाषी संस्कृत या फारसी प्रभाव के कारण परिचित थे अतः पढ़े-लिखे लोग इन का उच्चारण शुद्ध कर लेते हैं। गाँव के लोग बोली में इन ध्वनियों को क्रम से फ् व् ज् और स् में परिवर्तित कर देते हैं, जैसे *फुटबाल* (football), *वोट* (vote), *सिलिङ्* (shilling)। अंग्रेज़ी ह् का उच्चारण हिंदी ह् के समान है।

.झ् का प्रयोग हिंदी में प्रचलित बहुत कम अंग्रेज़ी शब्दों में पाया जाता है। यह साधारणतया .ज़् में परिवर्तित कर दिया जाता है, जैसे *प्लेज़र* (pleasure)।

अंग्रेजी ओष्ठ्य अर्द्धस्वर .व् के स्थान पर हिंदी में प्रायः दंत्योष्ठ्य संघर्षी व् या ओष्ठ्य स्पर्श ब् हो जाता है, जैसे *वास्कट* (waistcoat), *वेटिङ् रूम* (waiting room)।

अंग्रेज़ी और हिंदी य् के उच्चारण में कोई भेद नहीं है।

१६४. अंग्रेज़ी में नई ध्वनियें होने के कारण ऊपर दिए हुए अनिवार्य परिवर्तनों के अतिरिक्त अंग्रेज़ी विदेशी शब्दों में कुछ असाधारण ध्वनि-परिवर्तन भी पाए जाते हैं। ये उदाहरण सहित नीचे दिए जाते हैं—

(१) अनुरूपता : *कलट्टर* (collector)

(२) विपर्यय : *सिगल* (signal), *डिकस* (desk)

(३) व्यंजन-लोप : *वास्कट* (waistcoat)

(४) व्यंजनागम : *मोटर* (*मोउर्ट्* motor)

(५) वर्ग की घोष ध्वनि का अघोष तथा अघोष ध्वनि का घोष में परिवर्तित होना : *काग* (cork), *डिगरी* (decree), *लाट* (lord)।

(६) न् का ल् मे परिवर्तन : *लंबर* (number), *लमलेट* (lemonade)।

अध्याय ४

स्वराघात

१६५. स्वराघात दो प्रकार का होता है। एक स्वराघात तो वह है जिस में आवाज़ का सुर ऊँचा या नीचा किया जाता है। इस को *गीतात्मक स्वराघात* कहते हैं। यह स्वराघात उसी प्रकार का है जैसा हम गाने में पाते हैं और इस का संबंध स्वरतंत्रियों के ढीला करने या तानने से है। दूसरे ढंग का स्वराघात वह है जिस में आवाज़ ऊँची-नीची नहीं की जाती बल्कि साँस को धक्के के साथ छोड़ कर ज़ोर दिया जाता है। इसे *बलात्मक स्वराघात* कहते हैं। इस का संबंध नादतंत्रियों से न होकर फेफडे से हवा फेकने के ढंग पर होता है। यह स्मरण रखना चाहिए कि बलात्मक स्वराघात और दीर्घस्वर, तथा कभी-कभी गीतात्मक स्वराघात के भी, एक ही ध्वनि में पाए जाने के कारण इन सब में भेद करने में कठिनाई हो जाती है।

अ. भारतीय आर्यभाषाओं के स्वराघात का इतिहास

क. वैदिक स्वराघात

१६६. स्वराघात की दृष्टि से प्रा० भा० आ० भाषा की विशेषता यह है कि वह गीतात्मक स्वराघात-प्रधान भाषा है। वैदिक साहित्य में प्रत्येक शब्द के ऊपर-नीचे जो चिह्न रहते हैं वे इसी स्वराघात के सूचक हैं। गीतात्मक स्वराघात में तीन भेद हैं जिन्हें पारिभाषिक शब्दों में उदात्त अर्थात् ऊँचा

सुर, अनुदात्त अर्थात् नीचा सुर और स्वरित अर्थात् बीच का सुर कहते हैं।

वैदिक साहित्य में गीतात्मक स्वराघात प्रकट करने के चार भिन्न ढंग प्रचलित हैं। सामवेद को छोड कर ऋग्वेदादि तीनों वेदों की प्रचलित संहिताओं में उदात्त-स्वर पर कोई चिह्न नहीं लगाया जाता है। कदाचित् इस का कारण यह है कि प्रातिशाख्यों के अनुसार स्वरित का पूर्व भाग उदात्त से भी ऊँचा बोला जाता था, अतः सुर की दृष्टि से उदात्त और स्वरित में वास्तव में स्थान-परिवर्तन हो गया था। स्वरित-स्वर के ऊपर खड़ी लकीर और अनुदात्त-स्वर के नीचे बेडी लकीर लगाई जाती है। जैसे *अ॒ग्निना॑* शब्द में अ अनुदात्त, *ग्नि* उदात्त और *ना* स्वरित है। पाद के आरंभ में आने वाले समस्त उदात्त चिह्न-हीन छोड दिए जाते हैं तथा प्रत्येक अनुदात्त चिह्नित रहता है, किंतु स्वरित के बाद आने वाले अनुदात्तों में केवल अंतिम अनुदात्त को चिह्नित किया जाता है। जैसे *इ॒मं मे॑ गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि* में *म* उदात्त है किंतु *गङ्गे यमुने सरस्वति* के समस्त स्वर अनुदात्त हैं, शु फिर उदात्त और *द्रि* अनुदात्त है। स्वराघात के चिह्नों की दृष्टि से प्रत्येक पाद पूर्ण माना जाता है। पद पाठ में प्रत्येक शब्द पृथक् तथा पूर्ण माना जाता है।

ऋग्वेद की मैत्रायणी और काठक संहिताओं में स्वरित स्वर के ऊपर खड़ी लकीर न कर के उदात्त स्वर के ऊपर खडी लकीर की जाती है। जैसे इन संहिताओं में *अ॒ग्नि॑ना* में *ग्नि* उदात्त और *ना* स्वरित है। अनुदात्त का चिह्न ऋग्वेदादि के समान ही है, किंतु स्वरित का चिह्न दोनों संहिताओं मे कुछ भिन्न ढंग से लगाया जाता है। सामवेद में उदात्त, स्वरित और अनुदात्त स्वरों के ऊपर क्रम से १,२,३ के अंक बनाए जाते हैं, जैसे *अ॒ग्नि॒ना* (३ १ २)। शतपथ ब्राह्मण में केवल उदात्त चिह्नित किया जाता है, और इस के लिए स्वर के नीचे अनुदात्त वाली आड़ी लकीर का व्यवहार होता है, जैसे *अग्नि॒ना*। साधारणतया प्रत्येक वैदिक शब्द में गीतात्मक स्वराघात पाया जाता है, और इस मे उदात्त सुर प्रधान है।

इस बात के चिह्न मिलते हैं कि प्रा० भा० आ० काल में गीतात्मक स्वराघात के साथ कदाचित् बलात्मक स्वराघात भी वर्तमान था, यद्यपि यह प्रधान नहीं था अतः चिह्नित भी नहीं किया जाता था।

ख. प्राकृत तथा आधुनिक काल में स्वराघात[1]

१६७. कुछ यूरोपीय विद्वानों की धारणा है कि म० भा० आ० के आदिकाल में ही भारतीय आर्यभाषाओं में बलात्मक स्वराघात पूर्ण रूप से विकसित हो गया था, और गीतात्मक स्वराघात की प्रधानता नष्ट हो गई थी। यह बलात्मक स्वराघात शब्दांत के पूर्व प्रथम दीर्घ स्वर पर प्रायः रहता था[1]। संस्कृत श्लोकों के पढ़ने में अब तक इस ढंग का स्वराघात चला जा रहा है।

मा० भा० आ० काल में स्वराघात की दृष्टि से प्राकृतों के दो विभाग किए जाते हैं। एक तो वे जो किसी न किसी रूप में वैदिक गीतात्मक स्वराघात को अपनाए रहीं। इस श्रेणी में महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी, जैन-मागधी, काव्य की अपभ्रंश, तथा काव्य की जैन-शौरसेनी रक्खी जाती हैं। इस से भिन्न शौरसेनी, मागधी तथा ढक्की (पंजाबी) प्राकृतों में संस्कृत के बलात्मक स्वराघात का विकसित रूप वर्तमान था ऐसा माना जाता है। प्रोफेसर टर्नर आ० भा० आ० भाषाओं में भी म० भा० आ० काल के इस दोहरे स्वराघात के चिह्न पाते हैं, और वे मराठी को पहली श्रेणी में तथा गुजराती को दूसरी श्रेणी में रखते हैं। ग्रियर्सन आदि विद्वानों का एक मंडल म० भा० आ० तथा आ० भा० आ० भाषाओं में केवल बलात्मक स्वराघात के चिह्न पाते हैं, तथा प्रोफेसर ब्लाक इन दोनों कालों में बलात्मक स्वराघात के भी पाए जाने के बारे में संदिग्ध हैं। प्रा० भा० आ० काल के बाद लिखने में स्वराघात चिह्नित करने का रिवाज उठ गया था, इस लिए बाद के कालों के स्वराघात की

---

[1] इस अश की सामग्री का मुख्य आधार चै , वें. लैं , § १४२ है।

स्थिति के संबंध में कोई भी मत विशेषतया अनुमान के आधार पर ही बनाया जा सकता है, अतः इस विषय पर मतभेद और संदेह का होना स्वाभाविक है ।

आ. हिंदी में स्वराघात

१६८, वैदिक भाषा के समान हिंदी में गीतात्मक स्वराघात शब्दों में नहीं पाया जाता । वाक्यों में इस का थोड़ा-बहुत प्रयोग अवश्य होता है जैसे प्रश्नवाचक वाक्य *क्या तुम घर जाओगे ?* में *जाओगे* का उच्चारण कुछ ऊँचे सुर से होता है ।

हिंदी शब्दों में बलात्मक स्वराघात अवश्य पाया जाता है, किंतु वह अंग्रेज़ी के इस प्रकार के स्वराघात के सदृश प्रत्येक शब्द में निश्चित नहीं है । इस के अतिरिक्त हिंदी में प्रायः दीर्घ स्वर पर स्वराघात होने के कारण दोनों में भेद करना साधारणतया कठिन हो जाता है । आधुनिक हिंदी शब्दों में स्वर लोप तथा ह्रस्व और दीर्घ स्वरों का भेद दिखलाना बहुत आवश्यक है । स्वराघात का भेद उतना स्पष्ट नहीं है ।

हिंदी स्वराघात के संबंध में गुरु के हिंदी व्याकरण[1] में कुछ नियम दिए हैं जिन का सार नीचे दिया जाता है । नीचे दिए हुए समस्त उदाहरणों में साधारणतया उपांत्य स्वर पर स्वराघात पाया जाता है, अतः ये समस्त नियम इस एक नियम के अंतर्गत आ सकते हैं ।

(१) यदि शब्द या शब्दांश के अंत में रहने वाले अ का लोप हो कर शब्द या शब्दांश उच्चारण की दृष्टि से व्यंजनांत हो जाता है तो उपांत्य स्वर पर ज़ोर पड़ता है जैसे, *सब*, *आदमी*, *कमल* ।

---

[1] गु, हि व्या. § ५६

(२) संयुक्त व्यंजन के पूर्ववर्ती स्वर पर ज़ोर पड़ता है जैसे, *चंन्दा*, *लंज्जा*, *विंद्या* ।

(३) विसर्ग-युक्त स्वर का उच्चारण कुछ ज़ोर से होता है, जैसे *प्रायंः*, *अन्तंःकरण* ।

(४) प्रेरणार्थक धातुओं में *आ* पर स्वराघात होता है जैसे *करांना*, *बुलांना*, *चुरांना* ।

(५) यदि शब्द के एक ही रूप के कई अर्थ निकलते हैं तो इन अर्थों का अंतर केवल स्वराघात से जाना जाता है, जैसे *की* (संबंध-कारक चिह्न) और *की* (क्रिया) में दूसरी *की* का उच्चारण अधिक ज़ोर दे कर किया जाता है ।

१६९. हिंदी के कुछ मात्रिक और वर्णिक छंदों का मूलाधार स्वरों की संख्या या मात्रा काल न हो कर वास्तव में बलात्मक स्वराघात ही है यदि स्वरों के मात्राकाल के अनुसार ये मात्रिक तथा वर्णिक छंद चलते होते तो ह्रस्व स्वर सदा एक मात्रा तथा दीर्घ स्वर सदा दो मात्राकाल का माना जाता, किंतु हिंदी के इन छंदों में बराबर ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिन में स्वरों की मात्राओं में उच्चारण की दृष्टि से परिवर्तन कर लिया जाता है ।

उदाहरण के लिए सवैया छंद में गणों का क्रम तथा वर्ण-संख्या बँधी हुई है । प्रत्येक पाद की वर्ण-संख्या में तो कोई गड़बड़ नहीं होता किंतु गणों के अंदर वास्तव में स्वर की ह्रस्व-दीर्घ मात्राओं का ध्यान नहीं रक्खा जाता, जैसे *अवधेस के द्वारे सकारे गई सुत गोद कै भूपति लै निकसे* इस पाद में के रे, रे कै मात्रा के हिसाब से दीर्घ हैं किंतु छंद की दृष्टि से इन्हें ह्रस्व मानना पड़ता है । वास्तव में इस सवैया के अंदर संस्कृत के समान गण का क्रम न हो कर प्रत्येक दो वर्ण के बाद बलात्मक स्वराघात है । स्वराघात की दृष्टि से इस पंक्ति को हम यों लिख सकते हैं—*अवधेंस के द्वांरे सकांरे गईं सुत गोदं कै भूंपति लैं निकसें* । इस कारण जिन वर्णों पर

बलात्मक स्वराघात नहीं है वे चाहे ह्रस्व हों या दीर्घ किंतु वे स्वराघात-हीन होने के कारण ह्रस्व के निकट हो जाते हैं। स्वराघात वाले स्वर अवश्य दीर्घ होने चाहिए।

कवित्त या घनाक्षरी छंद में भी वर्णों की निर्धारित संख्या के अतिरिक्त पाद के अंदर बलात्मक स्वराघात का क्रम रहता है।

१७०. अवधी[1] के स्वराघात का अध्ययन सकसेना ने किया है। अवधी में भी बलात्मक स्वराघात पाया जाता है। इस संबंध में सकसेना के अध्ययन का सार नीचे दिया जाता।

एकाक्षरी शब्दों में स्वराघात केवल तब पाया जाता है जब उन का व्यवहार वाक्य में हो। दो अक्षर, तीन अक्षर तथा अधिक अक्षर वाले शब्दों में अंत के दो अक्षरों में से उस पर स्वराघात होता है जो दीर्घ हो या स्थान के कारण दीर्घ माना जाय, यदि दोनों दीर्घ या ह्रस्व हों तो स्वराघात उपांत्य अक्षर पर होता है। इन के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

दो अक्षर वाले शब्द :

पि-सान्, प-चीस्, बो-इस्, बे-हिन्ङ्, ना-रा।

तीन अक्षर वाले शब्द :

झां-प-इ, अ-ढा-ई, सो-वा-इसइ।

चार अक्षर वाले शब्द :

क-रि-हां'-उ, क-चे-ह-री'।

---

[1] सक, ए. अ., भा १, अ ५

अध्याय ५

रचनात्मक उपसर्ग तथा प्रत्यय

१७१. संस्कृत संज्ञा प्रायः तीन अंशों से मिल कर बनती है—धातु, प्रत्यय तथा कारक-चिह्न[1] । धातु और प्रत्यय से मिल कर मूल शब्द बनता है और फिर उस में आवश्यकतानुसार कारक-चिह्न लगाए जाते है । आधुनिक आर्यभाषाओं की संज्ञाओं में संस्कृत कारक-चिह्न प्रायः लुप्त हो गए हैं । आधुनिक भाषाओं में कारक-रचना का सिद्धांत ही भिन्न हो गया है । इस का विवेचन अगले अध्याय में किया जायगा । इस अध्याय में हिंदी रचनात्मक उपसर्ग तथा प्रत्ययों के संबंध में विचार करना है ।

संस्कृत के बहुत से प्रत्यय तथा उपसर्ग आधुनिक भाषाओं में आते-आते नष्टप्राय हो गए हैं, किंतु अब भी कुछ ऐसे हैं जो थोडे या अधिक परि-वर्तनों के साथ आधुनिक भाषाओं मे प्रयुक्त होते हैं । कुछ काल से हिंदी में संस्कृत तत्सम शब्दों का प्रयोग विशेष बढ गया है, अतः इन शब्दों के साथ बहुत से प्रत्यय तथा उपसर्गों का तत्सम रूपों में फिर से व्यवहार होने लगा है । नीचे तत्सम, तद्भव और विदेशी प्रत्यय तथा उपसर्गों का पृथक्-पृथक् विवेचन किया गया है ।

---

[1] बी, क. ग्रै., भा २, § १

अ. उपसर्ग[1]

क. तत्सम उपसर्ग तथा अव्ययादि

१७२. ऊपर बतलाया जा चुका है कि तत्सम शब्दों के साथ बहुत से संस्कृत उपसर्गों का व्यवहार साहित्यिक हिंदी में होने लगा है। इन्हें अभी हिंदी के उपसर्ग नहीं माना जा सकता क्योंकि ये अभी हिंदी भाषा की ऐसी संपत्ति नहीं हो पाए हैं कि जो तद्भव, विदेशी, या देशी शब्दों में स्वतंत्रता-पूर्वक लगाए जा सकें। पं० कामताप्रसाद गुरु ने हिंदी व्याकरण[2] में ऐसे तत्सम उपसर्गों तथा उपसर्गों के समान व्यवहृत संस्कृत विशेषण तथा अव्ययों की एक पूर्ण सूची दी है। उपसर्गों के इतिहास की दृष्टि से इन तत्सम उपसर्गों में कोई विशेषता नहीं दिखलाई जा सकती, अतः अनावश्यक समझ कर इन्हें यहां नहीं दिया गया है।

ख. तद्भव उपसर्ग[3]

१७३. प्रचलित तद्भव उपसर्ग व्युत्पत्ति सहित नीचे दिए जा रहे हैं—

अ < सं० अ : यह संस्कृत उपसर्ग है किंतु तद्भव शब्दों में भी इस का स्वतंत्रता-पूर्वक प्रयोग होता है, जैसे, *अथाह*, *अजान*। संस्कृत में स्वर से प्रारंभ होने वाले शब्दों के पूर्व *अ* के स्थान पर *अन्* हो जाता है जैसे, *अनेक*।

---

[1] उपसर्ग उस अक्षर या अक्षर-समूह को कहते हैं जो शब्दरचना के निमित्त शब्द के पहले लगाया जाता है, जैसे 'रूप' शब्द में 'अनु' उपसर्ग लगाकर 'अनुरूप' शब्द की रचना हो जाती है।

[2] गु, हि व्या, § ४३४, § ४३५ (क)

[3] गु, हि व्या, § ४३५ (क)

हिंदी में व्यंजन से प्रारंभ होने वाले शब्दों के पूर्व भी अ के स्थान पर अन मिलता है जैसे, अनमोल, अनगिनती।

अध	< सं० अर्द्ध	: आधा,	अधविच,	अधकचरा
उन	< सं० ऊन = एकोन	: एक कम,	उन्नीस,	उन्तीस
औ	< सं० अव	: हीन,	औघट,	औगुन
दु	< सं० दुर्	: बुरा,	दुबला,	दुकाल
दु	< सं० द्वौ	: दो,	दुधारा,	दुमुहा
नि	< सं० निर्	: रहित,	निकम्मा,	निडर
बिन	< सं० विना	: अभाव,	बिनब्याहा,	बिनबोया
भर	< सं० √भृ	: पूरा,	भरपेट,	भरसक

ग. विदेशी उपसर्ग

(१) फ़ारसी-अरबी

१७४. फ़ारसी-अरबी उपसर्गों की भी एक पूर्ण सूची गुरु के हिंदी व्याकरण[१] में दी हुई है। उसी के अनुसार नीचे मुख्य-मुख्य उपसर्ग दिए जा रहे हैं।

कम	: थोडा,	कमज़ोर,	कम उम्र
		कम समझ,	कम दाम
खुश	: अच्छा,	खुशबू,	खुशदिल
ग़ैर	: भिन्न,	ग़ैरमुल्क,	ग़ैरहाज़िर
दर	: में	दरअसल,	दरहक़ीक़त

[१] गु, हि व्या, § ४३५ (क)

ना	: अभाव ,	नापसंद ,	नालायक़
ब	: अनुसार ,	बदस्तूर ,	बदौलत
बद	: बुरा ,	बदमाश ,	बदनाम
बिला	: बिना ,	बिला क़ुसूर ,	बिलाशक
बे	: बिना ,	बेईमान ,	बेरहम
ला	: बिना ,	लाचार ,	लावारिस
सर	: मुख्य ,	सरकार ,	सरदार सरपंच
हम	: साथ ,	हमदर्दी ,	हमउम्र
हर	: प्रत्येक ,	हररोज़ ,	हर चीज़
		हरघड़ी ,	हर काम

(२) अंग्रेज़ी

१७५. कुछ अंग्रेज़ी शब्द भी हिंदी में उपसर्ग के समान व्यवहृत होते हैं। इन के कुछ उदाहरण नीचे दिए जा रहे हैं।

सब :	अं० सब :	सब ओवर सियर , सब रिजिस्ट्रार
हेड :	अं० हेड :	हेड पंडित , हेडमास्टर

आ. प्रत्यय[1]

क. तत्सम प्रत्यय

१७६. तत्सम उपसर्गों के समान तत्सम प्रत्यय भी तत्सम शब्दों के साथ बहुत बड़ी संख्या में हिंदी में आ गए हैं। प्रत्ययों के इतिहास की दृष्टि

---

[1]प्रत्यय उस अक्षर या अक्षर-समूह को कहते हैं जो शब्द-रचना के निमित्त शब्द के आगे लगाया जाता है, जैसे 'बूढा' शब्द में 'पा' प्रत्यय लगा कर बुढ़ापा शब्द बन जाता है।

से इन को यहां देना व्यर्थ समझा गया। इन में से जिन का प्रयोग तद्भव तथा विदेशी शब्दों के साथ होने लगा है उन्हें तद्भव प्रत्ययों की सूची में शामिल कर लिया गया है। तत्सम कृदंत और तद्धित प्रत्ययों तथा प्रत्ययों के समान व्यवहृत संस्कृत शब्दों की पूर्ण सूचियां पं० कामताप्रसाद गुरु के हिंदी व्याकरण में दी हुई हैं।[1]

ख. तद्भव तथा देशी प्रत्यय

१७७. हिंदी में व्यवहृत तद्भव तथा देशी प्रत्ययों पर नीचे विचार किया गया है। तद्भव प्रत्ययों में यथासंभव संस्कृत तत्सम रूप देने का यत्न किया गया है। देशी तथा कुछ अन्य प्रत्ययों का इतिहास नहीं दिया जा सका है। देशी माने जाने वाले प्रत्ययों में कुछ ऐसे हो सकते हैं जो खोज के बाद तद्भव साबित हों।

१७८. *अ* (कृ० भाववाचक संज्ञा, विशेषण, पूर्वकालिक कृ० अव्यय)

यह प्रत्यय संस्कृत पु० *अः*, स्त्री० *आ* तथा नपुं० *अम्* की प्रतिनिधि है।[2]

बोल	:	*बोलना*
चाल	:	*चलना*
मेल	:	*मिलना*
देख	:	*देखना*

संस्कृत में धातुओं के आगे जो प्रत्यय लगाए जाते हैं उन्हें 'कृत्' कहते हैं। ऐसे प्रत्ययों के लगाने से जो शब्द बनते हैं उन्हें 'कृदंत' कहते हैं। धातुओं को छोड़ कर अन्य शब्दों के आगे प्रत्यय लगा कर जो शब्द बनते हैं उन्हें 'तद्धित' कहते हैं। हिंदी के लिए इस भेद को अनावश्यक समझ कर प्रत्ययों के इस वर्गीकरण का यहां अनुसरण नहीं किया गया है।

[1] गु, हि. व्या, § ४३५ (क), ४३५ (ख)

[2] चं, वे. लं, § ३६५

१७९. अक्कड़ (कृ०, कर्तृवाचक)[1]

यह देशी प्रत्यय मालूम होता है ।

पियक्कड़	:	*पीना*
भुलक्कड़	:	*भूलना*

१८०. अन्त (कृ०, भाववाचक)[1]

इस का संबंध सं० वर्तमान-कालिक कृदंत प्रत्यय अंत (शतृ) से मालूम होता है यद्यपि आधुनिक प्रयोग कुछ भिन्न हो गया है ।[2]

रटन्त	:	*रटना*
गढ़न्त	:	*गढ़ना*

१८१. *आ* (कृ०, भूतकालिक कृ०, भाववाचक संज्ञा, करणवाचक संज्ञा)[1]

इस का संबंध निरर्थक प्रत्यय *आ* के साथ सं० — *त* (क्त), — इत > प्रा० — अ, — इअ से जोडा जाता है ।[1]

मरा	:	*मरना*
घेरा	:	*घेरना*
पोता	:	*पोतना*

१८२. *आ* (त० विशेषण, स्थूलता-वाचक संज्ञा)[1]

मैला	:	*मैल*
लकड़ा	:	*लकड़ी*

१८३. आइंद (त० भाववाचक संज्ञा)[1] < + *गन्ध*

---

[1] गु., हि. व्या, § ४३५ (ख)
[2] चै., वे. लै., § ३९५

कपड़ाइंद : कपड़ा
सड़ाइंद : सड़ा

१८४. आई (कृ० भाववाचक सज्ञा)[1]

हार्नली[2] इस प्रत्यय का संबंध सं० त० स्त्री० *ता* > प्रा० दा या आ से मानते हैं। निरर्थक क जोडने से सं० *तिका*, प्रा० *दिया* या *इआ*, हि० *आई* हो गया, जैसे सं० *मिष्टता* या *मिष्टतिका**, प्रा० *मिट्ठइआ*, हि० *मिठाई* हो गया।

चैटर्जी[3] और हार्नली में मतभेद है। चैटर्जी के अनुसार यह प्रत्यय म० भा० आ० काल का है और इस का संबंध धातु के प्रेरणार्थक रूप से बनी हुई स्त्रीलिंग क्रियार्थक संज्ञाओं से है, जैसे सं० *याचापिका** रूप से हि० जँचाई रूप बन सकता है।

लड़ाई : *लड़ना*
खुदाई : *खुदना*

१८५. आऊ, ऊ (कृ० कर्तृवाचक संज्ञा)

हार्नली[4] के अनुसार यह प्रत्यय सं० कृ० *तृ* अथवा निरर्थक क सहित *तृक* से निकला है। प्रा० में ऋ का उ में परिवर्तन हो जाने के कारण इस प्रत्यय का प्राकृत रूप ऊ या उओ हो गया था जैसे सं० *खादिता* (मूलरूप *खादितृ*), प्रा० *खाइऊ* या *खाइउओ*, हि० *खाऊ*। चैटर्जी[5] सं० *उ–क* से इस की व्युत्पत्ति को मानना ठीक समझते हैं।

---

[1] गु, हि व्या., § ४३५ (ख)
[2] हा., ई हि. गै, § २२३
[3] चै, वे लै., § ४०२
[4] हा, ई. हि ग्रै, § ३३३
[5] चै, वे. लै, § ४२८

खाऊ	:	*खाना*
उड़ाऊ	:	*उड़ाना*

यह प्रत्यय योग्यता के अर्थ में तथा तद्धित गुणवाचक शब्द बनाने के लिए भी प्रयुक्त होता है।[1]

१८६, *आक, आका* (कर्तृवाचक संज्ञा)

हार्नली के अनुसार इस का संबंध सं० कृ० अक या आपक से है, जैसे सं० *उड्डापक*, प्रा० *उड्डावके* या *उड्डाअके*, हि० *उड़ाका*।

पैराक	:	*पैरना*
लड़ाका	:	*लड़ना*

अनुकरण-वाचक शब्दों में *आका* लगा कर भाववाचक संज्ञाएं (त०) बनती हैं, जैसे *धड़ाका : धड़, सड़ाका : सड़*।[2]

१८७, *आका, आटा* (त०, भाववाचक संज्ञा)[3]

अनुकरण-वाचक शब्दों में प्रायः ये प्रत्यय लगते हैं।

धड़ाका	:	*धड़*
सड़ाका	:	*सड़*
सन्नाटा	:	*सन*

१८८, *आन* (कृ० त०, भाववाचक संज्ञा)

चैटर्जी[4] के अनुसार इस का संबंध सं० *आप्—अन, —आप्—अन—क* से है।

---

[1] चै., बे लै., § ४२८
[2] गु., हि. व्या., § ४३५ (ख)
[3] गु., हि व्या., § ४३५ (ख)
[4] चै., वे. लै., § ४०८

उठान	:	*उठना*
लम्बान	:	*लम्बा*

१८९, *आना* (त० स्थानवाचक संज्ञा)

राजपूताना	:	*राजपूत*
सिरहाना	:	*सिर*

१९०, *आनी* (त० स्त्रीलिंग संज्ञा)

यह सं० तत्सम *आनी* से प्रभावित प्रत्यय है, जैसे सं० *इन्द्र* > *इन्द्राणी* ।

गुरुआनी	:	*गुरु*
पंडितानी	:	*पंडित*

१९१, *आप*, *आपा* (कृ० भाववाचक संज्ञा)[1]

मिलाप	:	*मिलना*
पुजापा	:	*पूजना*

१९२, *आयत*, *आइत* (त०, भाववाचक संज्ञा)

इन का संबंध सं० *वत्*, *मत्* से जोड़ा जाता है[2] । प्राकृत में ये *वंत*, *मत्* हो गए थे और इन रूपों के साथ-साथ *इत* या *इत्त* रूप भी मिलता है । मूल शब्द के *अ* सहित इन का रूप *अवत* *अमंत*, या *अअत अयत*, या *अइंत*, या *इंत* हो सकता है ।

बहुताइत	:	*बहुत*
पंचायत	:	*पंच*

---

[1] चै., वे. लै, § ४०८

[2] हा, ई हि ग्रै, § २४०
बी, क ग्रै., भा. २, § २०

१९३. *आर, आरी* (त० कर्तृवाचक संज्ञा)

ये प्रत्यय संस्कृत *कार, कारिक* के वर्तमान रूप हैं ।[1]

सं० कुम्भकार > प्रा० कुम्हआरो > हि० कुम्हार

सं० पूजाकारिकः > प्रा० पूजआलिए > हि० पुजारी

१९४. *आरा, आरी* (आर के पर्यायवाची)

हार्नली[2] इन की व्युत्पत्ति संबंधकारक के प्रत्ययों से जोड़ते हैं, सं० कृतं > प्रा० केरं > हि० *का, आरा* ।

पुजारी	:	*पूजा*
भिखारी	:	*भीख*
घसिआरा	:	*घास*

१९५. *आड़ी* *खिलाड़ी* : *खेल*

१९६. *आल, आला* (त० संज्ञा)[3]

यह सं० *आलय* का वर्तमान रूप है, जैसे सं० *श्वशुरालय* > हि० *ससुराल*, सं० *शिवालय* > हि० *शिवाला*

ससुराल : *ससुर*

शिवाला : *शिव*

---

[1] चै, बे लै, § ४१२
हा, ई हि ग्रै, § २७७
बी, क. ग्रै, भाग २, § २५

[2] हा, ई हि ग्रै § २७४

[3] हा, ई. हि. ग्रै, § २४४–२४८
चै., बे. लै., § ४१६–४१७

१९७. *आली* (समूहवाचक)

कुछ शब्दों में इस का संबंध सं० *अवली* से जुड़ता है, सं० *दीपावली* > हि० *दिवाली*।

दिवाली : दिया

१९८. *आलू : आलु* (त०)

इस का संबंध सं० *आलु* से माना जाता है।

झगड़ालू : झगड़ा

कृपालु : कृपा

१९९. *आव*, (कृ० त०, भाववाचक संज्ञा)

हार्नली[1] इस का संबंध सं० *त्व, त्वन* > प्रा० *त्तं, त्तणं* > या *अअं अअणं* > अप० *अउ अअणु* से जोड़ते हैं। *अअउ* से *आउ* या *आव* हो जाना संभव है। जैसे सं० *उच्चकत्वं* > प्रा० *उच्चअत्तं* या *उच्चअअं* > अप० *उच्चअउ* > हि० *उंचाव*। चैटर्जी[2] हार्नली का मत मानने को उद्यत नहीं हैं। बीम्स[3] के अनुसार इस का संबंध सं० *अतु* या *आतु* से है।

बचाव : बचना

पड़ाव : पड़ना

हि० *आवा* और *आवट* या *आवत* (कृ०) प्रत्यय व्युत्पत्ति की दृष्टि से *आव* के ही रूपांतर माने जाते हैं।

---

[1] हा., ई हि. ग्रै, § २२७
[2] चै, वे, लै., § ४०५
[3] बी, क ग्रै, भा. २ § १६

भुलावा	:	*भुलाना*
सजावट	:	*सजाना*
कहावत	:	*कहना*

आवना (कृ० विशेषण) की व्युत्पत्ति भी *आव* के ही समान हो सकती है।

डरावना	:	*डराना*
सुहावना	:	*सुहाना*

२००. *आस*, *आसा* (कृ० त०, भाववाचक संज्ञा)

हार्नली[1] इन प्रत्ययों को संस्कृत सं० *वाञ्छा* (इच्छा) का संक्षिप्त तथा परिवर्तित रूप मानते हैं, जैसे सं० *निद्रावाञ्छा* > प्रा० *निद्दवंछा* > हि० *निदासा*, किंतु यह व्युत्पत्ति अत्यंत संदिग्ध है। हि० *पियासा* का संबंध सं० *पिपासा* से है।

रुआसा	:	*रोना*
निंदास	:	*नींद*

२०१. *आहट* (कृ० त०, भाववाचक संज्ञा)

हार्नली[2] के अनुसार इस का संबंध सं० *वृत्ति*, *वृत्त* या *वार्त* संज्ञाओं से है। प्रा० में ये *वट्टी*, *वट्ट* या *वत्ता* हो जाते हैं। बीम्स[3] के अनुसार यह सं० *ऋतु* या *आतु* से निकला है।

कड़ुवाहट	:	*कड़ुवा*
चिकनाहट	:	*चिकना*

---

[1] हा, ई हि ग्रै, § २८३
[2] हा., ई हि ग्रै, § २८८
[3] वी., क ग्रै., भा. २, § १६

२०२. इन या आइन (स्त्रीलिंग)

व्युत्पत्ति की दृष्टि से ये *आनी* के समान हैं ।

मुंशियाइन : *मुंशी*

बरेठिन : *बरेठा*

२०३. इयल (कृ०, कर्तृवाचक)

अड़ियल : *अड़ना*

मरियल : *मरना*

२०४. इया (त० कर्तृवाचक)

इस की व्युत्पत्ति सं० *इय*, *ईय* या *इक* से हो सकती[1] है ।

पर्वतिया : *पर्वत*

कनौजिया : *कनौज*

२०५. ई (त०, संज्ञा, विशेषण)

प्राचीन कई प्रत्ययों ने हिंदी में ई का रूप धारण कर लिया है[2] ।

(१) सं० इन् > हि० ई , जैसे सं० *मालिन* > हि० *माली*

(२) सं० ईय > हि० ई , जैसे सं० *देशीय* > हि० *देशी*

(३) सं० इक > हि० ई , जैसे सं० *तैलिक* > हि० *तेली*

---

[1] बी, क ग्रै, भा २, § १८
चै, ग्रे. लं, § ४२१

[2] चै, ग्रे लं, § ४१८
बी., क ग्रै. भा. २, § १८

भाववाचक या स्त्रीलिंग-वाचक हि० ई की व्युत्पत्ति सं० *इका* से मानी जाती है[1]।

घोड़ी : *घोड़ा*
पगली : *पागल*

ई (कृ०) कुछ क्रियार्थक संज्ञाओं में भी पाई जाती है। इस रूप में यह संस्कृत तत्सम प्रत्यय है।[2]

हंसी	:	*हंसना*
घुड़की	:	*घुड़कना*

२०६. *ईला* (त० विशेषण)

हार्नली[3] के मतानुसार इस का संबंध प्रा० *इल्ल* से है। प्राकृत से ही कदाचित् यह प्रत्यय *इल* रूप में संस्कृत के कुछ शब्दों में पहुँच गया, जैसे सं० *ग्रंथि* > *ग्रंथिल*।

पथरीला	:	*पत्थर*
रंगीला	:	*रंग*
गंठीला	:	*गाठ*

२०७. एर, *एरा* (कृ० कर्तृवाचक, त० भाववाचक)

हार्नली[4] के अनुसार उन का संबंध सं० दृश (सदृश) से माना है। प्राकृत में इस प्रकार के प्रत्यय बराबर पाए जाते हैं।

---

[1] चै, वे. लै, § ४१६
[2] चै., वे लै., § ४२०
[3] हा, ई. हि ग्रै., § २४२
बी., क ग्रै. भा. २, § १८
चै., वे. लै, § ४२५, ४२६
[4] हा, ई हि. ग्रै., § २५१, २१७, २१८

अंधेर अंधेरा	:	*अंध*
सवेरा	:	*बसना*
ममेरा	:	*मामा*

हि० *एड़ी* जैसे *भंगेड़ी*, *एली* जैसे *हथेली*, *एल* जैसे *फुलेल*, *एला* जैसे *अधेला*, *ऐल* जैसे *खपड़ैल* आदि समस्त प्रत्यय व्युत्पत्ति की दृष्टि से एर, एरा के सदृश माने जाते हैं।

२०८. *ऐत* (कृ० कर्तृवाचक)

व्युत्पत्ति के लिए दे० *आयत*।

डकैत	:	*डाका*
लड़ैत	:	*लड़ना*

२०९. *ओड़*, *औड़ा*

हंसोड़	:	*हंसना*
हथौड़ा	:	*हाथ*

२१०. *ओला*

खटोला	:	*खाट*

२११. *औता*, *औटा*, *ओती*, *ओटी*, *औती*, *औटी* (कृ० त० संज्ञा)

व्युत्पत्ति के लिए दे० *आयत*।

चुकौता, *चुकौती*	:	*चुकाना*
कजरौटा	:	*काजर*
बपौती	:	*बाप*
कसौटी	:	*कसना*

२१२. *औना, औनी, आवना, आवनी* (कृ०)

हार्नली[1] के अनुसार इन सब का संबंध सं० *अनीय* > आ० अणीअ, अणिअ, अणअ से है।

खिलौना	:	*खेलना*
मिचौनी	:	*मिचाना*
पहरावनी	:	पहराना
डरावना	:	*डराना*

२१३. *औवल* (कृ० भाववाचक)

बुझौवल	:	*बूझना*
मिचौवल	:	*मीचना*

२१४. *क, अक* (कृ० त०)

चैटर्जी[2] के अनुसार यह सं० अत् अंत वाले क्रिया के रूपों में कृत लगा कर बना था। प्रा० में इस का रूप अक्क मिलता है, जैसे हि० चमक < प्रा० चमक्क < सं० चमत्कृत। अतः इस की उत्पत्ति सं० कृत् से मानी जा सकती है। सं० प्रत्यय अ—क का प्रभाव भी कुछ शब्दों पर हो सकता है। हार्नली के मतानुसार अक् आक् इ० का संबंध अक से है।

फाटक	:	फाड़ना
बैठक	:	बैठना
घमक	:	घम

---

[1] हा, ई हि ग्रै., § ३२१

[2] चै., बे. लैं, § ४३०, ४३१
बी, क. ग्रै, भा २, § ६
हा, ई. हि. ग्रै., § ३३८

२१५. *का* (कृ० त०)

हार्नली[1] के मतानुसार इस का संबंध भी संबंधकारक के प्रत्ययों से है (दे० हा०, ई० हि० ग्रै०, § ३७७)

मैका	:	*मा*
लड़का	:	*लाड़*

२१६. *गी* (कृ०) < फ़ा० *–गी*

देनगी	:	*देना*
बानगी	:	*बान*

यह प्रत्यय वास्तव में विदेशी प्रत्ययों के अंतर्गत जाना चाहिए।

२१७. *ड़ा, ड़ी*[2] (त०)

टुकड़ा	:	*टूक*
मुखड़ा	:	*मुख*

२१८. *जा* (त०)

सं० *जात* का वर्तमान रूप बहुत से हिंदी शब्दों में मिलता है।

भतीजा	:	*भाई*
भानजा	:	*बहिन*

२१९. *टा, टी*[3] (त०)

इन का संबंध सं० √वृत् > प्रा० वट्ट से है। दे० आहट।

कलूटा	:	*काला*
बहूटी	:	*बहू*

---

[1] हा., ई. हि ग्रै, § २८०
[2] बी, क ग्रै, भा. २, § २४
[3] चै, वे लैं, § ४३६

२२०. ड़ा ड़ी[1] (त०)

इन का संबंध (१) सं० *वाट* (जैसे *अखाड़ा*) (२) सं० *ट* > प्रा० *ड* (जैसे *पांखुड़ी*) से माना जाता है ।

२२१. *त ता* (कृ० त०)

(१) भाववाचक संज्ञाओं में पाए जाने वाले *त* प्रत्यय का संबंध सं० *त्व* > प्रा० *त्त* से माना जाता है ।[2] हिंदी में इस प्रत्यय से बने हुए रूप स्त्रीलिंग हो जाते हैं, इस कारण यह व्युत्पत्ति संदिग्ध है ।

बचत	:	*बचना*
खपत	:	*खपना*
रंगत	:	*रंग*

(२) कुछ हिंदी संज्ञाओं में *त* सं० *पुत्र*, *पुत्रिक*, या *पुत्रिका* का अवशिष्ट रूप है ।[3]

जिठौत	:	*जेठ*
बहिनौत	:	*बहिन*

(३) वर्तमान-कालिक कृदंत *ता* का संबंध सं० *अत्* > प्रा० *अंत, अंद, अंते* से माना जाता है ।[4]

जीता	:	*जीना*
खाता	:	*खाना*

---

[1] चै, बे लै, § ४४०, ४४१
[2] चै., बे. लै., § ४४२
[3] चै., बे लै, § ४४४
[4] हा., ई हि ग्रै, § ३०१

२२२. *न, ना, नी* (कृ० त०)

हार्नली[1] इन सब प्रत्ययों का संबंध सं० *अनीय* > प्रा० *अणीअ* या *अणअ* से जोड़ते हैं। स्त्रीलिंग द्योतक बहुत सी संज्ञाओं में सं० इन् का प्रभाव भी है।[2]

रहन	:	*रहना*
घिनौना	:	*घिन*
होनी	:	*होना*
डोमनी	:	*डोम*
चांदनी	:	*चांद*

२२३. *पा, पन* (त० भाववाचक संज्ञा)[3]

इन प्रत्ययों का संबंध सं० *त्व त्वन* > प्रा० *प्पं, प्पण* से जोड़ा जाता है, जैसे सं० *वृद्धत्व* > प्रा० *बुड्ढप्पं* > हि० *बुढ़ापा*।

बुढ़ापा	:	*बूढ़ा*
मुटापा	:	*मोटा*
लड़कपन	:	*लड़का*
कालापन	:	*काला*

---

[1] चै, बे लै, § ३२१
[2] चै, बे लै, § ४४५
[3] हा, ई हि ग्रै, § २३१
वी, क ग्रै, भा २, § १७
चै, बे. लै, § ४४६

२२४. ब (त०)

अब	:	यह
जब	:	जो

२२५. री (त०)

कोठरी	:	कोठा
मोटरी	:	मोट

२२६. रू (त०)

चैटर्जी[1] के अनुसार इस का संबंध सं० रूप > प्रा० रूव से है।

गोरू (गोरूप)	:	गो
पखेरू(पक्षरूप)	:	पंखी
मिहरारू (महिला रूप)		

२२७. ल, ला, ली (त०)

चैटर्जी[2] इन प्रत्ययों का संबंध सं० ल से जोडते हैं। बीम्स[3] के अनुसार इस प्रकार के अधिकांश प्रत्ययों का संबंध सं० इल > प्रा० इल्ल से है।

घायल	:	घात
गंठीला	:	गाठ
सहेली	:	सखी
टिकली	:	टीका

---

[1] चै, वे लै, § ४४८
[2] चै, वे लै., § ४४९
[3] बी., क. ग्रै, भा २, § १८

२२८. वान् (त०)

इस प्रत्यय का संबंध स्पष्ट ही सं० मतुप् से है जिस के मान्, वान् आदि रूप होते हैं।[1]

गुणवान : गुण

धनवान : धन

२२९. वां (त०)

हार्नली[2] के अनुसार इस का संबंध सं० म या स्वार्थे क सहित मक से है, जैसे सं० पञ्चमः या पञ्चमकः > प्रा० पंचमए या पंचवॅए > हि० पांचवां।

पांचवां : पांच

सातवा : सात

२३०. वाल, वाला (त०)

हार्नली[3] के अनुसार इस की व्युत्पत्ति सं० पाल से है।

ग्वाला > सं० गोपालक : गो

गाड़ीवाला : गाड़ी

कोतवाल (कोटपालक)

प्रयागवाल : प्रयाग

---

[1] बी, क ग्रै, भा २, § २०
हा, ई हि. ग्रै, § २३६

[2] हा, ई हि. ग्रै, § २६६

[3] हा, ई. हि. ग्रै., § २९६

२३१. *वैया* (कृ० कर्तृवाचक)

इस प्रत्यय का मूल रूप हार्नली[1] के अनुसार सं० तव्य + इ > प्रा० एअव्वं या इअव्वं है।

खवैया	:	*खाना*
गवैया	:	*गाना*

२३२. *सा* (त०)

इस का संबंध हार्नली[2] सं० *सदृशक:** > प्रा० *सइअए**, *सइआ** से जोड़ते हैं। चैटर्जी[3] इस मत से सहमत नहीं हैं और इस का संबंध सं० *श* (जैसे सं० *कपि-श*, *कर्क-श*) से लगाते हैं। बीम्स[4] का मत इन दोनों से भिन्न है।[8]

हाथीसा	:	*हाथी*
वैसा	:	*वह*

२३३. *सरा*[5]

इस की व्युत्पत्ति सं० √सृ > *सृत:* से मानी जाती है, जैसे सं० *द्विस्सृत:* > प्रा० *दूसलिए* > हि० *दूसरा*

तीसरा	:	*तीन*
दूसरा	:	*दो*

---

[1] हा., ई. हि. ग्रै., § ३१४
[2] हा., ई. हि. ग्रै., § २९२
[3] चै., वे. लै., § ४५०
[4] बी., क. ग्रै., भा. २, § १७
[5] हा., ई. हि. ग्रै., § २७१
चै., वे. लै., § ४५२

२३४. *हरा*[1]

इस प्रत्यय का संबंध सं० हार (भाग) से माना गया है।

दुहरा	:	*दो*
इकहरा	:	*एक*

खंडहर, *पीहर* आदि शब्दों में *हर* सं० *गृह* का परिवर्तित रूप है।

२३५. *हार*, *हारा*

हार्नली[2] ने इस का संबंध सं० *अनीय* से जोडा है, किंतु यह व्युत्पत्ति बिल्कुल भी संतोषजनक नहीं है।

होनहार	:	*होना*
पढ़नेहारा	:	*पढ़ना*
लकड़हारा	:	*लकड़ी*

२३६. *हा* (कृ० कर्तृवाचक, त० गुणवाचक)

कटहा	:	*काटना*
मरखहा	:	*मारना*
पनिहा	:	*पानी*
हलवाहा	:	*हल*

ग. विदेशी प्रत्यय

फ़ारसी-अरबी

२३७. गुरु[3] के हिंदी व्याकरण में हिंदी में प्रचलित फ़ारसी-अरबी शब्दों में पाए जाने वाले प्रत्ययों की सूची दी है। इन में से कुछ वे प्रत्यय नीचे

---

[1] चै, वे. लै, § ४५४

[2] हा, ई. हि गै, § ३२१

[3] गु, हि. व्या, § ४३६-४४२ (ख)

दिए जाते हैं जिन का प्रयोग हिंदी शब्दों में भी होने लगा है। कुछ प्रत्यय चैटर्जी[1] के ग्रंथ से भी लिए गए हैं।

ई (त० भाववाचक संज्ञा)

ख़ुशी	:	ख़ुश
नवाबी	:	नवाब
दोस्ती	:	दोस्त

कार (त० कर्तृवाचक)

पेशकार	:	पेश
जानकार	:	जान

दान, दानी (त० पात्रवाचक)

इत्रदान	:	इत्र
चायदान	:	चाय
गोंददानी	:	गोंद

बान, वान (त० कर्तृवाचक)

बाग़बान	:	बाग़
गाड़ीवान	:	गाड़ी

आना, आनी

घराना	:	घर
साहिबाना	:	साहिब
हिंदुआनी	:	हिंदू

[1] चै, वे. लै, § ४६८

ख़ाना

छापाख़ाना	:	छापा
गाड़ीख़ाना	:	गाड़ी

ख़ोर

घूसख़ोर	:	घूस
चुग़लख़ोर	:	चुगली

गीरी फ़ा० गीर या गरी

कारीगरी	:	कार
बाबूगीरी	:	बाबू

ची फ़ा० चह् का रूपांतर

देगची	:	देग़चा
चमची	:	चमचा
बगीची	:	बग़ीचा

बाज़, बाज़ी

रंडी बाज़ी	:	रंडी
कबूतरबाज़ी	:	कबूतर

अध्याय ६

संज्ञा

अ. मूलरूप तथा विकृत रूप

२३८. हिंदी में कारकों की संख्या उतनी ही है जितनी संस्कृत में, किंतु प्रत्येक कारक में भिन्न-भिन्न संयोगात्मक रूप नहीं होते। संस्कृत में आठ विभक्तियों और प्रत्येक विभक्ति में तीन वचनों के रूपों को मिला कर प्रत्येक संज्ञा में चौबीस रूपांतर हो जाते हैं। फिर भिन्न-भिन्न अंत वाली संज्ञाओं के रूप पृथक्-पृथक् होते हैं। लिंगभेद से भी रूपों में भेद हो जाता है। इस तरह किसी एक संज्ञा के चौबीस रूप जान लेने से भिन्न अंत अथवा लिंग वाली संज्ञा के रूपांतर बना लेना साधारणतया संभव नहीं होता।

हिंदी में द्विवचन तो होता ही नहीं है। भिन्न-भिन्न कारकों के एकवचन तथा बहुवचन में भी संज्ञा में चार से अधिक रूप नहीं पाए जाते। प्रथमा बहुवचन तथा समस्त अन्य कारकों के एकवचन तथा बहुवचन के रूपों में अंत, वचन तथा लिंगभेद के अनुसार कुछ भेद पाए जाते हैं। इन्हीं रूपों में भिन्न-भिन्न कारक-चिह्न लगाकर, तथा कुछ प्रयोगों में बिना लगाए भी, भिन्न-भिन्न विभक्तियों के रूप बना लिए जाते हैं। उदाहरण के लिए *राम* शब्द के संस्कृत तथा हिंदी के रूप नीचे दिए जाते हैं—

संस्कृत

	एक०	द्वि०	बहु०
कर्ता	रामः	रामौ	रामाः
कर्म	रामम्	रामौ	रामान्
करण	रामेण	रामाभ्याम्	रामैः
संप्रदान	रामाय	रामाभ्याम्	रामेभ्यः
अपादान	रामात्	,,	,,
संबंध	रामस्य	रामयोः	रामाणाम्
अधिकरण	रामे	,,	रामेषु
संबोधन (हे)	राम	रामौ	रामाः

हिंदी

	एक०	बहु०
कर्ता	राम	राम
कर्म	,, को	रामों को
करण	,, से	,, से
संप्रदान	,, को	,, को
अपादान	,, से	,, से
संबंध	,, का, के, की	,, का, के, की
अधिकरण	,, में	,, में
संबोधन (हे)	राम	(हे) रामो

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट होगया होगा कि हिंदी विभक्तियों का संबंध संस्कृत विभक्तियों से बिल्कुल भी नहीं है। ब्रजभाषा आदि हिंदी की बोलियों में कुछ संयोगात्मक रूप अवश्य मिलते हैं, जैसे कर्म में ब्र०

घरै (हि० घर को), संप्रदान ब्र० रामै (हि० राम को) किंतु खड़ीबोली हिंदी की संज्ञाओं में ऐसे रूपों का व्यवहार नहीं पाया जाता।

२३९. कारक-चिह्न लगाने के पूर्व हिंदी संज्ञा के मूलरूप में जब परिवर्तन किया जाता है तो ऐसे रूपों को संज्ञा का विकृत रूप कहते हैं। हिंदी में संज्ञा के चार रूपों—दो मूल और दो विकृत—के उदाहरण भी प्रत्येक संज्ञा में भिन्न नहीं पाए जाते। भिन्न-भिन्न अंत वाली संज्ञाओं में मिला कर ये चारों रूप अवश्य मिल जाते हैं। नीचे के उदाहरणों से यह बात स्पष्ट हो जावेगी।

		एक०	बहु०
मूलरूप	(कर्ता)	घोड़ा	घोड़े
विकृत रूप	(अन्य कारक)	घोड़े	घोड़ों
मूलरूप	(कर्ता)	लड़की	लड़की, लड़किया
विकृत रूप	(अन्य कारक)	लड़की	लड़कियों
मूलरूप	(कर्ता)	घर	घर
विकृत रूप	(अन्य कारक)	घर	घरों
मूलरूप	(कर्ता)	किताब	किताबें
विकृत रूप	(अन्य कारक)	किताब	किताबों

बहुवचन के भिन्न रूपों की व्युत्पत्ति के संबंध में वचन के शीर्षक में विचार किया गया है। कुछ आकारांत शब्दों के एकवचन में भी कर्ता को छोड़ कर अन्य कारकों में एकारांत विकृत रूप पाया जाता है (कर्ता एक० घोड़ा, अन्यकारक एक० घोड़े)[1]। इस विकृत रूप की व्युत्पत्ति के संबंध में प्रायः समस्त विद्वानों का एक मत है। यह रूप संस्कृत एकवचन की भिन्न-भिन्न विभक्तियों के रूपों का अवशेष मात्र माना जाता है।

---

[1] इस के अपवादों के लिए दे गु, हि व्या, § ३१०

हिंदी संज्ञाओं के मूल तथा विकृत रूपों में होने वाले समस्त संभावित परिवर्तन नीचे दिखलाए गए हैं।

	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग	
	एक०	बहु०	एक०	बहु०
	आकारांत कुछ			
मूलरूप	—आ	—ए	×	—एं
विकृतरूप	—ए	—ओं	×	—ओं
	अन्य			
मूलरूप	×	×	×	(-एं;-आ)
विकृतरूप	×	—ओं	×	—ओं

सूचना (१) ईकारांत तथा ऊकारांत शब्दों में ओं लगाने के पूर्व ईकार तथा ऊकार के स्थान में इकार तथा उकार हो जाता है।

(२) स्त्रीलिंग के अन्य रूपों में इकारांत अथवा ईकारांत तथा ऊकारांत संज्ञाओं के मूलरूप बहुवचन में इआं, इएं तथा उएं रूप भी होते हैं।

आ. लिंग[1]

२४०. प्रकृति में जड और चेतन दो प्रकार के पदार्थ पाए जाते हैं। चेतन पदार्थों में पुरुष और स्त्री का भेद होता है। कभी-कभी चेतन पदार्थ को लिंगभेद की दृष्टि के विना भी सोचा जा सकता है। इस प्रकार प्रकृति में लिंग की दृष्टि से चेतन पदार्थों के तीन भेद हो सकते हैं—(१) पुरुष, (२) स्त्री

[1] बी, क ग्रै., भा. २, § २९

तथा (३) लिंग की भावना के बिना चेतन पदार्थ। व्याकरण में स्वाभाविक रीति से इन के लिए क्रम से (१) पुल्लिंग, (२) स्त्रीलिंग तथा (३) नपुंसक लिंग शब्दों का प्रयोग करते हैं। अचेतन पदार्थों को प्रायः नपुंसक लिंग के अंतर्गत रख लिया जाता है। इस क्रम से मिलता-जुलता लिंगभेद संस्कृत और अंग्रेज़ी में, तथा मराठी, गुजराती आदि के कुछ रूपों में है यद्यपि कभी-कभी कुछ जड़ पदार्थों को सचेतन मान कर इन में भी चेतन पदार्थों के पुल्लिंग-स्त्रीलिंग भेद का आरोप कर लिया जाता है।

भिन्न-भिन्न लिंग वाले पदार्थों के लिए पृथक् शब्द रहने पर भी लिंग के कारण कभी-कभी संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, या क्रिया के रूपों में परिवर्तन करना व्याकरण-संबंधी लिंगभेद का शुद्ध क्षेत्र है। प्राकृतिक लिंगभेद तो प्रत्येक भाषा में समान-रूप से वर्तमान है, किंतु व्याकरण-संबंधी लिंगों की संख्या तथा मात्रा भिन्न-भिन्न भाषाओं में पृथक्-पृथक् है। उदाहरण के लिए संस्कृत में विशेषण, कृदंत तथा प्रथम पुरुष सर्वनाम के रूप पुल्लिंग स्त्रीलिंग तथा नपुंसक लिंग में भिन्न होते हैं। अंग्रेज़ी में केवल प्रथम पुरुष सर्वनाम के रूपों में भेद किया जाता है। लिंगों की संख्या के संबंध में भारतीय आर्यभाषाओं में ही कई भेद मिलते हैं। प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं में संस्कृत और प्राकृत में तथा आधुनिक भाषाओं में मराठी, गुजराती और सिंहाली में तीन लिंग होते हैं। हिंदी, पंजाबी, राजस्थानी तथा सिंधी में दो लिंग होते हैं। बंगाली, उड़िया, आसामी तथा बिहारी में व्याकरण-संबंधी लिंगभेद बहुत ही कम किया जाता है। भारत की पूर्वी भाषाओं में लिंगभेद के शिथिल होने का कारण प्रायः निकटवर्ती तिब्बत और बर्मा प्रदेशों की अनार्य भाषाओं का प्रभाव माना जाता है। इन भाषाओं में व्याकरण-संबंधी लिंगभेद नहीं पाया जाता। चैटर्जी की धारणा है कि कोल भाषाओं के प्रभाव के कारण बंगाली आदि पूर्वी भाषाओं से लिंगभेद उठ गया। उन के मत के अनुसार पूर्वी भाषाओं में लिंगभेद-संबंधी शिथिलता का कारण इन भाषाओं

का स्वाभाविक विकास भी हो सकता है।[1] विना वाह्य प्रभाव के ऐसा होना संभव है। मराठी, गुजराती आदि दक्षिण-पश्चिमी आर्यभाषाओं में प्राचीन तीनों लिंगों का भेद बना रहना निकटस्थ द्राविड भाषाओं के कारण माना जाता है। इन द्राविड़ भाषाओं में भी लिंगों की संख्या तीन है। मध्यवर्ती भारतीय आर्यभाषाएं लिंगों की संख्या की दृष्टि से भी मध्यस्थ हैं।

२४१. हिंदी में व्याकरण-संबंधी लिंगभेद सब से अधिक दुरूह है। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है हिंदी की एक विशेषता तो यह है कि उस में केवल दो लिंग—पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग—होते हैं। हिंदी व्याकरण में नपुंसक लिंग नहीं है, अतः प्रत्येक अचेतन पदार्थ के नाम को पुल्लिंग या स्त्रीलिंग के अंतर्गत रखना पडता है और तत्संबंधी समस्त रूप-परिवर्तन इन शब्दों में भी करने पड़ते हैं। इस संबंध मे निश्चित नियम बनाना दुस्तर है।[2] साधारणतया हिंदीभाषा-भाषी अभ्यास से ही अचेतन पदार्थों में प्रचलित लिंग विशेष के शुद्ध रूपों का व्यवहार करने लगते हैं। विदेशियों को हिंदी में शुद्ध लिंग का प्रयोग करने में विशेष कठिनाई इसी कारण पड़ता है।

हिंदी में लिंग-संबंधी दूसरी विशेषता यह है कि इस की क्रियाओं में भी लिंग के कारण विकार होता है। लिंगभेद के कारण प्रत्येक हिंदी क्रिया के दो रूप होते हैं—पुल्लिंग तथा स्त्रीलिंग—जैसे *आदमी जाता है, जहाज़ जाता है,* किंतु *स्त्री जाती है, रेल जाती है*। लिंग के संबंध में यह बारीकी अन्य आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में से भी बहुत कम में है। भारत की पूर्वी भाषाओं में क्रिया में लिंगभेद होने के कारण बंगाली, बिहारी तथा संयुक्तप्रांत की गोरखपुर और बनारस कमिश्नरी तक के लोग हिंदी बोलते समय क्रिया में अशुद्ध लिंग का प्रयोग अक्सर करते हैं। 'लोमड़ी बोला कि

---

[1] चै, बे लै, § ४८३

[2] इस संबध में कुछ विस्तृत नियमो के लिए दे गु, हि व्या., § २५९-२६६

ऐ हाथी तुम कहां जाती हो' इस प्रकार के नमूने हिंदी से कम परिचय रखने वाले बंगालियों के मुँह से अक्सर सुनाई पडते हैं। हिंदी क्रिया में कृदंत रूपों का व्यवहार बहुत अधिक है। संस्कृत कृदंत रूपों में लिंगभेद मौजूद था, यद्यपि संस्कृत क्रिया में लिंगभेद नहीं किया जाता था। क्योंकि हिंदी कृदंत रूप संस्कृत कृदंतों से संबद्ध हैं, अतः यह लिंगभेद हिंदी कृदंतों में तो आ ही गया, साथ ही कृदंत से बनी हुई क्रियाओं में भी पहुँच गया है। इस संबंध में उदाहरण सहित विस्तृत विवेचन 'क्रिया' शीर्षक अध्याय में किया गया है।

हिंदी आकारांत विशेषणों में लिंगभेद के कारण भिन्न रूप होते हैं। अन्य विशेषणों में इस प्रकार का भेद बहुत कम पाया जाता है। लिंग के कारण विशेषणों में होने वाले परिवर्तनों का रूप निश्चित सा है। इन में सब से अधिक प्रचलित परिवर्तन नीचे लिखे ढंग से प्रकट किया जा सकता है—

	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
एक०	—आ	—ई
बहु०	—ए	—ई,—ईं

हिंदी विशेषणों के ई लगा कर बने हुए स्त्रीलिंग रूपों की व्युत्पत्ति सं० तद्धित प्रत्यय *इका* > प्रा० *इआ* से अथवा इस के प्रभाव से मानी जाती है।[1]

हिंदी सर्वनामों तथा प्रायः क्रियाविशेषणों[2] में लिंगभेद के कारण परिवर्तन नहीं होते। *मैं*, *तुम*, वह आदि सर्वनाम-स्त्री-पुरुष द्योतक संज्ञाओं के लिए समान-रूप से प्रयुक्त होते हैं।

२४२. हिंदी संज्ञाओं के लिंगभेद की व्युत्पत्ति के संबंध में बीम्स[3] ने नीचे लिखा नियम दिया है। 'तत्सम तथा तद्भव संज्ञाओं में प्रायः वही लिंग

---

[1] हा, ई. हि ग्रा, § ३८५

[2] इस सबध में अपवादो के लिये दे गु, हि व्या, § ४२३

[3] बी, क ग्रै., भा २, § ३०

हिंदी में भी माना जाता है जो संस्कृत में उन का लिंग रहा हो। संस्कृत नपुंसक लिंग शब्द हिंदी में प्रायः पुल्लिंग हो जाते हैं'। इस नियम के सैकड़ों अपवाद भी हैं। इस संबंध में बीम्स[1] ने कुछ विस्तृत नियम दिए हैं जिन का सार नीचे दिया जाता है।

हिंदी की पुल्लिंग आकारांत संज्ञाओं की व्युत्पत्ति नीचे लिखे रूपों से हो सकती है—

(१) संस्कृत की—*अन्* अंतवाली संज्ञाओं से जिन के प्रथमा में आकारांत रूप होते हैं, जैसे *राजा*।

(२) संस्कृत की—*तृ* अंतवाली संज्ञाओ से जैसे *कर्ता*, *दाता*।

(३) कुछ विदेशी शब्दों से, जो प्रायः फारसी, अरबी या तुर्की से आए हैं, जैसे *दरिया*, *दरोग़ा*।

साधारणतया ईकारांत शब्द स्त्रीलिंग होते हैं किंतु कुछ शब्द पुल्लिंग भी पाए जाते हैं। ये निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किए जा सकते हैं—

(१) संस्कृत—*इन्* अंतवाले शब्द, जैसे

सं० *हस्तिन्* > हि० *हाथी*,

सं० *स्वामिन्* > हि० *स्वामी*।

(२) संस्कृत के—*तृ* अंत वाले पुल्लिंग शब्द, जैसे सं० *भ्रातृ* > हि० *भाई*, सं० *नप्तृ* > हि० *नाती*।

(३) संस्कृत के इकारांत पुल्लिंग या नपुंसक लिंग शब्द, जैसे सं० *दधि* (नपुं०) > हि० *दही*, सं० *भगिनीपति* (पु०) > हि० *बहिनोई*।

(४) संस्कृत के *इक*, *इय* और *ईय* अंत वाले पुल्लिंग या नपुंसक लिंग शब्द, जैसे सं० *पानीयं* > हि० *पानी*, सं० *ताम्बूलिक* >

---

[1] बी, क ग्रै, भा. २, § ३२-३३

हि० *तमोली*, सं० *क्षत्रिय* > हि० *खत्री* ।

(५) संस्कृत के वे पुल्लिंग या नपुंसक लिंग शब्द जिन के उपांत्य में इकार या ईकार हो। अंत्य ध्वनि के लोप से ये शब्द हिंदी में ईकारांत हो जाते हैं, जैसे सं० *जीव* > हि० *जी* ।

पुल्लिंग ऊकारात शब्द प्रायः संस्कृत ऊकारांत शब्दों से संबद्ध हैं तथा पुल्लिंग व्यंजनांत शब्द प्रायः संस्कृत के अंत्य ह्रस्व स्वर के लोप से हिंदी में आ गए हैं।

हिंदी में कुछ आकारांत स्त्रीलिंग शब्द हैं। ये व्युत्पत्ति की दृष्टि से नीचे लिखी श्रेणियों में रक्खे जा सकते हैं—

(१) संस्कृत के आकारांत स्त्रीलिंग शब्द, जैसे *कथा*, *यात्रा* ।

(२) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाले शब्द, जैसे *डिबिया*, *चिड़िया* ।

ऊपर दिए हुए पुल्लिंग ईकारांत शब्दों को छोड कर शेष ईकारांत शब्द स्त्रीलिंग होते हैं।

संस्कृत के ऊकारांत स्त्रीलिंग शब्द हिंदी में भी स्त्रीलिंग में ही प्रयुक्त होते हैं, जैसे स० *वधू* > हि० *वहू* ।

जाति तथा व्यापार आदि से संबंध रखने वाले शब्दों में पुल्लिंग रूपों से स्त्रीलिंग रूप बना लिए जाते हैं।[1] पुल्लिंग आकारांत शब्द स्त्रीलिंग में ईकारांत हो जाते हैं, जैसे पु० *लडका* स्त्री० *लडकी*, पु० *घोड़ा* स्त्री० *घोड़ी* । विशेषणों में भी यही प्रत्यय लगता है और इस की व्युत्पत्ति ऊपर दी जा चुकी है। बहुत से शब्दों में *इन इनी* या *आनी* लगा कर पुल्लिंग रूपों से स्त्रीलिंग रूप बनाए जाते हैं, जैसे पु० *धोबी* स्त्री० *धोबिन*, पु० *हाथी* स्त्री० *हथिनी*, पु० *पंडित* स्त्री० *पंडितानी* । व्युत्पत्ति की दृष्टि से ये प्रत्यय सं० *इन* (पु०) *इनी* (स्त्री०) से संबद्ध हैं किंतु हिंदी में ये स्त्रीलिंग के अर्थ

---

[1] बी, क. ग्र, भा. २, § ३५

में ही व्यवहृत होते हैं। संस्कृत में जिन शब्दों में ये नहीं भी लगते हैं, हिंदी में उन में भी लगा दिए जाते हैं। विदेशी शब्दों तक में इन को लगा कर स्त्री-लिंग रूप बना लेते हैं, जैसे पु० *मुग़ल* स्त्री० *मुग़लानी*, पु० *मेहतर* स्त्री० *मेहतरानी*।

कुछ शब्द ऐसे भी हैं जिन के लिंग में परिवर्तन हो गया है—संस्कृत में इन का जो लिंग था हिंदी में उस से भिन्न लिंग में ये शब्द व्यवहृत होते हैं, जैसे[1]

सं०	हि०
देह (पु०)	*देह* (स्त्री०)
बाहु (पु०)	*बांह* (स्त्री०)
अक्षि (न०)	*आंख* (स्त्री०)
विष (न०)	*विष* (पु०)

इ. वचन

२४३. प्रा० भा० आ० में तीन वचन थे—एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन। म० भा० आ० काल के प्रारंभ मे ही द्विवचन समाप्त होगया था। आ० भा० आ० में एकवचन और बहुवचन ये दो ही वचन रह गए हैं और प्रवृत्ति केवल एक ही वचन रखने की ओर मालूम पड़ता है।

हिंदी में बहुवचन के रूप बहुत सरल ढंग से बनते हैं।

(१) पुल्लिंग व्यंजनांत तथा कुछ स्वरांत संज्ञाओं में प्रथमा एकवचन तथा बहुवचन के रूप समान होते हैं, जैसे

एक०	बहु०
घर	*घर*
बर्तन	*बर्तन*
आदमी	*आदमी*

---

[1] बी, क ग्रै, भा. २, § ३६

(२) स्त्रीलिंग आकारांत तथा व्यंजनांत संज्ञाओं में प्रथमा वहुवचन में –एं लगता है, जैसे

एक०	वहु०
रात	*रातें*
औरत	*औरतें*
कथा	*कथाएं*

(३) पुल्लिंग आकारांत शब्दों में प्रथमा वहुवचन में आ के स्थान में –ए कर दिया जाता है, जैसे

एक०	वहु०
लड़का	*लड़के*
साला	*साले*

(४) स्त्रीलिंग ईकारांत शब्दों में प्रथमा वहुवचन में या तो सिर्फ अनुस्वार जोड़ दिया जाता है या ई के स्थान में–*इया* कर दिया जाता है, जैसे

एक०	वहु०
लड़की	*लड़कीं या लड़किया*
पोथी	*पोथीं या पोथियां*

(५) अन्य समस्त विभक्तियों के वहुवचन में समान रूप से–*ओं* लगता है, जैसे घरों, *रातो*, *लड़कों*, *पोथियों* इत्यादि। ईकारांत शब्दों में ई ह्रस्व हो जाती है और–*ओं* के स्थान पर–*यों* हो जाता है।

हिंदी वहुवचन के चिह्नों में प्रथमा वहु०–*ए* के स्थान पर संस्कृत में पुल्लिंग वहुवचन में–*आः* पाया जाता है।[1] संभव है इस परिवर्तन में, संस्कृत के कुछ सर्वनाम रूपों के वहुवचन के चिह्न–*ए* का भी प्रभाव रहा हो, जैसे सं० प्रथमा वहु० *सर्वे*।

---

[1] वी., क ग्रै, भा २, § ४५

हिंदी प्रथमा बहु०—एं,—इयां,—ई का संबंध संस्कृत नपुंसक लिंग प्रथमा बहुवचन के—*आनि* से जोडा जाता है।

सं०—*अनि* > *आइं* > *ऐं* > *एं; इआ; ई*

अन्य विभक्तियों के बहुवचन के चिह्न—*ओं* या—*यों* का संबंध संस्कृत षष्ठी बहुवचन—*आनां* से है।

ई. कारक-चिह्न

२४४. संज्ञा के विकृत रूप में कारक-चिह्न लगा कर हिंदी विभक्तियों के रूप बनाए जाते हैं। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के संयोगात्मक रूपों के धीरे-धीरे घिस जाने पर मध्यकाल के अंत में संज्ञा का प्रायः मूलरूप भिन्न-भिन्न विभक्तियों में प्रयुक्त होने लगा था। ऐसी स्थिति में अर्थ समझने में कठिनाई पडती थी इस लिए भिन्न-भिन्न कारकों के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए ऊपर से पृथक् शब्द इन मूलरूपों के साथ जोड़े जाने लगे। हिंदी के वर्तमान कारक-चिह्न मध्यकाल के अंत में लगाए जाने वाले इन्हीं सहकारी शब्दों के अवशेष मात्र हैं। घिसते-घिसते ये प्रायः इतने छोटे हो गए हैं कि इन के मूलरूपों को पहचानना प्रायः दुस्तर हो गया है। इस के अतिरिक्त भाषा के साधारण शब्दसमूह में इन का पृथक् अस्तित्व नहीं रह गया है इसी कारण इन्हें संज्ञा के मूलरूपों के साथ लिखने की प्रवृत्ति हो रही है।

भिन्न-भिन्न कारकों में प्रयुक्त चिह्न नीचे दिए जाते हैं, साथ ही इन की व्युत्पत्ति पर भी विचार किया गया है।

कर्ता या करण कारक

२४५. हिंदी में कर्ता के रूपों में कोई भी कारक-चिह्न प्रयुक्त नहीं होता। संस्कृत तथा प्राकृत में भी अधिकांश संज्ञाओं में प्रथमा के रूपों में परिवर्तन नहीं होता है।

के *न* का धीरे-धीरे लोप होता गया है फिर *—एन* का ने होना कैसे संभव है। यदि *—एन* के स्थान पर संस्कृत में *—नेन* कोई चिह्न होता तो उस से ने होना संभव था किंतु ऐसा कोई भी चिह्न संस्कृत या प्राकृत में नहीं मिलता।

इस व्युत्पत्ति के विरोध में बीम्स का यह तर्क भी विचार करने के योग्य है कि यदि ने प्राचीन करण कारक के चिह्न का रूपांतर होता तो पुरानी हिंदी में इस के प्रयोग का बाहुल्य होना चाहिए था। वास्तव में बात उलटी है। पुरानी हिंदी में ने का प्रयोग बहुत कम मिलता है। आधुनिक हिंदी में आकर ही इस का प्रचार अधिक हुआ। संस्कृत के करण कारक का कोई भी चिह्न हिंदी में नहीं रह गया था। ऐसी परिस्थिति में बीम्स के मतानुसार १६वीं १७वीं शताब्दी के लगभग संप्रदान-कारक के लिए प्रयुक्त ने का प्रयोग (जैसे मैने देदे) करण कारक की कुछ क्रियाओं के साथ भी होने लगा होगा। हार्नली[१] का कहना है कि संप्रदान के लिए ब्रज० में कौं *को* और मार-वाडी में नैं ने का प्रयोग होता था। संभव है नैं या ने को संप्रदान के लिए अनावश्यक समझ कर इसे सप्रत्यय कर्ता या करण कारक के लिए ले लिया गया हो। प्राचीन संयोगात्मक कारकों के अवशेष यदि आधुनिक भाषाओं में कही रह गए हैं तो संयोगात्मक रूपों में ही रह गए है। ने हिंदी में पृथक् कारक चिह्न है। बीम्स के मतानुसार इस बात से भी पुष्टि होती है कि ने संस्कृत *—एन* का रूपांतर नही है।

ब्लाक ने ग्रियर्सन का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि ने का संबंध सं० *—तन—* से होना संभव है। वास्तव में ने की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। निश्चय-पूर्वक इस संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता।

कर्म तथा संप्रदान

२४६. हिंदी तथा हिंदी की बोलियों में कर्म और संप्रदान के लिए

---

[१] हा, ई हि ग्रै, § ३७१

प्रायः एक ही प्रकार के कारक-चिह्न प्रयुक्त होते हैं। खड़ी बोली में *को* दोनों विभक्तियों में आता है। संप्रदान में *के लिये* रूप विशेष आता है।

ट्रंप[1] के मतानुसार *को* की उत्पत्ति सं० *कृत* से हुई है जो प्राकृत में *कितो* > *किओ* होकर *को* रूप धारण कर सकता है। प्राकृत में वास्तव में *कतं* और *कद* रूप मिलते हैं। इस संबंध में सब से बड़ी कठिनाई हिंदी के प्राचीन रूप *कहु* के संबंध में है। ट्रंप का अनुमान है कि *कृतं* की जब *ऋ* का लोप हुआ होगा तब *त* महाप्राण हो गया होगा। यह विचार-शैली बहुत मान्य नहीं दिखलाई पड़ती।

हार्नली और बीम्स[2] *को* का संबंध सं० *कक्षं* से जोड़ते हैं। चैटर्जी[3] आदि अन्य आधुनिक विद्वान भी इस व्युत्पत्ति को ठीक समझते हैं, यद्यपि *कृतं* वाली व्युत्पत्ति को भी असंभव नहीं मानते। *कक्षं* > *कक्खं* > *काखं* *काह* > *कहुं कहं* > *कों* > *को* ये परिवर्तन की संभव सीढ़ियां हैं। अर्थ की दृष्टि से भी *कक्षं* 'बगल में' को 'निकट, ओर' से अधिक साम्य रखता है। हिंदी बोलियों में *को* से मिलते-जुलते रूपों की व्युत्पत्ति भी *कक्षं* से ही मानी जाती है।

२४७. हिंदी *के लिए* के *के* का संबंध प्रायः सं० *कृते* से जोड़ा जाता है। सत्यजीवन वर्मा[4] *के* को संबंध कारक के प्राचीन चिह्न *केरक* का रूपांतर मानते हैं। इन के मत में *को* भी *केहि* का रूपांतर है जिस में *के* अंश *केरक* का विकसित रूप है और *हि* अंश अपभ्रंश की सप्तमी विभक्ति का चिह्न है। किंतु *को* तथा *के* की व्युत्पत्ति के संबंध में यह मत अन्य विद्वानों द्वारा

---

[1] ट्रंप, सिंधी ग्रैमर, पृ० ११५

[2] बी, क ग्रै, भा २, § ५६
हा., ई. हि. ग्रै., § ३७५

[3] चै, बे. लैं, § ५०५

[4] सत्यजीवन वर्मा 'हिंदी के कारक चिह्न' शीर्षक लेख। ना प्र प, भाग ५, अंक ४

ग्रहण नहीं किया जा सका है। प्रथम मत ही सर्वमान्य है।

के लिये के *लिये* अंश का संबंध सं० *लग्ने* से माना जाता है। हार्नली[1] के अनुसार *लिये* की उत्पत्ति सं० *लब्धे* 'लाभार्थ' से हुई है। किंतु यह मत सर्वमान्य नहीं है। संभव है कि इस का संबंध प्रा० √*ले* से हो। हिंदी बोलियों के *लगे*, *लागि* आदि रूपों की व्युत्पत्ति भी *लिये* के ही समान मानी जाती है। सं० *लग्ने* > प्रा० *लग्गे*, *लग्गि* > हि० बो० *लागि*, *लगे* ये संभव परिवर्तन हैं।

२४८. हिंदी बोलियों में प्रयुक्त चतुर्थी के अन्य मुख्य शब्दों की व्युत्पत्ति हार्नली के मतानुसार[1] संक्षेप में नीचे दी जाती है।

हि० बो० *ठाई*	< अप० प्रा० *ठाणि*, *ठाणे*	< सं० *स्थाने*;
हि० बो० *पाहिं*	< अप० प्रा० *पक्खे*ँ, *पाहे*ँ	< सं० *पक्षे*;
हि० बो० *कने*	< अप० *कणे*	< सं० *कर्णे*;
हि० बो० *काज*	< प्रा० *कज्जे*	< सं० *कार्ये*;
हि० बो० *ताईं*, *तई*	< अप० *तरिए*, *तइए*	< सं० *तरिते*;
हि० बो० *बाटे*	< प्रा० *वट्ट*, *वत्त*	< सं० *वार्त्ते*;
हि० बो० *बरे*		< सं० *वरं*

उपकरण तथा अपादान

२४९. करण के चिह्न *ने* पर विचार किया जा चुका है। उपकरण के लिए हिंदी में *से* (अव० *से*, *सन*, ब्रज० *सों*, *सूं*; बुंदेली *सैं*) का प्रयोग होता है। यही चिह्न तथा कुछ अन्य विशेष चिह्न अपादान के लिए भी प्रयुक्त होते हैं।

---

[1] हा., ई हि ग्रै, § ३७५

बीम्स के मतानुसार[1] से का वास्तविक अर्थ 'साथ' है, 'अलग होना' नहीं है, जैसे *राम से कहता है*, *चाकू से क़लम बनाओ*। अतः व्युत्पत्ति की दृष्टि से बीम्स से का संबंध संस्कृत अव्यय *समं* से जोड़ते हैं। हार्नली[2] से का संबंध प्रा० *संतो*, *सुंतो* तथा सं० √ *अस्* से लगाते हैं। आजकल प्रायः बीम्स का मत ही मान्य समझा जाता है।

२५०. केलाग के अनुसार व्रज तें या ते का संबंध सं० प्रत्यय—*तः* से है, जो अपादान के अर्थ में संस्कृत संज्ञाओं में प्रयुक्त होता था, जैसे सं० *पितृतः*, व्रज *पिता तें*।

संबंध

२५१. संबंध कारक का संबंध क्रिया से न होकर संज्ञा से होता है। इस का स्पष्ट प्रमाण यह है कि हिंदी में संबंध-सूचक कारक-चिह्नों में आगे आने वाली संज्ञा के अनुसार लिंगभेद होता है, जैसे *लड़के का लोटा*, *लड़के की गेंद*।

हिंदी पुल्लिङ्ग एकवचन में *का* (व्रज० को या कौ; अव० कर् केर्), बहुवचन में के, तथा स्त्रीलिंग में की का व्यवहार होता है।

इन रूपों की व्युत्पत्ति के संबंध मे बीम्स[3] तथा हार्नली[4] एक मत हैं। इन की धारणा है कि ये समस्त रूप सं० *कृतः* तथा प्रा० *केरो* या *केरक* से संबद्ध हैं। हार्नली के अनुसार क्रमिक विकास नीचे लिखे ढंग से हुआ होगा। सं० *कृतः* > प्रा० *करितो*, *करिओ*, *केरओ* > पुरानी हि० *केरओ*, *केरो*; हि० *केर*, *का*।

---

[1] बी., क. ग्रै., भा. २, § ५८

[2] हा., ई. हि. ग्रै., § ३७६

[3] बी., क. ग्रै., भा. २, § ५९

[4] हा., ई. हि. ग्रै., § ३७७

पिशेल तथा कुछ अन्य संस्कृत विद्वानों की धारणा थी कि हि० केर सं० *कार्य* से निकला है। केलाग[1] के अनुसार हि० *कौ* या *का* का सीधा संबंध सं० *कृतः* के प्राकृत रूप *किदः* या *कदः* से हो सकता है। चैटर्जी[2] *का* का संबंध प्रा०—*क्क* से करते हैं क्योंकि उन के मतानुसार सं० *कृतः* के प्राकृत रूप *कअ* में आधुनिक काल तक आते-आते *क* बना रहना संभव नहीं प्रतीत होता। साधारणतया बीम्स तथा हार्नली की व्युत्पत्ति अधिक मान्य मालूम होती है। *के, की* आदि रूप वचन तथा लिंग की दृष्टि से *का* के रूपांतर मात्र हैं।

अधिकरण

२५२. अधिकरण के लिए हिंदी में *में* (ब्रज० *मैं*) और *पर* (ब्रज० *पै*) का प्रयोग सब से अधिक होता है। अधिकरण के लिए कुछ संयोगात्मक प्रयोग हिंदी बोलियों में पाए जाते हैं।

में की व्युत्पत्ति के संबंध में मतभेद नहीं है। *में* का संबंध सं० *मध्ये* > अप० प्रा० *मज्झे, मज्झि, मज्झहिं* > पुरानी हि० *मांहि, महि* से जोड़ा जाता है।[3]

हिंदी *पर* का संबंध सं० *उपरि* से स्पष्ट ही है। हार्नली[4] सं० *परे* 'दूर' प्रा० *परि* से इस की व्युत्पत्ति का अनुमान करते हैं।

कारक-चिह्नों के समान प्रयुक्त अन्य शब्द

२५३. ऊपर दिए हुए कारक-चिह्नों के अतिरिक्त हिंदी में कुछ संबंध-

---

[1] के, हि ग्रै, § १५६

[2] चै, वे. लै, § ५०३

[3] बी., क ग्रै, भा २, § ६०

[4] हा, ई हि. ग्रै, § ३७८

सूचक अव्यय कारकों के अर्थ में प्रयुक्त होते हैं । गुरु[1] के आधार पर इन में से अधिक प्रचलित शब्द व्युत्पत्ति सहित नीचे दिए जाते हैं । ये शब्द संबंध-कारक के रूपों में लगाए जाते हैं ।

कर्म : *प्रति* (सं०), *तईं*;

करण : *द्वारा* (सं०), *ज़रिये* (अर०), *कारण* (सं०), *मारे* (सं० *मारितेन*);

संप्रदान : *हेतु* (सं०), *निमित्त* (सं०), *अर्थ* (सं०), *वास्ते* (अर०);

अपादान : *अपेक्षा* (सं०), *बनिस्बत* (फा०), *सामने* (सं० *सन्मुख*), *आगे* (सं० *अग्रे*), *साथ* (सं० *सार्थं*);

अधिकरण : *मध्य* (सं०), *बीच* (सं० *विच्*), *भीतर* (सं० *अभ्यंतरे*), *अंदर* (फ़ा०), *ऊपर* (सं० *उपरि*), *नीचे* (सं० *नीचैः*) *पास* (सं० *पार्श्व*) ।

२५४. हिंदी में कभी-कभी फ़ारसी-अरबी के कुछ कारक आ जाते हैं, जैसे अज़ (अज़ख़ुद), दर (दरहक़ीक़त)[2] । इन का प्रयोग बहुत ही कम पाया जाता है ।

---

[1] गु., हि. व्या., § ३१५

[2] गु., हि. व्या., § ३१६

अध्याय ७

संख्यावाचक विशेषण

अ. पूर्ण संख्यावाचक

२५५. संख्यावाचक विशेषणों में होने वाले ध्वनि-परिवर्तनों का इतिहास विचित्र है। 'हिंदी ध्वनियों का इतिहास' शीर्षक अध्याय में इन पर कुछ विचार हो चुका है। यहां पर एक जगह क्रमबद्ध रूप से एक बार इन सब पर दृष्टि डाल लेना अनुचित न होगा। ये विशेषण अन्य हिंदी शब्दों के समान प्रायः प्राकृतों में होकर संस्कृत से आए हुए नहीं मालूम पडते, बल्कि ऐसा मालूम होता है कि समस्त आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के विशेषण पाली अथवा मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं के सदृश किसी अन्य सर्व-प्रचलित भाषा से संबंध रखते हैं। केवल किन्हीं-किन्हीं रूपों में प्रादेशिक प्राकृत या अपभ्रंश की छाप है (जैसे, गुजराती बे, मराठी दोन, बंगाली दुइ)।[1] हिंदी संख्यावाचक विशेषणों का सब से प्राचीन ऐतिहासिक विवेचन बीम्स[2] के ग्रंथ में है। चैटर्जी[3] ने इस विषय पर कुछ नई सामग्री तथा अनेक नए उदाहरण दिए हैं। इन दोनों विवेचनों

---

[1] चै, वे. लै, § ५११

[2] बी, क ग्रै, भा २, § २६-२८

[3] चै, वे लै, भा २, अ ३

के आधार पर हिंदी के संख्यावाचक विशेषणों तथा उन में होने वाले मुख्य-मुख्य परिवर्तनों पर नीचे विचार किया गया है।

२५६. हि० एक < प्रा० *एक्क* < सं० एक। एक वाली संख्याओं में हि० एक के कई रूप मिलते हैं। *ग्यारह* में *ग्या* अंश प्रा० *एगा*-रूप से प्रभावित हुआ है अर्थात् क् का घोष रूप हो जाता है। सं० *एकादश* में *आ* *द्वादश* के प्रभाव के कारण माना जाता है। यह *आ* प्रा० तथा हिंदी दोनों में चला आया है। संयुक्त संख्याओं में एक का इक् रूप हो जाता है, जैसे *इक्कीस, इकतीस, इकतालीस* आदि। यह स्पष्ट ही है कि इन शब्दों में गुण की ध्वनि (ए) मूलध्वनि है तथा मूलस्वर (इ) गुण की ध्वनि के विकार के कारण हुआ है।

२५७. हि० दो < प्रा० दो < सं० *द्वौ*। सं० *द्वौ* का *व* अंश प्रा० तथा गुज० के *बे* में मिलता है। हिंदी में भी इस का अस्तित्व संयुक्त संख्याओं में है, जैसे *बारह, बाइस, बत्तीस, बयालीस* इत्यादि। समासों में दो के स्थान पर दु, दू तथा दो रूप मिलता है, जैसे *दुपट्टा, दुमहला, दुमुंहा, दुधारी; दूसरा, दूना; दोहरा, दोनों*।

२५८. हि० *तीन* < प्रा० *तिण्णि* < सं० *त्रीणि*। संयुक्त संख्याओं में *ते, तें, ति* या *तिर* रूप मिलते हैं जिन पर सं० *त्रि* का प्रभाव स्पष्ट है, जैसे *तेरह, तैंतीस, तितालीस, तिरपन*। ये रूप *तिपाई, तिहाई, तेहरा, तिपुरी* आदि शब्दों में भी मिलते हैं।

२५९. हि० चार < प्रा० *चत्तारि* < सं० *चत्वारि*। संयुक्त संख्याओं तथा समासों में सं० मूल रूप *चतुर्* तथा प्रा० *चउरो* का प्रभाव मालूम होता है अतः हिंदी में *चौ, चौं* तथा *चौर* रूप मिलते हैं, जैसे, *चौदह, चौंतीस, चौरासी*। समासों में चौ रूप अधिक पाया जाता है, जैसे *चौमासा, चौपाई, चौपाये, चौपड़, चौपाल, चौधरी, चौरट, चौराहा*। नए समासों में चार का भी प्रयोग होता है जैसे, *चारपाई, चारख़ाना*।

२६०. हि० *पाँच* < प्रा० *पंच* < सं० *पंच* । कुछ संयुक्त संख्याओं के प्रा० रूप *पण्ण* तथा *पन* (जैसे, १५ *पण्णरह*, ३५ *पन्नतीसं*) का प्रभाव हिंदी की भी संयुक्त संख्याओं में मिलता है, जैसे *पंद्रह*, *पैंतीस*, *पैंतालीस*, *तिरपन* । *इक्यावन*, *चौअन* आदि संख्याओं में *पन* के स्थान में *वन* या *अन* हो जाता है। अन्य संयुक्त-संख्याओं तथा समासों में *पाँच* का *पच्* रूप हो जाता है, जैसे *पचीस*, *पचपन*, *पचासी*, *पचगुना*, *पचमेल*, *पचलड़ी* । प्रा० *पंच*रूप हि० *पंचायत*, *पंचमी*, *पंचवटी*, *पंचांग*, *पंचामृत*, *पंचपात्र* आदि प्रचलित तत्सम शब्दों में अब भी मिलता है। कभी-कभी इस का रूप *पँच* भी हो जाता है, जैसे *पँचमेल*, *पँचमुखी* ।

२६१. हि० *छः* < प्रा० *छ* < सं० *षट्* (√ *षष्*)। हिंदी और प्राकृत रूप एक हैं यह तो स्पष्ट ही है, किंतु प्राकृत का रूप संस्कृत रूप से कैसे हो गया यह स्पष्ट नहीं होता। हि० *सोलह* तथा *साठ* आदि संख्याओं में सं० *ष* के अधिक निकट की ध्वनि पाई जाती है। अन्य संयुक्त संख्याओं में *छ* या *छ्या* रूप बराबर मिलता है, जैसे *छब्बीस*, *छत्तीस*, *छ्यासठ*, *छ्यानवे* । चैटर्जी[1] के मत से *छः* का संबंध प्रा० भा० आ० के एक कल्पित रूप *क्षष्** या *क्षक्** से है। जो हो प्राकृत काल के पहले इस का संबंध ठीक नहीं जुड़ता।

२६२. हि० *सात* < प्रा० *सत्त* < सं० *सप्त* । यह संबंध स्पष्ट है। कुछ संयुक्त संख्याओं में प्रा० *सत्त* या *सत* रूप अब भी चला जाता है, जैसे *सत्तरह*, *सत्ताईस*, *सतासी*, *सत्तानवे* । इस के अतिरिक्त *सैं* रूप भी मिलता है, जैसे *सैंतीस*, *सैंतालीस* । इन में अनुनासिकता *पैंतीस*, *पैंतालीस* आदि के अनुकरण से हो सकती है। *सरसठ*, या *सड़सठ*, में *सर* या *सड़* रूप असाधारण है। यह बादवाली संख्या *अड़सठ* से प्रभावित हो सकता है।

---

[1] चै., बे लै. § ५१७

२६३. हि० आठ < प्रा० अट्ठ < सं० अष्ट। संयुक्त संख्याओं में अट्ठ, अठा, अठ आदि रूप मिलते हैं, जैसे अट्ठाईस, अठारह, अठहत्तर। अड़तीस, अड़तालीस, और अड़सठ में अठ का अड़ हो जाता है। इस परिवर्तन का कारण स्पष्ट नहीं है।

२६४. हि० नौ < प्रा० नअ < सं० नव। संयुक्त संख्याएं प्रायः नौ लगा कर नहीं बनाई जातीं, बल्कि दहाई की संख्या में सं० एकोन या ऊन (एक कम) > प्रा० ऊण > हि० उन लगा कर बनती हैं, जैसे उन्नीस, उन्तालीस, उनासी, आदि। केवल नवासी और निन्यानवे में नौ लगाया जाता है। इन संख्याओं में संस्कृत में भी ऐसा ही होता है जैसे, सं० नवाशीति, नवनवति। निनानवे में निना अंश की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है।

२६५. हि० दस < प्रा० दस < सं० दश। ग्यारह आदि संयुक्त संख्याओं में प्रा० के दह, रह, लह आदि समस्त रूप वर्तमान हैं, जैसे चौदह, अठारह, सोलह। दहाई शब्द में भी दह वर्तमान है। प्रा० में द के र होने का कारण स्पष्ट नहीं है। हिंदी में र का ल, या स का ह हो जाना साधारण परिवर्तन है।

दहाई की संख्याओं के नाम प्रायः प्राकृत में होकर संस्कृत से आए हैं।

२६६. हि० बीस < प्रा० वीसइ < सं० विंशति। उन्नीस में व का न हो गया है। हिंदी का कोड़ी शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से कोल शब्द माना जाता है। कोल भाषाओं में बीसी से गिनती होती है। चौबीस और छब्बीस को छोड़ कर इक्कीस आदि संयुक्त संख्याओं में बीस का ईस रह जाता है, जैसे बाईस, तेईस, पच्चीस आदि।

२६७. हि० तीस < प्रा० तीसा < सं० त्रिंशत्। संयुक्त संख्याओं में भी तीस रूप रहता है, जैसे इकतीस, बत्तीस, तेंतीस आदि।

२६८. हि० चालीस < प्रा० चत्तालीसा < सं० चत्वारिंशत्। संयुक्त संख्याओं में प्रा० चत्तालीसा के च का लोप हो जाने से चालीस

का *तालीस* और *त* के लुप्त हो जाने से *थालीस* या *आलीस* रूपांतर मिलते हैं, जैसे *उनतालीस*, *इकतालीस*, *ब्यालीस*, *चवालीस* आदि।

२६९. हि० *पचास* < प्रा० *पचासा* < सं० *पचाशत्*। संयुक्त संख्याओं में *पचास* के स्थान में *पन* तथा *वन*, व *अन* रूप मिलते हैं। इन का संबंध प्रा० *पंचासा* के प्रचलित रूप *पण्णासा*, *पन्ना* आदि से मालूम होता है, जैसे हि० *बावन* < प्रा० *बावण्णं*, *तिरपन*, *चौअन*। *उनन्चास* में *पचास* का रूपांतर वर्तमान है।

२७०. हि० *साठ* < प्रा० *सट्ठि* < सं० *षष्टि*। संयुक्त संख्याओं में *सठ* रूप मिलता है, जैसे *उनसठ*, *इकसठ*, *बासठ* आदि।

२७१. हि० *सत्तर* < प्रा० *सत्तरि* < सं० *सप्तति*। पाली में ही अंतिम *त* ध्वनि *र* में परिवर्तित हो गई थी (प्रा० *सत्तति*, *सत्तरि*), किंतु इस का कारण स्पष्ट नहीं है। चैटर्जी[1] का मत है कि प्राचीन रूप *सत्तति* में *ति* आप ही *टि* हो गया और *टि*, *डि* हो कर *रि* हो गया। किंतु यह कारण बहुत संतोषप्रद नहीं मालूम होता। जो हो हिं० *सत्तर* में *र* प्राकृत से आया है। संयुक्त संख्याओं में *सत्तर* के *स* का *ह* हो जाता है, जैसे *उनहत्तर*, *इकहत्तर*, *बहत्तर* आदि। *सतत्तर* में *ह* का लोप हो गया है, तथा *अठत्तर* में *ह*, *ट* को महाप्राण करके उस में मिल जाता है।

२७२. हिं० *अस्सी* < प्रा० *असीइ* < सं० *अशीति*। संयुक्त संख्याओं में *आसी* या *यासी* रूप मिलता है, जैसे *उनासी*, *इक्यासी*, *ब्यासी* आदि। *अस्सी* मे *स* का दोहरा हो जाना संभवतः पंजाबी से आया है।

२७३. हिं० *नव्वे* < प्रा० *नव्वए* < सं० *नवति*। संयुक्त संख्याओं में *नवे* रूप मिलता है, जैसे *इक्यानवे*, *ब्यानवे*, *तिरानवे*, *चौरानवे* आदि। *इक्यासी*

---

[1] चै, बे लै § ५२८

आदि रूपों के प्रभाव के कारण कदाचित् इक्यानवे आदि में भी आ आ गया है

२७४. हि० *सौ* (१००) < प्रा० *सअ*, *सय* < सं० *शत* । संयुक्त संख्याओं में *सै* रूप भी मिलता है, जैसे *सैकड़ा*, *एक सै एक*, *चार सै* ।

२७५. हि० *हज़ार* (१०००) फारसी का तत्सम शब्द है । सं० *सहस्र* के स्थान पर सं० *दशशत* का प्रचार मध्ययुग में हो गया था । कदाचित् इसी कारण से फारसी का एक शब्द *हज़ार* मुसल्मान काल से समस्त उत्तर भारत में प्रचलित हो गया ।

२७६. हि० *लाख* (१००,०००) सं० *लक्ष* से निकला है । समासों में *लख* रूप हो जाता है, जैसे *लखपती* ।

२७७. हि० *करोड़* (१०,०००,०००) की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है । सं० *कोटि* से मिलता-जुलता यह शब्द कभी गढ़ लिया गया हो तो असंभव नहीं ।

२७८. हि० *अरब* (१०००,०००,०००) सं० *अर्बुद* से संबंध रखता है। हि० *खरब* सं० *खर्व* (१००,०००,०००,०००) का रूपांतर है । अरब और खरब का प्रयोग साधारणतया असंख्यता का बोध कराने के लिए किया जाता है ।

आ. अपूर्ण संख्यावाचक

२७९. अपूर्ण संख्यावाचक विशेषणों से पूर्ण संख्या के किसी भाग का बोध होता है । हिंदी तथा प्राचीन रूपों का संबंध नीचे दिखलाया गया है ।

१/४ : हि० *पाव*, *पउआ* < प्रा० *पाद*—, *पाअ*— < सं० *पाद*, *पादिक* ।
संयुक्त रूपों में *पई* रूप भी मिलता है, जैसे *छपाई* ।
हि० *चौथाई* सं० *चतुर्थिक* से संबद्ध है ।

१/२ : हि० *आधा* < सं० *अर्ध* ।
संयुक्त रूपों में *अध* रूप हो जाता है, जैसे *अधेला*, *अधसेरा*, *अधपर* ।

$\frac{1}{3}$: हि० *तिहाई* का संबंध सं० *त्रिभागिक* से संभव है।

१$\frac{1}{2}$: हि० डेढ़ < प्रा० *दिअड्ढ* < सं० *द्व्यर्द्ध*।

२$\frac{1}{2}$: हि० *ढाई*, *अढ़ाई* < प्रा० *अड्तीय* < सं० *अर्द्ध-तृतीय*; हि० ढाई भी सं० *अर्द्ध-तृतीय* से संबद्ध है। केवल अ—का लोप समझ में नहीं आता।

३$\frac{1}{2}$: हि० अहुठ (साढ़े तीन) का प्रयोग प्रचलित नहीं है। यह शब्द कदाचित् सं० अर्द्ध-चतुर्थ से संबद्ध है। प्रा० में अड्ढ—चतुट्ठ * > अड्ढ—अउट्ठ * > अड्ढउट्ठ * आदि रूप संभव हैं। सं० में फिर से यह शब्द अध्युष्ठ के रूप में आ गया है।

+$\frac{1}{4}$: हि० *सवा* < प्रा० *सवाअ*— < सं० *सपाद*। *सवा* के बहुत रूप-रूपांतर हो जाते हैं, जैसे *सवाया*, *सवाई*, *सवाये*।

+$\frac{1}{2}$: हि० *साढ़े* < प्रा० *सड्ढ* < सं० *सार्द्ध*।
साढ़े विकृत रूप मालूम होता है।

—$\frac{1}{4}$: हि० *पौन* < सं० *पादोन*। केवल *पौन* शब्द $\frac{3}{4}$ के लिए प्रयुक्त होता है। अन्य संख्याओं में लगा देने से वह संख्या $\frac{1}{4}$ से घट जाती है, जैसे *पौने आठ*=७$\frac{3}{4}$।

इ. क्रम संख्यावाचक

२८०. इन का संबंध संस्कृत के प्रचलित क्रम-वाचक रूपों से सीधा नहीं है। संस्कृत के आधार पर नए ढंग से ये बाद को बने हैं।

हि० *पहला* < प्रा० पठिल्ल*, पथिल्ल* < सं० *प्र—थ+इल**।

संस्कृत *प्रथम* से आधुनिक *पहला* शब्द की उत्पत्ति संभव नहीं है। बीम्स[1] के मत में हिं० *पहला* सं० *प्रथर** रूप से निकला है।

हि० *दूसरा*, *तीसरा*।

---

[1] बी, क ग्रै, भाग २, § २७

सं० *द्वितीय*, *तृतीय* से हिंदी *दूजा*, *तीजा* तो निकल सकते हैं किंतु *दूसरा*, *तीसरा* नहीं निकल सकते। वीम्स[1] इन का संबंध सं० *द्वि+सृतः*, *त्रि+सृतः* से जोड़ते हैं।

हि० *चौथा* < प्रा० चउट्ठ < सं० *चतुर्थ*। तिथि तथा लगान के लिए *चौथ* रूप प्रयुक्त होता है।

चार की संख्या तक क्रमवाचक विशेषणों की उत्पत्ति भिन्न-भिन्न ढंगों से हुई है। इस के आगे *-वां* लगा कर समस्त रूप बनाए जाते हैं, जैसे *पाँचवा*, *सातवां*, *बीसवा* इत्यादि। ये रूप सं०—*तम* से निकले माने जाते हैं।[2] हि० *छठा* प्रा० में भी *छठा* था। यह सं० *षष्ठ* का रूपांतर है।

ई. आवृत्ति संख्यावाचक

२८१. हि० आवृत्ति संख्यावाचक विशेषण *दुगना*, *तिगना*, *चौगुना*, सं० *गुण* लगा कर बने हैं।

उ. समुदाय संख्यावाचक

२८२. हि० में कुछ समुदायवाचक विशेषण प्रचलित हैं किंतु ये प्रायः अन्य भाषाओं के हैं। कौड़ियां गिनने में चार के लिए *गंडा* शब्द आता है। बीसवीं संख्या के लिए *कोड़ी* शब्द का ज़िक्र किया जा चुका है। बारह के लिए आधुनिक समय में अंग्रेज़ी *दर्जन* प्रचलित हो गया है। अंग्रेज़ी का *ग्रोस* शब्द बारह दर्जन के लिए कुछ प्रचलित हो चला है।

परिशिष्ट

पूर्ण संख्यावाचक

२८३. हिंदी पूर्ण संख्यावाचक विशेषण तथा उन के संस्कृत तथा प्राकृत

---

[1] बी., क ग्रै., भाग २, § २७

[2] बी., क ग्रै, भा. २, § २७

प्राकृत रूप तुलना के लिए नीचे दिए जाते हैं। प्राकृत रूपों के इकट्ठा करने में हार्नली के व्याकरण[1] से विशेष सहायता मिली है।

हिंदी	प्राकृत	संस्कृत
(१) एक	एक्क, एक्को, एगो, एश्रो	एक
(२) दो	दो, दुए, दुये, दोन्नि, वे	द्वौ (√द्वि)
(३) तीन	तिण्णि, तश्रो	त्रीणि (√त्रि)
(४) चार	चत्तारि, चत्तारो, चउरो	चत्वारि (√चतुर्)
(५) पांच	पञ्च	पंच (√पंचन्)
(६) छः	छ	षट् (√षष्)
(७) सात	सत्त	सप्त (√सप्तन्)
(८) आठ	अट्ठ	अष्ट, अष्टौ
(९) नौ	णअ, नव, नअ	नव
(१०) दस	दस, दह, डह, रह	दश
(११) ग्यारह	एआरह	एकादश
(१२) बारह	बारह	द्वादश
(१३) तेरह	तेरह	त्रयोदश
(१४) चौदह	चउद्दह	चतुर्दश
(१५) पंद्रह	पण्णरह, पण्णरहो, पण्णरहो	पंचदश
(१६) सोलह	सोलह	षोडश
(१७) सत्रह	सत्तरह	सप्तदश

---

[1] हा, ई. हि ग्रै, § ३५७

हिंदी	प्राकृत	संस्कृत
(१८) अठारह	अट्ठरह, अट्टारह	अष्टादश
(१९) उन्नीस	उनवीसइ, उनवींसा, एकूनवींसा,	ऊनविंशति, एकोनविंशति
(२०) बीस	वीसा, वीसइ	विंशति
(२१) इक्कीस	एक्क वीसा	एकविंशति
(२२) बाईस	बावीसं, बावीसा	द्वाविंशति
(२३) तेईस	तेवीसं, तेवीसा	त्रयोविंशति
(२४) चौबीस	चउव्वीसं	चतुर्विंशति
(२५) पचीस	पंचवीसां,* पंचवीसं'	पंचविंशति
(२६) छब्बीस	छव्वीसं	षड्विंशति
(२७) सत्ताईस	सत्तावीसा	सप्तविंशति
(२८) अट्ठाईस	अट्ठावीसा	अष्टाविंशति
(२९) उंतीस	अणावीसा, एकूणवीसा	ऊनत्रिंशत्
(३०) तीस	तीसा, तीसआ	त्रिंशत्
(३१) इकतीस		एकत्रिंशत्
(३२) बत्तीस	बत्तीसा	द्वात्रिंशत्
(३३) तेंतीस	तेत्तीसा	त्रयस्त्रिंशत्
(३४) चौंतीस		चतुस्त्रिंशत्
(३५) पैंतीस	पञ्चतीसं, पणतीसं	पंचत्रिंशत्
(३६) छत्तीस		षट्त्रिंशत्
(३७) सैंतीस	सत्ततीसं	सप्तत्रिंशत्
(३८) अड़तीस	अट्ठतीसा	अष्टात्रिंशत्

हिंदी	प्राकृत	संस्कृत
(३९) उंतालीस		ऊनचत्वारिंशत्
(४०) चालीस	चत्तालीसा	चत्वारिंशत्
(४१) इकतालीस	एक्कचत्तालीसा	एकचत्वारिंशत्
(४२) ब्यालीस	वायालीसं	द्वि ”
(४३) तितालीस	तेआलीसा	त्रि ”
(४४) चवालीस	चोवालीसा	चतुश् ”
(४५) पैंतालीस	पन्नचत्तालीसा	पच ”
(४६) छियालीस	*छचत्तालीसा	षट् ”
(४७) सैतालीस	*सत्तअत्तालीसं	संत ”
(४८) अड़तालीस	अडयाले, अट्ठअत्तालीसं	अष्ट ”
(४९) उंचास	ऊणवचासा, ऊणपंचासा	ऊनपंचाशत्
(५०) पचास	पण्णासा, पंचासा,* पन्ना	पंचाशत्
(५१) इक्यावन		एकपंचाशत्
(५२) बावन	वावण्णं	द्वा ”
(५३) तिरपन	त्रिप्पण्ण*, तेवण्ण	त्रि ”
(५४) चौअन	चउप्पण्ण*	चतुः ”
(५५) पचपन	पंचावण्ण	पंच ”
(५६) छप्पन	छप्पण्ण*	षट् ”
(५७) सत्तावन	सत्तावण्णं*	सप्त ”
(५८) अट्ठावन	अट्ठवण्णं*	अष्ट ”
(५९) उनसठ		ऊनषष्टि

हिंदी	प्राकृत	संस्कृत
(६०) साठ	सट्ठि, सट्ठी	षष्टि
(६१) इकसठ		एकषष्टि
(६२) बासँठ		द्वा ”
(६३) तिरसठ		त्रि ”
(६४) चौंसठ		चतुः ”
(६५) पैंसठ		पंच ”
(६६) छियासठ		षट् ”
(६७) सड़सठ	सत्तसट्ठी	सप्त ”
(६८) अड़सठ	अट्ठसट्ठी	अष्ट ”
(६९) उनहत्तर		ऊनसप्तति
(७०) सत्तर	सत्तरि	सप्तति
(७१) इकहत्तर		एकसप्तति
(७२) बहत्तर		द्वि ”
(७३) तिहत्तर		त्रि ”
(७४) चौहत्तर		चतुस् ”
(७५) पचहत्तर		पञ्च ”
(७६) छिहत्तर		षट् ”
(७७) सतत्तर		सप्त ”
(७८) अठत्तर		अष्ट ”
(७९) उनासी		एकोनाशीति
(८०) अस्सी	असीइ	अशीति

हिंदी	प्राकृत	संस्कृत
(८१) इक्यासी		एकाशीति
(८२) बयासी		द्व्यशीति
(८३) तिरासी		त्र्यशीति
(८४) चौरासी		चतुरशीति
(८५) पचासी		पञ्चाशीत
(८६) छियासी		षडशीति
(८७) सतासी		सप्ताशीति
(८८) अठासी		अष्टाशीति
(८९) नवासी		नवाशीति
(९०) नव्वे	नउए, नव्वए*	नवति
(९१) इक्यानवे		एकनवति
(९२) बानवे		द्वि "
(९३) तिरानवे		त्रि "
(९४) चौरानवे		चतुर् "
(९५) पंचानवे		पञ्च "
(९६) छियानवे		षयणवति
(९७) सत्तानवे	सत्तानउए	सप्तनवति
(९८) अट्ठानवे		अष्टानवति
(९९) निन्यानवे		नवनवति
(१००) सौ	सत, सय, सम्रा, सम्रं	शत

हिंदी	प्राकृत	संस्कृत
१०५ एक सौ पाँच	पंचोत्तरसउ	पञ्चोत्तर शत
२०० दो सौ		द्विशत
१,००० हज़ार (दस सौ)		सहस्र
१००,००० लाख (सौ हज़ार)		लक्ष
१००,००,००० करोड़ (सौ लाख)		कोटि
१००,००,००,००० अरब (सौ करोड़)		अर्बुद
१००,००,००,००,००० खरब (सौ अरब)		खर्व

अध्याय ८

सर्वनाम

२८४. हिंदी सर्वनामों के नीचे लिखे आठ मुख्य भेद हैं—

अ –	पुरुषवाचक	(मैं, तू)
आ –	निश्चयवाचक	(यह, वह)
इ –	संबंधवाचक	(जो)
ई –	नित्यसंबंधी	(सो)
उ –	प्रश्नवाचक	(कौन, क्या)
ऊ –	अनिश्चयवाचक	(कोई, कुछ)
ए –	निजवाचक	(अपना)
ऐ –	आदरवाचक	(आप)

नीचे इन पर तथा विशेषण के समान प्रयुक्त सर्वनामों पर व्युत्पत्ति की दृष्टि से विचार किया गया है। हिंदी सर्वनामों में प्रायः संज्ञाओं के समान ही कारक-चिह्न लगते हैं, अतः सर्वनामों की कारक-रचना पर विचार करना व्यर्थ होगा।

अ. पुरुषवाचक (मै, तू)

क. उत्तमपुरुष (मैं)

२८५. उत्तमपुरुष मै के नीचे लिखे मुख्य रूपांतर होते हैं—

	एक०	बहु०
मूलरूप	*मैं*	*हम*
विकृत रूप	*मुझ* (संप्र० *मुझे*)	*हम* (संप्र० *हमें*)
संबंध कारक	*मेरा*	*हमारा*

हि० *मैं* का संबंध संस्कृत तृतीया के रूप *मया* से माना जाता है—सं० *मया* > प्रा० *मइ*, *मए*; अप० *मइं*, *मईं* > हि० *मैं*। सं० *अहं* से इस का संबंध कुछ भी नहीं है।[1] चैटर्जी के अनुसार *मैं* का अनुनासिक अंश सं० तृतीया—एन के प्रभाव के कारण हो सकता है।[2]

२८६. हि० *मुझ* का संबंध षष्ठी कारक के प्राकृत रूप *मह* के अतिरिक्त एक अन्य रूप *मज्झ* < पा० *मह्यं*, सं० *मह्य* से किया जाता है। *मुझ* या *मझ* का प्रयोग पुरानी हिंदी में षष्ठी के अर्थ में भी होता था।[3] उ का आगम हि० *तुझ* के प्रभाव के कारण हो सकता है। चतुर्थी में *मुझ* को के अतिरिक्त *मुझे* रूप भी प्रयुक्त होता है। यह ए विकृत रूप का चिह्न है जो *मुझ* में ऊपर से लगा है।

२८७. हि० *हम* का संबंध प्रा० *अम्हे* या *म्हे* से है जिस के *म* और *ह* में स्थान-परिवर्तन हो गया है। इन प्राकृत रूपों की व्युत्पत्ति *अस्मे* से मानी जाती है। यह वैदिक भाषा में वास्तव में मिलता है। कुछ कारकों में संस्कृत में भी इस के रूपांतर पाए जाते हैं, जैसे *अस्मान्*, *अस्माभिः*। संस्कृत प्रथम पुरुष बहुवचन *वयं* से हि० *हम* का किसी तरह भी संबंध नहीं हो सकता। हि० *हमें* का संबंध प्रा० अप० *अम्हइं* से किया जाता है।[4]

---

[1] बी, क ग्रै, भाग २, § ६३
[2] चै, बे लै, § ५३९
[3] बी, क. ग्रै, भा २, § ६३
[4] बी, क ग्रै, भा. २, § ६४

२८८, ब्रज आदि पुरानी हिंदी के हौं का संबंध सं० अहं या अहकं* से है। शौरसेनो में इस का रूप अहमं तथा अहअं और अपभ्रंश में हमुं तथा हउं मिलता है। अप० हमुं से ब्रज हउं या हौं रूप होना संभव है।

संबंध कारक को छोड कर अन्य कारकों में ब्रजभाषा में एक वचन में मो विकृत रूप मिलता है। बीम्स के मतानुसार इस का संबंध सं० षष्ठी के मम रूप से है।[1] प्रा० में षष्ठी में मम, मह, मंभ तथा मे रूप मिलते हैं। इन के अतिरिक्त मह रूप भी पाया गया है। अप० में यही महुं हो जाता है। महुं से मौं तथा मो हो सकना असंभव नहीं है।

ख. मध्यमपुरुष (तू)

२८९, मध्यम पुरुष सर्वनाम के मुख्य रूपांतर निम्नलिखित हैं—

	एक०	बहु०
मूलरूप	तू	तुम
विकृत रूप	तुझ (संप्र० तुझे),	तुम (संप्र० तुम्हें)
संबंध कारक	तेरा	तुम्हारा

हि० तू का संबंध सं० त्वं > प्रा० तुम, तुअं > अप० > तुहं से है।

ब्रज आदि पुरानी हिंदी का तैं रूप हिंदी मैं की तरह सं० त्वया > प्रा० तइ, तए > अप० तइं से संबंध रखता है।

२९०. हि० तुझ का संबंध प्राकृत के षष्ठी के तुह के रूपांतर तुज्झ के अतिरिक्त सं० तुभ्यं से माना जाता है। प्रा० के पूर्व संस्कृत में इस तरह के रूप नहीं मिलते। हि० तुझ में ए विकृत रूप का चिह्न है।

---

[1] बी, क ग्रै, भा. २, § ६३

ब्रज० तो अप० तुहं > सं० तव से निकला माना जाता है।

२९१. हि० *तुम* का संबंध प्रा० तुम्हे, तुम्ह < सं० तुष्मे* से माना जाता है। हि० *तुम्हें* का संबंध प्रा० अप० तुम्हइं से है।

२९२. षष्ठी के *मेरा*, *हमारा*, *तेरा*, *तुम्हारा* रूप विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं अतः साथ में आने वाली संज्ञा के अनुरूप इन के लिंग तथा वचन में भेद होता है। र लगा कर बने हुए षष्ठी के इन सब रूपों का संबंध *करकः*, *करौं*, *केरा*, *करा* आदि प्राकृत प्रत्ययों के प्रभाव से माना जाता है। उदाहरण के लिए प्रा० *मह केरो* या *मह करो* रूप से हि० *म्हारो*, *मारो*, *मेरा* आदि समस्त रूप निकल सकते हैं—

अम्ह करको > अम्ह अरओ > अंम्हारौ > हमारो > हमारा ;

तुम्ह करको > तुम्ह अरओ > तुम्हारौ > तुम्हारो > तुम्हारा।

आ. निश्चयवाचक (*यह*, *वह*)

क. निकटवर्ती (*यह*)

२९३. संस्कृत के अन्यपुरुष के रूप हिंदी में इस अर्थ में प्रचलित नहीं हैं। हिंदी में अन्यपुरुष का काम निश्चयवाचक सर्वनामों से लिया जाता है। हिंदी में निकटवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम *यह* के मुख्य रूप निम्नलिखित हैं—

यह (इ : य)

	एक०	बहु०
मूल रूप	*यह*	*ये*
विकृत रूप	*इस* (संप्र० *इसे*)	*इन* (संप्र० *इन्हें*)

हि० *यह*, *ये* की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। संभव है हिंदी के ये रूप अपभ्रंश तथा प्राकृत में प्रचलित किन्हीं असाहित्यिक रूपों से निकले हों। हार्नली[1],

---

[1] हा., ई. हि. ग्रै., § ४३८

इन का संबंध सं० *एषः* से जोडते हैं। चैटर्जी के मतानुसार निकटवर्ती निश्चयवाचक समस्त रूपों का संबंध सं० मूल शब्द *एत*- (*एषः*, *एषा*, *एतद्*) से है।[1]

हि० *इस* स्पष्ट रूप से प्रा० *अस्स* < सं० *अस्य* से संबद्ध मालूम होता है। चैटर्जी इस का संबंध सं० *एतस्य* से जोड़ते हैं। हि० *इन* रूप प्रा० *एदिणा*, *एइणा* < सं० *एतेन* से संबद्ध नहीं हो सकता। *इन* के -*न* में सं० संबंध-कारक बहुवचन के चिह्न का प्रभाव मालूम होता है।

इसे और *इन्हें* मूल रूपों के विकृत रूप हैं।

ख दूरवर्ती (*वह*)

२९४. हिंदी दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम *वह* के मुख्य रूपांतर निम्नलिखित हैं—

वह (*उ* : *व*)

	एक०	बहु०
मूल रूप	*वह*	*वे*
विकृत रूप	*उस* (संप्र० *उसे*)	*उन* (संप्र० *उन्हें*)

सं० *तद्* (*सः*, *सा*, *तत्*) के रूपों से हिंदी के इस सर्वनाम का संबंध नहीं है। चैटर्जी[2] के अनुसार हि० *वह* सं० के कल्पित रूप *अव** > प्रा० *ओ** से संबंध रखता है। ईरानी में *अव* और *ओ* रूप पाए जाते हैं। दरद भाषाओं में भी ये वर्तमान हैं। यदि यह व्युत्पत्ति ठीक है तो हि० *उस* का संबंध प्रा० *अउस्स** < सं० *अवस्य** से जोड़ा जा सकता है। इसी प्रकार *वे* और *उन* के संबंध में कल्पनाएं की जा सकती हैं। *उसे* और *उन्हें* विकृत रूप माने जा सकते हैं। वास्तव में इस सर्वनाम की व्युत्पत्ति अनिश्चित है।

---

[1] चै, वे लै, § ५६६
[2] चै, वे लै, § ५७२

इ. संबंधवाचक (*जो*)

२९५. हिंदी संबंधवाचक सर्वनामों के रूपांतर निम्नलिखित हैं—

	एक०	बहु०
मूल रूप :	*जो*	*जो*
विकृत रूप :	*जिस* (संप्र० *जिसे*)	*जिन* (संप्र० *जिन्हें*)

हि० जो का संबंध संस्कृत *यः* से है। हि० *जिस* < *यस्य* > प्रा० *जिस्स*, *जस्स* से संबद्ध है। हि० *जिन* सं० षष्ठी बहुवचन *यानां** से निकला माना जाता है यद्यपि साहित्यिक संस्कृत में *येषा* रूप प्रचलित है। *जिसे* और *जिन्हें* इस ढंग के अन्य प्रचलित रूपों के समान ही बने हैं।

ई. नित्यसंबंधी (*सो*)

२९६. हिंदी नित्यसंबंधी सर्वनाम *सो* का व्यवहार साहित्यिक हिंदी में कम होता है। इस के स्थान पर प्रायः दूरवर्ती निश्चयवाचक सर्वनाम व्यवहृत होने लगा है। हि० *सो* के निम्नलिखित रूपांतर संभव हैं—

	एक०	बहु०
मूल रूप :	*सो*	*सो*
विकृत रूप :	*तिस* (संप्र० *तिसे*)	*तिन* (संप्र० *तिन्हें*)

व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिंदी *सो* का संबंध सं० *सः* > प्रा० *सो* से है। पुरानी हिंदी तथा बोलियों में *सो* का प्रयोग अन्यपुरुष के अर्थ में बराबर मिलता है। हि० *तिस* का संबंध प्रा० *तस्स* < सं० *तस्य* से है। हि० *तिन* की उत्पत्ति प्रा० *ताणं* < सं० *ताना** (*तेषा*) से मानी जाती है।

उ. प्रश्नवाचक (*कौन*, *क्या*)

२९७. हिंदी प्रश्नवाचक सर्वनाम *कौन* के मुख्य रूप निम्नलिखित हैं—

	एक०	बहु०
मूल रूप :	कौन	कौन
विकृत रूप :	किस (संप्र० किसे)	किन (संप्र० किन्हें)

हि० *कौन* की व्युत्पत्ति प्रा० *कवन, कवण, कोउण* < सं० *कः पुनः* से मानी जाती है। हिंदी की बोलियों में *कौन* के स्थान पर *को* के रूप भी मिलते हैं जिन का संबंध सं० *कः* के से सीधा है। हि० *किस* का संबंध प्रा० *कस्स* < सं० *कस्य* से स्पष्ट है। हि० *किन* की उत्पत्ति सं० *कानां** (*केषां*) कल्पित रूप से मानी जाती है। *किसे, किन्हें* रूप अन्य प्रचलित रूपों के समान बने प्रतीत होते हैं।

हि० नपुंसकलिंग *क्या* की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। सं० *किं* से इस का संबंध संभव नही है।

ऊ. अनिश्चयवाचक (*कोई, कुछ*)

२९८. हिंदी अनिश्चयवाचक सर्वनाम कोई के मुख्य रूप निम्नलिखित हैं—

	एक०	बहु०
मूल रूप	कोई	कोई
विकृत रूप	किसी	किन्हीं

हि० *कोई* की व्युत्पत्ति प्रा० *कोवि* < सं० *कोऽपि* से मालूम पडती है। हि० *किसी* का संबंध सं० *कस्यापि* से हो सकता है। हि० *किन्हीं* रूप की व्युत्पत्ति अनिश्चित है।

हि० नपुंसकलिंग *कुछ* का संबंध सं० *किंचिद्* या *कश्चिद्* रूप से जोडा जाता है। प्रा० में *कच्छु** संभावित रूप माना जाता है।

ए. निजवाचक (*आप*)

२९९. हि० निजवाचक सर्वनाम *आप*, प्रा० *अप्पा, आपा* < सं० *आत्मन्* से निकला है। हि० *अपना* वास्तव में *आप* का संबंध-कारक रूप

है किंतु हिंदी में निजवाचक होकर स्वतंत्र शब्द हो गया है। इस रूप का संबंध प्रा० *अप्पाणो* > अप० *अप्पाणु* जैसे रूपों से माना जाता है। सं० *आत्मा* से संबद्ध प्रा० अत्ता, *अत्ताणो* रूप आधुनिक भाषाओं में नहीं आ सके हैं। हि० आपस का संबंध प्रा० *आपस्स** < सं० *आत्मस्य** संभावित रूपों से जोडा जाता है।

ऐ. आदरवाचक

३००. व्युत्पत्ति की दृष्टि से आदरवाचक *आप* और निजवाचक *आप* एक ही शब्द हैं। शिष्ट हिंदी में मध्यम पुरुष *तू* या *तुम* के स्थान पर प्रायः सदा ही *आप* का व्यवहार होने लगा है।

ओ. विशेषण के समान प्रयुक्त सर्वनाम

३०१. विशेषण के समान प्रयुक्त सर्वनामों के मुख्य रूप निम्न-लिखित हैं[1]—

परिमाणवाचक	गुणवाचक
इतना	*ऐसा*
उतना	*वैसा*
तितना	*तैसा*
जितना	*जैसा*
कितना	*कैसा*

व्युत्पत्ति की दृष्टि से परिमाणवाचक रूपों का संबंध सं० *इयत्*, *कियत्* > प्रा० *एत्तिय*, *केत्तिय* आदि से है।[2] *–ना* को बीम्स ने लघुता-सूचक अर्थ का द्योतक माना है।[3]

गुणवाचक रूपों का संबंध सं० *यादृश्* *तादृश्* आदि रूपों से जोडा जाता है, जैसे सं० *कीदृश्* > प्रा० *केरिसा* > हि० *कैसा*।

---

[1] गु, हि. व्या, § १४१
[2] हा., ई. हि ग्रै, § २६६
[3] बी., क. ग्रै., भा. २ § ७४

अध्याय ९

क्रिया

अ. संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा हिंदी क्रिया[1]

३०२. एक-दो कालों के रूपों को छोड कर संस्कृत क्रिया पूर्णतया संयोगात्मक थी। छः प्रयोगों, दस कालों तथा तीन पुरुष और तीन वचनों को लेकर प्रत्येक संस्कृत धातु के ५४० (६×१०×३×३) भिन्न रूप होते हैं फिर संस्कृत की समस्त धातुओं के रूप समान नहीं बनते। इस दृष्टि से संस्कृत की २००० धातुयें दस श्रेणियों में विभक्त हैं, जिन्हें गण कहते हैं। एक गण की धातुओं के रूप दूसरे गण की धातुओं से भिन्न होते हैं। इस तरह संस्कृत क्रिया का ढंग बहुत पेचीदा है।

यह अवस्था बहुत दिन नहीं रह सकती थी। म० भा० आ० काल में आते-आते क्रिया की बनावट सरल होने लगी। यद्यपि म० भा० आ० में क्रिया संयोगात्मक ही रही किंतु पाली क्रिया में उतने रूप नहीं मिलते जितने संस्कृत में पाए जाते हैं। दस गणों में से पाँच (१,४,६,७,१०) के रूप पाली में इतने मिलते-जुलते होने लगे कि इन्हें साधारणतया एक ही गण माना जा सकता है। शेष गणों के रूपों पर भी भ्वादिगण (१) का प्रभाव अधिक पाया जाता है। संस्कृत की धातुयें भ्वादिगण में सब से अधिक संख्या

---

[1] वी, क ग्रै, भा. ३, अ १

में पाई जाती हैं। संभवतः भ्वादिगण का अन्य गणों के रूपों पर अधिक प्रभाव का यही कारण रहा हो। इस के अतिरिक्त तीन वचनों में से द्विवचन पाली से लुप्त होगया, और छः प्रयोगों में से आत्मनेपद और परस्मैपद में अंतिम का प्रभाव विशेष हो जाने से वास्तव में पाँच ही प्रयोग पाली में रह गए। संस्कृत के लुट् और लृङ् के निकल जाने से पाली में लकारों की संख्या भी दस से आठ रह गई। इस तरह किसी एक धातु के पाली में साधारणतया २४० (५ × ८ × २ × ३) ही रूप हो सकते हैं।

प्राकृतों की क्रिया सरलता में एक कदम और आगे बढ़ गई। महाराष्ट्री में गणों का प्रायः अभाव है; समस्त क्रियायें साधारणतया प्रथम भ्वादिगण के समान रूप चलाती हैं। छः प्रयोगों में से केवल तीन—कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य तथा प्रेरणार्थक—रह गए। द्विवचन तो लौट कर आया ही नहीं। कालों में केवल चार—वर्तमान, आज्ञा, भविष्य तथा कुछ विधि के चिह्न रह गए। कालों के कम हो जाने से कृदंत के रूपों का व्यवहार अधिक होने लगा जिस का प्रभाव आ० आ० भा० की क्रिया के इतिहास पर विशेष पड़ा। अब तक भी क्रिया के अधिकांश रूप संयोगात्मक ही थे यद्यपि इस संबंध में कुछ गड़बड़ी शुरू हो गई थी।

प्रा० तथा म० आ० भा० की क्रिया के विकास के संबंध में संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि संस्कृत, पाली तथा प्राकृत तीनों मे क्रिया संयोगात्मक ही रही किंतु रूपों की संख्या में क्रमशः कमी होती गई। जब प्रत्येक प्रयोग, काल तथा वचन आदि के अर्थों को व्यक्त करने के लिए धातु के पृथक्-पृथक् रूप नहीं रह गए तब वियोगात्मक ढंग से नए रूपों का बनाया जाना स्वाभाविक था। यह अवस्था हमें आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं में आकर मिलती है।

अन्य आ० भा० आ० भाषाओं की क्रियाओं की तरह ही हिंदी क्रिया के रूपांतरों का ढंग भी अत्यंत सरल है। पाँच धातुओं को छोड़ कर शेष हिंदी

धातुओं में संस्कृत के गणों के समान किसी प्रकार का भी श्रेणी-विभाग नहीं है। प्रयोगों के भावों को प्रकट करने का ढंग भी हिंदी का अपना नया है। इस की सहायता से हिंदी में प्रयोगों के भाव स्पष्ट रूप से किंतु सरलता-पूर्वक प्रकट हो जाते हैं। ये रूप संयोगात्मक हैं। कालों की संख्या पंद्रह के लगभग है किंतु ये प्रायः कृदंत अथवा कृदंत और सहायक क्रिया के संयोग से बनते हैं। संस्कृत कालों से विकसित काल हिंदी में दो ही तीन हैं। म० भा० आ० भाषाओं के समान हिंदी में एकवचन और बहुवचन ये दो ही वचन हैं जिन के तीन पुरुषों में तीन-तीन रूप होते हैं। सब से बड़ी विशेषता यह है कि हिंदी क्रिया के रूपों की बनावट बहुत बड़ी संख्या में वियोगात्मक हो गई है। शुद्ध संयोगात्मक रूप बहुत कम मिलते हैं। कुछ में दोनों प्रकार के रूपों का मिश्रण है। इस संबंध में विस्तार-पूर्वक आगे विचार किया जायगा।

आ. धातु

३०३. धातु क्रिया के उस अंश को कहते हैं जो उस के समस्त रूपांतरों में पाया जाता हो, जैसे *चलना*, *चला*, *चलेगा*, *चलता* आदि समस्त रूपों में चल् अंश समान रूप से मिलता है अतः चल् धातु मानी जायगी। धातु की धारणा वैयाकरणों के मस्तिष्क की उपज है। यह भाषा का स्वाभाविक अंग नहीं है। क्रिया के *–ना* से युक्त साधारण रूप से *–ना* हटा देने पर हिंदी धातु निकल आती है, जैसे *खाना*, *देखना*, *चलना* आदि में *खा*, *देख*, *चल* धातु हैं।

वैयाकरणों[1] के अनुसार संस्कृत धातुओं की संख्या लगभग २००० मानी जाती है। इन में से केवल ८०० का प्रयोग वास्तव में प्राचीन साहित्य में मिलता है। इन ८०० में २०० के लगभग तो केवल वेदों और ब्राह्मण ग्रंथों में प्रयुक्त हुई हैं, ५०० वैदिक और संस्कृत दोनों साहित्यों में मिलती हैं और १००

---

[1] बे, बे लं, § ६१४

से कुछ अधिक केवल संस्कृत में मिलती हैं। म० भा० आ० में आते-आते इन ८०० धातुओं की संख्या और रूपों में परिवर्तन हुआ। जैसा ऊपर कहा जा चुका है वैदिक काल की लगभल २०० धातुयें संस्कृत काल में ही लुप्त हो चुकी थीं। आगे चल कर संस्कृत में प्रयुक्त धातुओं में से भी बहुतों का प्रचार नहीं रहा। प्राचीन धातुओं के आधार पर कुछ नई धातुयें भी बन गईं तथा कुछ बिल्कुल नई धातुयें तत्कालीन प्रचलित भाषाओं से भी आ गईं। प्राकृत धातुओं की ठीक-ठीक गणना अभी कदाचित् नहीं हो पाई है।

हार्नली[1] के अनुसार हिंदी धातुओं की संख्या लगभग ५०० है। ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी धातुयें दो मुख्य श्रेणियों में विभक्त की जाती हैं— मूल धातु और यौगिक धातु। हिंदी मूल धातु वे हैं जो संस्कृत से हिंदी में आई हैं। हार्नली के अनुसार इन की संख्या ३९३ है। मूल धातुओं में भी कई वर्ग किए जा सकते हैं। कुछ मूल धातुयें संस्कृत धातुओं से बिल्कुल मिलती-जुलती हैं (हि० *खा* < सं० *खाद्*), कुछ में संस्कृत के किसी विशेष गण के रूप का प्रभाव पाया जाता है या गण-परिवर्तन हो जाता है (हि० *नाच* < सं० *नृत्-य*) और कुछ में वाच्य का परिवर्तन मिलता है (हि० *बेच* < सं० *विक्रि-य*)। इस दृष्टि से हार्नली ने मूल धातुओं को सात वर्गों मे रक्खा है। चैटर्जी[2] मूल धातुओं को निम्न-लिखित चार मुख्य वर्गों में रखते हैं—

(१) वे मूल धातुयें जो प्रा० भा० आ० से आई हैं (तद्भव)।

(२) वे मूल धातुयें जो प्रा० भा० आ० की धातुओं के प्रेरणार्थक रूपों से आई हैं (तद्भव)।

(३) वे मूल धातुयें जो आधुनिक काल में संस्कृत से ले ली गई हैं (तत्सम या अर्द्धतत्सम)।

---

[1] हार्नली, 'हिंदी रूट्स', जर्नल आव दि एशियाटिक सोसायटी आव बंगाल, १८८०, भाग १

[2] चै., बे. लै., § ६१५

(४) वे मूल धातुयें जिन की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। ये सब देशी हों यह आवश्यक नहीं है।

हिंदी यौगिक धातुयें वे कहलाती हैं जो संस्कृत धातुओं से तो नहीं आई हैं किंतु जिन का संबंध या तो संस्कृत रूपों से है और या वे आधुनिक काल में गढ़ी गई हैं। ये तीन वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं—

(१) नाम धातु (हि० *जम* < सं० *जन्म*)।

(२) संयुक्त धातु (हि० चुक < सं० च्युत् + क्र)।

(३) अनुकरण मूलक, अथवा एक ही धातु को दोहरा कर बनाई हुई धातुयें (हि० *फूकना*, *फड़फड़ाना*)।

हार्नली के अनुसार हिंदी यौगिक धातुओं की संख्या १८९ है।

मूल और यौगिक धातुओं के अतिरिक्त कुछ विदेशी भाषाओं की धातुयें तथा शब्द हिंदी में धातुओं के समान प्रयुक्त होने लगे हैं।

इ. सहायक क्रिया[1]

३०४. हिंदी की काल-रचना में कृदंत रूपों तथा सहायक क्रियाओं से विशेष सहायता ली जाती है इस लिए काल-रचना पर विचार करने के पूर्व इन पर विचार कर लेना अधिक युक्तिसंगत होगा। हिंदी काल-रचना में *होना* सहायक क्रिया का व्यवहार होता है। इस के रूप भिन्न-भिन्न अर्थों और कालों में पृथक् होते है। *होना* के मुख्य रूप नीचे दिए जाते हैं—

वर्तमान निश्चयार्थ

१	हूं	हैं
२	है	हो
३	है	हैं

---

[1] ग्री, क ग्रै, भा. ३, अ. ४

भूत निश्चयार्थ

१	था	थे
२	था	थे
३	था	थे

भविष्य निश्चयार्थ

१	होऊंगा	होवेंगे
२	होगा	होंगे
३	होगा	होंगे

वर्तमान आज्ञा

१	होऊं	हों
२	हो	होओ
३	हो	होवें

भूत संभावनार्थ

१	होता	होते
२	होता	होते
३	होता	होते

भविष्य आज्ञा के अर्थ में मध्यम पुरुष बहुवचन में *होना* रूप प्रयुक्त होता है। स्त्रीलिंग में इन में से अनेक रूपों में परिवर्तन होते हैं।

ये सब रूप हिंदी में होना क्रिया के रूपांतर माने जाते हैं किंतु व्युत्पत्ति की दृष्टि से इन का संबंध संस्कृत की एक से अधिक क्रियाओं से है।

३०५. हूं आदि वर्तमान निश्चयार्थ के रूपों का संबंध सं० √ अस् से माना जाता है, जैसे हि० हूं (बो० *हौं*) < प्रा० *अम्हि*, *अस्मि*, < सं० *अस्मि*; हि० है (बो० *आहि*) < प्रा० *अस्थि*, *अत्थि* < सं० *अस्ति*। इस क्रिया से बने हुए हिंदी बोलियों के अनेक रूपों में तथा कुछ

अन्य प्रा० भा० आ० भाषाओं के रूपों में भी √ *अस्* का *अ*– वर्तमान है। खड़ी बोली हिंदी में यह लुप्त हो गया है।

३०६. *था* आदि भूत निश्चयार्थ के रूपों का संबंध सं० √ *स्था* से माना जाता है। जैसे—

हि० *था* < प्रा० *थाइ ठाइ* < सं० *स्थित*।

३०७. हि० √ होना के शेष समस्त रूपों का संबंध सं० √ भू से माना जाता है। जैसे—

हि० होता < प्रा० *होन्तो*– < सं० *भवन्*।

हि० हुआ (बो० *हुयो*, *भयो*) < प्रा० *भविओ* < सं० *भवित*।

३०८. पूर्वी हिंदी की कुछ बोलियों में पाए जाने वाले *बाटै* आदि रूपों का संबंध सं० √ *वृत्* से जोडा जाता है, जैसे हि० *बाटै* < प्रा० *वट्टइ* < सं० *वर्तते*।

हि० रहना की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। चैटर्जी[1] ने इस संबंध में विस्तार के साथ विचार किया है किंतु किसी अंतिम निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं। टर्नर[2] इस का संबंध सं० *रहित* आदि शब्दों की √ रह् धातु से जोडते हैं।

पहाड़ी, बंगाली, गुजराती, राजस्थानी तथा पुरानी अवधी आदि में पाई जाने वाली छ से युक्त सहायक क्रिया की व्युत्पत्ति प्रा० भा० आ० की कल्पित धातु √ *अच्छ्** से मानी जाती है।[3] टर्नर[4] अन्य मतों का खंडन करके सं० *आ* + √ *चे* से इस का उद्गम समझते हैं। हिंदी में इस के रूपों का व्यवहार नहीं होता है।

---

[1] चै, बे लै, § ७६८

[2] टर्नर, नेपाली, डिक्शनरी, पृ० ५३१ रहनु।

[3] चै, बे लै, § ७६६

[4] टर्नर, नेपाली, डिक्शनरी, पृ० १९१ छनु।

ई. कृदंत

३०९. हिंदी काल-रचना में वर्तमानकालिक कृदंत तथा भूतकालिक कृदंत के रूपों का व्यवहार स्वतंत्रता-पूर्वक होता है।

वर्तमानकालिक कृदंत धातु के अंत में—*ता* लगाने से बनता है। इस का व्युत्पत्ति संस्कृत वर्तमानकालिक कृदंत के—अंत (*शतृ* प्रत्ययांत) वाले रूपों से मानी जाती है। जैसे—

हि० *पचता* < प्रा० *पचंतो* < सं० पचन्

हि० *पचती* < प्रा० *पचंती* < सं० *पचन्ती*

३१०. भूतकालिक कृदंत धातु के अंत मे—*आ* लगाने से बनता है। इस की व्युत्पत्ति संस्कृत के भूतकालिक कर्मवाचक कृदंत के *त*, *इत* (*क्त* प्रत्ययांत) वाले रूपों से मानी जाती है। जैसे—

हि० *चला* (बो० *चल्यो*) < प्रा० *चलिओ* < सं० *चलितः*

हि० *करा* < प्रा० *करिओ* < सं० *कृतः*

> भोजपुरी आदि बिहारी बोलियों में भूतकालिक कृदंत में —*ल* अंत वाले रूप भी पाए जाते हैं। इन का संबंध म० भा० आ० के—*इल* तथा प्रा० भा० आ० के—*ल* प्रत्यय से जोडा जाता है। इस संबंध में चैटर्जी[1] ने विस्तार के साथ विचार किया है।

३११. हिंदी में पाए जाने वाले अन्य कृदंत रूपों की व्युत्पत्ति भी यहां ही दे देना उपयुक्त होगा।

पूर्वकालिक कृदंत अविकृत धातु के रूप में रहता है या धातु के अंत में कर, के, कर के लगा कर बनता है।

संस्कृत में यह कृदंत—*त्वा* और—*य* लगा कर बनता है। क्रिया के पहले उपसर्ग आने पर ही संस्कृत में—*य* लगता था किंतु प्राकृत में यह भेद भुला

---

[1] चै., बे लै, § ६८१-६८८

दिया गया, और उपसर्ग न रहने पर भी सं०–*य* से संबंध रखने वाले रूपों का व्यवहार प्रचलित हो गया। इस तरह धातु रूप में पाए जाने वाले हिंदी पूर्व-कालिक कृदंत का संबंध सं०–*य* अंत वाले रूप से है, चाहे संस्कृत मे इन विशेष शब्दों में–*त्वा* ही लगाया जाता हो। जैसे—

हि० *सुन* (ब्र० *सुनि*) < प्रा० *सुणिअ* : सं० *श्रुत्वा*
हि० *सींच* (ब्र० *सींचि*) < प्रा० *सींचिअ* : सं० *सिक्त्वा*

हिंदी की बोलियों में इस प्रकार के इकारांत संयोगात्मक पूर्वकालिक कृदंत रूपों का प्रयोग बराबर पाया जाता है। व्यवहार मे आते-आते इस इकार का भी लोप हो गया और खड़ी बोली में *वह बात सुन सीधा घर गया* इस तरह के वाक्य बराबर व्यवहृत होते हैं। अंत्य–इ के लुप्त हो जाने से क्रिया के धातु वाले रूप और इस कृदंत के रूप में कुछ भी भेद नहीं रह गया अतः ऊपर से कर, के, कर के आदि शब्द जोड़े जाने लगे हैं। जैसे, *वह बात सुन कर घर गया*। हि० *कर* की व्युत्पत्ति प्रा० *करिअ* से तथा हि० *के* की व्युत्पत्ति प्रा० *कइय* से है।

३१२. *क्रियार्थक संज्ञा* धातु के अंत में–*ना* जोडने से बनती है। बीम्स के अनुसार–*ना* का संबंध संस्कृत भविष्य कृदंत–*अनीय* (ल्युट्) से है। जैसे, हि० *करना* < प्रा० *करणअं*, *करणीअं* < सं० *करणीयं*।

बोलियों मे एक रूप–*अन* मिलता है, जैसे *देखन* (देखना), *चलन* (चलना)। इस–*अन* का संबंध संस्कृत क्रियार्थक संज्ञा–*अनं* (जैसे सं० *करणं*, *चलनं*) से लगाया जाता है। चैटर्जी[1] के मत से हि०–*ना* भी इसी संस्कृत प्रत्यय से संबद्ध है। क्रियार्थक संज्ञा का व्यवहार हिंदी में भविष्य आज्ञा के लिए भी होता है। जैसे, *तुम कल घर ज़रूर जाना*।

---

[1] चै, वे लै., § ७४३

ब्रजभाषा तथा बंगाली, उड़िया, गुजराती आदि कुछ अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं में —*ब* लगा कर क्रियार्थक संज्ञा बनती है। इस का संबंध संस्कृत कर्मवाच्य भविष्य कृदंत प्रत्यय—*तव्य* से माना जाता है जैसे, हि० बो० *करब* < प्रा० *करेअव्वं, करिअव्वं* < सं० *कर्तव्यम्*। हिंदी की कुछ बोलियों में भविष्य काल में भी इस—*ब* अंत वाले रूप का व्यवहार पाया जाता है।

३१३. कर्तृवाचक संज्ञा क्रियार्थक संज्ञा के विकृत रूप में *वाला, हारा* आदि शब्द लगा कर बनाई जाती है, जैसे *मरने वाला, जाने वाला* आदि। हि० *वाला* का संबंध सं० *पालक* से जोड़ा जाता है तथा हि० *हारक* की व्युत्पत्ति कुछ लोग सं० *धारक* तथा अन्य सं० *कारक* से मानते हैं।

बोलियों में—*अइया* लगा कर भी कर्तृवाचक संज्ञा बनती है, जैसे *पढ़ैया, चढ़ैया* आदि। इस का संबंध सं० कर्तृवाचक संज्ञा को प्रत्यय—*तृ*— +*क* से माना जाता है जैसे, हि० *पढ़ैया* < सं० *पठतृकः*।[1]

३१४. *तात्कालिक कृदंत* रूप वर्तमानकालिक कृदंत के विकृत रूप में *ही* लगा कर बनता है, जैसे *आते ही, खाते ही* आदि। *अपूर्ण क्रिया द्योतक कृदत*, वर्तमानकालिक कृदंत का विकृत रूप मात्र है, जैसे *उसे काम करते देर हो गई*। *पूर्ण क्रिया द्योतक कृदंत* भूतकालिक कृदंत का विकृत रूप है, जैसे *उसे गये बहुत दिन हो गये*।

उ. कालरचना

३१५. मुख्य काल तीन हैं—वर्तमान, भूत, भविष्य। निश्चयार्थ, आज्ञार्थ तथा संभावनार्थ इन तीन मुख्य अर्थों तथा व्यापार की सामान्यता, पूर्णता तथा अपूर्णता को ध्यान में रखते हुए समस्त हिंदी कालों की संख्या १९ हो

---

[1] सक, ए. अ, § २८९

जाती है। क्रिया की रचना की दृष्टि से इन का संक्षिप्त वर्गीकरण नीचे दिया जाता है।

अ. साधारण अथवा मूलकाल

	उदाहरण
(१) भूत निश्चयार्थ	वह चला
(२) भविष्य "	वह चलेगा
(३) वर्तमान संभावनार्थ	अगर वह चले
(४) भूत "	अगर वह चलता
(५) वर्तमान आज्ञार्थ	वह चले
(६) भविष्य आज्ञार्थ	तुम चलना

आ. संयुक्त काल

वर्तमानकालिक कृदंत + सहायक क्रिया

(७) वर्तमान अपूर्ण निश्चयार्थ	वह चलता है
(८) भूत " "	वह चलता था
(९) भविष्य " "	वह चलता होगा
(१०) वर्तमान " संभावनार्थ	अगर वह चलता हो
(११) भूत " "	अगर वह चलता होता

भूतकालिक कृदंत + सहायक क्रिया

(१२) वर्तमान पूर्ण निश्चयार्थ	वह चला है
(१३) भूत " "	वह चला था
(१४) भविष्य " "	वह चला होगा
(१५) वर्तमान " "	अगर वह चला हो
(१६) भूत " "	अगर वह चला होता

२१६. ऐतिहासिक दृष्टि से हिंदी कालों को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है[1]—

क. संस्कृत कालों के अवशेष काल—इस श्रेणी में वर्तमान संभावनार्थ और आज्ञा आते हैं।

ख. संस्कृत कृदंतों से बने काल—इस श्रेणी में भूत निश्चयार्थ, भूत-संभावनार्थ तथा भविष्य आज्ञा आते हैं।

ग. आधुनिक संयुक्तकाल—इस श्रेणी में कृदंत तथा सहायक क्रिया के संयोग से आधुनिक काल में बने समस्त अन्य काल आते हैं।

हिंदी भविष्य निश्चयार्थ की बनावट असाधारण है। यह इन तीन वर्गों में से किसी के अंतर्गत भी नहीं आता है। संस्कृत *गम्* धातु के कृदंत रूप के संयोग के कारण इसे ख. वर्ग में रक्खा जा सकता है।

क. संस्कृत कालों के अवशेष

३१७. जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है, संस्कृत कालों के अवशेष स्वरूप हिंदी में केवल दो काल हैं—वर्तमान संभावनार्थ और आज्ञा।

ग्रियर्सन[2] ने इन कालों के संबंध में विस्तार-पूर्वक विचार किया है। उन के मत में हिंदी वर्तमान संभावनार्थ के रूपों का संबंध संस्कृत के वर्तमान काल के रूपों से है। ग्रियर्सन के अनुसार तुलनात्मक कोष्ठक नीचे दिया जाता है—

	सं०	प्रा०	अप०	हि०
एक० (१)	*चलामि*	*चलामि*	चलउ	चलूं
(२)	*चलसि*	*चलसि*	*चलहि*, *चलइ*	चले
(३)	*चलति*	चलइ	*चलहि*, *चलइ*	चले

[1] वी., क. ग्रै., भा. ३, § ३२

[2] ग्रियर्सन, रैडिकल ऍंड पार्टिसिपियल टेन्सेज़, जर्नल आव दि एशियाटिक सोसायटी आव बेंगाल, १८९६, पृ० ३५२–३७५

बहु०	(१) *चलामः*	*चलामो*	*चलहुं*	*चलें*
	(२) *चलथ*	*चलह*	*चलहु*	*चलो*
	(३) *चलन्ति*	*चलन्ति*	*चलहिं*	*चलें*

३१८. हिंदी प्रथम पुरुष के रूपों का विकास संस्कृत रूपों से स्पष्ट है। सं० प्रथम पुरुष बहुवचन का *त* मराठी में अब भी मौजूद है, जैसे म० *उठती* (वे उठते हैं)।

हिंदी मध्यम पुरुष के रूपों के विकास के संबंध में भी कोई विशेष कठिनाई नहीं मालूम पड़ती। किंतु उत्तम पुरुष के हिंदी रूपों का संबंध संस्कृत रूपों से उतनी सरलता से नहीं जुड़ता। बीम्स[1] के अनुसार इस पुरुष के एकवचन और बहुवचन के रूपों में आपस में परिवर्तन हो गया है, जैसे, सं० *चलामः* > प्रा० *चलामु*, *चलांउ** > *चलौं*, *चलू*। इसी प्रकार सं० *चलामि* > प्रा० *चलांइ** > *चलैं*, *चलें*। ऐसा भी माना जाता है कि सं० *चलामि* से ही इकार के लोप हो जाने और *म* के अनुस्वार में परिवर्तित हो जाने से हि० एकवचन *चलू* बना होगा। ऐसी अवस्था में हिंदी उत्तम पुरुष बहुवचन का रूप प्रथम पुरुष बहुवचन के रूप से प्रभावित माना जा सकता है। इस तरह के उदाहरण मिलते हैं। वर्तमान निश्चयार्थ से वर्तमान संभावनार्थ में परिवर्तन आधुनिक माना जाता है।

३१९. ग्रियर्सन के मतानुसार हिंदी आज्ञा के रूपों का संबंध भी संस्कृत वर्तमान काल के रूपों से ही है किंतु बीम्स इन का संबंध संस्कृत आज्ञा के रूपों से जोडते हैं जो संभव नहीं प्रतीत होता। कदाचित् संस्कृत के वर्तमान और आज्ञा दोनों ही का प्रभाव हिंदी के आज्ञा के रूपों पर पडा है। नीचे संस्कृत, प्राकृत तथा हिंदी के आज्ञा के रूप बराबर-बराबर दिए जा रहे हैं—

---

[1] बी, क ग्रै, भा. ३, § ३३

	सं०	प्रा०	हि०
एक० (१)	चलानि	चलमु	चलूं
(२)	चल	चलसु, चलाहि, चल	चल
(३)	चलतु	चलदु, चलउ	चले
बहु० (१)	चलाम	चलामो	चलें
(२)	चलत	चलह, चलधं	चलो
(३)	चलंतु	चलंतु	चलें

यह ध्यान देने योग्य बात है कि मध्यम पुरुष एकवचन को छोड कर आज्ञार्थ के अन्य हिंदी रूप वर्तमान संभावनार्थ के ही समान हैं। आज्ञा और संभाव्य भविष्यत् के रूपों का इस तरह का हेल-मेल कुछ-कुछ पाली प्राकृत में भी पाया जाता है।

आदरार्थ आज्ञा का विशेष रूप हिंदी में मध्यम पुरुष बहुवचन में मिलता है, जैसे *आप मीठा लीजिये*। इस की व्युत्पत्ति सं० आशीर्लिङ् के चिह्न *–या–* (जैसे *दद्यात्*) से मानी जाती है। प्राकृत में यह *–एज्ज,–इज्ज* (*देज्ज, दिज्ज*) रूपों में मिलता है।

३२०. खडी बोली में तो नहीं किंतु ब्रज, कनौजी में जो *ह* लगा कर भविष्य निश्चयार्थ बनता है वह भी इसी श्रेणी में आता है। ग्रियर्सन के अनुसार दिए हुए नीचे के कोष्ठक से यह संबंध बिल्कुल स्पष्ट हो जावेगा—

	सं०	प्रा०	अप०		ब्रज
एक० (१)	चलिष्यामि	चलिस्सामि चलिहिमि	चलिस्सउ,	चलिहिउं	चलिहौं
(२)	चलिष्यसि	चलिस्ससि चलिहिसि	चलिस्सहि चलिहिहि	चलिस्सइ चलिहिइ	चलिहै

(३) चलिष्यति चलिस्सइ चलिस्सहि चलिस्सइ चलिहै
चलिहिइ चलिहिहि चलिहिइ

बहु० (१) चलिष्यामः चलिस्सामो चलिस्सहु चलिहिहुं चलिहै
चलिहिमो

(२) चलिष्यथ चलिस्सह चलिस्सहु चलिहिहु चलिहौ
चलिहिह

(३) चलिष्यन्ति चलिस्सन्ति चलिस्सहिं चलिहिहिं चलिहै
चलिहिन्ति

वर्तमान संभावनार्थ के समान यहां भी उत्तम पुरुष के एकवचन और बहुवचन के रूपों में अदल-बदल का होना मानना पड़ेगा, अथवा उत्तम पुरुष बहुवचन के रूप पर प्रथम पुरुष के बहुवचन के रूप का भी प्रभाव हो सकता है।

खडी बोली हिंदी में *वर्तमान निश्चयार्थ* नहीं पाया जाता है किंतु पुरानी साहित्यिक ब्रज में यह काल मिलता है, जैसे *खेलत स्याम अपने रंग, बनते आवत धेनु चराये*। यह वर्तमानकालिक कृदंत है।

३२१. हिंदी भविष्य निश्चयार्थ देखने में मूल काल मालूम होता है किंतु वास्तव में यह बाद का बना हुआ काल है। ध्यान देने से मालूम पड़ता है कि इस की रचना वर्तमान संभावनार्थ के रूपों में *गा, गे, गी, गीं* आदि लगा कर होती है। भविष्य के इस *ग* का संबंध संस्कृत √*गम्* के भूतकालिक कृदंत *गत* > प्रा० *गदो, गयो, गओ* से जोड़ा जाता है।[1]

इसी प्रकार मारवाड़ी आदि में *ल* अंत वाले भविष्य में पाए जाने वाले *ल* का संबंध सं० *लग्न* > प्रा० *लग्गो* से जोड़ा जाता है।[2]

---

[1] वी., क ग्रै, भा ३, § ५४

[2] वी, क ग्रै., भा ३, § ५५

ख. संस्कृत कृदंतों से बने काल

३२२. संस्कृत कृदंतों से बने हिंदी कालों का संबंध संस्कृत कालों से सीधा नहीं है। संस्कृत कृदंतों के आधार पर बने हुए हिंदी कृदंतों का प्रयोग आधुनिक समय में काल के लिए होने लगा। कृदंतों के रूपों को काल के स्थान पर प्रयुक्त करने का ढंग बहुत पुराना है। स्वयं साहित्यिक संस्कृत में ही बाद को यह ढंग चल गया था। मूल कालों की संख्या में कमी हो जाने पर प्राकृत में भी कृदंतों का इस तरह का प्रयोग बहुत पाया जाता है। आधुनिक काल में आकर जब प्राचीन कालों के संयोगात्मक रूप नष्ट-प्राय हो गए थे तब अधिकांश कालों की रचना के निमित्त कृदंत रूपों का व्यवहार स्वाभाविक है।

केवल मात्र कृदंतों से बने काल हिंदी में तीन हैं—भूत निश्चयार्थ, भूत संभावनार्थ तथा भविष्य आज्ञा। इन के लिए क्रम से भूतकालिक कृदंत, वर्तमानकालिक कृदंत तथा क्रियार्थक संज्ञा का प्रयोग होता है। इन कृदंतों की व्युत्पत्ति पर ऊपर विचार किया जा चुका है, अतः इन कृदंती कालों के इतिहास में कोई विशेषता नहीं रह जाती। मूल कृदंत के रूपों के बहुवचन में एकारांत विकृत रूप (चले, चलते) हो जाते हैं, तथा स्त्रीलिंग एकवचन में ई (*चली, चलती*) और बहुवचन में ईं (*चलीं, चलतीं*) लगाई जाती है। इन कृदंती कालों के कारण ही हिंदी क्रिया में लिंगभेद पाया जाता है।

संस्कृत कर्मवाच्य भविष्य कृदंत प्रत्यय -*तव्य* से संबद्ध ब अंत वाले भविष्य काल का प्रयोग हिंदी की अवधी आदि बोलियों में पाया जाता है।

ग. संयुक्त काल

३२३. हिंदी के शेष समस्त काल इस श्रेणी में आते हैं। इन की रचना वर्तमान या भूतकालिक कृदंत के रूपों में सहायक क्रिया लगा कर होती है। इन कालों का संबंध संस्कृत के कालों से बिल्कुल भी नहीं है, केवल क्रिया के

कृदंत रूप तथा सहायक क्रिया की व्युत्पत्ति संस्कृत रूपों से अवश्य हुई है। इन रूपों का इतिहास कृदंत तथा सहायक क्रिया शीर्षक विवेचनों में दिखलाया जा चुका है। दोनों को मिला कर काल-रचना के लिए व्यवहार होना आधुनिक है।

ऊ. वाच्य

३२५. हिंदी में वाच्य बनाने का ढंग आधुनिक है। मूल क्रिया के भूतकालिक कृदंत के रूपों में *जाना* धातु के आवश्यक रूपों के संयोग से हिंदी कर्मवाच्य बन जाता है।

संस्कृत में *–य–* लगा कर कर्मवाच्य बनता था। प्राकृतों में यह *–य–* *–इय–* *–इय्य* या *–ईय–* तथा *–इज्ज–* में परिवर्तित हो गया था। कुछ आधुनिक आर्यभाषाओं में *–इज्ज–* > *–ईज–* या *–ईअ–* *–इआ–* रूप प्राकृतों से होकर संस्कृत से आए हैं, जैसे, सिंधी *करीजे*, मारवाड़ी *करीजणो*।[1] पुरानी ब्रजभाषा तथा अवधी में भी संयोगात्मक रूप मिलते हैं, जैसे अवधी *दीजिय*, *ढरिअइ*।[2]

कुछ लोगों के मत में हिंदी के आदर-सूचक आज्ञार्थ के रूप (*कीजिये* आदि) भी इस से प्रभावित हैं।

–आ– लगा कर कर्मवाच्य बनाने के कुछ उदाहरण बोलियों में पाए जाते हैं, जैसे *तन की तपन बुझाय* (तन की तपन बुझ जाती है), *कहावै* (कहा जाता है)। चैटर्जी[3] के मतानुसार *–आ–* कर्मवाच्य की उत्पत्ति सं० नाम धातु के चिह्न *–आय–* से हुई है।

हिंदी में भूत निश्चयार्थ काल संस्कृत के भूतकालिक कर्मवाचक कृदंत से संबद्ध है। संस्कृत के कर्मणि प्रयोग के चिह्न हिंदी में अब तक

---

[1] चै, वे लै, § ६५३
[2] सक, ए. अ., § २७३
[3] चै, वे. लै, § ६७१

मौजूद हैं अर्थात् अकर्मक धातुओं में क्रिया का यह रूप कर्ता से संबद्ध रहता है और सकर्मक धातु में कर्म से। पिछली अवस्था में कर्ता करण कारक में रक्खा जाता है—

सं०	हि०
कृष्णः चलितः	कृष्ण चला
कृष्णेन पुस्तिका पठिता	कृष्ण ने पुस्तक पढ़ी

आधुनिक मागधी भाषाओं में भूतकाल मे कर्तरि प्रयोग ही रह गया है। इसी कारण विहार आदि पूर्वी प्रांतों के लोग अपनी बोलियों के प्रभाव के कारण हिंदी में भी यथास्थान कर्मणि प्रयोग नहीं कर पाते हैं। उधर के लोगों के मुँह से *उस ने आम खाया* के स्थान पर *वह आम खाया* निकलता है।

ए. प्रेरणार्थक धातु

३२५. संस्कृत में प्रेरणार्थक (णिजंत) रूपधातु में–*अय*– लगा कर बनता है। कुछ स्वरांत धातुओं में धातु और–*अय*– के बीच में –*प*– भी लगता है। जैसे √कृ *कारयति*, √हस् *हासयति*, किंतु √दा *दापयति*, √गै *गापयति*। पाली प्राकृत में अधिकांश प्रेरणार्थक धातुओं में–*प*– जुड़ने लगा था यद्यपि पाली काल तक यह वैकल्पिक रहा, जैसे सं० *पाचयति*, पाली *पाचयति*, *पाचेति*, *पाचापयति*, *पचापेति*। प्राकृत में भी प्रेरणार्थक धातु बनाने के दो ढंग थे, एक में संस्कृत का *अय*–*ए*– में परिवर्तित हो जाता था, जैसे सं० *कारयति* > प्रा० *कारेइ*, दूसरे ढंग में–*प*– –*व*– में बदल जाता था, जिस से प्राकृत में *करावेइ* या *कारावेइ* रूप बनते थे।[1]

हिंदी में प्रेरणार्थक धातु के चिह्न –*आ*– –*वा*– प्राचीन चिह्नों के रूपांतर मात्र हैं। अकर्मक धातुओं में –*आ*– लगाने से धातु सकर्मक मात्र

---

[1] बी., क ग्रै, भा. ३, § २६

होकर रह जाती है अतः ऐसी धातुओं के प्रेरणार्थक रूप *–वा–* लगा कर बनते हैं, जैसे *जलना*, *जलाना*, *जलवाना*; *पकना*, *पकाना*, *पकवाना*। सकर्मक धातुओं में *–आ–* या *–वा–* दोनों चिह्न प्रेरणार्थ का ही बोध कराते हैं, जैसे *लिखना*, *लिखाना*, या *लिखवाना*; *करना*, *कराना*, या *करवाना*। हिंदी में वास्तव में *–वा–* रूप व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्पष्ट प्रेरणार्थ है।

ऐ. नामधातु

३२६. नामधातु भारतीय आर्यभाषाओं में प्राचीनकाल से पाए जाते हैं। संज्ञा या विशेषण में क्रिया के प्रत्यय जोड़ने से हिंदी नामधातु बनते हैं। हिंदी नामधातु के मध्य में आने वाले *–आ–* का संबंध संस्कृत नामधातु के चिह्न *–आय–* से जोडा जाता है। इस पर प्रेरणार्थक के *–आपय–* का प्रभाव भी माना जाता है।[1] जो हो हिंदी में प्रेरणार्थक *–आ–* और नामधातु के *–आ–* के रूप में कोई भेद नहीं रह गया है।

ओ. संयुक्त क्रिया

३२७. प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं में जो काम प्रत्यय आदि लगा कर लिया जाता था वह काम अब बहुत कुछ संयुक्त क्रियाओं से होता है। अन्य आधुनिक भाषाओं के समान हिंदी में भी संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बहुत पाया जाता है। हिंदी संयुक्त क्रियाओं की रचना आधुनिक है, अतः इस संबंध में ऐतिहासिक विवेचन असंभव है। संयुक्त क्रियायें द्राविड़ भाषाओं में भी बहुत प्रचलित हैं, किंतु उन का हिंदी पर प्रभाव पड़ना कठिन मालूम पड़ता है। हिंदी संयुक्त क्रियाओं का विस्तृत वर्गीकरण गुरु[2] तथा केलाग[3] के व्याकरणों में दिया हुआ है।

---

[1] चै, वे लै, § ७६५

[2] गु, हि व्या, § ३९९-४३३

[3] के, ई. हि. ग्रै., § ३४५-३६५

शब्द को दोहरा कर बनी हुई कुछ संयुक्त क्रियायें भी हिंदी में पाई जाती हैं, जैसे *खटखटाना*, *फड़फड़ाना*, *तिलमिलाना*। ये प्रायः अनुकरण-मूलक हैं, और ऐतिहासिक व्याकरण की दृष्टि से ऐसी साभ्यास क्रियायें कोई महत्व नहीं रखतीं।

अध्याय १०

अव्यय

३२८. व्याकरण के अनुसार अव्यय प्रायः चार समूहों में विभक्त किए जाते हैं—(१) क्रियाविशेषण, (२) समुच्चयबोधक, (३) संबंधसूचक और (४) विस्मयादिबोधक। हिंदी विस्मयादिबोधक अव्ययों का कोई विशेष इतिहास नहीं है। व्युत्पत्ति की दृष्टि से कुछ शब्द अवश्य रोचक हैं[1] जैसे, हि० दुहाई (दो + *हाय*), *शाबाश* (फा० *शादबाश*)। हि० अरे का संबंध द्राविड़ भाषाओं के अडे रूप से बतलाया जाता है। अधिकांश संबंधसूचक अव्ययों पर विचार 'संज्ञा' शीर्षक अध्याय में 'कारक-चिह्नों के समान प्रयुक्त अन्य शब्द' नाम के प्रकरण में हो चुका है। अतः इस अध्याय में हिंदी क्रिया-विशेषण और समुच्चयबोधक अव्ययों के संबंध में ही विचार किया गया है।

अ. क्रियाविशेषण

३२९. क्रियाविशेषणों की उत्पत्ति प्रायः संस्कृत संज्ञाओं अथवा सर्वनामों से हुई है। अर्थ की दृष्टि से ये कालवाचक, स्थानवाचक दिशावाचक तथा रीतिवाचक इन चार मुख्य वर्गों में विभक्त किए जाते हैं। आजकल संस्कृत तथा फारसी-अरबी के भी बहुत से शब्द तत्सम या तद्भव रूपों में क्रिया-विशेषण के समान हिंदी में प्रयुक्त होने लगे हैं। इतिहास की दृष्टि से ऐसे शब्द विशेष महत्व नहीं रखते।

---

[1] बी., क ग्रं, भा. ३, § ८४

क. सर्वनाम-मूलक क्रियाविशेषण

३३०. कालवाचक—*अब, जब, तब, कब* (—*ब* लगा कर)।

बीम्स[1] के अनुसार *अब* का संबंध सं० *वेला* शब्द से है जिस की ओर उड़िया के *एते वेळे एवे* रूप भी संकेत करते हैं। इसी तरह *जब, तब, कब* का संबंध भी बीम्स सं० *वेला* शब्द से ही जोड़ते हैं। इन सब में केवल सर्वनाम वाले अंश में भेद है। हिंदी खडी बोली तथा पंजाबी के *जद, तद, कद* की उत्पत्ति सं० *यदा, तदा, कदा* से स्पष्ट ही है।

चैटर्जी[2] के मतानुसार *अब* का संबंध वैदिक *एव, एवा* > सं० *एवं* > प्रा० *एव्वं, एव्वं* से है। इसी ढंग पर वे अन्य काल-वाचक क्रियाविशेषणों का संबंध भी जोड़ते हैं।

ही के संयोग से हिंदी के ये क्रियाविशेषण *अभी* (*अब + ही*), *कभी* (*कब + ही*) रूप धारण कर लेते हैं *जभी, तभी* का प्रयोग अभी कम होता है।

> हिंदी के इन क्रियाविशेषणों के भोजपुरी रूप *एवेर, जेवेर, तेवेर, केवेर* हैं, तथा ब्रजभाषा में *अबै, जबै, तबै, कबै* रूप प्रयुक्त होते हैं। बीम्स के अनुसार इन सब रूपों का संबंध सं० *वेला* से ही है। ब्रज *अबई* आदि *अब + ही* के ढंग से बने संयुक्त रूप मालूम पड़ते हैं।

३३१. स्थानवाचक—*यहा, वहा, जहां, तहां, कहा* (—*हां* लगा कर)।

बीम्स के अनुसार *हां* से युक्त इन स्थानवाचक रूपों का संबंध सं० *स्थाने* से है (*तहां=तत्स्थाने*) अवधी के *एठियां, ओठियां* तथा भोजपुरी के *एठां, एठांई* रूप इसी व्युत्पत्ति की ओर संकेत करते हैं। हिंदी के इन क्रिया-

---

[1] बी., क. ग्रै., भा ३, § ८१

[2] चे., बे. लैं., § ६०२

विशेषणों का उच्चारण *यां*, *ग्रां*, *जां*, *तां*, *कां* की तरफ झुकता जाता है। चैटर्जी[1] के अनुसार इन रूपों का संबंध म० भा० आ० के—*त्थ* <सं०—*त्र* से है।

ब्रज के *इतै*, *जितै*, *तितै*, *कितै* का संबंध सं० *अत्र*, *यत्र*, *तत्र*, *कुत्र* से माना जाता है।

३३२. दिशावाचक क्रियाविशेषण—*इधर*, *उधर*, *जिधर*, *तिधर*, *किधर*। हिंदी के इन रूपों की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। बीम्स ने—*धर* अंश का संबंध सं० *मुख* के लघुत्व-बोधक संभावित रूप *मुखर** से किया है, जैसे सं० *मुखर** > *म्हर* (भोज० *एम्हर*, *उम्हर*) > *न्हर* (बिहारी *एहर*) > *न्धर* > *धर*। यह व्युत्पत्ति संतोषजनक नहीं मालूम होती।

३३३. रीतिवाचक *यों*, *ज्यों*, *त्यों*, *क्यों* (—*यों* लगा कर)।

बीम्स[2] इन का संबंध सं० *मत्* > प्रा० *मन्तो* से मानते हैं यद्यपि संस्कृत में इस प्रत्यय से बने हुए रूप अर्थ की दृष्टि से परिमाण-वाचक होते हैं, जैसे *इयत्*, *कियत्* आदि। ध्वनि-साम्य की दृष्टि से बंगाली *केमन्त* आदि तथा अवधी *इमि*, *जिमि*, *तिमि*, *किमि* बीच के रूप मालूम होते हैं।

केलाग[3] हिंदी के इन रूपों का संबंध सं० *इत्थं*, *कथं* जैसे रूपों से मानते हैं, किंतु हिंदी शब्दों में *य* के आगम का कोई संतोषजनक कारण नहीं देते। चैटर्जी[4] इन की उत्पत्ति अप० *जेंव*, *तेंव*, *केंव* = *जेवं*, *तेवं*, *केवं* से मानते हैं और इन अपभ्रंश रूपों को प्रा० भा० आ० के *येव**, *तेव**, *केव** संभावित रूपों से संबद्ध करते हैं जो उन के मत में वैदिक *एव* की नकल पर बने होंगे। वास्तव में इन रूपों की व्युत्पत्ति अत्यंत संदिग्ध है।

---

[1] चै, वे लै., § ३०४
[2] बी, क. ग्रै, भा. ३, § ८१
[3] के., हि. ग्रै, § ४९४
[4] चै., वे. लै, § ६१०

ख. संज्ञामूलक, क्रियामूलक तथा अन्य क्रियाविशेषण

३३४. सर्वनाममूलक क्रियाविशेषणों के अतिरिक्त मुख्य-मुख्य अन्य विशेषणों की सूची नीचे दी जाती है।[1] इन की व्युत्पत्ति भी यथा-संभव दिखलाने का यत्न किया गया है।

कालवाचक

हि० *आज* < पा० *अज्ज* < सं० *अद्य*।

हि० *कल*, सं० *कल्य* से निकला है जिस का अर्थ उषा-काल होता है। हिंदी में यह शब्द आने वाले तथा गुज़रे हुए दोनों दिनों के लिए प्रयुक्त होता है।

हि० *परसों* < सं० *पर : श्वस् :* बोलियों में *परौं* रूप अधिक प्रचलित है। हिंदी में इस का प्रयोग गुज़रे हुए दूसरे दिन के लिए भी होता है। संस्कृत में इस का अर्थ केवल आने वाला दूसरा दिन था।

हि० *तरसों* या *अतरसो :* परसों के ढंग पर शायद सं० *त्रि* के आधार पर ये रूप गढे गए हैं (सं० *त्रि+श्वस्*)।

हि० *नरसों :* चौथे दिन के लिए कभी-कभी प्रयुक्त होता है। *अन्य+तरसों* के मेल से इस की उत्पत्ति की संभावना संदिग्ध है।[2]

हि० *सवेर अवेर :* इन का प्रयोग बोलियों में विशेष होता है। ये शब्द सं० *वेला* के साथ *स* तथा *अ* लगा कर बने मालूम होते हैं।

---

[1] हिंदी बोलियो में पाए जाने वाले क्रियाविशेषणो के लिए देखिए के, हि. ग्रै, ४६६। अवधी क्रियाविशेषणो के लिए देखिए सक., ए अ, अध्याय ७।

[2] बी, क. ग्रै, भा ३, § ८२

हि० *तड़के* का संबंध √ *तड़* (टूटना) धातु के पूर्वकालिक कृदं
अव्यय से लगाया जाता है किंतु यह व्युत्पत्ति संदिग्ध है

हि० *भोर* शब्द का सं० √ *भा* (चमकना) से संबंध सिद्ध नहीं होता

हि० *तुरंत तुरत* < सं० अव्यय *त्वरितम्* ।

हि० *झट* < सं० अव्यय *झटति* ।

हि० *अचानक* की व्युत्पत्ति स्पष्ट नहीं है। कुछ लोग इस का संबंध
सं० *अ* + √ *चित्* 'बिना सोचे' से जोड़ते हैं और
कुछ सं० *चमत्कार* > हि० *चौंक* के निकट इसे बताते
हैं, किंतु दोनों व्युत्पत्तियें अत्यंत संदिग्ध हैं ।

स्थानवाचक

हि० *भीतर* < सं० *अभ्यंतर्*

हि० *बाहिर* < सं० *बहिः*

रीतिवाचक

हि० *जानो* < हि० *जानना*

हि० *मानो* < हि० *मानना*

हि० *ठीक* का सं० √ *स्था*[1] से संबंध संदिग्ध है ।

हि० *सचमुच* का संबंध सं० *सत्य* से है। हिंदी में यह रूप दोहरा
कर बनाया गया है ।

अन्य

हि० *हां* की व्युत्पत्ति संदिग्ध है। केलाग इस की तुलना मराठी क्रिया
आहें, आहों से करते हैं ।

हि० *नहीं* को केलाग *न* + *आहि* का संयुक्त रूप बताते हैं ।

---

[1] के, हि ग्रै., § ४६६

[2] के., हि. ग्रै., § ३७२

आ. समुच्चयबोधक

३३५. नीचे मुख्य-मुख्य समुच्चयबोधक अव्यय व्युत्पत्ति सहित दिए जा रहे हैं—

हि० और (प्राचीन रूप अवर, अरु) < सं० *अपर* (दूसरा)।

हि० *भी* < प्रा० *वि हि* < सं० *अपि हि*।

हि० पर < सं० परं। इस अर्थ में सं० *वा* तथा अरबी *या* का प्रयोग भी हिंदी में होता है।

हि० कि कदाचित् फ़ारसी से आया है। सं० *किं* से इस की व्युत्पत्ति संदिग्ध है।

हि० जो < प्रा० *जअ**, *जद* < सं० *यदि*।

हि० बरन < सं० *वरन*।

हि० चाहे < हि० चाहना

हि० तो < सं० *तु*।

पारिभाषिक शब्द-संग्रह

अ. हिंदी-अंग्रेज़ी

अंकित लेख	Inscription
अग्र, अगला	Front
अघोष	Voiceless, breathed
अनुकरणमूलक	Onomatopoetic
अनुनासिक	Nasal
अनुरूपता	Assimilation
अनुलिपि	Transliteration
अंतर्वर्ती	Intermediate, mediate
अपवाद	Exception
अप्रयुक्त	Obsolete
अभ्यास	Duplication
अर्द्ध-विवृत्	Half-open
अर्द्ध-संवृत्	Half-close
अर्द्ध-स्वर	Semi-vowel
अलिजिह्वा, कौवा	Uvula
अलिजिह्व	Uvular
अल्पप्राण	Un-aspirated
अव्यय	Indeclinable

पारिभाषिक शब्द-संग्रह

अ. हिंदी-अंग्रेज़ी

अकित लेख	Inscription
अग्र, अगला	Front
अघोष	Voiceless, breathed
अनुकरणमूलक	Onomatopoetic
अनुनासिक	Nasal
अनुरूपता	Assimilation
अनुलिपि	Transliteration
अतर्वर्ती	Intermediate, mediate
अपवाद	Exception
अप्रयुक्त	Obsolete
अभ्यास	Duplication
अर्द्ध-विवृत्	Half-open
अर्द्ध-संवृत्	Half-close
अर्द्ध-स्वर	Semi-vowel
अलिजिह्वा, कौवा	Uvula
अलिजिह्व	Uvular
अल्पप्राण	Un-aspirated
अव्यय	Indeclinable

अस्पष्ट ल	Dark *l*
आदि स्वरागम	Prothesis
आधुनिक भारतीय आर्यभाषा	New Indo-Aryan
उच्चस्थानीय स्वर	High vowel
उच्चारण	Pronunciation
उच्चारण-स्थान	Place of articulation
उत्क्षिप्त	Flapped
उदासीन स्वर	Neutral vowel
उद्धृत शब्द	Loan-word
उपकुल	Sub-family (of speech)
उपशाखा	Sub-branch (of speech)
उपसर्ग	Prefix
उपसर्गात्मक अव्यय	Preposition
उपांत्य	Penultimate
उपालिजिह्व	Pharyngeal
ऊष्म	Sibilant
ओष्ठ	Lip
ओष्ठ्य	Labial
औपम्य, सादृश्य	Analogy
कंठ्य	Velar, guttural
कंठ-तालव्य	Gutturo-palatal
कंठ्योष्ठ्य	Gutturo-labial
जिह्वामूलीय	Back guttural
कंपन युक्त	Trilled
कर्तृवाचक संज्ञा	Noun of Agency
कारक	Case

काल	Tense
मूलकाल	radical
कृदंती काल	participial
संयुक्त काल	periphrastic
काल-रचना	formation of tenses
वर्तमान निश्चयार्थ	present indicative
भूत निश्चयार्थ	past indicative
भविष्य ,,	future indicative
वर्तमान संभावनार्थ	present conjunctive
भूत ,,	past conjunctive
आज्ञा	imperative
भविष्य आज्ञा	future imperative
वर्तमान अपूर्ण निश्चयार्थ	present imperfect indicative
भूत ,, ,,	past imperfect indicative
भविष्य ,, ,,	future imperfect indicative
वर्तमान ,, संभावनार्थ	present imperfect conjunctive
भूत ,, ,,	past imperfect conjunctive
वर्तमान पूर्ण निश्चयार्थ	present perfect indicative
भूत ,, ,,	past perfect indicative
भविष्य ,, ,,	future perfect indicative
वर्तमान ,, संभावनार्थ	present perfect conjunctive
भूत ,, ,,	past perfect conjunctive
क्रिया	Verb
सकर्मक	transitive
अकर्मक	intransitive
क्रियार्थक संज्ञा	Infinitive, verbal noun

क्रियारूप	Conjugation
क्रियार्थ भेद	Mood
निश्चयार्थ	indicative
संभावनार्थ	contingent
संदेहार्थ	presumptive
आज्ञार्थ	imperative
संकेतार्थ	negative contingent
आदरार्थ आज्ञा	optative
क्रियाविशेषण	Adverb
कुल	Family (of speech)
कृदंत	Participle
वर्तमानकालिक कृदंत	present participle
भूतकालिक ,,	past participle
पूर्वकालिक ,,	conjunctive participle
केंद्रवर्ती समुदाय	Central group
खंड	Paragraph
घोष	Voiced
घोष स्पर्श	Voiced plosive
जिह्वा	Tongue
नोक	tip
जिह्वाग्र	front
जिह्वामध्य	middle
पश्चजिह्वा	back
जिह्वामूल	root
जिह्वाफलक	blade
जिह्वामूलीय	Uvular
तालव्य	Palatal

तालु	Palate
कठोर	hard
कोमल	soft
कृत्रिम	artificial
दंत्य	Dental
दंत्याग्रीय	Pre-dental
दंत्यमध्यीय	Centro-dental
दन्त्यमूलीय	Post-dental
दंत्योष्ठ्य	Dento-labial, labio-dental
दीर्घ	Long
द्वयोष्ठ्य	Bilabial
धातु	Root
मूल	primary
यौगिक	secondary
नाम	denominative
संयुक्त	compounded and suffixed
अनुकरणमूलक	onomatopoetic
ध्वनि	Sound
ध्वनिविकार-संबंधी नियम	Phonetic law
ध्वनिविज्ञान	Phonetics
ध्वनिश्रेणी	Phoneme
ध्वनि-संबंधी, ध्वन्यात्मक	Phonetic
ध्वनि-संबंधी चिह्न	Phonetic sign
ध्वन्यात्मक लेखन या लिपि	Phonetic transcription
नामधातु	Denominative
नासिका-विवर	Nasal cavity
नियम, व्यापक नियम	Law

निरर्थक, स्वार्थिक	Pleonastic
निम्नस्थानीय स्वर	Low vowel
परसर्ग	Postposition
पश्च, पिछला	Back
पुरुष	Person
उत्तम	first
मध्यम	second
प्रथम	third
पार्श्विक	Lateral
प्रत्यय	Suffix
प्रधान स्वर	Cardinal vowel
प्रयोगात्मक ध्वनिशास्त्र	Experimental phonetics
प्राचीन भारतीय आर्यभाषा	Old Indo-Aryan
प्रामाणिक उच्चारण	Standard pronunciation
प्रेरणार्थक धातु	Causative
फुसफुसाहट	Whisper
फुसफुसाहट वाला स्वर	Whispered vowel
बल	Stress
वाक्य बल	sentence stress
अक्षर बल	syllabic stress
शब्द बल	word stress
बल देना	to stress
बली	stressed
बलहीन	unstressed
बोली	Dialect
भारत-ईरानी	Indo-Iranian
भारत-यूरोपीय कुल	Indo-European Family

भारतीय आर्यभाषा	Indo-Aryan speech
भाषा	Language, speech
भाषा-ध्वनि	Speech-sound
भाषण अवयव	Speech-mechanism
भाषा-विज्ञान	Linguistics, philology, science of language
भाषा-तत्वविज्ञ	Philologist
भाषा-समुदाय	Group of speech
मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा	Middle Indo-Aryan
मध्यवर्ती	Inner
महाप्राण	Aspirated
महाप्राणत्व	Aspiration
मात्रा-काल	Quantity (of a vowel)
मिथ्या औपम्य या सादृश्य	False analogy
मिश्रित स्वर	Mixed vowel
मुखरता, व्यक्तता	Sonority
मुखविवर	Mouth cavity
मूल धातु	Primary root
मूर्द्धन्य	Retroflex
मूल रूप	Direct form
मूल शब्द, प्रातिपदिक	Stem
मूल स्वर	Simple vowel
रचनात्मक उपसर्ग तथा प्रत्यय	Formative Affix
लिपि	Script
लिपि चिह्न, अक्षर	Character
लिंग	Gender
लोप	Elision

वंशक्रम	Genealogy
वंशक्रमानुसार वर्गीकरण	Genealogical classification
वचन	Number
वर्ग	Class
वर्गीकरण	Classification
वर्त्स्य	Alveolar
वर्ण	Letter, alphabetic sound
वर्णमाला	Alphabet
वाक्य-विन्यास	Construction
कर्तृवाचक वाक्यविन्यास	active construction
कर्मवाचक ,,	passive construction
वाक्यांश	Phrase
वाच्य	Voice
कर्तृ	active
कर्म	passive
वाह्य	Outer
विकार	Change
विकृत रूप	Oblique form
विदेशी शब्द	Foreign words
विपर्यय	Metathesis
वियोगात्मक	Analytic
विवृत् (स्वर)	Open (vowel)
विवृत्ति, विच्छेद	Hiatus
विस्मयादि वोधक	Interjection
व्यंजन	Consonants
व्युत्पत्ति	Derivation
शब्द-विन्यास	Spelling

शब्द-समूह	Vocabulary
शब्दांश, अक्षर	Syllable
एकाक्षरी शब्द	monosyllabic
अनेकाक्षरी शब्द	polysyllabic
शाखा	Branch (of speech)
श्रुति	Glide
पश्चात् श्रुति	off glide
पूर्व श्रुति	on glide
श्वास	Breath
निःश्वास	out
प्रश्वास	in
श्वास नाल	Wind pipe
सकेत	Symbol
संख्यावाचक	Numerals
पूर्णाङ्क संख्यावाचक	cardinal
क्रम संख्यावाचक	ordinal
अपूर्ण संख्यावाचक	fractional
समुदाय संख्यावाचक	multiplicative
संघर्ष	Friction
संघर्षी	Fricative
संज्ञारूप	Declension
संयुक्त क्रिया	Compound verb
सयुक्त व्यजन	Consonantal group
सयुक्त स्वर	Diphthong
सयोगात्मक	Synthetic
संवृत् (स्वर)	Close (vowel)
समास	Compound

समुच्चय बोधक	Conjunction
सहायक क्रिया	Auxiliary verb
सर्वनाम	Pronoun
पुरुषवाचक	personal
निश्चयवाचक	demonstrative
संबंधवाचक	relative
नित्यसंबंधी	correlative
प्रश्नवाचक	interrogative
अनिश्चयवाचक	indefinite
निजवाचक	reflective
आदरवाचक	honorific
साधारण अनुलिपि	Broad transcription
सानुनासिकता	Nasalization
साभ्यास क्रिया	Duplicated verb
स्थान-भेद	Quality (of a vowel)
स्पर्श	Stop
स्पर्श-संघर्षी	Affricate
स्पष्ट ल	Clear *l*
स्फोट	Explosion
स्फोटक	Explosive
स्वत॰ अनुनासिकता	Spontaneous nasalization
स्वर	Vowel
आदि	initial
मध्य	middle
अन्त्य	final
अग्र	front
अंतर्	central

पश्च	back
स्वरतंत्री	Vocal chord
स्वरयंत्र	Larynx
स्वरयत्रमुख आवर्ण	Epiglottis
स्वरयंत्र मुखी	Glottal
स्वराघात	Accent
बलात्मक	stress
गीतात्मक	musical, pitch
ह-कार	Aspirate
महाप्राण व्यंजन	aspirated consonant
महाप्राणत्व	aspiration
ह्रस्व	Short

आ. अंग्रेज़ी-हिंदी

Accent	स्वराघात
stress	बलात्मक
pitch, musical	गीतात्मक
Adverb	क्रियाविशेषण
pronominal	सर्वनाममूलक
Affricate	स्पर्श-संघर्षी
Alphabet	वर्णमाला
alphabetic sound	वर्ण
Alveolar	वर्त्स्य
Analogy	औपम्य, या सादृश्य
Analytic	वियोगात्मक
Aspirate	ह-कार
aspirated consonant	महाप्राण व्यंजन

aspiration	महाप्राणत्व
Anaptyxis	मध्यस्वरागम
Assimilation	अनुरूपता
Auxiliary verb	सहायक क्रिया
Back	पश्च, पिछला
Bilabial	द्व्योष्ठ्य
Branch (of speech)	शाखा
Breath	श्वास
out	निःश्वास
in	प्रश्वास
Breathed	दे० Voiceless
Cardinal vowel	प्रधान स्वर
Case	कारक
Causative	प्रेरणार्थक धातु
Central group	केंद्रवर्ती समुदाय
Change	विकार
Character	लिपिचिह्न, अक्षर
Class	वर्ग
Classification	वर्गीकरण
Clear *l*	स्पष्ट *ल*
Close (vowel)	संवृत् (स्वर)
Compound	समास
Compound verb	संयुक्त क्रिया
Conjugation	क्रिया रूप
Conjunction	समुच्चय बोधक
Consonant	व्यंजन
consonantal group	संयुक्त व्यंजन

Construction	वाक्य-विन्यास
active	कर्तृवाचक
passive	कर्मवाचक
Dark *l*	अस्पष्ट ल
Declension	सज्ञा-रूप
Denominative	नामधातु
Dental	वत्य
Dento-labial	वत्योष्ठ्य
Derivation	व्युत्पत्ति
Dialect	बोली
Diphthong	संयुक्त स्वर
Direct form	मूल रूप
Duplicated verb	साभ्यास क्रिया
Duplication	अभ्यास
Elision	लोप
Epiglottis	स्वरयंत्रमुख आवर्ण
Exception	अपवाद
Experimental phonetics	प्रयोगात्मक ध्वनिशास्त्र
Explosion	स्फोट
Explosive	स्फोटक
False analogy	मिथ्या औपम्य या सादृश्य
Family (of speech)	कुल (भाषा-)
Flapped	उत्क्षिप्त
Foreign words	विदेशी शब्द
Formative affix	रचनात्मक उपसर्ग तथा प्रत्यय (रचनात्मक अनुबंध)
Fricative	सघर्षी

Friction	सघर्ष
Front	अग्र, अगला
Gender	लिंग
Genealogical classification	वशक्रमानुसार वर्गीकरण
Genealogy	वंश-क्रम
Glide	श्रुति
off-glide	पश्चात् श्रुति
on-glide	पूर्व श्रुति
Glottal	स्वरयन्त्रमुखी
Group of speech	भाषा-समुदाय
Guttural	कंठ्य
gutturo-palatal	कठ-तालव्य
gutturo-labial	कंठ्योष्ठ्य
back-guttural	जिह्वामूलीय
Half-close	अर्द्ध-संवृत्
Half-open	अर्द्ध-विवृत्
Hiatus	विवृत्ति, विच्छेद
High vowel	उच्चस्थानीय स्वर
Indeclinable	अव्यय
Indo-Aryan speech	भारतीय आर्यभाषा
Indo-European (Family)	भारत-यूरोपीय कुल
Indo-Iranian	भारत-ईरानी
Infinitive	क्रियार्थक संज्ञा
Inner	मध्यवर्ती
Inscription	अकित लेख
Interjection	विस्मयादिवोधक
Intermediate, mediate	अतर्वर्ती

Labial	ओष्ठ्य
Labio-dental	दे० Dento-labial
Language	भाषा
Larynx	स्वरयन्त्र
Lateral	पार्श्विक
Law	नियम, व्यापक नियम
Letter	वर्ण
Lip	ओष्ठ
Linguistics	भाषा-विज्ञान
Loan-word	उद्धृत शब्द
Long	दीर्घ
Low vowel	निम्नस्थानीय स्वर
Mechanism of speech	भाषण अवयव
Metathesis	विपर्यय
Middle Indo-Aryan	मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा
Mixed vowel	मिश्रित स्वर
Mood	क्रियार्थभेद
indicative	सामान्यार्थ, निश्चयार्थ
contingent	संभावनार्थ
presumptive	संदेहार्थ
imperative	आज्ञार्थ
negative contingent	संकेतार्थ
optative	आदरार्थ
Mouth cavity	मुख विवर
Nasal	अनुनासिक
Nasal Cavity	नासिका विवर
Nasalized	सानुनासिक

Nasalization	सानुनासिकता
Neutral vowel	उदासीन स्वर
New Indo-Aryan	आधुनिक भारतीय आर्यभाषा
Noun of Agency	कर्तृवाची संज्ञा
Number	वचन
Numeral	संख्यावाचक
cardinal	पूर्ण संख्यावाचक
ordinal	क्रम संख्यावाचक
fractional	अपूर्ण संख्यावाचक
multiplicative	समुदाय संख्यावाचक
Oblique form	विकृत रूप
Obsolete	अप्रयुक्त
Old Indo-Aryan	प्राचीन भारतीय आर्यभाषा
Open (vowel)	विवृत् (स्वर)
Onomatopoetic	अनुकरणमूलक
Outer	बाह्य
Palatal	तालव्य (कठोर)
Palate	तालु
hard	कठोर
soft	कोमल
artificial	कृत्रिम
Paragraph	खंड
Participle	कृदंत
present	वर्तमानकालिक
past	भूतकालिक
conjunctive	पूर्वकालिक
Penultimate	उपांत्य

Person	पुरुष
first	उत्तम
second	मध्यम
third	प्रथम
Pharyngeal	उपालिजिह्व
Pitch-accent	दे० Musical accent
Philologist	भाषा-विज्ञानी
Philology	दे० Linguistics
Phoneme	ध्वनि-श्रेणी
Phonetic	ध्वनिसबंधी, ध्वन्यात्मक
Phonetic Law	ध्वनिविकार-संबंधी नियम
Phonetics	ध्वनि-विज्ञान
Phonetic sign	ध्वनिसंबंधी चिह्न
Phonetic transcription	ध्वन्यात्मक लेखन या लिपि
Phrase	वाक्यांश
Place of articulation	उच्चारणस्थान
Pleonastic	निरर्थक प्रत्यय, स्वार्थिक
Post-dental	दत्यमूलीय
Postposition	परसर्ग
Pre-dental	दंत्याग्रीय
centro-dental	दंत्यमध्यीय
Prefix	उपसर्ग
Preposition	उपसर्गात्मक अव्यय
Primary roots	मूलधातु
Pronoun	सर्वनाम
personal	पुरुषवाचक
demonstrative	निश्चयवाचक

relative	संबंधवाचक
correlative	नित्यसंबंधी
interrogative	प्रश्नवाचक
indefinite	अनिश्चयवाचक
reflexive	निजवाचक
honorific	आदरवाचक
Pronunciation	उच्चारण
Prothesis	आदिस्वरागम
Quality (of a vowel)	स्थानभेद
Quantity (of a vowel)	मात्राकाल
Retroflex	मूर्द्धन्य
Rolled	लुंठित
Root	धातु
primary	मूल
secondary	यौगिक
denominative	नाम
compound	सयुक्त
onomatopoetic	अनुकरणमूलक
Science of Language	दे० Linguistics
Script	लिपि
Semi-vowel	अर्द्धस्वर
Short	ह्रस्व
Sibilant	ऊष्म
Simple vowel	मूलस्वर
Sonority	मुखरता या व्यक्तता
Sound	ध्वनि

Speech	भाषा
speech-sound	भाषा-ध्वनि
speech-mechanism	भाषण-अवयव
Spelling	शब्द-विन्यास
Spontaneous Nasalization	स्वतः अनुनासिकता
Standard pronunciation	प्रामाणिक उच्चारण
Stem	मूलशब्द, प्रातिपदिक
Stop	स्पर्श
Stress	बल
sentence stress	वाक्य-बल
syllabic ,,	अक्षर ,,
word ,,	शब्द ,,
to stress	बलदेना
stressed	बली
Sub-branch	उपशाखा
Sub-family	उपकुल
Suffix	प्रत्यय
Syllable	शब्दांश, अक्षर
monosyllabic	एकाक्षरी
polysyllabic	अनेकाक्षरी
Symbol	संकेत, प्रतीक
Synthetic	संयोगात्मक
Tense	काल
radical	मूल काल
participial	कृदंती काल
periphrastic	संयुक्त काल
formation of tense	काल-रचना

present indicative	वर्तमान निश्चयार्थ
past indicative	भूत ,,
future indicative	भविष्य ,,
present conjunctive	वर्तमान संभावनार्थ
past conjunctive	भूत ,,
imperative	आज्ञा
future imperative	भविष्य आज्ञा
present imperfect indicative	वर्तमान अपूर्ण निश्चयार्थ
past imperfect indicative	भूत ,, ,,
future imperfect indicative	भविष्य ,, ,,
present imperfect conjunctive	वर्तमान ,, संभावनार्थ
past imperfect conjunctive	भूत ,, ,,
present perfect indicative	वर्तमान पूर्ण निश्चयार्थ
past perfect indicative	भूत ,, ,,
future perfect indicative	भविष्य ,, ,,
present perfect conjunctive	वर्तमान ,, संभावनार्थ
past perfect conjunctive	भूत ,, ,,
Tongue	जिह्वा
back	पश्च-जिह्वा
blade	जिह्वा-फल
front	जिह्वाग्र
middle	जिह्वा-मध्य
root	जिह्वामूल
tip	नोक
Transliteration	अनुलिपि
Trilled	कंपनयुक्त

Unaspirated	अल्पप्राण
Unstressed	बलहीन
Uvula	अलिजिह्वा, कौवा
Uvular	अलिजिह्व
Velar	कंठ्य
Verb	क्रिया
transitive	सकर्मक
intransitive	अकर्मक
Verbal noun	क्रियार्थक संज्ञा
Voice	वाच्य
active	कर्तृ
passive	कर्म
Voiced	घोष
voiced plosive	घोष स्पर्श
Voiceless, breathed	अघोष
Vocabulary	शब्दसमूह
Vocal chords	स्वरतंत्री
Vowel	स्वर
initial	आदि
middle	मध्य
final	अंत्य
front	अग्र
central	अंतर
back	पश्च
Whisper	फुसफुसाहट
Whispered vowel	फुसफुसाहटवाला स्वर
Wind-pipe	श्वास नाल

अनुक्रमणिका

सूचना—साधारण अंक पाराग्राफ़ के सूचक हैं तथा मोटे टाइप के अंक भूमिका के पृष्ठों के सूचक हैं।

लेखक की अन्य पुस्तकें

1 *La langue braj.*

Published by Adiren-Maisonneuve,
5, rue de Tournon, Paris (6), 1935, Price 35 Francs.

यह फ्राँसीसी में ब्रजभाषा पर थीसिस है जिस पर पेरिस यूनीवर्सिटी ने लेखक को डी० लिट्० की उपाधि दी थी।

२. *ब्रजभाषा व्याकरण*

प्रकाशक रामनारायण लाल, इलाहाबाद, १९३७, मूल्य १)

३. *अष्टछाप*

प्रकाशक रामनारायण लाल, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, १९३८, मूल्य १) ब्रजभाषा गद्य में लिखी हुई चौरासी तथा दो सौ बावन वार्ताओं से अष्टछाप कवियों के जीवन चरित्रों का संकलन।

४. *हिंदीभाषा और लिपि*

प्रकाशक हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण, १९३९, मूल्य ॥)

५. *ग्रामीण हिंदी*

प्रकाशक, साहित्यभवन लिमिटेड, प्रयाग, मूल्य ॥।)

. *हिंदीराष्ट्र*

प्रकाशक लीडर प्रेस, प्रयाग, १९३०, मूल्य ॥)